Parimal Sanskrit Series No. 16

THE SVACCHANDA TANTRAM

WITH COMMENTARY-'UDYOTA'

BY

KSHEMA RĀJA.

सदाशिवः

प्रकृतिः	ओं	ह	र	ऊ	ओं	र	ऊ	ह	ओं	ईश्वरः
	य	ऊ	क्ष	य	ह	क्ष	य	र	क्ष	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
पुरुषः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	शुद्धविद्या
	ओं	य	क्ष	य	ओं	क्ष	य	क्ष	ओं	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
नियतिः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	माया
	य	व	क्ष	य	ल	क्ष	य	म	क्ष	
	ओं	ल	म	व	ओं	म	व	ल	ओं	

कालः

Edited By

VRAJ VALLABH DWIVEDI

Parimal Sanskrit Series No. 16.

THE SVACCHANDATANTRAM

WITH COMMENTARY
'UDYOTA'

By

KṢEMARĀJĀCĀRYA

Edited By

Pt. Vraj Vallabh Dwivedi

Vol. II

1985

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI **INDIA**

Published by :
PARIMAL PUBLICATIONS
27/28 Shakti Nagar
DELHI-110007
INDIA

First Edition 1985

Price : Rs. 200.00 (Vol. II)

Printed at : Laxmi Composing Agency Babarpur main Road Shahadara, Delhi-110032.

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या-१६

स्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमत्क्षेमराजविरचितोद्योताख्यविवरणोपेतम्

सम्पादकः

पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः

द्वितीयो भागः

१९८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७

अन्य प्राप्ति स्थान :

सरस्वती पुस्तक भण्डार
रतनपोल, हाथीखाना
अहमदाबाद-३८०००१

प्रथम संस्करण १९८५

मूल्य—द्वितीय भाग २००.००

मुद्रक :—लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी
बाबरपुर मेन रोड शाहदरा
दिल्ली-११००३२

उपोद्घात

स्वच्छन्दतन्त्र के प्रथम भाग का प्रकाशन आज से दो मास पूर्व हो चुका है। सप्तम से पञ्चदश पटल पर्यन्त द्वितीय भाग को अब प्रकाशित किया जा रहा है। दोनों भागों की ग्रन्थग्रन्थकार और मतमतान्तर सूची को देखने से मूल स्वच्छन्दतन्त्र और उसकी क्षेमराजकृत उद्योत टीका का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। पूरे स्वच्छन्दतन्त्र का संक्षिप्त परिचय दोनों भागों की विषयसूचियों से तथा दोनों भागों के उपोद्घात में दिये गये हिन्दी संक्षेप से मिल जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र स्वयं अपने को चतुष्पीठ महातन्त्र (१।५) कहता है। क्षेमराज ने इसकी व्याख्या की है और हमने भी[1] अन्यत्र इस विषय को विस्तार से समझाया है, अतः यहां पुनः उस विषय को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। संभव है भैरव तन्त्रों का विभाजन चतुष्पीठ तन्त्रों के रूप में ही माना जाता हो।

स्वच्छन्दतन्त्र

यहां प्रथम पटल में मन्त्रोद्धार और द्वितीय में बाह्य और आन्तर अर्चाविधि का वर्णन है। इस पर कृष्ण यजुर्वेद और पाशुपत सूत्रों की स्पष्ट छाप दिखती है। कुण्डसंस्कार, आज्यसंस्कार, अग्निसंस्कार आदि की सारी विधि वैदिक विधान का ही अनुसरण करती है। तृतीय, चतुर्थ और पंचम पटल में अधिवास दीक्षा तथा अन्य षडध्व दीक्षाओं का विस्तार से वर्णन है। इस प्रसंग में शुभ और अशुभ स्वप्न, अध्वशुद्धिप्रक्रिया, मन्त्रैकादशिका, हंसोच्चार कारणत्याग, कालत्याग, शून्यभाव, सामरस्य, विषुवत्, पदार्थभेदन, करणलक्षण, आत्मव्याप्ति, शिवव्याप्ति गुणापादन आदि विषयों के साथ अभिषेक विधि का भी वर्णन किया गया है और बताया गया है कि दीक्षा के उपरान्त पूर्व जाति का स्मरण प्रायश्चित्त का कारण बनता है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ (४।५३८, ५।४६) चुम्बक शब्द का प्रयोग गुरु के लिये किया गया है, जबकि योगिनीहृदय (३।२०२) में यह शब्द अनर्ह शिष्य के लिये प्रयुक्त है। इस तन्त्र (५।४४) का कहना है कि सांख्य, योग, पाँचरात्र, वेद आदि की निन्दा नहीं करनी चाहिए। षष्ठ पटल में पंचप्रणव और त्रिविध हंसोच्चार की आध्यात्मिक व्याख्या देखने योग्य है।

---

१. देखिये—नित्याषोडशिकार्णव का उपोद्घात पृ० ५६-५७.

षष्ठ पटल के अन्त में बताया गया है कि क्रिया, काल और अंशकों का जिसको ज्ञान है, उसको अनायास नाना प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इनमें से क्रिया का वर्णन पूर्व पटलों में हो चुका है। सप्तम पटल में सौर और आध्यात्मिक का तथा अष्टम पटल में षड्विध अंशकों का परिचय दिया गया है। यहीं तन्त्रावतार का क्रम भी बताया गया है। नवम पटल में कोटराक्ष कल्प और एकवीर की उपासना तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। दशम पटल में भुवनाध्व, भुवनाधिपति और उनकी शुद्धि का प्रकार बताया गया है। सिद्धान्त शैवागमों में भी षडध्वशुद्धि के प्रसंग में यह विषय वर्णित है। इस प्रसंग में क्षेमराज ने महासंहिता, बृहत्तन्त्र और परा-संहिता को अनेकशः उद्धृत किया है। मालिनीविजय, तन्त्रालोक तथा मुद्रित अमुद्रित किरणादि शैवागमों की तथा पुराणवर्णित भुवनकोश की सहायता से इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। प्रसंगवश यहाँ (१०।६८०-६८१) सांख्य-योग आदि ३६३ वादियों का उल्लेख हुआ है। ठीक ऐसा ही उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है[1]। प्रमाणाष्टक के प्रसंग (१०।११३४-३५) में उल्लिखित आठ रुद्र पाशुपत शास्त्रों के अवतारक माने गये हैं। इनमें से लकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र ने हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ की रचना की थी, इसकी पुष्टि परमोक्षनिरासकारिका (श्लो० ३) के व्याख्याकार रामकण्ठ के वचन से भी हो जाती है। सुशिवावरण के भुवनाधीशों के वर्णन के प्रसंग (१०।११९६-९९) में यहाँ १० शिवागमों और १८ रुद्रागमों के उपदेष्टा आचार्यों के नाम परिगणित हैं।

इस तन्त्र का ११ वां और १२ वां पटल दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। यहां सृष्टिसंहार प्रक्रिया का तथा तत्त्वविज्ञान का विशद वर्णन है। पाशुपत मत के अन्तर्गत यहां (११।१-७२) लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक अवान्तर भेदों का विवरण है। इस विषय में हमें अभी तक बहुत कम जानकारी है। इसको बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये। यहां का भावभेद और तत्त्वविज्ञान प्रकरण तथा मत्तङ्ग पारमेश्वरागम विद्यापाद के कुछ प्रकरण सांख्य प्रक्रिया को समझने और आगे बढ़ाने में बहुत सहायक हो सकते हैं। तेरहवें पटल में काम्य प्रयोगों का, चौदहवें में मुद्राओं और पन्द्रहवें में छुम्मकाओं का वर्णन है।

क्षेमराज की उद्योत टीका—

नेत्रतन्त्र के उपोद्घात में हमने बताया है कि वहाँ स्वच्छन्दोद्योत चार स्थलों पर उद्धृत है। स्वच्छन्दोद्योत (७।२५७) में क्षेमराज ने अपने स्पन्दनिर्णय

---

१. तन्त्रयात्रा, पृ० १२ पर उद्धृत वचन देखिये।

को तथा मुद्रापटल में अनेक स्थलों पर तथा अन्यत्र (२।६३) भी भैरवानुकरणस्तोत्र को उद्धृत किया है। स्वच्छन्दतन्त्र की बृहट्टीका तथा उसके रचयिता भुल्लक को क्षेमराज अनेक स्थलों पर स्मरण करते हैं। भुल्लक ने शैव सिद्धान्त की दृष्टि से इस भैरवतन्त्र की व्याख्या की है, जो कि उचित नहीं है। क्षेमराज ने अपनी व्याख्या (१४।१६) में तीन प्राचीन व्याख्यानों का उल्लेख 'केचित्', 'अन्यैः' और 'अपरैः' शब्दों के साथ किया है। वहीं उसका कहना है कि इन टीकाकारों ने ग्रन्थान्तरप्रक्षेप, ग्रन्थविपर्यास, और पाठविपर्यास के द्वारा इस ग्रन्थ को दूषित कर दिया था। प्राचीन पुस्तकों की सहायता से हमने यथामति इनका परिमार्जन किया है। अन्ये, अपरे, केचित् टीकाकाराः, व्याख्यानम्, व्याख्यान्तरम् आदि शब्दों के द्वारा स्थान स्थान पर क्षेमराज ने इन प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या का खण्डन किया है। क्षेमराज की व्याख्या के अध्वग्रन्थ का पिण्डार्थ (भा० १. पृ० १५८), नवतत्त्वदीक्षा, त्रितत्त्वदीक्षा और षट्त्रिंशत्तत्त्व दीक्षा का विवरण (भा० १, पृ० २६४-२६७) तथा दीक्षा विषयक सौगत (धर्मकीर्ति) मत समीक्षा, खेटपालमत समीक्षा और किरणव्याख्यातृमत समीक्षा (भा० १, पृ० ३१४-३२५) विशेष रूप से दर्शनार्ह हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि खेटपाल ने धर्मकीर्ति के मत की समीक्षा नहीं की है, किन्तु क्षेमराज ने ही दीक्षा विषयक धर्मकीर्ति के मत का खण्डन करने के उपरान्त खेटपाल के मलपरिपाक हेतुक शक्तिपात और किरणागम के व्याख्याता के कर्मसाम्यमूलक शक्तिपात मत का खण्डन कर स्वतन्त्र शक्तिपात वाद की स्थापना की है। इस विषय का विस्तार तन्त्रालोक के तेरहवें आह्निक में देखा जा सकता है। इस महत्त्वपूर्ण व्याख्या में क्षेमराज ने अन्य अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के अन्त में लिखे गये कुछ श्लोक भी विशेष रूप से अवधेय हैं।

द्वितीय भाग में समाविष्ट पटलों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

सप्तम पटल

इस पटल में सौर और आध्यात्मिक भेद से भिन्न द्विविध काल का निरूपण किया गया है। वार, करण आदि सौर काल के भेदों का संक्षेप में निदर्शन करने के बाद यहाँ आध्यात्मिक काल का विस्तार में वर्णन किया गया है। नाड़ीचक्र, प्राणचार, अहोरात्र विभाग, चन्द्रसूर्योदय, ग्रहादिचार, पक्षमासविभाग प्राणसंख्या, हंसजप, चन्द्रसूर्योपराग, अब्दोदय, उत्तरायण, दक्षिणायन, द्वादशाब्दोदय, षष्ट्यब्दोदय का स्वरूप बताने के बाद यहाँ नाडीत्रय में हंसचार, विषुवत् आदि की स्थिति का निरूपण किया गया है। प्राणचार के सिद्ध हो जाने पर योगी जन्म और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है और इसी की सहायता से उसको अपने और दूसरे के भी मरण काल का ज्ञान हो जाता है।

व्याधि पीडा, मृत्युयोग आदि अशुभ तथा राज्यलाभ आदि शुभ फलों को जानने के प्रकार भी यहाँ वर्णित हैं। इस आध्यात्मिक काल पर विजय प्राप्त कर लेने पर योगी नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है और कलाकलङ्क-निर्मुक्त, कालचारविवर्जित, परम तत्त्व का ध्यान करने पर मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

इसके लिये पञ्चपञ्चक (पचीस) तत्त्वों तथा अठारह गुणों का, परतत्त्व के सकल और निष्कल स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। निष्कल स्वरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि के विचार की तथा क्षेत्र, तीर्थ आदि की यात्रा की आवश्यकता नहीं रहती। उसमें सर्वज्ञता प्रभृति छः शैव गुणों का आविर्भाव हो जाता है। उसको जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह साक्षात् स्वच्छन्दभैरव स्वरूप हो जाता है।

इतना निरूपण करने के बाद यहाँ योगी के लिये पुनः अरिष्टों को जानने के विविध प्रकारों का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि की सहायता से योगी इन पर विजय प्राप्त कर सकता है। विविध धारणाओं और उद्घातों का भी यहाँ वर्णन किया गया है। दशविध प्राण और उनके कार्यों का विस्तार से स्वरूप बताकर यहाँ यह भी कहा गया है कि इन पर विजय प्राप्त करने से विविध फलों की प्राप्ति होती है और अन्ततः योगी स्वछन्दभैरव स्वरूप हो जाता है।

अष्टम पटल

इस पटल में पहले षड्विध अंशकों का निरूपण किया गया है। ये हैं— भावांश, स्वभावांश, पुष्पपातांश, मन्त्रांश तथा द्विविध अंशकापादन। स्वभावांश के ब्रह्मांश, रुद्रांश आदि भेद होते हैं। द्विविध अंशकापादन के बाद मन्त्रांश के अन्तर्गत हीन, मध्यम, सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्रों का लक्षण और इनके साधन की विधि बताई गई है तथा कहा गया है कि मन्त्रों के वर्णों में मन्त्र-चैतन्य का अविर्भाव होने पर ही वे भुक्ति और मुक्ति के दाता बन सकते हैं। इसके उपरान्त यहां मन्त्रावतार का क्रम बताया गया है। इसलिये इस पटल का तन्त्रावतार नाम दिया गया है। महान्, अवान्तर, दिव्य, मिश्र और अदिव्य के भेद से पञ्चविध सम्बन्धों के माध्यम से यह शास्त्र (ज्ञान) का क्रम परमशिव से साधारण मनुष्य तक पहुँचता है।

नवम पटल

यहां भगवान् स्वच्छन्दभैरव के कोटराक्ष नामक स्वरूप का तथा उसकी उपासना का विधान (कल्प) बताया गया है और कहा गया है कि विशुद्ध भूमि पर मण्डल का निर्माण कर अंगदेवताओं से परिवृत भगवान् कोटराक्ष के

ध्यान से सब प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। महेन्द्र, मलय प्रभृति क्षेत्रों में अघोर मन्त्र का जप भी सब सिद्धियों का दाता है। इसी प्रकार भगवान् एक वीर की उपासना विधि का, जप-होम आदि का भी निरूपण किया गया है। रक्षाकल्प के अन्तर्गत यहां वशीकरण, उच्चाटन आदि के तथा शान्तिक, पौष्टिक, विषनाश आदि के अनेक प्रयोग बताये गये हैं।

दशम पटल

दशम पटल में भुवनाध्वा का विस्तार से वर्णन किया गया है। कालाग्नि रुद्र नामक भुवन की स्थिति सबसे नीचे है और उसके ऊपर क्रमशः अनन्त भुवन स्थित हैं। शैवागमों में ३६ तत्त्वों के अन्तर्गत २२४ भुवनों की स्थिति मानी जाती है। उनका यहां विस्तार से वर्णन किया गया है। इन भुवनों का परिमाण बताने के लिये यहां परमाणु से योजन पर्यन्त परिमाणों की परिभाषा दी गई है। कालाग्नि भुवन का स्वरूप बताने के बाद यहां कहा गया है कि इसके ऊपर पचास करोड़ नरकों की स्थिति है, किन्तु उनमें १४० नरक प्रख्यात हैं। इनका यहां विस्तार से वर्णन किया गया है। ये सभी नरक अतिभयानक हैं और ये त्रिकोणाकार हैं। असत्कर्मों में निरत प्राणी अपने पापों का फल यहां भोगते हैं। इस प्रसंग में यहां अशुभ और शुभ कर्मों का वर्णन किया गया है। इसमें ३५ नरक ही प्रधान हैं। इन्हीं को चार गुना कर देने पर नरकों की संख्या १४० हो जाती है। इनकी शुद्धि का प्रकार भी यहाँ बताया गया है।

इन नरकों के ऊपर कूष्माण्डाधिपति विराजमान हैं और उसके ऊपर आठ पाताल स्थित हैं। आभास से सौवर्ण पर्यन्त इन पातालों का स्वरूप और प्रमाण तथा इनकी शुद्धि का प्रकार भी यहां बताया गया है। अष्टम सौवर्ण पाताल में भगवान् हाटकेश्वर विराजमान हैं। इसलिये सौवर्ण पाताल को हाटक भी कहते हैं। इस हाटक पाताल के ऊपर भूकटाह स्थित है। इसका स्वरूप और परिमाण, उसके मध्य में महामेरु की स्थिति, उसके ऊपर दिव्य मनोवती नगरी, स्वर्गाष्टक तथा उनकी अमरावती आदि आठ नगरियां और अन्य देवताओं की नगरियां हैं। ये नगरियाँ सुमेरु पर्वत के चारों तरफ बसी हुई हैं। इष्टापूर्त में निरत पुण्यात्मा ही यहां पहुँच सकते हैं। सभी नगरियां गंगा के जल से सुसिक्त हैं।

देवी यहां गंगा की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न करती हैं और भगवान् स्वच्छन्दभैरव उत्तर देते हैं कि गंगा की उत्पत्ति मेरे आनन्दाश्रुओं से हुई है। यहां गंगा के दस स्रोतों का वर्णन किया गया है। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् शिव ही गंगा को मृत्युलोक में ले आते हैं। यहां चारों दिशाओं में बहने वाली गंगा की चार धाराओं के नाम, रूप विस्कम्भ (पर्वत), वन, तडाग

(सरोवर) आदि का तथा इनके परिमाण आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी प्रसंग में कल्पद्रुम, जम्बू-द्वीप प्रभृति द्वीपों, उनके निवासियों, समुद्रों, पर्वतों, लोकपालपुरियों, दिन-रात, उत्तरायण-दक्षिणायन आदि का वर्णन कर उनकी शुद्धि का प्रकार बताया गया है। इस शुद्धि के प्रसंग में ही यहां ४८ संस्कारों का विशद वर्णन है। इनमें अन्तिम आठ दया आदि आत्मा के गुण माने गये हैं।

भूलोक की शुद्धि का इस प्रकार विस्तार से वर्णन करने के बाद भुवर्लोक के वायुमार्गों का, मेघों का, वहां के निवासियों का, अक्षोभ्या नामक गंगा का, एकादश रुद्र, आठ वसु, द्वादश आदित्य का, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रमण्डल और ध्रुवलोक का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि सूर्यलोक से लेकर ध्रुवलोक पर्यन्त स्वर्लोक की स्थिति है। स्वर्गलोक का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद यहां महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक का भी वर्णन किया गया है। सत्यलोक ही ब्रह्मलोक है यहां मूर्तिमान् चारों वेद अंगोपांग सहित निवास करते हैं। ब्रह्मलोक से ऊपर विष्णुलोक, तब रुद्रलोक की स्थिति है। उस रुद्रलोक में ही वरेण्या प्रभृति सात गंगायें विद्यमान हैं। रुद्रलोक और उसके अधिपति भगवान् रुद्र तथा उनके उत्संग में विराजमान भगवती शक्ति का विस्तार से वर्णन करने के उपरान्त यहां बताया गया है कि इनके भी ऊपर दण्डपाणि का भुवन है। कालाग्नि से दण्डपाणि पर्यन्त भुवनों की स्थिति ब्रह्माण्ड में ही मानी गई है और ये सब पार्थिव भुवन हैं। इनकी दसों दिशाओं में दस-दस के क्रम से शतरुद्र स्थित हैं। इनमें से प्रत्येक के परिवार का अनन्त विस्तार है। इसीलिये वेद में रुद्रों के विषय में "असंख्याताः सहस्राणि कहा गया है।

इसके ऊपर जलतत्त्व से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त तत्त्वों में स्थित भुवनों की क्रमशः एक के ऊपर दूसरे की स्थिति मानी गई है। इन भुवनों की संख्या, नाम, आकार, वैभव आदि का, इनके निवासियों का तथा इनकी शुद्धि का प्रकार यहां बताया गया है और कहा गया है कि सांख्य, योग, पांचरात्र आदि ३६३ मतों के अनुयायियों को इन भुवनों का ज्ञान नहीं है। समस्त भुवनों और उनके अधिपतियों का वर्णन करने के बाद अन्त में यहां विशेष, पाशच्छेद, पूर्णाहोम, प्रायश्चित्त होम, शिखाच्छेद आदि दीक्षा-सम्बन्धी अवशिष्ट विधान वर्णित हैं।

एकादश पटल

इस पटल में देवी के सृष्टिसंहारविषयक प्रश्न का समाधान किया गया है। ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है। वह बिना किसी कामना के इसकी

सृष्टि करता है। वह स्वयं ही जगत् का उपादान कारण भी है। शून्य, स्पर्श और नाद के क्रम से यह सृष्टि आगे बढ़ती है। घोष आदि के भेद से नाद अष्टविध है। नाद से बिन्दु और बिन्दु से सदाशिव की उत्पत्ति होती है। मुद्रा और मन्त्र, क्रिया, ज्ञान और इच्छा, कारणपंचक इन सबका विस्तार सदाशिव से होता है। यही हाटकेश्वर, अनन्त, हुहुक आदि का स्वरूप धारण कर इस सृष्टि को आगे बढ़ाता है। शक्त्यण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और ब्रह्माण्ड के भेद से भिन्न चतुर्विध सृष्टि का यही प्रधान कारण है। अष्टमूर्ति महेश्वर सद्योजात आदि पंचमन्त्रमय शिव से ही शब्द और अर्थमय सारी सृष्टि होती है। लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्रमय शास्त्र की उत्पत्ति भी भगवान् शिव के सद्योजात आदि मुखों से होती है।

शुद्ध सृष्टि के अनन्तर अनन्त रूपधारी भगवान् शिव माया के सहारे मायीय सृष्टि करते हैं। क्रमशः कला, विद्या, राग आदि बुद्धितत्त्व पर्यन्त सृष्टि का वर्णन कर यहाँ बौद्ध, आर्हत, वेदवित्, सांख्य, योग, पाशुपत (मौसुल, कारुक, वैमल, लाकुल) मतसंमत परम पद का स्वरूप बताया गया है। बुद्धितत्त्व से त्रिविध अहंकार की तथा उससे आगे की सृष्टि का विस्तार होता है। इसके बाद आत्मा अन्तरात्मा, बाह्यात्मा, निरात्मा और परमात्मा का तथा अबुध, बुध, बुध्यमान, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध अवस्थाओं का वर्णन कर यहाँ बताया गया है कि बिना दीक्षा के शांकर भोग का कोई भी अधिकारी नहीं हो सकता।

इसके बाद यहाँ भावभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो कि सांख्यप्रक्रिया को समझने में बहुत सहायक है। भावभेद प्रक्रिया में भी यहाँ लौकिक, पांचरात्र, वैदिक, बौद्ध, आर्हत, सांख्य, योग, अतिमार्ग, कपालव्रतिक और पाशुपतमतों की मोक्षविषयक दृष्टि की समीक्षा की गई है और बताया गया है कि मुक्ति का एकमात्र उपाय शैव ज्ञान ही है। दीक्षा के समान मोक्ष, मातृका के समान विद्या, प्रक्रिया से बढ़कर ज्ञान और अलक्ष्य से बढ़कर कोई योग नहीं है, यह इस शास्त्र की उद्घोषणा है।

सृष्टि के उपरान्त संहार का वर्णन करते हुए यहाँ पहले काल के विभिन्न विभागों की परिभाषा दी गई है। तदनुसार चतुर्युग, मन्वन्तर, कल्प आदि की तथा ब्रह्मा के अहोरात्र की और सृष्टि-संहार की व्यवस्था बताकर महाकल्प की तथा इकाई, दहाई, सैकड़ा के भेद से दशगुणित संख्याओं की परिभाषा दी गई है। महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा का भी लय हो जाता है। इसी पद्धति से यहाँ विष्णु, रुद्र, शतरुद्र, गहनेश प्रभृति के अहोरात्र के अनुसार सृष्टिसंहारचक्र का निरूपण किया गया है और बताया गया है कि अन्ततः सब कुछ अनाश्रित

शिव पद में लीन हो जाता है और यह अनाश्रित शिव भी अपने निष्कल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। सृष्टि से पहले और संहार के बाद भी इसका एकसा ही रूप रहता है।

द्वादश पटल

यहाँ तत्त्वविज्ञान का विशद वर्णन किया गया है, पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त तत्त्वों का स्वरूप बताया गया है। वागिन्द्रिय के प्रसंग में संस्कृत, प्राकृत प्रभृति, चतुर्विध वाणी का, शब्द के प्रसंग में स्वर, ग्राम, मूर्छना, तान के सुरमण्डल का, बुद्धि के धर्म, ज्ञान आदि आठ धर्मों का, सात्त्विक आदि गुणमय का, सांख्य ज्ञान की अपूर्णता का वर्णन करने के बाद यहाँ पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त समस्त तत्त्वों के ध्यान की विधि और उनकी फलमुक्ति कही गई है। जीवात्मा का निरूपण यहाँ उपनिषदों की पद्धति से किया गया है। माया के प्रसंग में यहाँ बताया गया है कि सांख्य, वेद, पुराण तथा अन्य शास्त्रों में निरत व्यक्ति इस माया का पार नहीं पा सकते। ईश्वर तत्त्व का निरूपण करते समय शिव के पूर्व आदि पंच वक्त्रों का तथा लिंग का ध्यान वर्णित है।

त्रयोदश पटल

देवी के कहने पर भगवान् यहाँ समस्त स्वच्छन्दतन्त्र के सार के रूप में यागविधि का वर्णन करते हैं। साधक तदनुसार स्वच्छन्दभैरव की जप, होम, तर्पण आदि के द्वारा आराधना कर नाना सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। प्रथमतः संक्षेप में इन सिद्धियों का वर्णन कर बाद में कारिकाकोश के रूप में इनका वर्णन किया गया है और वशीकरण आदि के प्रयोगों को भी दिखाया गया है।

चतुर्दश पटल

यहाँ कपाल, खट्वांग, खड्ग, स्फर, अंकुश, पाश, नाराच, पिनाक, अभय, वर, घण्टा, त्रिशूल, दण्ड, वज्र, डमरू, मुद्गर, वल्लकी, वीणा, परशु नामक मुद्राओं का लक्षण बताया गया है और विभिन्न अवसरों पर इनके प्रदर्शन का विधान कर इनका मानस और वाचिक स्वरूप दिखाया गया है। यह सारा वर्णन मुद्रापीठ के अन्तर्गत यहाँ किया गया है। विद्या, मन्त्र और मण्डल पीठों का भी इस तन्त्र में यथावसर वर्णन आ चुका है।

पंचदश पटल

इस अन्तिम पटल में जप और ध्यान में लगे हुए, तन्त्रोक्त चर्या का पालन करने वाले साधक के लिये छुम्मका (पारिभाषिक संज्ञाओं) का उपदेश किया गया है। जैसे कि ध्यान शब्द से भैरव का, सर्वद शब्द से गुरु का, गिरि शब्द से साधक का और विमल शब्द से पुत्रक का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार

डामर शब्द श्मशान का बोधक है। पारिभाषिक संज्ञाओं का विवरण देने के बाद यहाँ मेलक विधि का तथा तदनुसार सम्पन्न होने वाली विविध सिद्धियों का निरूपण किया गया है। अन्त में बताया गया है कि देवियों के द्वारा प्रदत्त चरु के प्राशन से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र में निरूपित दीक्षा, जप, हंसोच्चार, प्राणचार आदि विषयों की जानकारी हिन्दी पाठक श्रद्धेयचरण श्रीश्रीगोपीनाथ कविराज के 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', 'भारतीय संस्कृति और साधना' आदि ग्रन्थों से प्राप्त कर सकते हैं।

श्रावणी, संवत् २०४२ — **व्रजवल्लभ द्विवेदी**

वाराणसी। — शास्त्र चूडामणि विद्वान्

विषय सूची

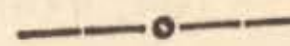
नगर्यः—धन्वन्तरिपुरी—विनायकानां वसतिः—मेरोः समन्तात् सर्वा पूताःपुर्योऽवस्थिताः—दशधा निःसृता गङ्गा—स्वर्गात् शिवावतारिताया गङ्गायाश्चत्वारः प्रवाहाः—विष्कम्भपर्वतवनतडागादिवर्णनम्—जम्बुद्वीपादिवर्णनम्—समुद्रपर्वतसरिदादिवर्णनम्— दीक्षाकाले संस्कारक्रमः— संसारचक्रकर्मबन्धनादिनिरूपणम्— शक्तिपातानुकालमाचार्यतनुमाश्रितः सदाशिवोऽनुगृह्णाति — दीक्षानुकालं मुख्यपाशशोधनम्— चत्वारिंशत्संस्काराः— अष्टावात्मगुणाः— भुवनाधिपतिशोधनम्— भूर्लोकानन्तरं भुवोलोकवर्णनम्— दशवायुपथाः— वायुपथे स्थिता मेघाः सिद्धविद्याधरादयश्च — स्वर्लोके सूर्यचन्द्रध्रुवादीनां स्थितिः — सप्त वायुस्कन्धाः — आदित्यादिध्रुवान्तः स्वर्लोकः — स्वर्लोकस्योपरिष्टान्महर्लोकादीनामवस्थितिः—सत्यलोके ब्रह्मा ऋग्वेदादिभिः षडङ्गेतिहासादिभिश्च परिवृत आस्ते— ब्रह्मासनम्— विष्णुपुरी— रुद्रलोकः— दण्डपाणिपुरम्— शतरुद्रावस्थितिः।

अप्तत्त्वादिगतभुवनस्थितिः सांख्ययोगादिभिर्न ज्ञाता — नानाभुवनानामवस्थितिप्रकारः—भद्रकालीभुवनम्—दुर्गा महिषमर्दिनी—वीरभद्रभुवनम्—धरित्रीभुवनम्— सामुद्रं भुवनम्— श्रीनिकेतनम्—सारस्वतभुवनम्—जलावरणगं गुह्याष्टकम्—तेजस्तत्त्वभुवनानि—भुवनाधिपाः—वाय्वावरणभुवनतदीशाः—आकाशावरणगं पवित्राष्टकम्— अहङ्कारावरणगं स्थाण्वष्टकम् — तन्मात्रगतभुवनानि—सूर्य-सोम-वेदमण्डलानि—अष्टौ तनवः— करणमण्डलम्— बुद्ध्यावरणगतभुवनानि तदीशाश्व— क्रोधेश्वराष्टकम्— तेजोऽष्टकम्— योगाष्टकम्—महादेवाष्टकम्— प्रधानाधिपतयः— पुरुषतत्त्वभुवनानि— विद्याष्टकम्—विग्रहाष्टकम्—पाशशोधनम्।

नियति-काल-राग-विद्या-कलातत्त्वगतभुवनाधिपतयः—मायातत्त्वगतभुवनाधीशाः—शुद्धविद्या (वागीशी) भुवनाधिपतयः—ईश्वरतत्त्वगतभुवनाधिपतयः—सुशिवावरणगतभुवनानि— दश शिवभेदाः—अष्टादश रुद्रभेदाः— बिन्द्वावरणगतभुवनानि — शिवतत्त्वगतभुवनानि — भुवनाधिपतिशोधनप्रसङ्गेन विश्लेषपाशच्छेदादिशेषविधिनिरूपणम्—परं सत्त्वमनामयम्।

एकादशपटले ३०८-३७३

शिवो जगतो निमित्तोपादनकारणम् — ततः शून्यादीनां समुत्पत्तिः — अष्टविधो नादः— नवमस्तु महाशब्दः—बिन्दो. सदाशिवः—शिवः बिन्द्वीशः—हाटकः— हूहुकः— प्रक्रियाण्डम्— शिवः परमकारणम्— लौकिकादि ञ्चविधं शास्त्रम्—कलादिसृष्टिः—बौद्धारहतादीनां परमं पदम्—अहङ्कारादिसृष्टिः—आत्मपञ्चकम् — अबुधादिपञ्चकम् — भावभेदाः — हेतुवाद विवर्जितं शैवं ज्ञानमेव मुक्तिदम्— स्थितिसंहारनिरूपणम्— क्षणादिकालपरिभाषा—चतुर्युग-



श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्योताख्यविवरणोपेतम्]

सप्तमः पटलः

संकुचच्चित्स्फुरत्तात्मप्राणान्तर्येन भास्यते ।
कालाध्वा विश्वभृद् भुक्तिमुक्त्यर्थं स जयत्यजः ॥

'क्रियाकालांशयुक्तस्य' (६।७) इति यदुपसंहृतं ततो विदितं क्रियास्वरूप-मनूद्य, कालांशकं ज्ञातुं श्रीदेव्युवाच—

क्रिया ज्ञाता मया देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर ।
कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसारतः ॥१॥

क्रिया पूजनादिसाधनान्ता । कालं च तत्तत्सिद्धिसाधनोचितमवसरम्, अंशकं च ब्रह्मांशकविष्ण्वंशकादिरूपम्, प्रसारतः इति सबाह्याभ्यन्तरव्याप्त्या अभिधत्स्व । अत एव पूर्वं

'कालं चैव समासतः' (१।६)

इत्युक्त्योद्दिष्टमपि कालस्वरूप तत्त्वतोऽज्ञात्वा पुनः प्रश्नितम् ॥१॥

श्रीभैरव उवाच—

कालो द्विधाऽत्र विज्ञेयः सौरश्चाध्यात्मिकः प्रिये ।

कलयति जन्मस्थित्यादिविकारषट्केन परिच्छिनत्ति जगद्यः पारमेशक्रिया-शक्तिस्पन्दात्मा कालो द्विधा, इत्येकरूपोऽपि बाह्याभ्यन्तरतया संस्थितः, अत्र इति नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वेषु कर्मसु अङ्गतयाराधकैर्ज्ञातव्यः । सूरे भवः सौरः स्थूलोऽहोरात्राद्यात्मा, स एव त्वात्मनीति तदधिष्ठिते प्राणे, अध्यात्मे भव आध्यात्मिकः सूक्ष्मरूपः । तत्र शुभं कर्म सुवारसुदिनादौ कर्तव्यम् । तत्र चैहिकामुत्रिकफलसिद्ध्यर्थं दक्षिणायनोत्तरायणादिस्वरूपमवश्यं ज्ञातव्यम् ॥

तदेतत्सर्वं बाह्यकालत एव ज्ञायत इत्याह—

सुवारकरणे लग्ने सुयोगे सुदिने प्रिये ॥२॥
तेजोऽपचयराशौ तु

शोभनो वारश्चन्द्रतिथ्यादिग्रहनक्षत्रयोगः, करणं च बव-वालव-कौलव-तैतिलादिकं विष्टिवर्जितं यत्र, सुदिने अरिक्ततिथौ, सुयोगे इत्यानन्दादियोगवति यो लग्नः स्वर्क्षादेरनुकूलः सूर्यसंचारापेक्षः प्रतिदिनं घटिकानियमेन मीनादि-

राश्युदयस्तत्र, तेजसोऽपचयराशौ मकरसंक्रान्तौ तदुपलक्षिते च तदुपचयराशौ कर्कटे आमुत्रिकैहिककर्मारम्भविषयेऽवश्यज्ञातव्यो यः कालः स एष सौर इति दूरेण संबन्धः । सुवारकरणमित्यादिप्रथमापाठस्तु स्पष्टः ॥२॥

किं च—

दक्षिणायनमुत्तरम् ।
ग्रहणं चन्द्रसूर्याभ्यां कालश्च ऋतवस्तथा ॥३॥
पक्षो मासश्च वेला विषुवद्राश्यन्तरं तथा ।
पुण्यापुण्योदयो देवि

चन्द्रसूर्याभ्यामुपलक्षितं ग्रहणम् । दक्षिणायनोत्तरायणवदैहिकपारलौकिकफलकर्मविषयम् । कालः चातुर्मास्यसंज्ञः । ऋतवो वसन्ताद्याः । पक्षः शुक्लः कृष्णश्च । मासः चैत्रादिः । वेला तत्तद्ग्रहादिसंचाराश्रयः प्रविभक्तोऽहोरात्रविभागः । विषुवत् दिनमहर्निशासाम्यात्म मेषतुलयोः सूर्यसंक्रान्तिकालः । राश्यन्तरम् इतराः संक्रान्तयः । पुण्यकालो वैशाखशुक्लतृतीयादिः । अपुण्यकालो मलमासादिः ॥३॥

तदेवमादिकं सर्वं तत्तत्कर्माङ्गतया उपयुज्यमानं यत्, स कालः—

सौर एष प्रकीर्तितः ॥४॥

बाह्य इति शेषः ॥४॥

आध्यात्मिकं पुनर्देवि कथयामि निबोध मे ।

पुन इति विशेषेण । '**निबोध मे**' इत्युक्त्या परमोपादेयत्वं ध्वनति ॥

तत्र—

षाट्कोशिकस्तु यो देहो भूततन्मात्रसंयुतः ॥५॥
स मनोबुद्ध्यहङ्कारबुद्धिकर्मेन्द्रियैर्गुणैः
सर्वतत्त्वैस्तथा देवैः समधिष्ठितविग्रहः ॥६॥
तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वै नाडिभिश्चरन् ।

स्थित इति शेषः । षट्कोशानि त्वक्मांसरक्तमज्जास्थिशुक्राणि । यो देहः, स कार्यकरणत्रयोविंशत्या सत्त्वादिभिर्गुणैः सर्वतत्त्वैश्च तदुपरिस्थितैर्नियत्यादिभिः शिवतत्त्वान्तैः, तथा देवैर्ब्रह्मादिभिः कारणैः, सम्यग् व्याप्यव्यापकभावेन, अधिष्ठितः कृतावस्थितिः, विग्रहः स्वरूपं यस्य । आत्मा संकुचितसंविद्रूपस्तत्तत्कर्मानुष्ठाता तत्फलभोक्ता च, प्रभोः स्वच्छन्दभैरवस्य, शक्तिः स्वातन्त्र्यात्मा मनःप्रसादाद्यवसरेषु भान्ती, वायुश्च नासिकापथवाही प्राणो नाडिभिर्वक्ष्यमाणाभिश्चरन् स्थितः । अयमत्राशयः—इह विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दसुन्दरः स्वतन्त्रभट्टारकः स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या

'स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण स एकः संव्यवस्थितः' (स्व० ४।२९५)

इत्युक्तन्यायेन सदाशिवादिक्षित्यन्तं विश्वमुन्मीलयेत् प्रथमं तदुल्लासनभित्ति **शून्यातिशून्यभूमिं** स्वात्मदर्पणे। तत्र च चित्प्रकाशप्राधान्येन शून्यस्य गुणीभावात् शून्यातिशून्यभूः सदाशिवादिमन्त्रान्तशुद्धप्रमातृसंकोचप्रपञ्चोत्थापिका **महामाया-** शब्दवाच्या उच्यते। यदा तु चित्प्रकाशगुणीभावात् शून्यमेव प्राधान्येन दर्शयति, तदैषा **माया**शक्तिरशेषविज्ञानाकलप्रलयाकलसकलतत्प्रमेयसंकोचप्रपञ्चप्रदर्शिका- ऽभिधीयते। यश्च संकोचस्तया प्रदर्श्यते, स एव शून्यप्रमाता निमग्नविमर्शशक्तिः। यदा चासौ व्यतिरिक्तमेयग्रहणायोन्मुखीभवति, तदा प्राणरूपतया स्फुरति, तथा स्फुरन्नपि कस्तूरिकाकणवत् तत्रापि तावत्यंशे संकुचिताशेषविश्वात्मतया भाति तदभिप्रायेणैव च विततविततमूर्तिवैचित्र्यात्मा पूर्वं षड्विधाध्वविभागः प्राण- स्थित इत्युक्तम्। इह चैकत्रैव प्राणोच्चारे नालिकातः प्रभृति षष्ट्यब्दोद- यान्तम्, एकादशपटले च मानुषायुष्कालात् प्रभृति अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य च आयुष्परिमाणमतिविततविततक्रियाशक्तिवैचित्र्यात्मकमस्ति, इति प्रतिपाद- यिष्यते। यद्यपि च प्राणभूमिकायामिवात्यन्तसंकुचितशरीराद्यात्मतायामपि परमे- श्वरः पूर्णषट्त्रिंशत्तत्त्वस्फाररूप एव यथा प्रतिपादितम्, तथापि 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति नीत्या प्राणरूपः परस्याः शक्तेरन्तरङ्गमधिष्ठानम्, तदवरोहक्रमेण भूतभावशरीरावतरणादिति समग्रप्राणप्रसरभित्तिभूतमध्यमप्राणभूमिकाध्यारोहक्र- मेणैव परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भपूर्वमेव स्वच्छन्दभैरवताऽवाप्यते महायोगिभिः मितयोगिभिश्च तत्तदान्तरकालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिर- विघ्नेनासाद्यते। अत एव प्रतिपादितप्रतिपादयिष्यमाणैतच्छास्त्रनिर्दिष्टः संहिता- न्तरनिर्दिष्टोऽपि वा सर्व एवोपासादिक्रमो मध्यप्राणपथोच्चरन्मन्त्रप्रमुखमेव फलदो भवति, इत्याशयेनात्र पटले परमेश्वरस्याध्यात्मिककालस्वरूपप्रतिपादने महान् संरम्भः, इत्यलं तावदिहैवाधिकेन ॥६॥

यद्यप्यात्मप्रभुशक्तिवायवः सर्वत्र देहस्थिताः तथापि प्राधान्याभिप्रायेण यथाक्रमम्—

नाभ्यधोमेढ्रकन्दे च स्थिता वै

नाभ्यन्तं प्रकृतितत्त्वस्य व्याप्तिरिति नाभावशेषनाडीचक्रभूतायां प्राधा- न्येनात्मा स्थितः, अधोमेढ्रे तु मध्यशक्तिः। एषां चात्र स्वरूपमवधानधनैरेव सम्यगुपलभ्यते न तु पशुभिः।

एवं स्थिते सत्यात्मविश्रान्तिपदात्—

नाभिमध्यतः ॥७॥

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये।

अत एवोक्तमन्यत्र—

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा० यो० ३।२९)

इति। केचित्तु नाभिचक्रम् इति पाठं पूर्वत्रैव योजयित्वा, तस्मादित्यनेन कन्दपदं प्रत्यवमृष्टवन्तः ॥७॥

तासां मध्यात्—

चक्रवत् संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ॥८॥

तत्र इति नाभौ पद्मे । दश नाडीर्नामतो वक्ष्यति ॥८॥

दशभ्यस्तु—

द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः ॥९॥

विनिर्गता इत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्रसृताः ॥९॥

किमवधि निर्याताः इत्याह—

यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः ।

अर्धचतस्रः कोटयः ॥

अतश्च—

यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः॥१०॥
शरीरं सर्वजन्तूनां तद्वद् व्याप्तं तु नाडिभिः ।

इह 'प्राक्संवित्प्राणे परिणता' इति स्थित्या निर्णीतनीत्या संवित्तिः शून्यभूमिकामाभास्य प्राणाभूमिमाश्रितवती, तत्रापि पलाशपत्रमध्यशाखान्यायेन मध्यनाड्याश्रयमध्यमप्राणरूपतां श्रित्वादिक्रमावस्थिते, तत्रापि प्रधाननाडीदशकाश्रयप्राणादिप्रधानवायुरूपतामासाद्य पुरुषायुषमध्यसंभव्यहःसंख्याकानि षट्त्रिंशत्सहस्राणि बहिर्वाहानां, प्राणनाडीनाम्, तावन्त्येव चान्तर्वाहानामपाननाडीनाम्, इत्युभयं द्वासप्ततिसहस्राणि प्रधानभूतानि भासितवती । तथा हि सति यावज्जीवं कर्तव्यत्वेन दीक्षितानां यन्नित्यकर्म भगवतस्वरूपानुसंधानादि आम्नात्, तदुक्तव्याप्तितत्त्वविदा एकवारमनुष्ठीयमानमपि सर्वमेवानुष्ठितं भवति । यदुक्तं कक्ष्यास्तोत्रे—

'या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण ।
नाड्यंशयुक्त्या सकृदेव जुह्वत् संपादयेत्तास्तव मार्गविद्यः ॥'

इति किं च—

'मध्यप्राणनिविष्टहंसविसृता ये रोमकूपाश्रयाः
प्राणाः सूक्ष्मविमर्शशालिवपुषः सार्धत्रिकोट्यात्मकाः ।
तान्मन्त्रात्मतया विलोमयति यो निःशेषतत्त्वाश्रये
देहेऽसाविह नादभैरवतनुः स्वच्छन्दनाथः परः ॥'

इति ॥१०॥

एताश्च नाडयः—

मारुतापूरिताः सर्वा आत्मशक्तिवराः सदा ॥११॥

आत्मा संकुचितसंविद्रूपो ग्राहकः शक्तिः प्राभवी विश्वाशेषपुरस्फुरत्तात्मा, ताभ्यां हेतुभ्यां चरन्ति वैचित्र्येण प्रसरन्ति ॥११॥

ताश्च—

पृथग् वृत्तिप्रभेदेन भिन्नाश्चारप्रभेदतः।

वृत्तयो व्यापाराः सूक्ष्मप्राणवाहात्मकचारप्रभेदहेतुकाः ॥

अत एव—

चारवृत्तिप्रभेदेन संज्ञाभेदो वरानने ॥१२॥

भवति ॥१२॥

अतश्च संज्ञाभेदात्—

नाडीनां चैव वायूनां भेदो ज्ञेयः सहस्रशः।

सार्धत्रिकोटिपर्यन्त इत्यर्थः ॥

तत्र—

प्रधाना दश याः प्रोक्ता नाडयश्च वरानने ॥१३॥
तासां मध्ये तु देवेशि वायवो ये व्यवस्थिताः।

मध्ये इत्यन्तः ॥१३॥

तेषाम्—

नाडीनां चैव वायूनां संज्ञावृत्तीर्निबोध मे ॥१४॥

वृत्तीर्व्यापारान् ॥१४॥

तत्र तावत्संज्ञा आह—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥१५॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता।

आसां व्यापारमाह—

एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः ॥१६॥

प्राणं प्राणनारूपं सामान्यं वक्ष्यमाणप्राणापानादिसंज्ञाभेदाद् दशविधं यथाक्रमं वहन्ति ॥१६॥

वायूनां संज्ञाभेदमाह—

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥१७॥

एषां वृत्तिभेदम्—

'जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ।
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्येदं विचेष्टितम् ।।' (७।३०६)

इत्यादिना पटलान्ते वितत्य वक्ष्यति ।।१७।।

एते च—

वायवो नाडयश्चैव चक्रवत् संस्थिताः प्रिये

नाभिमध्यं परिवृत्येत्यर्थः ।।

तासु संचरतः सिद्धिं योगं चैव वरानने ।।१८।।

संचरतीति संचरन् तं वायुमधिष्ठाय, तत्तदुचितां सिद्धिं चित्तैकाग्र्येण योगं च प्राप्नुयात् ।।

जपतश्च वरारोहे जपसिद्धिमवाप्नुयात् ।

तासु संचरतः इत्यनुवर्तते । जपाज्जपतः ।।

आसामपि—

दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम् ।।१९।।
बिन्दुनादात्मके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता ।

बिन्दुर्ज्ञानशक्तिप्रधानः प्राणस्तदात्मिका पिङ्गला दक्षनाडी । नादः क्रियाशक्तिप्रधानोऽपानस्तदात्मिका इडा वामनाडी । तयोर्मध्ये सुषुम्नाख्या परेच्छाशक्तिस्फुरत्तारूपा ।।१९।।

तिस्र एताः—

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ।।२०।।

हृत्पद्ममध्यकर्णिकायां सम्यगनुप्रवेशेन आ समन्तात् ख्याताः सत्यः साधकानां त्रिविधसिद्धिप्रदाः ।।२०।।

एवं स्थिते—

प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ।

प्राणः प्राणनात्मा सामान्यरूपः । अहोरात्रशब्दः पक्षमासाब्दोपलक्षकः ।।

यथा—

तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथास्फुटम् ।।२१।।

अत्र पीठिकाबन्धं तावत् करोति—

प्रभुशक्तिसमाकृष्टा मरुत्प्राणात्मसंस्थिताः ।
त्रय एतेऽविभागेन संचरन्ते समन्ततः ।।२२।।

मरुत् प्राणनात्मा सामान्यः, **प्राणस्तु** दक्षवाममध्यादिवाही प्राणापानोदानाद्याख्याविशिष्टः, आत्मा संकुचितचिदात्मा । तद्रूपतया संस्थितास्त्रय एते पदार्थाः, प्रभोः शिवस्य, शक्त्या समाकृष्टा इति शून्यपदावभासपुरःसरं प्राणनाभूमिमुल्लास्य प्राणापानादिविशेषपदवीमुट्टङ्कच भोगसांमुख्येन प्रवर्तिताः, अविभागेन संचरन्ते नानादेहभूमीः श्रयन्ति ।।२२।।

त्रिष्वेषु मध्ये यो मरुदुक्तः, सः—

अध ऊर्ध्वं वहेद्यस्मात् सर्वनाडीः प्रवाहयन् ।

ततोऽस्य—

वृत्तिसंज्ञाप्रभेदेन वर्णरूपाण्यनेकधा ।।२३।।

वृत्तिर्बहिर्वहनान्तर्वहनादिव्यापारस्ततो यः प्राणापानसमानादिसंज्ञाभेदस्तेन, द्वादशषोडशादिस्वरभेदभिन्नास्तद्गर्भीकृतव्यञ्जनात्मानश्च वर्णाः, तत्तदनुभवात्मकानि च रूपाणि, अनेकधा भवन्ति । अत्र चागमान्तरोक्त्या गर्भीकृतव्यञ्जनः स्वरोदयरूपः पञ्चाशद्वर्णोदयात्मा अष्टवर्गोदयस्वरूपो वा वर्णोदयोऽस्ति । स त्विह नोक्तः केवलं वर्णशब्देन सूचितः ।।२३।।

तदत्र—

द्वासप्ततिसहस्त्रेभ्यो जायन्ते दश वै प्रिये ।

ये दश प्राणादयस्ते द्वासप्ततिसहस्त्रेभ्यो द्वासप्ततिसहस्त्रनिमित्तं जायन्ते, तत्प्रपञ्चव्याप्तिं श्रयन्तीत्यर्थः ।।

ततोऽपि प्रागुक्ताध्युष्टकोट्यात्मतां प्राणः श्रयीतीत्याह—

कोटिधातो वरारोहे स एकः संव्यवस्थितः ।।२४।।

स च—

प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः' (स्व० ४।२८७)

इति यः पूर्वमेवाशेषवाच्यवाचकाविभागविमर्शमयो हलाकृतिः प्राण उक्तः, स एव स्वातन्त्र्यावभासितसंकोचावभासपुरःसरं निर्णीतावरोहक्रमेण प्रकृतं रूपं यस्य प्राणनरूपस्य सामान्यप्राणस्य, स विसर्गापूरणं प्रतीति सर्वैरेव सुषिरमार्गाद्बहिस्तत्तद्भावावभाससृष्टिरूपविसर्गार्थं तदवभासपुरःसरं प्रवेशयुक्त्या तदाहरणेनान्तरापूरणार्थं प्रकर्षेण अननाद्ध्वननादर्थजिघृक्षाग्रहणविश्रान्तिदशोचिताद्विमर्शात् प्राण इत्यर्थः ।।

एतदेव स्फुटयति—

नित्यमापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थितः ।।२५।।

प्राणनं कुरुते यस्मात् तस्मात् प्राणः प्रकीर्तितः ।

सर्वदेहगतोऽप्ययं प्राणिनामुरसि स्फुटमुपलभ्यमानत्वेनावस्थितो नित्यमापूरयन्, अर्थात् प्राणिनोऽर्थांश्च प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्राणनं विमर्शमयं जीवनं कुरुते, तस्मादयं प्राण उक्तः ।।२५।।

यदर्थमियान् पीठिकाबन्धः कृतस्तदेवानुबध्नन्नाह—

अहोरात्रगतिं प्राणे अधुना कथयामि ते ॥२६॥

गतिं ज्ञप्तिं प्रसरणं च ॥

तत्र—

तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥२७॥

याः पूर्वं चतुर्थपटले सपादद्वयङ्गुलोदयपरिमाणाः षोडश तुटय उक्ताः ताः—

'मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्वयं तु लवः स्मृतः ॥' (स्व० ११।२०१)

इत्येकादशपटलवक्ष्यमाणेन बाह्येन कालेन ते लवा लवशब्दाख्याः कालावयवाः । एवं च **प्राणीया तुटिर्बाह्यतुटिश्चान्यैव,** न तु शब्दसाम्यादत्र भ्रमितव्यम् । प्राणीया तुटिर्बाह्यो लवः, बाह्या तुटिः प्राणीयं तुट्यर्धं पर्यवस्यति । इत्थं च बाह्यः क्षणः प्राणीयतुटेस्तुर्योऽशः, इति मन्तव्यम् । अनेनैव च क्रमेण आन्तरप्राणापानोदयरूपो यः सन्ध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः, स एव—

'लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात् ।
दश पञ्च निमेषास्तु काष्ठा चैव प्रकीर्तिता ॥' (स्व० ११।२०२)

इत्येकादशपटलव्यवस्थयैव काष्ठाभिधानः कालावयवः । यदिहैवाग्रे वक्ष्यति—

'आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते' (स्व० ७।५०)

इति ॥२७॥

इह तु—

ताभिश्चतसृभिर्देवि प्राणे यामो विधीयते ।

ताभिरिति तुटिभिः, बहिर्वदन्तरपि दिनचतुर्भागो यामः प्रहरः ॥

तैरेव प्रहरैर्देवि चतुर्भिस्तु दिनं भवेत् ॥२८॥

एवं निर्गमक्रमवत् प्रवेशक्रमेणापि तथैव—

रात्रिश्चतुर्भिर्विज्ञेया

तदित्थं संकलय्य—

अहोरात्रस्त्वतोऽष्टभिः ।

पारमेशशक्तिनियमितसूर्योदयादिस्थित्या यथा बहिर्दिननिशाविभागः, तथान्तरपि प्राणसूर्योदयादिस्थित्या योगिनः प्रतिदिनादिसाध्यकार्यविवक्षया, इत्युक्तप्रायम् ॥

यथास्य प्राणस्य बहिरन्तर्वाहितानैयत्यम्, तथोपपादयति—

शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ॥२८॥
आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ।

यः पूर्वं चिदानन्दघनः शिव उक्तः, स धर्मेण स्वातन्त्र्यात्मना स्वभावेन, हंस इति हानसमादानधर्मा विश्वसर्गसंहारकारी, शिवत्वादेव पञ्चविधं कृत्यं हानसमादानसतत्त्वं करोति । यथा चासौ, तथा तदीयज्ञानशक्तिमयः सूर्योऽपि, प्रभया प्रकाशेन, अन्वितः सन् रसविसर्गादानक्रमेण हानसमादानधर्मा हंसः । यतश्च निर्णीतनीत्या शिव एव स्वातन्त्र्यावभासितसंकुचितचिद्रूप आत्मा, ततः सोऽपि करणोन्मीलननिमीलनादिक्रमेण हानसमादानधर्मा हंस इत्युक्त इति ।

'अनेनैव तु योगेन हंसः पुरुष' (४।२६०)

इत्यत्र योजनिकाग्रन्थे इत्थं स एव प्राणः प्राणभूमिकामाश्रितोऽपि बहिरन्तश्च हानसमादाने कुर्वन हंस एव । यतः स एवायं सूर्य आत्मा प्राणश्च हंसेन अनाहतात्मकनिष्कलभट्टारकेण शिवरूपेण सम्यगन्वितः । स एव ह्यवरोहक्रमेण प्राणान्तं पदमाश्रित्य बहिरन्तर्गमागमौ कुर्वन् सर्गसंहारकृत् । अत एवैतत्पदपरिशीलनाभ्यासेनैव झगिति परमशिवतामाविशन्ति महायोगिनः । प्रसङ्गादत्र रहस्यार्थः कटाक्षितः ॥२९॥

प्रकृतं तु—

तस्योदयात् कलेत् कालः ।

तस्य प्राणस्य, उदयात् प्रभृति जन्मादिविकारषट्कक्रमेण, कालो भूतवर्तमानादिभेदेन वहन् विश्वं जगत् कलयति । कलेत् इत्यैशः पाठः ॥

अत्र चोक्ताहोरात्ररूपे प्राणचारे—

ग्रहाणामुदयो भवेत् ॥३०॥

स चाद्र एव व्यक्तीभविष्यति ॥

किं च—

ऋक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च ।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते ॥३१॥

बाह्यदिनगतनक्षत्रानुसारं प्राथम्यं परिकल्प्य, प्राणापानवाहे सप्तविंशतिधा विभक्ते प्रमाणे, अश्विन्यादिनक्षत्राणां तदधिष्ठातॄणां मेषादिराशीनामनुकूलाननुकूलजन्मादिताराणां त्रिभागनवभागादिकलनया च राश्यंशानां बाह्य इव प्राणीयेऽप्यहोरात्रोदयोऽस्ति ॥३१॥

अथ—

अहोरात्रोदयस्यैव विभागं कथयामि ते ।
हृदयोर्ध्वे तु कण्ठाधो यावद्वै प्रवहेत् प्रिये ॥३२॥

अङ्गुलेन विहीने तु प्रथमः प्रहरः स्मृतः ।

'त्रुटिभिश्चतसृभिर्यामः' इति यत् प्रागुक्तम्, तत्त्रुटिचतुष्टयवाहिकालापेक्षम् । इदं तु देशापेक्षमिति न पौनरुक्त्यम् । हृदयात् कण्ठान्तं पूर्वं दशाङ्गुलमेकाङ्गुलहान्या नवाङ्गुलं भवति ॥३२॥

ततोऽपि—

द्वितीय ऊर्ध्वे विज्ञेयो मध्याह्नस्तालुमध्यतः ॥३३॥

अत्रापि नवाङ्गुलतैव यो द्वितीयः, स एव तालुमध्ये मध्याह्नः ॥३३॥

अत्र विश्रान्तस्यानुष्ठानफलमाह—

अत्र होमो जपो ध्यानं कृतं वै मोक्षदं भवेत् ।

अथ—

नासाग्र्यत्र्यङ्गुलोर्ध्वे तु यावत् प्राप्तस्तु सुव्रते ॥३४॥
प्रहरस्तु तृतीयोऽसौ भवेद् वै वरवर्णिनि ।

नासाग्रचस्य भ्रूमध्यस्य, त्र्यङ्गुलमूर्ध्वं ललाटम्, आकण्ठं चतुरङ्गुलात्तालुनो भ्रूमध्यं द्व्यङ्गुलमिति तदूर्ध्वं त्र्यङ्गुलमुक्तम् ॥३४॥

तदुपरि—

शक्त्यन्ते च चतुर्थस्तु प्रहरः

शक्त्यन्ते द्वादशान्ते ॥

एतावदन्तम्—

अहः प्रकीर्तितम् ॥३५॥

आन्तरम् ॥३५॥

तत्र च—

चतुर्थान्ते तु देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः ।

सदा इति यदा यदा चतुर्थप्रहरस्यान्तो भवति, तदा प्राण एव अहोरात्रविभागहेतुत्वात् सूर्योऽस्तमेति ॥

किं च—

ततोऽस्तमयसन्ध्यात्र त्रुट्यर्धं तु भवेत् प्रिये ॥३६॥

तत इति तं चतुर्थान्तमवलम्ब्य, प्राणनिवृत्सापानोल्लिलसिषासामरस्यात्मतया गुणीभूतवाहत्वेनोन्मज्जच्छक्तितद्वत्प्रकाशावेशविश्रान्तिरूपार्धत्रुटिकला अस्यमयसंध्या ॥३६॥

अत्र च सन्ध्यायां प्राणसूर्यः—

तत्कालं तु विलम्ब्यैवं पुनश्चाधः प्रवर्तते ।

तत्कालं तुट्यर्धम् संघट्टपदे विश्रम्य, एवम् इत्यारोहक्रमेणैव पुनश्च इति पुनः पुनः अधः प्रवर्तते अपानचन्द्रीभूय हृदन्तमवरोहति ॥

तदाह—

स च चन्द्रोदयो देवि रजनी च विधीयते ॥३७॥

सूर्य एव प्रभासंक्रमणयुक्त्या चन्द्र इति कालज्ञाः ॥३७॥

रात्रावपि प्रहरक्रमः प्राग्वन्नवाङ्गुलस्थित्या अपानचन्द्रसंचारक्रमेणेत्यतिदिशति—

पूर्वोक्तक्रमयोगेन यामेष्वेवं चरत्यसौ ।

अत्र सन्ध्याविश्रान्त्यनन्तरं दिनचतुर्थप्रहरोदयस्थानान्तमाद्यः प्रहरः ॥

ततः—

तालुके चार्धरात्रस्तु पुनरेवं विधीयते ॥३८॥

पुनरेवम् इत्यवरोहक्रमेण नवाङ्गुलस्थित्यैवेत्यर्थः। अत्र होमादि सिद्धिदमित्यर्थलब्धमेतत्। किं च—पुनरेवं विधीयत इति पुनरपि नवाङ्गुलस्थित्या कण्ठाधोऽङ्गुलान्ते तृतीयो रात्रियाम इत्यर्थः ॥३८॥

ततोऽपि—

हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा ।

तत्रापि—

तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः ॥३९॥

एतत् पूर्ववद्व्याख्येयम्। पूर्वत्वमत्र संध्यायास्तदनन्तरं प्राणसूर्योदयात्मकदिनप्रारम्भात् ॥

यदाह—

तस्मात् समुदयश्चैव सूर्यस्य स भवेत् पुनः ।

सूर्यः प्राणः ॥

उदेत्य च—

पूर्ववत् क्रमयोगेन स चरेद्धि सदा शुभे ॥४०॥

शुभे इत्यामन्त्रणम् ॥४०॥

अत्रैव—

वासरे तु चरेत् सूर्यो धारायां संचरेच्छशी ।

प्राण एव सूर्यः अपानस्तु चन्द्रः। अथ च सूर्य इन्द्रियवर्गो वासरे प्राणोदये चरति समुल्लस्य बाह्यं प्रकाशयति। धारायां निशायामपानोदये शशी मेयग्रामरूपः चरेत् प्रमाणप्रकाशमाविश्य प्रमात्रैकात्म्यमेति ॥

तदित्थमहोरात्रमध्ये—

चन्द्रसूर्योदयो ह्येष मया ते परिकीर्तितः ॥४१॥

साधकानां सौम्येतरसिद्ध्यर्थमत्रैव मध्ये सूरोदयोक्तवद्ग्रहपञ्चकोदयक्रमं दर्शयति—

भौमाद्याश्च ग्रहा ह्येवं चरन्ति प्रविभागशः।

यथा सदा बहिरन्तश्च दिननिशयोः सूर्यसोमौ चरतः, तथा सदैव पञ्चधा पञ्चधा विभक्तयोस्तयोः भौमाद्याः सौरान्ताः पञ्च विभागक्रमेण चरन्ति, तेन च क्रूरसौम्यसिद्ध्यङ्गं भवन्ति ॥

अथ बाह्यवेलावारानुसारमहनि निशायां चान्तरपि ग्रहसप्तकोदयं गारुडादिशास्त्रदृष्टन्यायेन दर्शयति—

प्राणे चाप्युदयन्त्येते प्रहरे प्रहरे प्रिये ॥४२।
वेला वारो भवेद्यस्य स चरेत् प्रहरद्वयम्।

यस्य ग्रहस्य बहिर्वारः, स प्रथमे प्रहरे बहिरिव अन्तरप्युदेति। ततो दिने षट्परिवर्तनक्रमेण अर्धेऽर्धे प्रहरे तदन्ये, यावदन्त्ये तद्दिनार्धप्रहरे स एव। तदुत्तरेष्वसरेषु क्रमेण पञ्चपरिवृत्तिक्रमेणान्ये, यावदन्त्ये तन्निशार्धप्रहरे स एव। एवमेकैकस्य ग्रहस्य दिनेऽर्धप्रहरं रात्रावर्धप्रहरं चोदयः। वारभागिनस्तु द्विगुणमिति स्थितेऽहोरात्रमेलनया वारभागिनः प्रहरद्वयम्, तदन्येषां तु प्रहरमुदयो भवति। तदुक्तं **श्रीतोतुले**—

'प्रहरार्धभुजः सर्वेऽहोरात्रं च चरन्ति ते।'

इति। **संहितासारेऽपि**—

'णिसिवासर दुपहरेणा आभुञ्जन्ति गहपराहणा।
जस्स दिनं सेवारो विणिवत्तइ रग्रणिव अणा ते।
कमपरिवेत्तण दिणरतिं भुञ्जन्ति बाणपरिवत्ते' ॥

इति ॥४२॥

अत्रैव मध्ये—

राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता ॥४३॥

सहेत्यर्थः। तेन तच्चार एव तयोश्चारः। न तु ग्रहान्तरवद्व्यतिरिक्तः ॥४३॥

किं च—

ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते।
मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः ॥४४॥
ते च पञ्चाष्टका रुद्रास्तथा योगाष्टकाः परे।
अनन्तादिशिखण्ड्यन्तास्ते च विद्येश्वराष्टकाः ॥४५॥

सकलाद्यानि तत्त्वानि स्थितानि परतस्त्विह ।
पूर्वोक्ता भैरवाश्चाष्टौ सर्वे ते च व्यवस्थिताः ॥४६॥

ग्रहा आदित्यादयः सौरान्ता यथाक्रममनन्तवासुकितक्षककार्कोटपद्ममहापद्म-शंखपालनागाः, राहुस्तु कुलिकः । तदुक्तम्—

'इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते ।
तक्षकः कुज इत्युक्तः कार्कोटः सोमजो भवेत् ॥
सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते ।
शंखो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागा ग्रहाः क्रमात् ॥
अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत् ।'

इति । यश्च श्रीतोतुले—

'रवेः षोडश मध्यात्तु चतुरोऽन्ताच्च भार्गवात् ।
चषकौ द्वौ बुधस्यादौ सोमस्याष्टौ तु मध्यतः ॥
सौरस्यान्ताच्चतुःषष्टि मध्यतश्चषकं गुरोः ।
द्वात्रिंशतं कुजस्यान्ताद् भुङ्क्ते षट्परिवर्ततः ॥'

इति चषकसंख्यया कुलिककाल उक्तः, सोऽत्रात्यन्तसूक्ष्मे प्राणचारे दुर्लक्ष्य एवेत्यविचार्य एव । एवं पुंभोगाय दिनार्धप्रहरानधितिष्ठतां ग्रहाणां नागैरधिष्ठितत्वम्, नागानां तूक्तक्रमस्थितिभिर्लोकपालैरिन्द्रादिभिः । इन्द्राद्या मूर्तिभिरिति क्षित्यादिमूर्त्यधिष्ठातृशर्वरुद्रभवादिभिर्मूर्तीश्वरैः, ते च चण्डनन्द्यादिभिः प्रागुक्तैर्गणेशैः, तेऽपि गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाण्वाद्यैः पञ्चभिरष्टकैः क्रमात् क्रममधिष्ठिताः । तेऽप्यव्यक्तादिना योगाष्टकेन व्याप्ताः योगाष्टकादपि परे ये प्रकृतिस्थाः क्रोधाद्याः, मायास्था मण्डलिप्रभृतयस्तैर्व्याप्ताः, तेऽपि विद्यातत्त्वगतैरनन्तादिभिः, विद्येश्वरा अपि सकलाद्यैरिति सदाशिवपरिवारभूतैः

'सकलो निष्कलः शून्यः कलाढ्य······ ।' (१०।११९४)

इति वक्ष्यमाणैरष्टभिः, यद्वा सकलः सदाशिव आद्यो येषामूर्द्धवर्तिबिन्दीशब्रह्मव्यापिव्योमानन्तानाथानाश्रितानाम्, तैस्तत्त्वैरित्यभेदभूमिस्पर्शात् पारमार्थिकैर्देवैः । तेऽप्यौन्मनसपदव्याप्त्यवस्थितश्रीस्वच्छन्दनाथपरिवारत्वात् तदधिष्ठितैः कपालीशादिभिर्भैरवैरधिष्ठिताः । तदाह सर्व एवैते तेषु प्राणीयाहोरात्रार्धप्रहरेषु व्यवस्थिताः । अत्र चाद्यार्धप्रहरक्रमेणैव इन्द्रादीनां दिने रात्रौ च द्वितुटिक उदयः, न तु षट्परिवृत्त्याद्यवस्थितग्रहस्थित्या, ग्रहाणां सप्तानामष्टकैः सह संगत्ययोगात् । व्यवस्थितिश्चैषामभेदव्याप्तिः, अत एवात्र सामानाधिकरण्येनोक्तिः कृता । एवं च परभैरवस्फारमयत्वमेव प्राणे पर्यवसितम्, अतो यदस्माभिः प्राणभूमिकायामहोरात्रक्रमेण व्याप्तिप्रदर्शनं पूर्वं कृतम, तदुत्सूत्रं न मन्तव्यम् । इत्थं च सर्वमिदं परमेश्वराद्वयमेवेत्यत्र ज्ञानादेव ज्ञानिनां जीवन्मुक्तिः

करतलगतेव, साधकानां तु तत्तद्भुवनेश्वरादिव्याप्ततत्पदानुसारेणापि महाव्या-
प्त्यनुसंधानाविघ्नेनैव तत्तत्सिद्ध्युदयो भवति, इति प्रतिपादितं भवति ।।४६।।

तदुक्तमेवार्थमनुबध्नाति—

ग्रहादीन् समधिष्ठाय सर्वेषूदयकारकाः ।

सर्वे एवैते लोकपालाद्या भैरवान्ताः, सर्वेषु दिनरात्रिप्रहरेषु उदयं कुर्वन्ति ।
कथम् ? ग्रहादीनिति तत्तदर्धप्रहरेषु पर्यायेण प्राप्तवारान् सूर्यादिग्रहान्, आदि-
शब्दादनन्तादिनागांश्च सम्यगभेदेनाधिष्ठाय ।।

किं च—

राशिभिः सह नक्षत्रैस्त उद्यन्ति अहर्निशम् ।।४७।।

हृदयात् प्रभृति द्वादशान्तं यावत् प्रत्यङ्गुलषट्कं राशिः, इति स्थित्या
मकरादयो मिथुनान्ताः षड्राशयः, तदधिष्ठितानि च नक्षत्राणि तदनुसारेणैव
प्रत्यंशमपि तत्र उद्यन्ति, तथैव च द्वादशान्ताद्धृदयं यावत् कर्कटाद्या धन्व-
न्ताः ।।४७।।

अत्रैवाभिजिदुदयमाह—

मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत् ।

तालुनीत्यर्थः । अभिजयति सर्वान् विघ्नान् इत्यभिजिद् नक्षत्रविशेषः ।।

अतश्च—

अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ।।४८।।

इह इति पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु, उक्तं यद् भोगमोक्षाख्यं फलं साधकाना-
मिष्टम्, तत्तु माध्याह्ने आर्धरात्रिकेऽभिजिन्नक्षत्रे भवत्येव ।।४८।।

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

अहोरात्रविभागोऽयमेवं ते कथितो मया ।
अधुना पक्षमासांश्च वर्षाणि कथयामि ते ।।४९।।

तत्र निर्णीताभ्यन्तराहोरात्रं बाह्ये काले नियोजयति—

आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते ।

अत्र काष्ठा न घटिका, अपि तु दशपञ्चनिमेषात्मा कालावयवविशेष इति
दर्शितमेव ।।

किं च—

मासेनाध्यात्मिकेनैव बाह्ये चैव कला भवेत् ।।५०।।
तत्र त्रिंशदहोरात्रा मासस्तु वरवर्णिनि ।

आध्यात्मिको मासः, ते प्राणचारात्मानस्त्रिंशदहोरात्रा बाह्यास्त्रिंशत्काष्ठाः,
तेन इदृशेनान्तरेण मासेन बाह्यकलाख्य एव कालो भवति ।

वक्ष्यति चैकादशे—

'त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेया' (११।२०३)

इति। एवशब्दः कलाशब्दानन्तरं योज्यः। वरं वर्णयति सर्वोत्कृष्टं परं तत्त्वं परामृशतीति वरवर्णिनी ॥

किंचाध्यात्मिकैः—;

मासैर्द्वादशभिश्चैव बाह्येऽथ घटिका भवेत् ॥५१॥

तदेव स्फुटयति—

शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिका।
वर्षमेतत् समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा ॥५२॥

सषष्टित्रिशतप्राणापानचारा बाह्या घटिका। यतोऽसौ षष्टिश्चषकाणि' चषकं च षट् प्राणापानचाराः ॥४२॥

एवमुक्तरूपाध्यात्मिकवर्षकलिताः—

घटिका षष्टिस्त्वहोरात्रे बाह्ये तु प्रवहन्ति वै।
ता एवान्तरचारेण षष्टिः संवत्सराः स्मृताः ॥५३॥

बाह्यघटिका आन्तरं वर्षमिति विभक्तमेव। अतस्ताः षष्टिस्तावन्त्येवान्तराणि वर्षाणि सूक्ष्मकालगत्या। अत एवैकत्र प्राणचारे षष्ट्यब्दोदय इति परा कालस्थितिरग्रे स्फुटीभविष्यति ॥४३॥

अथ षष्टिघटिकात्मसु वर्षेषु—

प्राणसंख्यां पुनस्तेषु कथयाम्यधुना तव।
षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ॥५४॥
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे।

घटिकायां सषष्टिस्त्रिशती प्राणचाराणाम्, इति गणनया षष्टिघटिकासंख्ये बाह्येऽहोरात्रेऽध्यात्मे आत्मनि तदाश्रयेण प्राणचाराणामेषैव संख्या भवति ॥

एवमीदृशी—

प्राणसंख्या समाख्याता ज्ञातव्या साधकेन तु ॥५५॥

एवं प्रोक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वेन—

प्राणहंसे सदा लीनः साधकः

लीनो निभालनया विश्रान्तः ॥

तथा प्राणभूमिन्यग्भावेन शाक्तपदसमावेशादेवासौ—

परतत्त्ववित् ।

भवति ॥ तदा च—

तस्यायं जप उद्दिष्टः सिद्धिमुक्तिफलप्रदः ॥५६॥

इह प्राणो निर्णीतविश्वमन्त्रवीर्यभूतहंसाश्रयत्वाद्धंस इति । तत्र यो लीनः, स प्राणसंख्ययैव सदैतावज्जपयुक्तो भवति । यथोक्तं **श्रीविज्ञानभैरवे—**

'षट् शतानि दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ।

जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ॥' (श्लो० १५६)

इति ॥५६॥

सिद्धिमुक्तिद इति यदुक्तम्, तद्विभजति—

अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः ।

मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते ॥५७॥

एतच्च—

'यदा करोति सृष्टिं च (६-१५)

इत्यादौ वितत्य निर्णीतम् ॥५७॥

तदेवमुक्तव्याप्तिज्ञानपूर्वं प्राणहंसे लीनतया परतत्त्वविदो योगिनः सर्व एव कालस्तत्प्ररोहप्रकर्षात्तादृगनुभवमय एव भवतीत्याह—

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।

यथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा ॥५८॥

तथेति मध्येऽध्याहार्यम् । तेन यद्यप्यन्तःकृतयो बहिष्कृतयः स्वभिये प्रसृताः, तथापि परतत्त्वविश्रान्तिपरत्वेन प्राणव्याप्तिज्ञस्य तथा तेनैव परविश्रान्तिप्रदेन प्रकारेण प्राणो हंसात्मा मध्यमः, अयत्नादेव स्वरसत एव, सर्वदा प्रवर्तते-वहति ॥४८॥

एतदेवोपोद्बलयति—

नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।

स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥५९॥

हंसः प्राग्व्यावर्णितसतत्त्वपरनिष्कलभट्टारकः, तदधिष्ठितत्वान्मध्यमः प्राणोऽपि निर्णीतव्याप्तिसारः, स्वयमुच्चरते अशेषं वाच्यवाचकक्रममुल्लङ्घ्य परमाभेदसारमहामन्त्रवीर्यात्मना स्फुरति । यतोऽस्य न कश्चिदुच्चारयिता प्रतिहन्ता वा अस्ति, अस्यैव सर्वकर्तृत्वेन परमातृरूपत्वात् । अत एव चायम् अनाहत इत्युद्घोष्यते, इतरवर्णवत् स्थानकरणाभिघातानभिव्यक्तत्वादनस्तमितत्वाच्च । स चायं प्राणिनामुरसि हृदये जीवितस्यापि जीवितभूतः स्थितः । केचिदेव त्ववधानधना एतत्सत्तामाविशन्ति ॥

तदित्थं परतत्त्वावहितसाधकजपनिष्पत्त्वभिप्रायेण—

मासवत्सरसंख्या तु एषा ते कथिता मया ।

आध्यात्मिकीति शेषः । त्रिंशत्प्राणचारा आध्यात्मिको मासः, षष्टयधिका तु त्रिशती वत्सरः, इति हि निर्णीतमेव ॥

इदानीमत्रैव प्राणचारे—

चन्द्रसूर्योपरागं तु कथयामि ततः परम् ॥६०॥

साधकस्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदमिति स्थितमेव ॥६०॥

तत्रादौ—

अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तः प्राणेऽस्मिन् सुरसुन्दरि ।
स एव पक्षद्वितयं मासं च कथयामि ते ॥६१॥

अविभागेनेति शेषः । त्रिंशत्प्राणचाराः ॥६१॥

तत्र कृष्णपक्षं तावत् पक्षसंधिप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति—

तुट्यर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः ।
मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥६२॥

अध ऊर्ध्वं च यत्तुट्यर्धं पूर्वमहोरात्रोदये पूर्वापरसंध्यात्वेनोक्तम्, स एवेह विश्रमः पक्षसंधित्वेन कीर्तितः । यास्तु मध्ये पञ्चदश तुटयः, ता एव प्रतिपदाद्यास्तिथयः ॥६२॥

अत्र च पक्षसंधितुट्यर्धमुत्सृज्य, प्रतितुट्यहोरात्रविभागमाह—

प्रथमोदये तु हृत्पद्मात्तुट्यर्धं तु दिनं भवेत् ।
द्वितीये चैव तुट्यर्धे यदा चरति शर्वरी ॥६३॥

हृत्पद्मादित्युपलक्षणम् । तेनैकैकस्यास्तुटेः सार्धपादाङ्गुलपरिमाणमाद्यमर्धं दिनं प्रकाशरूपम्, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिः । यत इयं भगवती संवित्प्रकाशानन्दमयी, ततो यत्र यावन्तावनया वेद्यवेदकविश्रान्तिरूपौ प्रकाशानन्दावाभास्येते, तत्र तावद्रूपे एव दिननिशे । तथा च मशकादौ सदाशिवादौ चात्यल्पातिविततकालत्वं तयोर्युक्तमेव । एवं च प्रतितुट्यर्धं वक्ष्यमाणक्रमेण तदंशांशेष्वपि वा तावाभासमानौ दिननिशाभेदं समुचितं प्रमातारं प्रति भासयत एव । कदाचिच्च प्रकाशस्याधिक्यम् कदाचिच्च विश्रान्तेः, कदाचित्तयोः साम्यमिति कृत्वा दिननिशयोर्वैषम्यं च भवत्यन्तर्बहिश्च । यदा चरति इति सूत्रांशादनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम् ॥६३॥

अत्र च दिनरात्रिभेदे—

राशयो ग्रहनक्षत्राण्युदयन्ति यथाक्रमम् ।

पारमेश्वर्या हि संविदा या यादृशी दिनादिव्यवस्था क्रियते, तां सर्वे ग्रहादयोऽनुवर्तन्ते ॥

तदित्थम्—

अस्मिन्नेवमहोरात्रे पूर्ववच्च वरानने ॥६४॥
त्रुटिभिः पञ्चदशभिः पक्षः स तु विधीयते ।

अस्मिन् इत्यान्तरे । एवम् इति त्रुट्यर्धार्धकलनया । पूर्ववद् इति सुसूक्ष्मया दृष्ट्या । पक्ष इति कृष्ण इत्यर्थात् ॥

अथात्रैव पक्षे आमावस्यप्रातिपदतिथ्यंशमेलनप्रकटनेन सूर्यग्रहं निर्णिनीषुस्तिथिच्छेदवृद्धी दर्शयति—

तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत् ॥६५॥
ऋणं चैव भवेत् कासो निःश्वासो धन उच्यते ।

ऋणं प्राणवाहस्य किंचिदल्पकालता कासवशाद्भवति । तथा सति झगिति धावनादामावस्योंऽशः प्रतिपत्स्थानं प्रसरति । एतच्च दर्शयिष्यमाणसूर्यग्रहणोपयोगि । निःश्वासवशात्तु किंचिच्चिरकालता अपानचन्द्रस्य धनम्, तथा सति पूर्णमास्युदयश्चन्द्रग्रहोपयोगी भवति ॥

प्रकृतं तु—

कृष्णपक्षोर्ध्वचारेण संहारः संक्षयो भवेत् ॥६६॥

कृष्णपक्षरूपेणोर्ध्वचारेण प्रक्रान्तस्य प्राणस्य यः संहारः, स एव प्रवेशितपूर्वप्राणावस्थितमेयचन्द्रस्य प्रतितुट्येकैककलाक्रमेण अमावस्यान्तं पञ्चदशकलानां संक्षय इत्यर्थः । तदुक्तं **श्रीकामिकायाम्**—

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ।
पिबन्ति च सुराः सर्वे दश पञ्च पराः कलाः ॥
अमाशेषगुहान्तस्थामावस्या विश्वतर्पिणी ॥'

इति । द्विधेति कलापञ्चदशकभित्तिभूतातिस्वच्छरूपतया दृश्यमानसितपक्षपञ्चदशकलात्मना चेत्यर्थः ॥६६॥

यत ईदृक् कृष्णपक्षः, ततः—

क्रूरकर्माणि वै तत्र कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात् ।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते ॥६७॥

चकारौ तुशब्दैवशब्दयोरर्थे । इह यदन्तस्तद्बहिरिति स्थित्या यद्यदान्तरे दिनरात्रितत्संध्यापक्षमासादिके फलमुक्तम्, तत्तद्बाह्येऽपि तत्र तथैवेति मन्तव्यम् ॥६७॥

अथान्तरीममावस्यां दर्शयति—

शक्ति वै विशति प्राणे या तुटिस्तु विधीयते।
आमावस्या तु सा ज्ञेया कृष्णपक्षे वरानने ॥६८॥

शक्तिः ब्रह्मरन्ध्रस्थानम् तुटिरिति प्रक्षीणचन्द्रा पञ्चदशी। अत एवामाख्यायां षोडश्यां तुटौ वसनात तद्द्विरत्यवलम्बनादमावस्या सा ज्ञेया ॥६८॥

अथ पूर्वमासूत्रितं पक्षसंधिं स्फुटयति—

शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तितम्।
पक्षसंधिस्त्वसौ ज्ञेयः

ब्रह्मरन्ध्रादुत्थितायाः शक्तेर्मध्यं त्वक्स्थानं त्वक्शेषस्तु केशस्थानमूर्ध्वमेकमेव तुट्यर्धं यत्, स पक्षयोः कृष्णशुक्लयोः संधिः। यदेव हि प्राणस्यान्त्यं तुट्यर्धं तदेवापानस्याद्यं भवतीत्येतदुभयोस्तुट्यर्धात्मकं देशत एकमेव तत्तुट्यर्धद्वयवाहकालं संधिपदम् ॥

अथात्र सूर्यग्रहणं दर्शयति—

अमावस्यार्धप्रतिपदा ॥६९॥
तिथिच्छेदेन वै तत्र सूर्यस्य ग्रहणं भवेत्।

प्रागुक्तात् कासात् तिथिच्छेदेन यदा अमावस्येति तत्संबद्धः पक्षसंध्यार्धकालः स्वस्मिन् संध्यातुटिभागे प्रतिपत्कालेन सह भवति, तदा सूर्यग्रहणं भवति ॥

यतः—

रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ॥७०॥
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने।
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तम् ॥७१॥
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते।

तदेति प्रतिपदोऽमावस्याभागसंघट्टे रविबिम्बान्तरे प्राणमध्ये, चन्द्रबिम्बम् अपानः प्रविशेत्। पूर्वोक्तनीत्या च चन्द्रसहचारी राहुः सूर्यसंस्पर्शविलीनं चान्द्रममृतं पीत्वा कंचित्कालमास्वाद्य अपानरूपं चन्द्रबिम्बं स्वसंबन्धाद् मुञ्चति। इदमत्र सतत्त्वम्—

प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्र-
विद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु
पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत् त्रयघट्टनज्ञः ॥

एवमन्तरिव बहिरप्यनयैव युक्त्या भवेत् ॥

आदित्यग्रहणं चैव लोके तदुपदिश्यते ॥७२॥

ततो ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रक्रियया—

राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा ।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ।।७३।।

महत्त्वमेव व्यनक्ति—

स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत् ।

तथा च—

तत्र स्नानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ।।७४।।
यत्कृतं साधकैर्देवि तदनन्तफलं भवेत् ।

अनन्तम् अपरिच्छिन्नं मोक्षाख्यं फलं यस्य । यद्वक्ष्यति—

'मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे' (७।८६)

इत्यादि ।।

एवं कृष्णपक्षं सूर्यग्रहणं च प्रदर्श्य, शुक्लपक्षं चन्द्रग्रहणं च क्रमादादिशति देवः—

तां चैवार्धतुटिं त्यक्त्वा शुक्लपक्षोदयो भवेत् ।।७५।।

ताम् इति यत्र सूर्यग्रहणं दर्शितम्, **शुक्लपक्षः** अपानचन्द्रोदयरूपः ।।७५।।

तदाह—

शक्तिगर्भादधः सृष्टिस्तस्माद् वृद्धिः प्रजायते ।

शक्तेर्गर्भः कुण्डलाकारता, सा हि शिम्बिकारूपतया स्वान्तरशेषं विश्वमासूत्र्य, अध इति हृदयपर्यन्तं तदेव सृजति । अत एव वृद्धिः क्रमात्क्रममपानचन्द्रपरिपुष्टिरूपा तथा वृद्धिर्निःश्वासात्मकधनरूपा जायते, अत्र कासक्रमेण तिथिच्छेदस्याभावात् ।।

यत एवम्, अतः—

तदारभ्य च कर्माणि शुभान्यभ्युदयानि च ।।७६।।
ध्यानमन्त्रादियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

तदारभ्य इति शक्तिगर्भस्वरूपमवष्टभ्य, शुभानि आप्यायनादीनि कर्माणि, अभ्युदयानि च तत्फलानि च ।।

अत्र शुक्लपक्षे दिननिशाविभागं प्रदर्शयति—

प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तां प्रथमां तुटिम् ।।७७।।
पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुट्यर्धमपरं निशा ।

प्राणहंस इति प्राग्वत् । अध इति संधितुट्यर्धात् प्रथमां तुटिं शुक्लपक्षप्रतिपद्रूपाम् । यदाशब्दश्रवणात् तदेत्यध्याहार्यम् । अहर्निशाप्रविभागः प्राग्वदेव । एवं द्वितीयादितिथिष्वपि मन्तव्यम् ।।

किं चात्र—

राशयो ग्रह ऋक्षाणि योगाश्च करणानि च ॥७८॥
पूर्ववत् क्रमयोगेन तान्युद्यन्ति त्वहर्निशम् ।

गतार्थमेतत् ॥

या चेयं प्रथमा तुटिः—

प्रतिपत् सा तु विज्ञेया

अत्र—

चन्द्रश्चैककलो भवेत् ॥७९॥

किं च—

द्वितीयायां द्वितीया तु वृद्धिमेति क्रमेण तु ।

द्वितीयायाम् इति तुटौ । द्वितीया इति कला ॥

एता एव तुटयः—

तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशी तुटिः ॥८०॥

भवति ॥८०॥

सा च पञ्चदशी—

पौर्णमासी तु विज्ञेया तिथिर्वै साधकेन तु ।

माः चन्द्रः पूर्णोऽस्यामिति कृत्वा, अत एवैहिकसिद्धिं साधयति । तेनैषा साधकैरुक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसारतया ज्ञातव्या ॥

अतश्च—

तत्र पूजा जपो ध्यानं संपूर्णं सफलं भवेत् ॥८१॥

ऐहिकफलमित्यर्थात् ॥८१॥

यतः—

संपूर्णश्च भवेत्तस्यां चन्द्रो वै चारुलोचने ।

चो ह्यर्थे । चन्द्रः अपानः ॥

अथ—

तस्याश्चार्धतुटिर्या तु पक्षसंध्या तु सा स्मृता ॥८२॥

प्राग्वदेव । तस्या इत्यवधौ पञ्चमी ॥

कृष्णपक्षसंध्याशब्दवाच्यस्य पक्षसन्धेः पूर्ववदेव—

तस्यार्धं पौर्णमासी तु प्रतिपदर्धेन संस्थिता ।

प्रतिपदः संबन्धिना अर्धेनेति तृतीया सहार्थे ॥

इत्थं च प्रागुक्तव्याप्त्यैव—

हृत्पद्मसंधिमध्ये तु सोमस्य ग्रहणं भवेत् ॥८३॥

संधिमध्यं प्राणापानसंधिस्थानम् । इदमत्र तत्त्वम्—

'द्रवितसंस्नुतसुधारसक्रमात् पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन् ।
छादयेदिह शुभे महाग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः ॥'

इति । तदेतद् अन्तरिव बहिरपि ॥८३॥

आदित्येन विना लोके सोमग्रहणमुच्यते ।

प्रतिपत्सङ्गात् दुरस्थार्कस्पृष्टेऽपीन्दौ रात्रावर्काभावात्, सूर्यग्रहणे तु पार्वणेन्दुकलयार्कः संस्पृश्यत एव ॥

किं च—

तव च ैत्रमहत्पुण्यं ध्यानहमजपादिभिः ॥८४॥

यथोर्ध्वपदे आदित्यग्रहणं मोक्षप्रदतया महापुण्यम्, तथा तत्रैव इति मध्यमधामप्रवेशक्रमलब्धे हृदये, चन्द्रग्रहणमैहिकोत्तमसिद्धिप्रदतया महापुण्यम् ॥८४॥

न च केवलं मध्यधामनि चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणम्, यावत्—

पक्षद्वयेऽपि देवेशि ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।
नानासिद्धिप्रदं ह्येतत् साधकस्याभियोगिनः ॥८५॥

पक्षद्वये दक्षे वामे च, मध्यवदेव ग्रहणद्वयम् । नाना इति क्रूरसौम्यसिद्धिप्रदम् । अभियोगिन उद्युक्तस्य ॥८५॥

मुमुक्षोस्तु—

मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे पक्षद्वयसमुज्झितः ।

चशब्द एवशब्देन सह नियतविषयतया तत्त्वेश्वरपदव्याप्त्यादिरूपमुत्तमं भोगं समुच्चिनोति । तेन पक्षद्वयोज्झितो मध्यमार्गश्च यो मोक्षः, तदूर्ध्वे सूर्यग्रहणे मोक्ष एव, हृदि तु चन्द्रग्रहणे भोगो मोक्षश्च ॥

अतश्च यो मोक्षार्थी—

पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन तु ॥८६॥
उन्मन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः ।
परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानमास्थाय योजयेत् ॥८७॥
तस्य मुक्तिर्न संदेहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत् ।

पूर्वोक्तं करणं दिव्यम् । परा वृत्तिरुक्ता लक्ष्यते च । अधस्तनं सर्वमुन्मनान्तं परित्यज्य तत्समरसीकृत्य । ध्यानं परतत्त्वविमर्शः । अन्यथा इति दक्षवामपथोर्ध्वस्थितः ॥८६-८७॥

मध्यपथग्रहणं चैतद् दुर्लभम्, इतरत्तु सुलभमेव इत्याह—

पक्षद्वयेऽपि ग्रहणं भवेद्वै सर्वदेहिनाम् ॥८८॥

देहिनाम् इत्यनेन मितयोगिनामत्यन्तं देहप्रमात्रभिमानत्वमिति दर्शयति ॥८८॥

उपसंहरति—

एवमेतत् समाख्यातं यावदायुर्वरानने ।

एतद् इति सावधानसंचेत्यं ग्रहणम् ॥

अत्रैवाध्यात्माहोरात्रे त्वथाब्दोदय उच्यते ॥८९॥

तमाह—

हृत्पद्मादूर्ध्वपर्यन्तं राशयः षड् व्यवस्थिताः ।

राशयो मकराद्याः ॥

षट्त्रिंशदङ्गुले चारेऽत्र—

अङ्गुलैः षड्भिरेकैको ह्यत्रत्पद्माद्याव शक्तितः ॥९०॥

एकैक इति राशिः ॥

इत्थमस्मिन् षट्त्रिंशदङ्गुले षण्मासोदये—

अङ्गुले अङ्गुले ह्तिथयः पञ्च संस्थिताः ।
तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत् ॥९१॥

तस्य अङ्गुलपञ्चभागावधेस्तिथेः ॥

अत एव—

षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः ।
त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते ॥९२॥

षडङ्गुले राश्युदयस्थाने त्रिंशदहोरात्रस्य मासस्य निष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । द्विपक्ष इत्यनेनेदमाह—यथातोऽपि तत्तन्माससाध्यक्रूरसौम्यसिद्ध्यर्थकृष्णशुक्लपक्षाश्रयणं सुसूक्ष्मदृशा योगिनानुसर्तव्यमिति । अत एव वर्षसाध्ये विधौ तत्तन्मासकार्यं कर्म बाह्यान्तरमासैकीकारानुसरणपूर्वं योगिनानुष्ठातव्यमिति वर्षोदयेऽभिप्रायः ॥९२॥

तदित्थम—

मासि राश्युदये ह्येष अधोर्ध्वप्राणसंचरे ।

ऊर्ध्ववदधःप्राणसंचारेऽपि, एष एवमादिः क्रमो ज्ञेय इत्यर्थः ॥

अथ राश्युदयं विभागेनादिशति मासप्रभेददर्शनाशयेन—

हृदयादुदयस्थानात् संक्रान्तिर्मकरे स्थिता ॥९३॥
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे संक्रमते पुनः ।
कण्ठोर्ध्वे द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने संक्रमते पुनः ॥९४॥
गलोर्ध्वाद्यावत्तात्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ।
नासान्तं यावत् संक्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ॥९५॥
एषा वै विषुसंक्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ।

उदयस्थानाद् इति मन्त्रोच्चारणभूमेः । **संक्रान्तिरिति** प्राणार्कस्येत्यर्थात्, अत एव माघादिमासक्रमोऽत्र स्थितः । **षडङ्गुलानि** इति काकाक्षिवत् । **विषुसंक्रान्तिः** विषुवत्संक्रान्तिः । **उत्तरे** इति उत्तरायणे ॥

एतच्च प्राग्वत् पारलौकिकादिसिद्ध्यङ्गमयेति ज्ञेयम् । तदाह—

जपहोमार्चनध्यानान्महाभ्युदयकारिका ॥९६॥

एषा विषुवत्संक्रान्तिरित्यर्थः । अत्रापि प्राग्वदन्तरिव बाह्यसंक्रान्तिष्वपि तत्तत्फलप्रदत्वं स्मर्तव्यम् ॥९६॥

अथ—

नासाग्रं तु परित्यज्य प्राणहंसो वृषे चरेत् ।
षडङ्गुलानि संत्यज्य संक्रमेन्मिथुने पुनः ॥९७॥
शक्त्यन्तं यावदध्वानं संक्रान्तिर्मिथुने स्मृता ।

षडङ्गुलानि इति काकाक्षिवत् । शक्त्यन्तं द्वादशान्तम् ॥

एतदनुवदन् फलं पर्यवसायि दर्शयति—

मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ॥९८॥
उत्तरायणमत्रैतदैहिकीसिद्धिवर्जितम् ।

उत्तीर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या उत्तरमयनम् ॥

ततश्च—

स्नानं ध्यानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ॥९९॥
साधकाद्यैः कृतं यच्च सहस्रानेकधा भवेत् ।
इह जन्मनिनाप्नोति परत्रैवोपतिष्ठते ॥१००॥

साधकादीनां पुत्रकादीनां चात्र स्नानादिकरणाद्देहान्ते भोगो मोक्षश्चाभीष्टो भवति ॥

'इह जन्मनि नाप्नोति' इत्यत्र हेतुमाह—

दिनानि तत्र वर्धन्ते मकरान्मिथुनान्तिकम् ।
तत्काले संहरेद्वीर्यं जगत्यस्मिंश्चराचरे ॥१०१॥

हंसो रश्मिभिराकृष्य गर्भस्थं कारयेत्तु तम् ।

तत्र इत्युत्तरायणे । दिनवृद्धिमयग्रहणाभ्यासेन विश्रान्तिभागानादरात् । वीर्यं विश्वस्याप्यायनकरं रसम् । हंसः अनाहतनादोऽन्तः, बहिस्तु सूर्यः । रश्मिभिः अन्तर्मुखीभूताभिर्विमर्शमयीभिरिन्द्रियदेवीभिरन्तः, बहिस्तु प्रभाभिः । संहरेत् इति व्याचष्टे—**गर्भस्थं** शक्त्यन्तर्गतम्, कारयेत् कुर्वतो रश्मीन्नियुनक्ति ॥

तत्कृत्वा—

गर्भस्थानेकधारूपं यद्गृहीतं पुरातनम् ॥१०२॥
कर्कटादेः समारभ्य सर्वं वर्षति तत्पुनः ।

कर्कटादेरित्यपानोदयस्थानात् । तद् इति वीर्यम् ॥

यत एवं प्राणोदयो वीर्यसंहारकृत्—

तस्मादारभ्य मकराद्ध्यानहोमजपादिकम् ॥१०३॥
परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ।

पूर्वोक्तानुवादोऽयम् ॥

अत्रैवोत्तरायणे साधकस्य मन्त्रसेवार्थं जपादावान्तरस्थानविशेषात्मकालविशेषाश्रयेणोच्चारमादिशति—

पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ॥१०४॥
मीनादवारभेत् सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ।

पुरश्चर्या प्रथममेव, मन्त्रग्रहपूर्वं व्रतं नियतजपादिकरणम् । अष्टाङ्गुलात्कण्ठदेशादङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा ऊर्ध्वं तालवन्तं षडङ्गुलं मीनस्थानम्, एतदादौ शक्त्यवधिमिथुनस्थानान्ते । अतः प्रभृति ह्यूकारमकारयोगात् परस्य निष्कलस्य मन्त्रत्वमिति पूर्वमुक्तम् ।

'मत्स्यवलनसंयोगात्तालुरन्ध्रे व्यवस्थिता ।

इति च **श्रीत्रिकसारे** निरूपितत्वादत्र शक्तेर्मीनवन्मुखपुच्छाच्छोटनेन तालुबिलाक्रमणात्तद्गतरसास्वादनतः साधकसंविदः सरसत्वापादनेन भाविफलं प्रत्यङ्कुरीभावापादनादेवमुक्तम् ॥

युक्तं चैतत्, यतोऽत्र—

बाह्येऽपि तरवो लोके ऋतुषट्कसमीरितम् ॥१०५॥
कुसुमानन्दमायान्ति कुसुमायुधदीपकम् ।

तरवः कुरवकाद्या अपि मीनसंचारात्मकवसन्तात्प्रभृति कुसुमविकासमयमानन्दं प्राप्नुवन्ति । तं च ऋतुषट्के समीरितम् वसन्ते प्रथममुद्दिश्य अन्यत्रापि

ऋतौ कुसुमानां प्रसरात् । कुसुमायुधदीपकम् इत्यनेन कामोद्दीपनहेतुतामभिदधत् सादृश्येनान्तरस्यापि वसन्तस्य कामानां प्रति साधकत्वं ध्वनति । अत एव बहिर्यथा कुसुममेव फलोपादानम्, तथान्तरपि मीनादौ कर्मारम्भः कुसुमप्रतिमः साधकानामवश्यमीप्सितं फलमभिमुखं करोति इति कुसुमशब्दाभिप्रायः॥

अत एव—

मन्त्राः कालानुरूपेण व्रतचर्यादिनेरिताः ॥१०६॥
ज्ञेयबोधप्रदीप्ताश्च सिद्धिमुक्तिप्रसाधकाः ।

कालो मीनाद्युदयः । व्रतम् आराधननियमः । चर्या साधकोचितसमयाचारः आदिशब्दात् करणबन्धादिरुच्चारणोपायः । ईरिताः उत्तेजिताः । ज्ञेयबोधो मन्त्रवाच्यदेवताव्याप्तिज्ञानम्, तेन प्रदीप्ताः तत्प्रकाशाविभेदिविमर्शसाराः ॥

यत एवं सर्वमन्त्राणां स्थितिरतोऽयमत्रत्यौ मन्त्रः पूर्वसेवार्थम्—

अध्यात्मशब्दरूपात्मा षड्सास्वादनेरितः ॥१०७॥
हंसबोधप्रदीप्तस्तु गलके मीनमाश्रितः ।

अध्यात्मशब्दोऽनाहतध्वनिस्तत्परमार्थः ।

'शिवो धर्मेण हंसस्तु' (७।२९)

इत्यत्र निर्णीतेन हंसस्य बोधेन व्याप्तिज्ञानेनेद्धः । व्याख्यातमत्स्यवलन-व्याप्त्या गले मीनराशिसंचारं प्राप्तः, अयं च षडत्रीजमेवोर्ध्वाधःकलात्मकमुख-पुच्छाच्छोटनया प्रोच्छलन्मीनरूपत्वम् आश्रित आरूढः । तत एव च सर्वेन्द्रि-याश्रयप्राणाधिरूढेनात्मना ईरितो लम्बिकारसास्वादाय प्रेरितः, ततः प्रभृति मन्त्रतां प्राप्तः सन्नुच्चार्य इति यावत् ॥

एतदेवोपसंहारभङ्ग्या आदिशति—

शब्दसंवेदनं तस्य स्फुटं तत्र भवेद्यतः ॥१०८॥
तदारभ्य जपात्तस्य सर्वमेव प्रवर्तते ।
मिथुनान्तं च देवेशि ततः सिद्धिः प्रजायते ॥१०९॥

तस्य अध्यात्मशब्दस्य । स्फुटं शब्दसंवेदनं मन्त्रतत्त्वानुभवनम् । तत्र इति मीनस्थाने । तस्य इति साधकस्य । सर्वं पूर्वसेवार्थं जपपूजाध्यानादि । मिथुना-नान्तं शक्त्यवस्थाने विश्रान्तिं कृत्वेत्यर्थः । सिद्धिः प्रजायते मन्त्राराधनं निष्पद्यते । तदत्रोत्तरायणचारे प्राणस्यैव मकरादिरूपत्वमुक्तम्, तदनुकाराद्बहिरिति वर्णयन्ति । तथाहि—हृदयादुद्घाटितवक्त्रप्राणस्य प्रसरणान्मकरत्वम्, कण्ठे कुम्भवदवस्थानात्कुम्भत्वम् ततः पूर्वापराच्छोटनेनोच्छलनान्मीनत्वम् ततोऽपि हुडयुद्धवद्भ्रूमध्यभेदनान्मेषत्वम् तदनु द्वयरसवर्षणाद् वृषत्वम्, अनन्तरं शिवशक्त्युभयात्मकत्वान्मिथुनत्वमिति ॥१०९॥

एवं प्राणे मिथुनान्तमुत्तरायणं निर्णीय, अपाने कर्कटादिधन्व्यन्तं दक्षिणायनं निर्णेतुमाह—

सहंसो बिन्दुशक्तिस्थः सिद्धिद्वारैरधोमुखः ।
कर्कटादौ स वर्षेत्तु तुलान्तं तालुकान्तरे ॥११०॥

सह हंसेन वर्तते यः प्राणः स बिन्दुशक्तिस्थ इति—

'यदा करोति सृष्टिं तु ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते (६।१५)

इत्युक्तदशा समनापदस्थः, सिद्धिप्रदत्वात्तद्द्वारैः षडङ्गुलैश्चतुर्भिश्चारैः, अधोमुखो ब्रह्मरन्ध्रक्रमेणान्तःप्रविष्टः, तालुकान्तरे तालुमध्ये, तुलान्तम् इति कण्ठं षडङ्गुलं वर्षेत् ॥

तद्यावत्—

कण्ठादधस्ततो देही हृत्पद्मात् सर्वतो व्रजेत् ।

सर्वतः सर्वत्र देहे । हृदयस्यापानपूरणेन विकासितत्वात् पद्मत्वम् । हृत्पद्मात् इति तदाश्रित्य ॥

यस्मादेवम्—

तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत् ॥१११॥

इहात्मनः सिद्धिरस्मिन्नेव देहेऽणिमाद्याविर्भावनम्, पुष्टिः वलीपलिताद्यभावः ॥१११॥

किं च प्राग्वद्बहिरपि—

दक्षिणायनजे काले यस्मात् सृष्टिः प्रजायते ।

दक्षिणम् अनुकूलं देहभुवनाप्यायकरम् । ग्रीष्मोष्मशोषितानां तृणलतागुल्मादीनां वर्षासु पुनरङ्कुरोद्भेदो यतो भवति, तस्माद्बाह्याभ्यन्तरैतत्कालैकीकारेण पूर्वोक्ताः सिद्धीर्जपादिना साधयेदिति संबन्धः । ननु जपप्रकरणे—

'जपः प्राणसमः कार्यो दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
संहारः स तु विज्ञेयः शिवधामफलप्रदः ॥
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः ।
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ॥' (२।१४०-१४२)

इति पूर्वं प्रविभाग उक्तः, इह तु दिनोदयात्मकमीनोदयतः साधकस्य मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपाद्युक्तम्, तथा कर्कटादौ आत्मसिद्ध्यर्थं साधयेद्, इति प्रतिपादितम्, तत्कथमेतत् ? उच्यते । द्वितीयपटलप्रतिपादिते जपप्रविभागे स्थिते एवमत्र विशेष उक्तः—साधकैर्मीनादिमिथुनान्तविश्रान्त्या कल्पोक्तजपादिक्रमेण पूर्वसेवया

मन्त्राः साधनीयास्तथा साधितास्तु प्रयोगकाले सिद्ध्यर्थं कर्कटादितुलान्तविश्रान्तिप्राधान्येन प्रयोज्या इति न काचिदत्र विचिकित्सा ॥

अथ कर्कटादिषट्कमङ्गुलविभागेन निरूपयति—

शक्त्यधो हृदये हंसः संक्रमेत् कर्कटे प्रिये ॥११२॥
षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै संक्रमेत् पुनः ।
षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां संक्रमते पुनः ॥११३॥
नासिकाग्रात्तु तालवन्तं त्यक्त्वैवं विषुवद्भवेत् ।
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत् ॥११४॥

शक्तेः साधनरूपाया अधो व्यापिनीशक्तिः । ब्रह्मरन्ध्रादिपदे कर्कट इव अधोवक्त्रो हंसः, ततः सदाशिवपदे नदनप्रधानत्वाशेषविश्वाक्रमणकारित्वाभ्यां सिंहः, ततो भ्रूमध्यादौ बैन्दवप्रकाशप्राधान्याद्दीप्तिकान्तियोगात् सर्वसाधारणप्रसरणरूपगतितश्च कन्याशब्दवाच्यः, ततोऽपि तालुमध्ये समत्वेनावस्थितत्वात तुलारूपः, साम्यादेव च विषुं व्याप्तिमर्हतीति कृत्वा विषुवच्छब्दाभिधेयः । पुनर्विषुवदिति पूर्वोक्तोत्तरविषुवतोऽन्योऽयं विषुवत्काल इत्यर्थः ॥११४॥

अन्यत्वादेव च—

साधनं यत् कृतं तत्र इह जन्मनि कामदम् ।

तदित्यर्थात् ।

अतश्च —

मृत्योर्जयं तथा शान्ति पुष्टिं तस्मात् समारभेत् ॥११५॥
तस्मात् स षड्साहारो गलाधः प्रीणयेत्तनुम् ।

एषोत्तमादिरूपा त्रिविधात्र सिद्धिः । स इति दक्षिणविषुवत्कालस्थस्तुल्यः अत एवात्रैहिकं क्रूरकर्म न फलति, इति तत् सर्वरससंहारिपौषमासाधिष्ठातृधन्विचारविश्रान्त्या कार्यमित्यर्थलभ्यमत्र ॥

अथ—

षडङ्गुलानि त्यक्त्वा तु वृश्चिके क्रमते पुनः ॥११६॥
कण्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा कण्ठाधश्चतुरङ्गुलम् ।

तालुतलादष्टाङ्गुलात् कण्ठात् षडङ्गुलानि त्यक्त्वा यत् प्रवेशापेक्षया ऊर्ध्वं प्राणोल्लासापेक्षया त्वधस्तनमङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा कण्ठाधः षडङ्गुले क्षेत्रे प्रथममङ्गुलचतुष्टयम्, तत्र पूर्वाङ्गुलद्वयेन सह षडङ्गुले वृश्चिकवन्निश्चलमवस्थाय शनैः शनैः प्रसर्पणाद् वृश्चिकः ॥

अथ—

वृश्चिकं तु परित्यज्य धन्विसंक्रान्तिरुच्यते ॥११७॥
षडङ्गुलादधस्तात्तु धन्विस्थश्चरते हृदि ।

अधस्ताद् इत्यधःस्थं षडङ्गुलमाश्रित्य, हृदि चरति विश्राम्यति । तत्र चायं हंसो बद्धलक्ष्यत्वाद्धन्वीत्युच्यते ॥

तदित्थम्—

हृत्पद्मान्तं तु वै हंसश्चरित्वा ऊर्ध्वगोदयः ॥११८॥

पुनः प्राणवृत्तिं श्रयतीत्यर्थः ॥११८॥

उपसंहरति—

मकरादिषु संक्रान्तौ द्वादशैवं चरेत् सदा ।
अमुनोक्तक्रमेणैव आयुर्वै सर्वदेहिनाम् ॥११९॥

संक्रान्तौ इति जातावेकवचनाद् मकरादिषु याः संक्रान्तयः तासु एवम् उक्तक्रमेण द्वादश इति माघादीन् मासान् सदा प्रतिप्राणचारं हंसश्चरेत् । किमवधीत्याह – **आयुर्वै सर्वदेहिनाम्** । यावज्जीवमित्यर्थः ॥११९॥

अथ प्रबुद्धस्य नित्यमेव संक्रान्तिदक्षिणायनोत्तरायणादिपुण्यकाललाभात् तत्तत्सिद्धिसमासादनमनायासेन जायते । तदेतदाह—

ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।

साधकानामत्रस्थानां भवति ॥

उपसंहरति—

अयनद्वयमाख्यातं

अत्र च मकरादिषु द्वादशसु कार्यस्य गर्भत्वम्, प्रोद्बुभूषिष्यत्त्वम्, प्रोद्बुभूषत्त्वम्, उद्भविष्यत्त्वम्, उद्भवप्रारम्भः, उद्भवत्त्वम्, जन्म, सत्ता, परिणतिः, वृद्धिः, ह्रासः, क्षयश्च क्रमाद्भवति । अतोऽत्र जपादिक्रियैतादृगेव फलं सूते, इति गुरवोऽभ्यधुः ॥

यदा तु प्राणापानयातायातपरिहारेण हृदि द्वादशान्ते च विश्रान्तिः क्रियते तदा—

मोक्षसिद्धिर्द्वयोज्झिता ॥१२०॥

द्वयेन भेदेन, उज्झिता अद्वयमयी महासाधकस्य भवतीत्यर्थः ॥१२०॥

यतोऽसौ महासाधकः—

अयनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते सदा स्थितः ।

यदा यदा अयनद्वयमाश्रयति, तदा तदा उन्मन्यन्त इति प्राणापानप्रशमपदे द्वादशान्ते हृदि च परतत्त्वानुभवे विश्राम्यति । यद्यपि पूर्वमुन्मन्यन्तता द्वादशान्त

एवोक्ता, तथापीहायनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते, इत्यभिदधद् द्वादशान्ताविभिन्ना हृदि व्याप्तिरस्तीति दर्शयति ।

अत एव—

'द्वादशान्ते च हृदये'

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥

अतश्च—

तत्रस्थो वै जपध्यानान्मोक्षसिद्धिमवाप्नुयात् ॥१२१॥

जपध्यानप्रमुखं यस्तत्र परतत्त्व एव तिष्ठति विश्राम्यति, स मुच्यत इत्यर्थः ॥१२१॥

अत एवेत्थंस्वभावेनैव—

मोक्षं गत्वा तु नागच्छेत् प्रतिज्ञा भैरवस्य तु ।

प्रतिज्ञा भैरवस्य, न तु श्रीकण्ठोमापत्यादेरित्यनेन सर्वथा द्वादशान्तहृदययोर्विश्रान्तिः कर्तव्या, इत्यादिष्टम् ॥

तथा द्वादशवर्षसाध्यमपि कार्यं सुसूक्ष्मतमस्थित्या प्राण एव द्वादशवत्सरव्याप्तिमवगत्याप्रयासेनैव साधकः साधयेदिति शिक्षयन् द्वादशाब्दोदयमादिशति देवः—

अस्मिन्नब्दोदये भूयो द्वादशाब्दोदयं शृणु ॥१२२॥

तत्र द्वादश चैत्रादयोऽब्दमाससमानसमाख्याः ॥१२२॥

चैत्रसंवत्सरे यस्मान्मासानामुदयो भवेत् ।
तदादि साधकैस्तस्मात् कर्तव्यं मन्त्रसाधनम् ॥१२३॥

तदादि इति चैत्रनामानं संवत्सरमादिभूतं कृत्वा ॥१२३॥

प्रागुक्तचैत्रादिमासोदयकाल एवात्र चैत्रादिसंवत्सरोदयकालः, इत्याह—

द्वादशाब्दः स विज्ञेयश्चैत्रमासाद्वरानने ।

अष्टाङ्गुलात् कण्ठादङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा षडङ्गुलं यत्प्राक् चैत्रमासस्योक्तं स्थानम्, तदेव चैत्रसंवत्सरस्य ॥

अथ—

लक्षणं तस्य वक्ष्यामि प्राणेऽस्मिन् प्रविभागशः ॥१२४॥

तत्र संवत्सरेणेव अमुनोक्तेन सुव्रते ।
अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तो द्वादशांशं भजेत् प्रिये ॥१२५॥
द्वादश ते अहोरात्रा द्वादशाब्दे भवन्ति वै ।

आन्तरेण प्राणसंवत्सरेण य आन्तरोऽहोरात्रोऽङ्गुलपञ्चमभागपरीमाणस्तस्य द्वादशमंशं द्वादशाब्दोदयेऽहोरात्रो भजते। एवं चाङ्गुलस्य षष्टितमोऽसौ भागो भवति। इत्थमहोरात्रं द्वादशाहोरात्रा भवन्ति। तथा च सत्यङ्गुले षष्टिरहोरात्राणां जातेति ॥

पञ्चभिस्तांस्तु संगुण्य द्वादशाब्द ऋतुर्भवेत् ॥१२६॥

मासद्वयमित्यर्थः ॥१२६॥

तमेव द्विगुणं कृत्वा कालस्तु स विधीयते।

चतुर्मासाख्यः ॥

त्रिगुणेनैतदयने

अङ्गुलत्रयेण त्रिगुणेनर्तुनाद्यमुत्तरायणम्, ततोऽन्यत्र त्रये दक्षिणायनम् ॥

तदेवम्—

वत्सरः षड्गुणेन तु ॥१२७॥

तदित्थम्—

संक्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः।
द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः॥१२८॥

यद्वदिति षडङ्गुलकलनया ॥१२८॥

अथ ये—

द्वादशाब्दे त्वाहोरात्राः

सम्भवन्ति ॥

तेषां सङ्ख्यां निबोध मे।
सहस्राणि तु चत्वारि त्रिशती विंशतिस्तथा ॥१२९॥
द्वादशाब्दोदये देवि प्राणेऽस्मिन् कथिता मया।

प्राणे द्वादशाब्दोदये इति सामानाधिकरण्ये सप्तम्यौ ॥

अथातिसूक्ष्मया व्यवस्थया—

षष्ट्यब्दोदयमत्रैव पुनश्च कथयामि ते ॥१३०॥
आनन्दाद्यास्तु ते ज्ञेयाः षष्ट्यब्दास्तु वरानने।

अत्रैव इत्येकत्र प्राणचारे ॥

तदाह—

ते चाध ऊर्ध्वगे प्राणे एकस्मिन् सुरसुन्दरि ॥१३१॥
चरन्ति प्रविभागेन तथा ते कथयाम्यहम्।

अतश्च षष्ट्यब्दसाध्यां सिद्धिं यो वाञ्छति, असावान्तरादानन्दाख्यादब्दात् प्रभृति मन्त्राराधनमुपक्रमेत, इत्याह—

आनन्दप्रभृतेर्देवि मन्त्रमाराधयेत्तु यः ॥१३२॥
तस्यानन्दस्तु देवेशि मन्त्रेण सह जायते ।

मन्त्रस्य परनिष्कल स्वभावतयाऽशेषविश्वनिर्भरत्वेन परमानन्दरूपत्वात्तदभेदविमर्शमयप्राणोच्चारज्ञस्य आनन्दमयतैव भवति । ततश्चेहाभिहितषष्ट्यब्दोदयस्थित्या सर्वमेव पुरुषायुषं यन्नित्यकर्मावश्यकर्तव्यम् तदेकत्रैव प्राणचारे व्याप्तिज्ञस्य सकृदेव कृतं सर्वदैव कृतं भवति ज्ञानिनः । सिद्धिकामस्य तु षष्टिवर्षसाध्यम्, तदीयवत्सरे तत्तत्साध्यं वा कर्म प्राणीयव्याप्तिज्ञानपूर्वकं कुर्वतो न विसंवदतीत्याशयेनेह साधकाधिकारे षष्ट्यब्दोदयादधिकं नोक्तम् । **श्रीनन्दिशिखायां** तु ज्ञानव्याप्त्यभिप्रायेण विंशत्यधिकशतोदयोऽप्यभिहितः । एवं च ज्ञानयोगिनामेवं प्राणे व्याप्तिज्ञानात् सर्वमयत्नेन सिद्ध्यत्येव । यदुक्तं **श्रीमदुत्पलदेवपादैः**—

'साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति ॥'
(स्तोत्राव० १।४)

इति ॥

किं च—

द्वादशाब्दे त्वहोरात्रं पञ्चधा भेदयेच्च तम् ॥१३३॥
षष्ट्यब्दे ते त्वहोरात्राः पञ्चैव परिकीर्तिताः ।

द्वादशाब्दोदयेऽङ्गुलस्य षष्टितमो भागोऽहोरात्र इत्युक्तम् । इदानीं तु तमपि पञ्चधा भेदयेत् । एवं षष्ट्यब्दोदये प्रागङ्गुलस्य त्रिंशत्तमो भागोऽहोरात्रो भवति ॥

तदनया सुसूक्ष्मया स्थित्या—

ते वै षड्गुणितास्तत्र मास एकः प्रकीर्तितः ॥१३४॥
तैश्च द्वादशभिर्देवि वर्षमेकं विधीयते ।

ते इति द्वादशाब्दोदयेऽहोरात्राः । तैरिति तथाभूतैर्मासैः ॥

एवं च—

अङ्गुले तु सपञ्चांशे मानमेतत् प्रकीर्तितम् ॥१३५॥

अहोरात्रशतत्रयात्मन्यङ्गुले मासदशकम्, अहोरात्रषष्ट्यात्मनि चाङ्गुलपञ्चमांशे मासद्वयम्, इतिकृत्वा सपञ्चांशेऽङ्गुले, एतद् इति षष्ट्यब्दोदये वर्षमानमुक्तम् ॥१३५॥

तदित्थम्—

षडङ्गुलैस्तु पञ्चाब्दाः षष्टयब्द उदयन्ति ते ।

द्वादशाब्दोदयस्थित्या वर्षोदयाश्रयैः षड्भिरङ्गुलैरिह पञ्च वर्षाणि भवन्ति । मासदशकोदयात्मकोऽङ्गुल इति तैः षड्भिः षष्टिमासानां वर्षपञ्चकारम्भिणां निष्पत्तिः ॥

अनया च कलनया—

हृत्पद्माद्याव शक्त्यूर्ध्वं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ॥१३६॥

पुनरपि—

शक्त्यधो यावद्धृत्पद्मं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ।

किं च—

षष्टयब्दे ये त्वहोरात्राः सङ्ख्यां तेषु वदाम्यहम् ॥१३७॥
विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम ।
अहोरात्रास्तु षष्टयब्दे शङ्ख्यातास्तु वरानने ॥१३८॥

बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसङ्ख्याः ॥१३८॥

उपसंहरति—

षष्टयब्दोदय आख्यातः प्राण एकत्र ते मया ।

अत्र षष्टयब्दोदयान्ते प्रयोजनमाह—

चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च ॥१३९॥
युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ ।
वर्षद्वादशके चैव षष्टयब्देऽथ वरानने ॥१४०॥
स्नानदानेन यज्ञैश्च पूजाहोमजपेन च ।
ज्ञानयोगादिभिश्चैव बाह्ये काले तु यत्कृतम ॥१४१॥
अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत् ।

बाह्ये चन्द्रोपरागादौ, षष्ट्यब्दान्ते अमुना आन्तरेण प्रकारेण उक्ते तस्मिन्नेव काले स्नानदानादिक्रमेण कृतं तत्फलं महद् अनन्तसाधको लभते ॥ [एवं युगोदयस्थित्या चैत्राषाडाश्वयुजपौषाणां सि'''शादीनि चत्वारि साधयति]—

प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिस्तु तद्भजेत् ॥१४२॥

प्राणस्य हंसत्वं प्राग्वत् । चारे प्राणापानवाहे षष्ट्यब्दान्तव्याप्तिके । तद् इति चन्द्रग्रहादिकम् ॥१४२॥

नन्वेवं वस्तुवृत्तेन तद्व्याप्तिवत्त्वं प्राणस्य कथं प्रतिभागोचरतामेतीत्याशङ्क्याह—

स्वसंवेद्यो भवेच्चारो नाडीचारजयात् स्फुटम् ।

नाडिषु चारस्य बाह्स्य, जयाद् अभ्यासेन संचरणस्वातन्त्र्यलाभात् सर्वा प्राणीया व्याप्तिर्मध्यमार्गे व्यक्तीभवति, अतो योगाभ्यासे यत्नः कार्य इति तात्पर्यम् ॥

योगाभ्यासप्रावीण्ये सति—

अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ॥१४३॥
मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत् ।

जपाद् इति पञ्चप्रणवाधिकारोक्तसङ्ख्याकात् उपबृंहितो लब्धोत्कर्षः, मन्त्री इति यथोक्तमन्त्रव्याप्तिज्ञः, योगं यथारुचि प्राणसंचारस्वातन्त्र्यम्, सर्वज्ञतां यथोक्तप्राणीयसर्वव्याप्तिसाक्षात्कर्तृत्वं परभैरवतां च । उक्तं हि—

'त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत्' (६।५८)

इति ॥

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

पुनरेव प्रवक्ष्यामि नाडित्रयविभागतः ॥१४४॥
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तौ विषुवच्चारतस्तथा ।
यथा चरत्यसौ हंसो जगत्यस्मिंश्चराचरे ॥१४५॥
अन्तःस्थः कालरूपेण कलाभिः कलयन् जगत् ।

मध्यमार्गाश्रयेण चारस्थितिरुक्ता । इदानीं दक्षे वामे तदुभयात्मनि च विषुवति यथा हंसो जङ्गमस्थावरात्मनि जगति, चरितजङ्गमेषु चरन् स्थावराण्यपीन्द्रियप्रसरणयुक्त्या स्पृशति, अत एव अन्तःस्थरिति प्रमातृषु, भूतवर्तमानादिकालरूपेण पदं बध्नन् जगत् सर्वं क्षणतुटिलवादिरूपाभिः कलाभिः कलयन् जन्मादिविकारषट्करूपतया सृजन् संहरंश्च यथा चरति, तथा प्रवक्ष्यामीति संगतिः । अचरस्यापि च अन्तःसंज्ञस्य दक्षवाममध्यनाडिषु रसयोजनया पुष्पफलपोषान् हंसः करोति, इति वृक्षायुर्वेदज्ञाः ॥

कीदृगसौ चरतीत्याह—

नाडित्रयकृताधारो मार्गत्रयव्यवस्थितः ॥१४६॥
गुणत्रयसमाविष्टस्त्रिधावस्थाव्यवस्थितः ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तः शक्तित्रितयसंयुतः ॥१४७॥
इच्छाज्ञानक्रियाविद्धः सोमसूर्याग्निमध्यगः ।

एतत् नाडीत्रयादिक्रमेण व्याचष्टे—

दक्षनासापुटे चैव नाडी वै पिङ्गला स्मृता ॥१४८॥
इडा चैव तु वामेन सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ।

एतन्नाडीत्रयमेव मार्गत्रयमित्याह—

दक्षिणे देवमार्गस्तु पितृमार्गस्तथोत्तरे ॥१४९॥
मध्यमः शिवमार्गस्तु

का तस्य शिवतेत्याह—

तत्र गत्वा न जायते ।

गत्वा इत्युपलम्भेन विश्रम्य ॥

अत्रैव गुणत्रयमवस्थात्रयं च दर्शयति—

दक्षिणे सत्त्वजाग्रत्स्थः स्वप्नस्थो वामतो रजः ॥१५०॥
मध्ये तमस्तु विज्ञेयं सुषुप्तावस्थ एव च ।

सत्त्वरूपत्वं ज्ञानप्राधान्यात्, क्रियाशक्तिमयत्वाद्वामे रजः, मध्ये त्विच्छाशक्तिमये भेदोपसंहारमार्गरूपत्वात्तमः, अत एव मध्यम् । अत्रोभयनाडीसमवाहित्वं समानव्याप्त्या, न तु मध्योर्ध्ववाहित्वम्, तस्य तुर्यप्रकाशरूपत्वेन सौषुप्ततमोयोगाभावात् ॥

अत्रैव कारणान्याह—

ब्रह्मेश्वरश्च दक्षस्थो वामे विष्णुसदाशिवौ ॥१५१॥
मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ सर्वातीतः परः शिवः ।

ब्रह्मविष्णुरुद्राणां परव्याप्त्येश्वरसदाशिवशिवा दक्षवाममध्याधिष्ठातृत्वेन स्थिताः । अत एव जागरादित्रयमयेऽपीश्वराद्यधिष्ठानात् तुर्यव्याप्तिरप्यस्ति, इति मन्तव्यम् । सर्वातीत इत्यनेन तु परकारणस्वरूपमुक्तम् ॥

कारणवत्परापरभेदेन शक्तित्रयस्थितिमाह—

ज्येष्ठाज्ञाने च दक्षे च क्रिया वामा तथोत्तरे ॥१५२॥
रौद्री चेच्छा च मध्यस्था

ज्ञानाद्या अपराः, ज्येष्ठाद्यास्तु पराः ॥

कारणानुसारेण परकारणस्वरूपवत् परशक्तिस्वरूपमप्याह—

परा शक्तिः परापरा ।

सर्वमेव परमपरं च व्याप्य स्थितेत्यर्थः ॥

अत्रैव सोमसूर्याग्नीनाह—

दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विराजते ॥१५३॥
पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः ।

पाके प्रकाशकत्वे चेति तन्निमित्तं पावकोऽग्निः । सोमसूर्ययोस्तु—

'वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम्' (७।१५७)

इति कार्यं वक्ष्यति ॥

पाकप्रकाशौ विषयद्वारेण व्याचष्टे—

पाचयेत् सर्वपाकं हि सोमादिगुणसम्भवम् ॥१५४॥
प्रकाशयेत् स्वसामर्थ्यात् परतत्त्वमनामयम् ।

स्वसामर्थ्यादिति गुणीकृत प्राणादिवृत्तिवशोन्मग्नसंवित्स्वभावतया ॥

पूर्वं मध्यमार्गाश्रयदिनोदयानुसारं ग्रहादीनां स्थितिरुक्ता, इदानीं तु दक्षवामतदुभयाश्रयेणाप्याह—

राशयश्च ग्रहाः सर्वे ऋक्षयोगादयश्च ये ॥१५५॥
चन्द्रसूर्यपथेनैव ते चरन्त्यनुपूर्वशः ।
सूर्यसोमौ च ते सर्वे भुञ्जते क्रमशः प्रिये ॥१५६॥

ते सर्वे इति भैरवाष्टकपर्यन्ताः, सोमसूर्यौ इति पृथग्वाहे पृथक्, समवाहे तु युगपद्भुञ्जतेऽधितिष्ठन्ति ॥१५६॥

इत्थं च—

सोमसूर्यात्मकास्ते वै पथित्रयव्यवस्थिताः ।

दक्षे प्राणसूर्यात्मानः, वामेऽपानसोमात्मकाः, मध्ये तूभयात्मकाः । एतच्च द्वितीयपटले आज्यत्रिपथविभागावसर एव विभक्तम् ॥

सोमसूर्यात्मकत्वे च सति तेऽपि तत्फलप्रदा इत्याह—

वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम् ॥१५७॥
सोमसूर्यात्मकं यस्माज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ।

यतः प्रोक्तव्याप्त्या सूर्यसोमवाहसम्बद्धत्वात् सर्वं जगत् सूर्यसोमात्मकम्, हिममपि दहति, वह्निरपि च प्याययति स्पर्शनेन' इत्यनेन न्यायेन तत्तत्प्रमातृदेशकालन्यायेन विश्वस्य ह्लादतापकारित्वेनोपलम्भनात्, ततः सूर्य इति दक्षवाहो वायति शोषयति संतापयति च, सोम इति वामवाहस्त्वमृतं वर्षत्याप्याययति । अतः क्रूरसौम्यसिद्धिसाधनपरेण तदौचित्येनैव प्रवर्तनीयमिति परमार्थः ॥

किं च—

सौरो दक्षिणमार्गस्तु उत्तरायणसञ्ज्ञितः ॥१५८॥
वामः सौम्यस्तु यः प्रोक्तस्तत्र वै दक्षिणायनम् ।
सोमसूर्यात्म विषुवत्पुटद्वयविनिःसृतम् ॥१५९॥

ऊर्ध्वाधोवाहवदत्राप्युत्तरायणादिविभागोऽस्तीत्यर्थः ॥१५९॥

अत्र संक्रान्तिभेदं दर्शयति—

उदक्संक्रान्तयः पञ्च पञ्च वै दक्षिणायने ।
दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये संक्रान्त्या विषुवद्द्वयम् ॥१६०॥

'अहनि द्वादश प्रोक्ता' (७।१६८)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या बाह्येऽह्नि द्वादश वामदक्षमध्यसंक्रान्तयो नवशतप्राणापानवाहात्मानो भवन्ति ॥१६०॥

अत्र फलं दर्शयति—

सौरश्च दक्षिणो मार्गस्त्वभिचारप्रसिद्धिदः।
आप्यायने तथा पुष्टौ शान्तिके सौम्य उत्तरः ॥१६१॥

अथ संक्रान्तिदशके क्रममादिशति—

दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद्दक्षिणं यदा।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ॥१६२॥

बाह्ये दक्षिणविषुवद्दिने वक्ष्यमाणानुसारं प्रातरान्तरं दक्षिणविषुवत्कालं समवाहेन स्थित्वा दक्षिणमार्गादुदेत्य उत्तरमार्गं याति, पुनरुत्तराद्दक्षिणं सदा याति तदा सा दक्षिणसंक्रान्तिरुत्तरसंक्रान्तिश्चोच्यते। एवं संविधीयते अनेनैव क्रमेण पुनरुत्तराद्दक्षिणं यातीति संविधीयते निश्चीयते, तेन दक्षिणोत्तरदक्षोत्तरदक्षेषु पञ्च संक्रान्तीर्वहतीत्यर्थः ॥

अथ षष्ठीमुत्तरविषुवत्संक्रान्तिमाह—

दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम्।
यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ॥१६३॥
तावत्तद्विषुवत् प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे।

दक्षिणनाड्यां पञ्चसंक्रान्त्यात्मिकायां स्थित्वा यदा यदोत्तरं मार्गं संक्रामेत्तदा मध्येनेत्युभाभ्यामुत्तरं विषुवद्भवतीति। उत्तरायण इति दक्षिणवाहात्मकोत्तरायणाश्रयत्वात्। कथमित्याह तत्रेति। दक्षिणस्थमर्धं प्राणीयं कृत्वोभाभ्यां पुटाभ्यां वहतीत्यर्थः। यावदुत्तरत इति च यद्व्याख्यातुमवशिष्टम् तस्यायमर्थः—ततोऽनन्तरमुत्तरत उत्तरात् प्रभृति वहेद्यावदुत्तरां पञ्चमीं संक्रान्तिं यावत्। तेनोत्तरदक्षोत्तरदक्षोत्तराः पञ्च संक्रान्तीर्वहेदिति तात्पर्यार्थः। उत्तरेति सौत्रं द्विरावर्तनीयम्। टीकाकारैस्तु दक्षिणोत्तरमित्याद्युत्तरायण इत्यन्तमुत्तरविषुवद्विषयमेव व्याचक्षाणैः संक्रान्तीनां विभागो न दर्शितो, ग्रन्थपौनरुक्त्यं चाश्रितमत्र ॥

अथ दक्षिणविषुवमाह—

उत्तराद्दक्षिणायां तु संक्रामन् स वरानने ॥१६४॥
यावदर्धं वहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत्।
विषुवद्दक्षिणं तावद्दक्षिणायनजं प्रिये ॥१६५॥

पञ्चसंक्रान्तिरूपादुत्तरान्मार्गाद्दक्षिणस्यां नाड्यां संक्रामन्नर्धं प्राणीयं तत्रेत्युत्तरे, अर्धं च दक्षिणे यावद्वहत्युभाभ्यां पुटाभ्यां समं वाहाद्दक्षिणविषुवदेतद्दक्षिणायनकालजातं भवतीत्यर्थः ॥१६५॥

अत्र विषुवद्द्वये फलमाह—

तत्र पूजा जपो होमो यत्कृतं मुक्तिदं भवेत् ।

तत् ॥

किं च—

ध्यानयोगेन दीक्षायां तत्स्थो वै मोचयेद् गुरुः ॥१६६॥

ध्यानमत्र परतत्त्वविषयम् ॥

तदित्थम्—

बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् । १६७॥

हृदब्जदलाष्टकस्य प्रधाननाडीत्रयस्पर्शादेवमिति व्याप्तिज्ञाः । प्राणहंस इति प्राग्वत् ॥

अत्रायं विभागः—

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।

अत्रापि विषुवत्संक्रान्तीनां विभागमाह—

पूर्वाह्णे विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम् ॥१६८॥
तृतीयं चापराह्णे वै अर्धरात्रे चतुर्थकम् ।
चतुर्धा त्रिषुवत् प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम् ॥१६९॥

तेन बाह्ये विषुवद्दिने पश्चिमरात्रिशेषघटिका सपादा दिनोदयाद् घटिका सपादा इत्येकं विषुवत् । ततः पञ्च क्रमेण संक्रान्तयः प्रत्येकमर्धतृतीया घटिका एवेति दिनारम्भात् प्रभृति पादोना एताश्चतुर्दश घटिका भवन्ति । ततो द्वितीयं विषुवदर्धतृतीयघटिकाः, ततोऽपि पञ्च संक्रान्तयस्तथैवेत्येवमियदन्तं पादोना एकान्नत्रिंशन्नालिका भवन्ति । ततोऽपि दिनादवशिष्टात् सपादा घटिका सपादा च रात्रिप्रारम्भघटिकेति तृतीयं विषुवदित्यनेन क्रमेणार्धरात्रे विषुवच्चतुर्थम् । यथा यथा दिननिशयोर्यो ह्रासो वृद्धिर्वा भवति, तथा संक्रान्तीनामपि स मन्तव्य इति समुदायार्थः । यदुक्तमस्मद्गुरुभिरशेषागमोपनिषदालोके **तन्त्रालोके—**

'विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः ।
वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम् ॥
एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ।
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीर्वहेत् ॥
दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ।
नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ॥
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः ।

यद्वत्तथान्तः संक्रातिर्नवप्राणशतानि सा ।।
एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात् समात् ।
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्राससंक्रान्तिगोऽप्यसौ ।।' (६।२००-२०५)

इत्यादि कालतत्त्वप्रकाशने षष्ठ आह्निके । यत्तु तत्र मध्याह्ने दक्षविषुवदित्युक्तम्, तद्बाह्योत्तरायणविषुवद्दिने प्रातरुत्तरविषुवद्भवतीत्याशयात् । इह तु बाह्यदक्षिणायनविषुवद्दिने प्रातर्दक्षिणविषुवद्भवतीत्याशयादन्यथोक्तम् ॥१६९॥

अथाध्यात्मसंक्रान्तीनां बाह्यकालस्थितिमादिशति—

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत् सदा ॥१७०॥

समधातोः श्लेष्माद्यनुपहतस्य । अत्र च शुक्लप्रतिपदः प्रभृति दिनत्रयमादौ वामे मार्गे प्रथममर्धतृतीया घटिका हंसो वहति, ततोऽन्यद्दिनत्रयं दक्षिणे, ततोऽप्यन्यद्वामे, इत्यादिः क्रमः श्रीकालोत्तरादिशास्त्रोक्त उदयज्ञप्त्यर्थं स्मर्तव्यः । यदुक्तं कालावल्याम्—

'तत्र तावदयं प्राप्य दर्शप्रतिपदं मरुत् ।।
समुदेति विधौ तावदादौ चन्द्रदिनत्रयम् ।।
ततः संक्रमते सूर्ये तत्राप्युदयते त्र्यहम् ।
संक्रम्य त्रयमेतस्मात् पुनरेति हिमद्युतौ ।।"

इत्यादि ॥

उपसंहरति—

एतन्मानं समाख्यातं

संक्रान्तीनामिति शेषः ॥

अन्यथाप्रवहनमिष्टेतरसूचकमित्याह—

अन्यथा प्रवहेद्यदा ।
इष्टं चैवाप्यनिष्टं च तदा संसूचयेत्तु सः ॥१७१॥

समधातोरित्येव ॥

यत एवम्—

आत्मार्थं वा परार्थं वा तस्माद्योगी निरूपयेत् ।

आत्मार्थं निरूपयेद् आत्मना परीक्षीत । परार्थं निरूपयेद् इति परं निरूपणायां परीक्षायां नियुञ्जीत । अत्र निरूपयेदिति द्वौ णिचौ ॥

अथात्र परीक्षाकालमाह—

पूर्वोदये तु संप्राप्ते भास्करस्य वरानने ॥१७२॥
जीवितं मरणं चैव तदारभ्य विचारयेत् ।

जीवितसंलग्नत्वात् सुखदुःखादिभोगस्य प्रथमं तत्परीक्षैव प्राधान्यादिहोपक्रान्ता। भास्करस्य दक्षिणप्राणस्य, पूर्वोदये इति प्रोक्तोभयवाहात्मकप्रातस्तनविषुवत्कालानन्तरं यदोदयो भवति, तदा प्रभृति विचारयेत्। अत्र च बाह्योत्तरायणे विषुवद्वासरप्रातस्तनकालात् प्रभृति परीक्षेत, इति कालावलीकारः। सर्वदैव प्राभातिकप्रोक्तान्तर्विषुवत्कालोत्तरभाविदक्ष वाहात् प्रभृति, इति गुरवः॥

तत्र—

सुसंयतमना योगी वीरो योगासनस्थितः ॥१७३॥
संस्मरन्नात्मजं प्राणं सुषुम्नान्तर्गतं प्रिये।

सुसंयतत्वं मनसो विषयाकलुषितत्वम्, वीरः प्राणवाहनिभालनैकाग्रः। योगासनं पद्मासनादि। आत्मजं प्राणम् इति व्याख्यातावरोहक्रमेण चित्स्वरूपादेवोत्थितम्, सम्यक् स्मरन् दिव्यकरणबन्धक्रमेण पूर्वोक्तानुप्रवेशयुक्त्या परामृशन्॥

अतश्च—

सुप्रशान्तस्तदा तिष्ठेत् प्राणैकगतमानसः ॥१७४॥

मध्यप्राणवाहावधानेन प्रत्ययान्तरप्रशमात् सुप्रशान्तः ॥१७४॥

एवं सर्वप्रसरभित्तिभूतनिभालितसुषुम्नामार्गस्य योगिनो यदा—

प्राणसंक्रान्तिकालो वै पिङ्गलैकस्थितो वहेत्।
प्रवाहे विषुवद् देवि ज्ञात्वा कालं समादिशेत् ॥१७५॥

ज्ञात्वेत्यतोऽनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम्, तेनायमर्थः—मध्यपथनिभालनपुरःसरं प्रभातकालमुभयवाहात्मकं निभाल्य, तदनन्तरं पिङ्गले दक्षिणमार्गे एवैकस्मिन् यथोक्तदक्षिणवामक्रमवाहोल्लङ्घनात्स्थितं चिरकालं समवस्थानमुपलक्ष्य तादृशि प्रवाहे कालम् इति स्वस्य परस्य वा मृत्युमादिशेत् ॥१७५॥

एतद्विभजति—

एकाब्दं जीवितं ज्ञेयमहोरात्रेण सुव्रते।
अब्दद्वयं स जीवेत्तु अहोरात्रद्वयेन तु ॥१७६॥
त्र्यब्दं तु त्रिभिरेवात्र चतुर्भिश्चतुरब्दकम्।
पञ्चाब्दं पञ्चदिवसैः षड्भिः षड्वर्षमेव च ॥१७७॥
सप्तभिः सप्त वर्षाणि जीवेदष्टाष्टभिर्दिनैः।
नवभिर्नववर्षाणि दशभिर्दश एव च ॥१७८॥
दिनैकादशकेनैव वर्षैकादशकं प्रिये।
दिनैर्द्वादशभिर्योगी जीवेद् वर्षाणि द्वादश ॥१७९॥

सप्तयामप्रवाहेण षण्मासानथ जीवति ।
प्रहरान् षड्वहेद्यस्य मासांस्त्रीन् वै स जीवति ॥१८०॥
पञ्चप्रहरवाहेन द्व्यर्धमासायुरेव सः ।
चतुर्भिः प्रहरैर्देवि मासमेकं स जीवति ॥१८१॥
प्रहरत्रयवाहेन मासार्धं चैव जीवति ।
प्रहरद्वयं वहेद्यस्य दिनान्यष्टौ स जीवति ॥१८२॥
चतुरः प्रहरान् जीवेत् प्रहरं तु वहेद्यदा ।
प्रहरार्धं वहेद्यस्य स जीवेत् प्रहरद्वयम् ॥१८३॥

अत्र प्रोक्तनवशतप्राणवाहातिरेकेण यदि द्वादशदिवसाद्येकान्तानि दिनानि समधातोः प्राणः पिङ्गलायामेवैकस्यां स्थितो वाममार्गासंस्पर्शो वहेत् तत्तावत् संख्यान्येव वर्षाणि जीवितं भवति। सप्तप्रहराद्यर्धप्रहरान्ते तु स्ववाहाभ्यधिके वाहे षट्त्रिद्व्यर्धैकमासतदर्धदिनाष्टकचतुर्दिनैकदिनदिनार्धमायुर्भवति। कश्चित्तु नवशतिवाद्वाहादनन्तरं प्राणापानवाहात्मकान्तरदिनस्थित्या दिनविभागं स्वपर-परीक्षार्थं तुटिचतुष्टयात्मकान्तरप्रवहणस्थित्या च प्रहरविभागं स्वपरीक्षार्थमेव व्याकृतवान्, अनुभवबाधं च बाह्यदिनादिवाहे प्रोक्तवान्। सप्तप्रहरादिवाहं तु बाह्यमभ्युपेत्योपेक्ष्यमेतद्यतो यदि बाह्यानि द्वादशापि दिनान्यायातमृत्योः प्राणो वहति, तत्कोऽत्रानुभवबाधः। न तथोपलम्भोऽस्तीत्यनायातमृत्युनाऽनवधानेन चैतद्वक्तुं शक्यम्। इतरस्य तु तथा चोपलम्भो भवत्येव। तुटिचतुष्टयात्मक-प्रहरस्थित्या च सप्तादिप्रहरवाहोऽत्यन्तासंबद्ध एव, नहि कस्यचिदपि जातुचित् प्राणापानवाहः स्वाभाविकीं द्वासप्तत्यङ्गुलतामुत्सृज्य वहति, चतुष्प्रहरवाहे च षट्त्रिंशदङ्गुलान्तेऽपानस्याप्रवेशे तदैव मरणप्रसङ्गः। किं च तथाविधांशांशिका-वाहो योगिना महता प्रयत्नेन साधितस्तत्तत्सिद्धिप्रद इत्यमावस्याप्रयत्नेन घटितः सिद्धिप्रद एव भवेन्न तु जीवितावसान सूचकः। पिङ्गलैकस्थित इति चात्राश्लिष्टम्। यदि तु योगिभिरत्र पक्षेवाग्भरो दीयते, तन्नेयार्थमप्येतत् साध्वेव नास्माकं ग्रहः कश्चित्, तदपि तु दिनवाहः स्वपरीक्षार्थः, यामवाहस्तु स्वपरपरीक्षार्थ इत्यत्र न वचनं किंचिदस्ति; प्रहरादिवाहव्यवस्था च बाह्याप्यभ्युपगम्यत इति स्फुटमिदं स्वमनीषामात्रकल्पितम्—इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन। विपर्यस्तस्त्वागमार्थावबोधोऽनुष्ठानविपर्यासहेतुर्माभूदित्याशये नैतदुक्तम् ॥१८३॥

किं च—

सद्यो मृत्युर्भवेत्तस्य यस्य हंसस्त्रिमार्गगः ।

सद्य इति तस्मिन्नेवार्धप्रहरे। त्रयो मार्गाः नासारन्ध्रे मुखं च ॥

अब्दादिजीवितं च तत्परीक्षाकालात् प्रभृति गणयेदित्याह—

यदारभ्य निरूप्येत प्राणे वै कालमीश्वरम् ॥१८४॥

मासः पक्षो दिनं वर्षं तदहः प्रभृति प्रिये ।
संलक्ष्यैवं प्रयत्नेन तत्काले निश्चयो भवेत् ॥१८५॥

यतो बाह्यात् कालादारभ्य सकलकालव्यवस्थोत्थापकत्वात्कालम्, प्रभविष्णुतया विश्वस्याक्रमणाच्चेश्वरम् प्राणे प्रकृष्टेन निभालनात्मना यत्नेनैव-मुक्तयुक्त्या निरूपयेत् परीक्षेत, ततः प्रभृति मासपक्षदिनवर्षादि सम्यग् लक्षयित्वा तत्काले निश्चयो भवेदर्थाज्जीवितस्येति संबन्धः ॥

उपसंहरति—

उत्तरायणजे काले एवं ते कथितं मया ।

उत्तरायणमत्र दक्षिणनासापुटवाहः, तस्य संहारप्रधानत्वात् ॥

प्रसङ्गात् प्रकारान्तरं मृत्युज्ञानार्थं प्रतिजानीते—

अयुक्तस्यापि च प्राणे मृत्युज्ञानं निबोध मे ॥१८६॥

तदाह—

कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न श्रृणुते यदा ।
मरणं तस्य देवेशि षण्मासेन विनिर्दिशेत् ॥१८७॥

घोषं द्रुतसरिच्छब्दानुकारं न श्रृणोति । तदन्तःस्थं चीरवागाख्यप्राणिकार्य-चिञ्चिनीतुल्यं शब्दं श्रृणोत्येव ॥१८७॥

यदा तु तमपि—

घोषमध्ये परं शब्दं चीरवाक्चिञ्चिनीरवम् ।
मासमेकं स जीवेत्तु न श्रृणोति यदा प्रिये ॥१८८॥

कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठ इत्यनुवर्तते ॥१८८॥

प्रसङ्गादन्यदप्याह—

उत्पाटं चैव काणं च मृत्युयोगं च मे श्रृणु ।

तत्र—

संक्रान्तिपञ्चकं प्राणो मुखरन्ध्रे वहेद्यदा ॥१८९॥
तमुत्पाटं वदेद्योगं

प्राणस्य स्वस्थानान्नासापथादुत्पाटनादयमुत्पाटः ॥१८९॥

यदाह—

स्थानात् स्थानान्तरं व्रजेत् ।

अतश्चेदृगरिष्टलक्षणयुक्तोऽपि स्थानात् स्थानान्तरमुद्भ्रान्तपत्रिवद्भ्रमति, इत्यप्यत्रार्थः ॥

किं च, ईदृशोत्पाटवतः—

वित्तनाशस्तथोद्वेगो रोगवृद्धिश्च जायते ॥१९०॥

सुहृद्गृहविनाशश्च तेजोहानिश्च जायते ।

काणमाह—

दक्षिणे पुट एकस्मिन् दक्षिणायनवर्जिते ॥१९१॥

संक्रान्त्यष्टकवाहेन काणयोगो भवेद्धि सः ।

दक्षिणायनेन वामपुटवाहेन वर्जिते मध्ये तद्रहिते । एवं चाभिदधत् यत्

'त्रिंशत्प्राणक्षयोदया' (७।२०२)

इति मृत्युयोगे संक्रान्तिस्वरूपं वक्ष्यति, तदिहापि संबन्ध्यमिति सूचयति, दक्षिणायने प्राप्त्यभावाद्वर्जनानुपपत्तेः । अतश्च वामवाहनिमीलनेन दक्षिणैकवाहात् काणः इव काणः ॥

अतश्च—

भगन्धरोऽनुग्रन्थश्च नेत्ररोगश्च कामला ॥१९२॥

शूलं विस्फोटिका दुःखमुरोदोषा भवन्ति च ।

भगन्धरः पायुरोगः । अनुग्रन्थः सशूलोऽतीसारः । नेत्ररोगः तिमिरामयः । विस्फोटिका पिटिका । उरोदोषा उरःक्षताद्याः ॥

वामकाणमुक्त्वा दक्षिणकाणमाह—

वामनासापुटेनैव संक्रान्तीश्च त्रयोदश ॥१९३॥

यदि प्राणो वहेत् तदा दक्षिणवाहनिमीलनादयमपि काणः ॥१९३॥

तस्मात्—

ज्वरः शिरोऽर्तिः शूलं च अर्शांसि स्तम्भ एव च ।

मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहश्च पाण्डुरोगश्च जायते ॥१९४॥

प्रमेहः शुक्लादिप्रस्रावः ॥१९४॥

तदित्थं प्राणः—

इडास्थः श्लेष्मणा व्याधिं प्रकोपयति सुव्रते ।

व्याधिमिति ज्वरादिपाण्डुरोगान्तम् ॥

अस्य व्याधेर्जातस्योदयकालं निरूपयति—

यस्मिंश्चारे निरूप्येत तत्कालदिवसे परे ॥१९५॥

व्याधिभिः पीड्यते सर्वैर्वामवामेतरेतरे ।

वामे तदितरस्मिन् दक्षिणे च काणयोगः, इतरत्र च मुखे उत्पाटो यत्र वाहकाले दृश्यते, ततः परत्र दिवसे तत्काल एव प्रोक्तव्याधिभिः पीड्यत इत्यर्थः ॥१९५॥

एवमुत्पाटकाणौ द्वौ निर्णीय, मृत्युयोगमव्याकृत्य प्रसङ्गान्नासापुटभागस्पर्शं शुभादिसूचकं निरूपयति—

अथान्यत् स्पर्शविज्ञानं नासाधस्तात्तथोपरि ॥१९६॥

वक्ष्यामीति शेषः ॥१९६॥

तत्र—

ऊर्ध्वेन स्पृशतश्चोर्ध्वं रुग्दोषाः प्राक्प्रचोदिताः ।

स्युरिति शेषः । ऊर्ध्वेन इति ऊर्ध्ववाहिना प्राणेन । ऊर्ध्वम् इति नासायाः । अत्र च दक्षिणेनोत्तरस्थं संबध्यते ॥

ऊर्ध्वेनोक्त्वा अध आह—

वाचाक्रोशाभिभवनं दक्षिणेन वहेद्यदा ॥१९७॥

दक्षिणेन स्पृशेदिति पाठे पूर्वेण सह एकवाक्यतया व्याख्येयम् ॥१९७॥

किं च—

मध्ये मध्यपुटस्पर्शी पराभिभवतां व्रजेत् ।

मध्ये इति सर्वपार्श्वस्पर्शवर्जम् मध्यपुटो मध्यवंशस्तत्स्पर्शी च ॥

किं च—

इतश्चेतश्च बहुधा संक्रान्त्यैका वहेद्यदा ॥१९८॥
पूजनं बहुसंमानं लाभस्तस्य भवेत्तदा ।

संक्रान्तिगतानि नव प्राणशतानि, इतश्चेतश्च इति वामदक्षिणवाहयोर्यदि पर्यायेण बहुशो वहेत् प्राणस्तदा पूजादिकं भवति । यत्तु कश्चिद्यदा इत्यत्र तदेति पठित्वा पूर्वेण पराभिभवेन फलेन श्लोकार्धं योजितवान्, पूजनं बह्वित्यर्धं चोत्तरश्लोकेन, तदासारत्वादुपेक्ष्यम् ॥१९८॥

किं च—

मन्दचारे सुषुम्नायां प्राणहंसो वहेद्यदा ॥१९९॥
भूलाभो धर्म ऐश्वर्यं भवेच्चात्र प्रियागमः ।

सुषुम्नायाम् इति मध्यमार्गे स्वरसत एव यदा वहेदिति व्याकर्तव्यम्, न तु यथा बृहट्टीकाकारेण व्याकृतं नासापुटमध्य इति ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वावशिष्टं मृत्युयोगं निर्णेतुमाह—

द्वादशैव तु संक्रान्तीर्वहेद्विषुवतैकतः ॥२००॥
तदैकवत्सरेणैव मरणं तु समादिशेत् ।
ह्रसेत् संक्रान्तिरेकैका मास एको ह्रसेत्तदा ॥२०१॥

विषुवतेति 'उद्वतो निवतः' इति प्रयोगदर्शनादर्हार्थवत्यन्तस्यानव्ययत्वा-त्तृतीया । तेन वामदक्षिणयोर्युगपदवस्थित्या यदि द्वादश संक्रान्तीः समनन्तर-

वक्ष्यमाणत्रिंशत्प्राणचारात्मकैकसंक्रान्तिकलनया षष्ट्यधिकत्रिशतिकवाहात्मिका नवशतिकं स्वाभाविकं वाहमपास्य एकत इत्येकप्रघट्टकेन वहेत्, तदा मासेन मरणं सूचयति। एकैका तु संक्रान्तिर्यदि ह्रसेद् इत्येकादशदशादिसंक्रान्तीर्यदा वहेत् तदा तावद्भिर्मासैर्मरणम्, यावत्, स्वाभाविकनवशतिकविषुवद्वाहोल्लङ्घने यद्येकां त्रिंशत्प्राणचारात्मिकां संक्रान्तिं वहेत् तदा मासेन मरणं निश्चेयम्। पूर्वं

'शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत् सदा।' (७।१७०)

इति यत् संक्रान्तेर्मानमुक्तम्, तदेवोत्पाट-काण-योगसंक्रान्तीनां दक्षिणायन-वर्जिते (७।१६१) इत्यभिधानादिति निर्णीतम् ॥२०१॥

मृत्युयोगे त्वन्यथेत्याह—

संक्रान्त्येका वरारोहे त्रिंशत्प्राणक्षयोदया।

प्राणापानदाहस्य अहोरात्रत्वेन उक्तत्वात् तत्त्रिंशता इह संक्रान्तिर्मन्तव्या, इत्यर्थः॥

इत्थमीदृश्येकैव संक्रान्तिर्यदि स्वाभाविकं विषुवद्वाहमपास्य, तत्स्थाने—

दिने दिने वहेद्वाह्ये यावत्त्रिंशद्दिनानि तु ॥२०२॥

तदा—

मासान्ते तु भवेन्मृत्युः सद्य एव वरानने।

तदित्थम्—

मृत्युयोगः समाख्यातो मया ते वरवर्णिनि ॥२०३॥

अत्रापि पूर्ववत् परीक्षाकालात प्रभृति प्रोक्ताशुभसूचककालगणना कार्येत्याह—

अब्दं मासं तथा पक्षं तिथिं वेलां यदाभ्यसेत्।
यत्कालात्तु समारभ्य तत्कालं तु समादिशेत् ॥२०४॥

यत्कालादभ्यसेद्यदा परीक्षितुमुपक्रमेत, ततः कालादारभ्य वर्षमासादि मरणादिसूचकं क्रमेण स्वात्मनः परस्य वा कथयेदित्यर्थः ॥२०४॥

तदीदृशमेवंविधशुभाशुभसूचकम्—

इडासुषुम्नामार्गेण प्राणचारं विदुर्बुधाः।

सावधाना एव योगिनो जानीयुः, न त्वन्य इत्यर्थः। इडासुषुम्ने पिङ्गलां विषुवं चोपलक्षयतः॥

उपसंहरति—

दक्षिणायनजे काले एवं ते कथितं शुभम् ॥२०५॥

दक्षिणायनजः कालो वामपुटवाहः। एतदपि पूर्ववदुपलक्षणपरमेव ॥२०५॥

यदर्थमियदुक्तम्, तत्प्रस्तावयति—

एवं शरीरजे काले मृत्युं चाशुभमेव च।
ज्ञात्वा योगी जयेन्मृत्युमशुभान्यप्यशेषतः ॥२०६॥

स्वस्य परस्य वा ॥२०६॥

कथमित्याह—

ध्यात्वा कालेशस्वच्छन्दं हंसं वा सकलेश्वरम् ।

कालस्य स्थूलसूक्ष्मादिभेदवतो बाह्यान्तरादिरूपस्य सर्वस्येशं यथारुचि निर्भासकम्, हंसं व्याख्यातपरनिष्कलस्वरूपं श्रीस्वच्छन्दं सकलस्य जगत ईश्वरं ध्यात्वा अनुप्रवेशयुक्त्या स्फुटीकृत्य योगी मृत्युं जयेदिति पूर्वेण संगतिः ॥

कुत्रस्थोऽसौ कीदृग् ध्येय इत्याह—

नासिकारन्ध्रमार्गस्थः स सृजेत् संहरेज्जगत् ॥२०७॥

तत्रस्थः कलयेत् सर्वं सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

'यः सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमरूपेषु—

नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कालो० १।५)

इति तन्त्रान्तरोक्तस्थित्या अवस्थितः, नसते कौटिल्येन गच्छतीति नासिका मध्यशक्तिः, तद्रन्ध्रमार्गे सौषुम्ने धाम्निस्थितो यथोक्तावरोहक्रमेण प्राणरूपतां श्रित्वा नासायां रन्ध्रमार्गेषु च चक्षुरादिसुषिरभूमिषु स्थितः, स उन्मेषनिमेषयुक्त्या बाह्यान्तररूपं जगत् सृजेत् संहरेच्च । यतस्तत्रस्थः सन् सर्वं कलयेद् अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपेत्, बहिराभासितं चान्तः क्षिपेत्, अथ च कलयेद् गणयेत् वैचित्र्येण स्थापयेत् जानीयात् परामृशेच्च, कलतेः क्षेपसंख्यानगतिशब्दार्थत्वात् ॥

तेनेदृशं स्वच्छन्दनाथं कालेश्वरम्—

तत्स्थं ध्यात्वा जयेन्मृत्युं

मध्यधाम्नः प्रभृति अशेषरन्ध्रव्याप्त्यावस्थितं परचैतन्यविमर्शसारमकालकलितं ध्यात्वा इति स्वात्मरूपत्वेन प्रत्यभिज्ञाय तदवष्टम्भेनावस्थितो मृत्युं जयत्येव ॥

यतः—

नाकालस्थं कलेत् प्रभुः ॥२०८॥

अकाले कालातीतपरमेश्वरात्मनि यस्तिष्ठति तदभेदेन स्फुरति तं प्रभुः परमेश्वरो न कलयेत्, स्वात्मनि क्रियावरोधात् ॥२०८॥

यदि चात्रैव पदे योगीन्द्रः सततावहितो भवति, तदास्य—

ध्यानयुक्तस्य षण्मासात् सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ।

कालत्रयं विजानाति कालयुक्तस्तु योगवित् ॥२०९॥

परस्वच्छन्दस्वरूपसमावेशरसेन धीसन्तानोत्तेजनात् षाण्मासिकात् सर्वं कालाग्न्यादिशिवान्तं जानाति, यदा तु तत्समावेशरसाच्छुरित एव काले प्राणचारे युक्तोऽवहितो भवति, तदातीतवर्तमानानागतं सर्वं जानाति योगिवरः ॥२०९॥

किं च—

कालहंसं स तु जपन् ध्यायन् वापि महेश्वरि।
स भवेत् कालरूपी वै स्वच्छन्दः कालवच्चरेत् ॥२१०॥
हतमृत्युर्जरां त्यक्त्वा रोगैः सर्वभयोज्झितः।

पूर्वनिर्णीतो यः परनिष्कलभट्टारकात्मा हंसः, स एव निर्णीतहानसमादानधर्मतया विश्वं कलयन् कालहंस इतीह उक्तः। तं जपन् ध्यायन् वेति पञ्चप्रणवाधिकारयोजनिकाग्रन्थोक्तव्याप्तिचिन्तनया भूयोभूयस्तद्विश्रान्तिपरत्वेन चतुष्कलभट्टारकमन्त्रोच्चारावर्तनेन जपन् कालरूपीत्यशेषविश्वकलनात्मकं कालरूपं प्रशस्तं विद्यते यस्य श्रीस्वच्छन्दभट्टारक एवासौ स्यात्। तद्वदेव च विचरेत् सर्वदैव पञ्चविधकृत्यकारितया प्रसरेत्। रोगैर्हेतुभिः कृतं यद्भयम्, तेनोज्झितः ॥

किं चास्य—

विज्ञानं श्रवणं दूरान्मननं चावलोकनम् ॥२११॥
सर्वैश्वर्यगुणावाप्तिर्भवेत् कालजयात् सदा।

दूरादिति सर्वत्र योज्यम्। विज्ञानं बुद्धेर्मननं मनसो व्यापारः, अवलोकनं चक्षुषः। एतच्च सर्वान्तर्बहिष्करणव्यापारोपलक्षणपरम्। तदेवं सर्वरन्ध्रव्यापकदेशकालातीतस्वच्छन्दभैरवात्मकहंसस्वरूपात्मताव्याप्तौ शरीरेन्द्रियादिभूम्युत्तरणात् पुनश्च परतत्त्वरसेन तदास्फुरणाज्जरामृत्युरोगमितविषयज्ञानानैश्वर्याद्यभावोऽर्थसिद्ध इवेत्युक्तम् ॥

इदानीं दक्षिणवाममध्यवाहेषु क्रमेण हंसध्याने तदुचितं मृत्युजयमादिशति—

दक्षनासापुटे ध्यात्वा ब्राह्मैश्वर्यमवाप्नुयात् ॥२१२॥
तदायुस्तत्समं वीर्यं भूतकालं च वेत्त्यतः।
भविष्यज्ज्ञो भवेद्वामे विष्णुतुल्यबलश्च सः ॥२१३॥
तत्समं चैतदैश्वर्यं तदायुर्योगिराड् भवेत्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं जानाति मध्यतः ॥२१४॥
नित्यं वै ध्यानयोगेन रुद्रस्य समतां व्रजेत्।
आयुषा बलवीर्येण रूपैश्वर्येण तत्समः ॥२१५॥
ब्रह्मणः परभावेन ऐश्वरं पदमाप्नुयात्।
विष्णोः सदाशिवैश्वर्यं परभावादवाप्नुयात् ॥२१६॥
रुद्रस्य यः परो भावो ध्यात्वा तं तु शिवो भवेत्।

इह—

'ब्रह्मेश्वरौ च दक्षस्थौ वामे विष्णुसदाशिवौ।
मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ··················॥' (७।१५१)

इति नाडित्रय एव षट्कारणावस्थितिः परापरभेदेन पूर्वमुक्ता। तेन दक्षवामनाडिषु यदि हंसं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपमपरया व्याप्त्या ध्यायन् विमृशति, तदा तद्बलवीर्यैश्वर्ययोगी भवति, अतीतभाविवर्तमानरूपत्रैकालिकं विश्वं जानाति। अत्र च ब्रह्मादीननया व्याप्त्या ईश्वरसदाशिवशिवरूपान् ध्यात्वा तद्रूपतां लभते ॥

उपसंहरति—

एवं मृत्युजयः ख्यातः

अथ—

अमृतं ध्यायतो जयः ॥२१७॥

मृत्योरेवेति शेषः ॥२१७॥

कथमित्याह—

नाडिभिन्नालरन्ध्रस्थं हृत्पद्मं षोडशच्छदम्।
ध्यात्वा सितं सुविकचं कलाषोडशकान्वितम् ॥२१८॥
संपूर्णावयवं चन्द्रं कर्णिकाकारविग्रहम्।
तन्मध्ये चिन्त्यमात्मानं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥२१९॥
क्षीरामृतार्णवावस्थकल्लोलामृतपूरितम्।
उपरिष्टाद् द्वितीयाब्जं शाक्तामृतमहोदधौ ॥२२०॥
तच्चाधो मुखपद्मं तु परिपूर्णेन्दुकर्णिकम्।
तन्मध्ये चिन्तयेद्धंसमधो बिन्दुशिखान्वितम् ॥२२१॥
वर्षन्तममृतं दिव्यं समन्तात् संविचिन्तयेत्।
आत्मोर्ध्वरन्ध्रमार्गेण प्रविष्टं तच्च चिन्तयेत् ॥२२२॥
सितं सुबहुलं सान्द्रममृतं मृत्युनाशनम्।
तेनाप्लावितमात्मानं पूर्यमाणं विचिन्तयेत् ॥२२३॥
पद्मनालनिबद्धैश्च नाडीरन्ध्रमुखैः सदा।
अमृतापूरितं देहं सर्वमेव विचिन्तयेत् ॥२२४॥
एवं वै नित्ययुक्तात्मा अमृतेशसमो भवेत्।
व्याधीन् मृत्युं जरां त्यक्त्वा क्रीडते त्वणिमादिभिः ॥२२५॥
एव तस्यामृतध्यानात् कालमृत्युजयो भवेत्।

हृद्द्वाशान्तोर्ध्वाधःस्थितं श्रीपूर्वाद्युक्तामृतादिदेवतावाच्यकारादिवर्णषोडशककलिततावत्पत्रविकसितसितकमलमध्यस्थमधःकमलकर्णिकापूर्णेन्दुबिम्बनिष्ठमूर्ध्वाब्जकर्णिकापूर्णेन्दुमध्यस्थाधोमुखसितचतुष्कलबिन्दुप्रकाशप्रसरत्सुधासारपूरितब्रह्मरन्ध्रविसृतकल्लोलप्लावितममृतराशिमध्यगमात्मानं स्फटिकप्रभं विचिन्त्य, तदमृतं तदधःस्थसिताब्जनालरन्ध्रनानानाडीमुखैरुच्छलत्समस्तदेहव्यापकं यः षण्मासान् सततं चिन्तयति, स गतव्याधिजरामरणोऽणिमादिसिद्धिभागमृतेशभैरवतुल्यो भवतीति पिण्डार्थः। नाडिरूपतया भिद्यन्ते नानारूपत्वेन

स्फुरन्ति यानि नालरन्ध्राणि, अर्थादधोऽब्जगतानि तत्स्थमिति, तैर्ग्रन्थिस्थानगतैः संबद्धम्, नालमत्र मध्यनाडीरूपम्, क्षीरं क्षीरोदाद्युद्धृतममृतम्, तद्रूपोऽर्णव इति संगतिः । अमृतं चात्र परशक्त्यानन्दसारम् ॥

एवं सर्वनाडीमार्गत्रयाश्रयहंसध्यानादमृतध्यानाच्च मृत्युजयमभिधाय, तात्त्विकमनुत्तरसाररूपमादेष्टुमुपक्रमते—

अथवा परतत्त्वस्थः सर्वकालैर्न बाध्यते ॥२२६॥

अथवेत्यनेनेदं ध्वनति—कतिपयकालशरीरस्थैर्यादिमृत्युजयप्रकारेभ्योऽयमन्य एवातिविर (स ? ल) महायोगीन्द्रहृदयङ्गमस्तत्प्रकारो यत्र देहावस्थित एव श्रीस्वच्छन्दभैरवतां सर्वदैव समाविशति कोऽपि पश्चिमजन्मा जन इति ॥२२६॥

तत्र यादृक्परं तत्त्वम्, यथा च तन्मयीभावस्तदादेष्टुमाह—

चिन्तयेत् परमं तत्त्वं कालचारविवर्जितम् ।
कलाकलङ्कनिर्मुक्तं निष्कलं परमं पदम् ॥२२७॥

चिन्तयेत् स्वाभेदेन विमृशेत्, परं तत्त्वं हृद्द्वा दशान्तस्फुरितं चिदानन्दघनात्मकम्, कालचारेण बाह्यान्तरेण च वर्जितम्, कलाकलङ्केन कल्पनामलेन शून्यम्, अत एव चतुष्कलवदकारादिकलायोगाभावाद् निष्कलम् परमं पदमनुत्तरं धाम ॥२२७॥

न केवलं परमं धामेदृग् यावत्—

निष्कलं चात्मतत्त्वं तु

आत्मतत्त्वं समनोपरि शुद्धात्म, निष्कलं त्यक्तसमनान्तभेदकलनम् ॥

यतः—

कलङ्को देह उच्यते ।
संयुक्तः कारणैः षड्भिः सर्वतत्त्वसमन्वितः ॥२२८॥
वर्णो बिन्दुस्तथा नादो व्यापिनीशक्तिसंयुतः ।
समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते ॥२२९॥

एतदुक्तं भवति—यथायं स्थूलस्तत्त्वादिरूपो देहः कलङ्कः, तथा कारणाश्रयः प्राणात्मा सूक्ष्मः, समनान्तमातृप्रमेयरूपः परोऽपि देहः कलङ्क एव । परभैरवरूपो हि परव्याप्त्यायमात्मनि । यथा स्थूलदृष्ट्या समनान्ता प्रमेयमाला कलङ्क एव । वर्णः अकार उकारो मकारश्च । कलङ्करूपश्चासावाधार इति समासः । कलङ्कत्वं चास्य सर्वस्य परशिवाभेदाप्रथनात् ॥२२९॥

यस्य चायमाधारः, सः—

आधेयः परमो ह्यात्मा

यः पूर्वं शुद्धविज्ञानकेवलो भेदवादिनां मोक्षभूरित्युक्तः ।

अथ—

तत्पराप्युन्मना स्मृता ।

मस्याश्चान्ते परं तत्त्वं सकलाकलवर्जितम् ॥२३०॥

व्यापकं सर्वतोभद्रं सर्वान्तः सर्वतोमुखम् ।

पञ्चपञ्चकतत्त्वस्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥२३१॥

सकलः समनान्तः स्फारः, अकलः शुद्धात्मा, ताभ्यां वर्जितं तयोः परस्परावच्छेदेन संकुचितत्वात् तत्तु व्यापकं दिक्कालासंकुचितम्, सर्वतश्च भद्रं चिदानन्दघनम्, सर्वस्य चान्तः जीवितभूतत्वेन स्थितम्, पूर्वापरमध्यकोटिमध्यगतं च । सर्वतः सर्वेण मुखमिव मुखं स्वात्मप्रत्यभिज्ञोपायरूपम् । पञ्चपञ्चकानि तत्त्वानि तथाष्टादश गुणांश्च स्वयमेव व्याख्यास्यति । पञ्चपञ्चकेषु च तत्त्वेषु च स्थितं तदभिन्नमूर्ति गुणेषु चान्वितम् अनुगततया स्थितम् ॥२३१॥

तदित्थंभूतमेतत्—

यद्यस्मिंस्तु परं वेत्ति तदा मुच्येत बन्धनात् ।

'कलङ्को देह उच्यते' (७।२२८) इत्युपक्रान्तत्वादस्मिन् देहप्राणादावेवावस्थितो यद्युक्तरूपं परं तत्त्वं वेत्ति, तदा बन्धनान्मुच्यत एव, जीवन्नेव स्वानुभवेन परभैरवतामाविशतीत्यर्थः ॥

अथ पञ्चपञ्चकं दर्शयति—

कारणानि च मन्त्राश्च निवृत्त्याद्याः कलास्तथा ॥२३२॥

बिन्दुश्चैवार्धचन्द्रश्च निरोधी नाद ऊर्ध्वगः ।

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा तथोन्मना ॥२३३॥

पञ्चपञ्चकमेतद्धि कथितं ते वरानने ।

कारणानि ब्रह्मादीनि षट् । मन्त्रा इति अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णुरुद्रवाचकास्त्रयः, बिन्दुनादशक्तीनामीशसदाशिवशिववाचिकानां सर्वमन्त्रसाधारणबिन्द्वाद्युन्मनान्तप्रमेयदशकमध्ये कथनात् । अतो मन्त्रशब्देन साधारणप्रमेयदशकावशिष्टा असाधारणास्त्रय एव उक्ताः । तथा वक्त्राङ्गमन्त्रैकादशिकावर्गश्चतुर्थ इत्येते दश, ब्रह्मादिकारणाधिष्ठिताश्च निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च प्राग् व्याकृताः, तत्त्वं च बिन्द्वादिप्रमेयदशकमित्येतत्पञ्चपञ्चकम् ॥

तत्त्वान्याह—

तत्त्वान्येव तु षट्त्रिंशत्

पृथिव्यादीनि षट्त्रिंशत् पूर्वमेवोक्तानि । अत्र सर्वत्र परतत्त्वमभेदेन स्थितमिति पूर्वेण संबन्धः ॥

अथ—

गुणांश्चैव निबोध मे ॥२३४॥

गुणाः परभैरवस्य गृहीतमायाप्रमातृभूमिकस्य परापरदशौचित्येनावस्थिता धर्माः शक्तयः ॥२३४॥

तानाह—

अहंकारो धीर्मनश्च इन्द्रियार्थास्तथैव च।
ग्रहणं स्पर्श आधारः शक्तिश्चैवाष्टमी स्मृता ॥२३५॥
एते चाष्टौ गुणाः

अन्तःकरणत्रयमिन्द्रियार्थसहितोऽर्थवर्गश्चतुर्थः, ग्रहणं च तद्विषयज्ञानम्, स्पर्श आन्तर सुखाद्युपलम्भः, आधारः शरीरम्, शक्तिर्ज्ञानक्रियात्मा प्रयत्नश्चेत्यष्टावपररूपस्यात्मनो धर्माः शक्तयः। यतो यत्किंचित् प्रकाशते विषयशरीरादि, तत्प्रकाशरूपाच्चेतनादभिन्नम्, अन्यथास्य प्रकाशनायोगादित्यस्य धर्मरूपमेव सर्वम् ॥

अस्यैव पराव्याप्तिमाविष्टस्य—

अष्टौ भैरवा भैरवाष्टकम्।

ये पूर्वं करालीशादयोऽष्टौ भैरवा उक्तास्तदात्मानः परव्याप्त्या भैरवस्य सतोऽष्टकं गुणानामित्यर्थः ॥

किं चास्य—

प्राणहंसस्तथा शक्तिः

अपरपरावस्थायाः क्रमेण धर्माः। यथा हि परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतात्मभूमिकस्तथा तदीयस्वातन्त्र्यात्मापि शक्तिः संकुचिततया भान्ती प्राण-इत्युक्तप्रायम् ॥

तदित्थम्—

गुणा अष्टादश त्विमे ॥२३६॥

अतश्च—

एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते।

उच्चारः करणबन्धादिपूर्वं मन्त्रोदीरणम्, आलम्बनं ध्यानाद्याश्रयणम्, तद्विना एतेषु सर्वेषु भेदेष्वभेदेन स्थितमिति शेषः। उपायाभिमतानामपि स्वप्रकाशचिद्रूपत्वैक्येन प्रकाशनात्। **तदुक्तमस्मत्प्रभुपादैः—**

उपायजालं न शिवं प्रकाशये-
द्घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।

विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः
स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् ॥' (तं० सा० २ आ०)

इति ॥

तदेव विशिनष्टि—

अक्षराक्षरनिर्मुक्तं परं तत्त्वमनक्षरम् ॥२३७॥

अक्षरेणाविमलेन जीवात्मना रूपेण आ समन्तात् क्षरैः सर्वभूतैश्च निर्मुक्तं परचिन्मात्रमित्यर्थः, अथवाऽक्षरैर्वाचकैरक्षरैश्च तत्संबन्धिभिर्वाच्यैराकारैर्निर्मुक्तमकारोकारादिवाचकमन्त्रकलातद्वाच्यरूपं न भवतीत्यर्थः ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।

अत्यन्तासंभाव्यमेतद् यत् स्थानप्रयत्नादुच्चार्यत्वात् सोपाधिषु मन्त्रावयवरूपेषु अक्षरेषु उच्चरत्सु निरुपाधिचिद्घनतत्त्वसमावेशात्मा मोक्षो भवतीति, परतत्त्वस्य वर्णतद्वाच्यरूपत्वाभावात् । उक्तं चैतत्प्राक्—

'तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा' (६।१२)

इति । किं च, अक्षरेषु भिन्नेषु बहुषु मुक्तात्मसु इष्यमाणेषु कुतो मोक्षः—

'त आत्मोपासकाः' (४।३९२)

इत्यभिहितत्वात् ॥

अत एव—

यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ॥२३८॥
तावत् स सकलो ज्ञेयो निष्कलो भेदवर्जितः ।

पश्यन्तीपर्यन्ताभिर्वाग्भिरुच्चार्यमाणस्तत्तदकारादिकलाबन्धान्मन्त्रः सकल एव भवति, लिपिध्यानक्रमेऽपि आप्यायादि कुर्वन्नपि अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्यलिपिकलायोगादपि सकल एव । यस्तु सर्वभेदप्रत्यस्तमयात् स्वप्रकाशानाहतपरामर्शमयः, स निष्कलः । एतच्च वितत्य पञ्चप्रणवाधिकारादौ निर्णीतम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभट्टारके—

नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत् ।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद् भवेत् ॥ (६ श्लो०)

इति ॥

अतश्चायम्—

सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः क्रियाकालविवर्जितः ॥२३९॥

नायं मन्त्रान्तरवत् सृज्यते संह्रियते वा, नाप्यास्योच्चारध्यनादिक्रियाकालोऽस्ति । तथोक्तम्—

'नास्योच्चारयिता कश्चित्' (७।५९)

इत्यादि ॥२३९॥

एतद्व्यनक्ति—

अधश्चारे भवेत् सृष्टिरूर्ध्वे संहार उच्यते ।
अधश्चारेण जातोऽसौ ऊर्ध्वे चैव मृतो भवेत् ॥२४०॥
सूतकं मृतकं त्यक्त्वा तिष्ठेद वै तत्त्ववृत्तितः ।

अधश्चारोऽपानः, ऊर्ध्वचारस्तु प्राणः, सृष्टिसंहार इति त्रिविधस्य देहप्रमातुः, असाविति देहप्रमाता इत्थं मुहुः सूतकमृतकाशौचमयः । यदा तु देहप्रमातृताभिमानं प्रशमय्य सत्यां चित्प्रमातृतामवलम्बते, तदा दलकल्पदेहप्राणादिपदवर्त्यप्ययं चिदामोदसुन्दरस्तत्त्ववृत्तिस्थित एवेति का मृतकसूतकसंभावनापीति, इत्थमेतद् व्याकार्यम्, न तु प्राणापानप्रशमपदे सततमवस्थेयमिति योगिनां व्युत्थानदशासंभवेन तत्र सततावस्थानाघटनात्,

'एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते' (७।२३७)

इत्युक्तेन वक्ष्यमाणेन च ग्रन्थेन विरोधापत्तेः । यदि चामुखे प्राणापानप्रशमपदनिभालनं तत्त्ववृत्त्यनुभवे भवत्युपायः, तथापि तदुपायपूर्वं सर्वदा सर्वावस्थासु सर्वत्र चिदानन्दघनपरमशिवतामयत्वज्ञानमेव तत्त्ववृत्त्यवस्थितत्वम् । यद्वक्ष्यति—

'सर्वं शिवमयं स्मरेत्' (७।२४४)

इत्यादि ॥

तदित्थमियम्—

तत्त्ववृत्तिश्च व्याख्याता सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ॥२४१॥

षड्विधस्याप्यध्वनः पारमार्थिकसत्तया चिन्मय्या परिज्ञातत्वात् नास्त्युपाधित्वम्, व्यतिरेकाभावात् । विशेषेणाख्याता तत्र तत्र शास्त्रे निराचारावधूतनिर्मर्यादस्फुरत्तामहासत्तासमापत्तिसमावेशादिशब्दव्यवहृतत्वात् ॥२४१॥

अतश्च—

तत्त्वाध्वधर्मनिर्मुक्तः कारणैश्च विवर्जितः ।
तत्त्ववृत्तौ स्थितो योगी सर्वारम्भविवर्जितः ॥२४२॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तो विषादानन्दर्जितः ।
नाकाङ्क्षेन्न च निन्देत्तु विषयांश्च कदाचन ॥२४३॥
समः शत्रौ च मित्रे च ब्राह्मणे श्वपचे समः ।
तुल्यदर्शी भवेन्नित्यं सर्वं शिवमयं स्मरेत् ॥२४४॥

तत्त्वादिभिः शरीरावस्थितैर्नास्त्राहन्तावच्छिद्यत इत्यर्थः। अत एव चायं चित्समापन्नत्वात् सर्वैरारम्भैर्हेयोपादेयविषयाभिः प्रवृत्तिभिर्विशेषेणाभिनिवेशात्मना वर्जितः, यतस्तत्प्रवृत्तिहेतुभ्यां रागद्वेषदोषाभ्यां रहितः। तद्राहितत्वमप्यस्य विषयसङ्गसंपाद्यविषादानन्दविरहात्, अत एवास्य आकाङ्क्षाद्यभावो यथोपनतमात्रभोगातिवाहकत्वात्। नास्य शत्रुमित्रब्राह्मणश्वपचेषु अपकार्युपकारिशुश्रूषापवित्रतादिधीः, तुल्यत्वेनासौ सर्वं पश्यति केवलम्, न तु लोकमध्यस्थो लोकस्य स्थितिभङ्गमुत्पादयेत्। इदं त्वस्य मुख्यं रूपं यत्सर्वं शिवत्वेन चिन्तयेत्। यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति॥' (११६)

इति। तथा—

'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्।'

इति॥२४४॥

सर्वं शिवमयं स्मरेदित्युक्तम्, तत्र सर्वमध्ये यद्यप्यात्मा प्रविष्टस्तथाप्यसौ अनादिशिवाद्भिन्न इति भेदवादिदृशा भ्रमो मा भूदित्याह—

आत्मानं च तथैवैवं सर्वथैव सदा स्मरेत्।

तथैवैवमिति विश्वात्मकपरमशिवैक्येन॥

अतश्च—

सर्वतत्त्वानि भूतानि वर्णा मन्त्राश्च ये स्मृताः॥२४५॥
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनयानया।

सर्वस्य शिवाभिन्नस्वात्मैक्येन दर्शनात्, भूतानि चतुर्दश, वर्णाः शब्दराशिशरीरस्थाः॥

ईदृक्तत्त्ववृत्तिनिष्ठत्वादेव—

न चासौ कुरुते पुण्यं नैव पापं च सुव्रते॥२४६॥

बुद्धिपूर्वं शुभमशुभं वा न किंचित् करोति॥२४६॥

यतोऽसौ—

कृतकृत्यः प्रसन्नात्मा

कृतं निष्पन्नं कृत्यं परमेशात्मस्वात्मसमापत्त्यात्मकं यस्य। प्रसन्नो मलाकलङ्कितः॥

अत एव—

कृत्यं चास्य न विद्यते।

च एवार्थो भिन्नक्रमः। यतोऽस्य कृत्यं नैव विद्यते, तेन कथं पुण्यं पापं वा कुर्यात् ॥

जीवन्नप्यसौ मुक्त इत्याह—

इह लोके परस्मिश्च परिपूर्णस्तु सर्वदा ॥२४७॥

इहेति व्युत्थानाभिमतावस्थायामित्यर्थः ॥

यदि बुद्धिपूर्वं धर्मादि नाचरति, तत्प्रमादसंपन्नं परोपकारादिकमस्यावारकं नेत्याह—

धर्माधर्मविनिर्मुक्तः

अभिसन्धि विना कर्मणो बन्धकत्वाभावात् ॥

प्राक्शरीरार्जितमप्यस्य पुण्यादिकमावारकं नेत्याह—

पुण्यपापविवर्जितः।

प्रोक्तज्ञानाग्निना तयोर्भस्मीकृतत्वादित्यर्थः ॥

अत एवेदृशस्य ज्ञानराशेर्योगिनः—

न चास्य भक्ष्याभक्ष्यं हि न पेयापेयमेव च ॥२४८॥
नापवित्रं हि तस्यास्ति न पवित्रं हि सुव्रते।
निरपेक्षो ह्यसौ नित्यं सर्वापेक्षाविवर्जितः ॥२४९॥

सर्वस्य शिवैक्येन प्रतीतत्वात्। तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साशुद्धिः शंभुदर्शने।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेत् सदा ॥' (१२३)

श्रीमदुच्छुष्मभैरवेऽपि—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचि ततः ॥'

इति ॥२४९॥

ईदृशस्य च—

नास्य क्षेत्रं नास्य तीर्थं नियमो यम एव च।

नियमो जटाभस्मादिपरिग्रहः, परभैरवस्फाररूपस्य नास्य कश्चित् संकोच इत्यर्थः। तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे रहस्यप्रतिपादिन्यष्टादशे पटले—

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः' (१८।७४)

इत्यादिना महता ग्रन्थेन ॥

एवंविधस्य योगिनो लोकोत्तरं क्षेत्रादि निरूपयति—

क्षेत्रं तस्य परा शक्तिर्यतः सर्वं प्रसूयते ॥२५०॥

सर्वाध्वानो यतो देवि तत्रस्थाः प्रचरन्ति वै ।
तीर्थं चैव परं शान्तं नित्यं चानन्दविश्वगम् ॥२५१॥
येन व्याप्तमिदं विश्वमनन्तं विश्वशक्तिभिः ।
नित्यं विरक्तिः संसाराद्यमोऽयं परिकीर्तितः ॥२५२॥
नियमो भावना नित्यं परतत्त्वैकतानता ।

'क्षेत्रं तदुच्यते यत्र देवताचक्रमध्यगः ।
तत्तदभीष्टं प्राप्नोति···············॥'

इत्यतोऽस्य परयोगिनः पराद्वयमयाध्वचक्रदेवताचक्रमध्यगता परा शक्तिरेव सर्वप्रसवभूमिः क्षेत्रम्, तीर्थं सर्वमलध्वंसकृत्, तच्चास्य प्रशान्तभेदकल्लोलमानन्दरसमयं विश्वव्यापि परं शान्तम् अशेषशक्तिरूचितं शक्तिमत्पदम्, परतत्त्वैकतानता तदभेदविमर्शमयी भावना, सास्य नियमो व्रतम् ॥

एष च योगी—

नात्मनो भावयेज्जातिं न कुलं न बान्धवान् ॥२५३॥

देहात्मनो हि जात्यादिकलङ्कयोगो न चिदात्मनः ॥२५३॥

ईदृशोऽपि च—

आचरेत् सर्ववर्णत्वं

सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां भावमाचरेत्, यस्य यादृक् स्वरूपमाचारो वा, तस्य तदेव श्लाघेत ॥

न चात्मनि वर्णाश्रमनियमं गृह्णीयादित्याह—

न च वर्णेषु वर्तयेत् ।

किन्तु—

परभावनया नित्यं परधर्मेण वर्तयेत् ॥२५४॥

वर्तेतेत्यर्थः ॥२५४॥

तामेव परधर्मवृत्तिं सामानाधिकरण्येनास्य दर्शयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च परिपूर्णः स्वभावतः ।
स्वतन्त्रोऽलुप्तसामर्थ्यस्त्वनादिनिधनाश्रितः ॥२५५॥
अनादिबोधो ह्यतुलः कालवेलाविवर्जितः ।
चारोच्चारविनिर्मुक्तस्त्वहोरात्रविवर्जितः ॥२५६॥

परिपूर्णोऽनन्तशक्तिः । सर्वज्ञत्वादय एते गुणाः षड् योजनिकाग्रन्थेऽस्माभिर्व्याकृता एव । अतुल इति शिवैक्येनास्य स्फुरणात्, द्वितीयस्याभावात् । कालवेलाविवर्जित इति मितयोगिवदस्य प्राणीयतुट्यंशांशिकानिभालनानुपयोगात् अत एव चारस्य प्राणवाहस्य य ऊर्ध्वप्रेरणात्मा उच्चारः, सोऽप्यस्यानुप-

युक्तः अतश्च नित्यमेव शिवैकात्म्यभावनाविष्टत्वाद् नास्य मुमुक्षुबुभुक्षुवदहो-रात्रोपयोगः कश्चित् ॥२५६॥

नाप्यस्य तत्प्रविभागोऽस्तीत्याह—

न दिवा जागरं कुर्यात् न च रात्रौ स्वपेत् क्वचित् ।
स्वभावेनैव संतिष्ठेद्दिनरात्रिविवर्जितः ॥२५७॥

यथा लौकिको दिवा जागर्ति भेदव्यवहारमेव परिशीलयति, निशायां मायायां स्वपिति न प्रबोधमेति, तथा नायम्, अपि त्वभेदनिष्ठ एव तथा मायया नाभिभूयते । जाग्रतः स्वपतोऽपि चास्य न जागरस्वप्नौ स्तः, सदा तुरीयप्रकाशावियोगात् । यथोक्तम्—

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य·········॥' (३।१)

इति श्रीस्पन्दे । तस्य परतत्त्वस्य संबन्धिन्युपलब्धिस्तन्मयः प्रकाशः सुप्रबुद्धस्य त्रिषु जाग्रदादिपदेषु, सततम् इत्यादौ मध्येऽन्ते च नित्यमित्यविच्छेदेन भवतीति । मयैवेत्थं स्पन्दनिर्णये व्याकृतमेतत् ॥२५७॥

यः—

एवं वै वर्तते योगी

सः—

परेण समतां व्रजेत् ।
न च तं कलयेत् कालः कल्पकोटिशतैरपि ॥२५८॥

अकालकलितपरमेश्वरैकरूपत्वात् ॥२५८॥

एतदेव स्पष्टयति—

जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्यैषा भावना सदा ।
शिवो हि भावितो नित्यं

ततश्च तम्—

न कालः कलयेच्छिवम् ॥२५९॥

शिवं शिवैकरूपं महायोगिनं कथं कालः कलयेत् ॥२५९॥

अथास्य महाव्याप्तिज्ञानस्य सकलोपनिषदुपदेशसारतमतामेतत्तन्त्रोपास्य-देवतानामोपपदप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति—

योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥२६०॥

प्रोक्ततत्त्ववृत्त्यवस्थित्यात्मना स्वात्मप्रतिष्ठया स्वच्छन्दगत्या चरत्यवश्यं योऽयं परतत्त्वैक्यप्रतीतिमयत्वात् स्वच्छन्दशब्दवाच्यो महायोगः, तेन श्रीस्व-च्छन्दभैरवस्य पदे धाम्नि युक्तोऽभिनिविष्टः सन् तत्साम्यमेति ॥२६०॥

योगप्रकर्षात्तु—

स्वच्छन्दश्चैव स्वच्छन्दः स्वच्छन्दो विचरेत् सदा ।

नित्यमादिमध्यान्तकोटिष्वयं श्रीस्वच्छन्दभैरव एव स्फुरन् स्थित इति यावत् ॥

'स्ववेद्यो भवेच्चारो ताडीचारजयात् स्फुटम् ।
अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ॥
मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत् ।' (७।१४३-१४४)

इति यदुपक्रान्तम्, तन्मध्ये नाडित्रयवाहानिरूपणतदन्यथावाहाद्युत्थारिष्टज्ञानमृत्युजयादिबहुप्रमेयव्यवहितं जातम् । अत एतदुपसंहरन् प्रागुक्तमेवानुबध्नाति—

एवं वै मृत्युलिङ्गानिरिष्टान्यन्यानि यानि च ॥२६१॥
योगाज्जानाति योगीन्द्रो नादजान्तर्गतानि च ।
निर्जित्यैतादि योगेन एवमुक्तक्रमेण तु ॥२६२॥

एवमिति यथोक्तवाहविपर्ययात्मकानि यान्यन्यानि च—

'कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न शृणुते' (७।१८७)

इत्यादीनि रिष्टानि नादजान्तर्गतान्युक्तानि, चशब्दात् काणोत्पाटादीनि च, तानि योगात् प्रोक्तरूपाच्चारावधानादेव योगी जानाति, ज्ञात्वा च हंसध्यानामृतध्यानतत्त्ववृत्त्यवस्थानरूपेण परपरापरापरात्मना मृत्युजिता योगेन निर्जित्य पुनरपि नाडीचारजयाभ्यासाद्योगी विजानाति, ज्ञात्वा च सर्वज्ञतां व्रजेदिति संबन्धः ॥२६२॥

अथेदानीम्—

अयोगी यानि जानाति अयुक्तो वापि सुव्रते ।
बहिर्लिङ्गानि तान्यत्र अङ्गारिष्टानि मे श्रृणु ॥२६३॥

अयोगीत्यप्राप्तयोगः । अयुक्त इति योगायाघटमानो वा लौकिक एवेत्यर्थः ॥२६३॥

तान्याह—

शुष्कताल्वोष्ठकण्ठश्चेदकस्माद्धूसरच्छविः ।
स्कन्धौ च भङ्गमायातः षण्मासान्मृत्युमाप्नुयात् ॥२६४॥

अकस्मादिति प्रसिद्धं निमित्तं विना, एतच्च सर्वत्र योज्यम् ॥२६४॥

सुनीलं मण्डलं व्योम्नि यः पश्यति दिने दिने ।
सितं हरितकृष्णं च वत्सरार्धान्म्रियेत सः ॥२६५॥

अकस्मादित्येव । मण्डलमिति सूर्यबिम्बस्य बाह्यपरिवेशः ॥२६५॥

विरश्मिं पश्यति रविं सोमं वै लक्ष्मवर्जितम् ।
तारां ज्योत्स्नां च कृष्णां वै पश्येत् षण्मासजीवितः ॥२६६॥

रविं मण्डलान्तस्थं बिम्बम् ॥२६६॥

हिरण्यवर्णं पुरुषं पिङ्गलं कृष्णमेव च ।
स्वप्ने संपश्यते यो वै षण्मासान् सोऽपि जीवति ॥२६७॥

अकस्मात् पित्तादिप्रकोपाभावादिति स्थितमेव ॥२६७॥

आत्मनो ह्यशिरश्छायां पश्येत् षण्मासजीवितः ।

छायापुरुषपरीक्षायामित्यर्थात् ॥

तैलाभ्यङ्गं तथा पानं रक्तस्रगनुलेपनम् ॥२६८॥
रक्ताम्बराणि कृष्णानि स्वप्ने पश्यति वै यदा ।
प्रेतैः पिशाचै रक्षोभिः श्वगोमायुकसूकरैः ॥२६९॥
वृतं यातं गृद्ध्राकाकैर्महिषैरुष्ट्रगर्दभैः ।
अङ्गभक्षणमुद्वाहं नग्नं चातीव विह्वलम् ॥२७०॥
स्वप्ने च पश्यते यो वै वर्षमेकं स जीवति ।

अत्र यथायोगमात्मन आत्मानमिति च योज्यम् । गृद्ध्रादिभिर्यातमिति वाहनरूपैर्नीयमानम् ॥२७०॥

शंखावर्ते भुजामध्ये गुल्फयोर्मर्मसन्धिषु ॥२७१॥
सोऽवश्यं वधमायाति यस्यैतत् स्पन्दनं नहि ।

शंखावर्तो ललाटकपालसंधी नेत्रप्रान्तस्थौ, भुजामध्यं मत्स्यस्थानमिति प्रसिद्धम्, मर्मसंधयो धमन्यादयः सिराः ॥२७१॥

किं च—

सोमार्कमण्डलं देहे ध्रुवं चैव त्वरुन्धतीम् ॥२७२॥
न पश्यति महायानं सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

एतानि प्रातिलोम्येन व्याचष्टे—

तालुरन्ध्रगतो धूमो महायानं तदुच्यते ॥२७३॥
जिह्वा त्वरुन्धतीत्युक्ता नासाग्रं ध्रुव उच्यते ।

तालुरन्ध्रं ब्रह्मबिलम्, पश्चात्कृतसूर्यस्तदुत्थां धूमलेखां छायायां न पश्यति । नासाग्रं त्रिपुटिकाप्रान्तः ॥२७३॥

किं च—

नेत्रान्ते करजाक्रान्ते मण्डलं सोमसूर्ययोः ॥२७४॥

वामदक्षिणनेत्रप्रान्ता यदा नखेन पीड्यन्ते तदा ज्योतिर्यद् दृश्यते, तत्सोमसूर्ययोर्मण्डलम् ॥

तदेतत्सर्वम्—

न पश्येद् गगनेऽप्येतत् सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

ऋतुकालादनन्तरमेव बहिर्यानमाकाशगङ्गापथः, अरुन्धती सप्तर्षिमध्यस्था, ध्रुवश्चतुर्दशताराख्यशरीरः, सोमसूर्ययोर्मण्डलं बिम्बबाह्यपरिवेशः ॥

स्थूलोऽकस्माच्च जायेत अकस्माद्वै भवेत् कृशः ॥२७५॥
अतिक्रुद्धोऽतिभीतश्च वर्षमेकं स जीवति ।

पुनः स्वप्नविषयमाह—

कृष्णाम्बरधरं कृष्णं लोहदण्डकरोद्यतम् ॥२७६॥
नरं चाभिमुखं स्वप्ने दृष्ट्वा मासत्रयायुषम् ।

आत्मानं निश्चिनुयात् ॥२७६॥

हृदयं शुष्यते यस्य स्नातमात्रस्य तत्क्षणात् ॥२७७॥
गात्रं चैवाप्यनुष्णं च ऋतुमेकं स जीवति ।
धनुर्निशि दिवा चोल्का व्यभ्रे विद्युत्प्रदर्शनम् ॥२७८॥
दिग्दाहोऽप्लुष्टदेशेऽपि मासमेकं स जीवति ।

धनुरैन्द्रम्, अप्लुष्टदेशेऽन्यजनापरिदृश्यदिग्दाहेऽपि यस्य दिग्दाहो भाति, स मासं जीवति, धनुर्निशि, दिवा चोल्कादर्शनम् ॥

चक्षुषी स्रवतो यस्य शब्दं न शृणुयात् स्फुटम् ॥२७९॥
नाघ्राति गन्धं

आघ्रातीति ऐशः पाठः ॥

यस्य च—

वाग्जाड्यं

अकस्मादिति सर्वत्र संबध्यते ॥

तस्य—

मासमेकं गतायुषः ॥

जीवितमिति संबन्धः ॥

अकस्मादेव च—

रक्तपद्मोपमं वक्त्रं जिह्वा कृष्णा च यस्य वै ॥२८०॥
गात्रे वर्णान्यनेकानि हृदयं यस्य रोदिति ।
तालुकम्पोऽथ नाभेश्च अर्धमासं स जीवति ॥२८१॥

रोदिति निर्निमित्तं पुनः पुनः स्विद्यति, रोदनमनुभवतीत्यन्ये ॥२८१॥

यश्च—

प्रत्यक्षकाकनासीरो दीपधूमं न जिघ्रति ।
पूर्वदृष्टं न जानाति चतुर्मासं स जीवति ॥२८२॥

असंनिहिता अपि काका नासीराः कङ्काश्च येन प्रत्यक्षाः पुरो दृश्यन्ते ॥२८२॥

बिन्दुं यस्तु न पश्येत्तु नित्यं वक्त्रानुगं हितम् ।
नित्यं वहति हिक्कां तु वर्षमेकं स जीवति ॥२८३॥

षडङ्गं करणं कृत्वापि यो बिन्दुं न पश्यति, वक्त्रानुगं भ्रूमध्यस्थम्, हिक्कां हिध्माम् ॥२८३॥

उपसंहरति—

बहिर्लिङ्गानि चैतानि अङ्गारिष्टानि यानि च ।

उक्तानीति शेषः ॥

अथैतानि—

पूजया जपहोमेन ध्यानधारणया प्रिये ॥२८४॥
कृतरक्षाविधानेन जीयन्ते नात्र संशयः ।

पूजादिधारणान्तं भगवद्विषयम्, रक्षाविधानं वक्ष्यमाणम् ॥२८४॥

तदित्थं रिष्टप्रशमनं कृत्वा प्रकृतो योगाभ्यास एव कार्यः, स च नाडिशुद्धिपूर्वकप्राणजयादेवेति तत्प्रकाशनाशयेन श्रीदेव्युवाच—

नाडीनां शोधनं चैव वायूनां च जयः कथम् ॥२८५॥

तेषां प्राग्विभक्तानां वायूनाम्—

स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि मम प्रभो ।

एतत्प्रश्नषट्कं निर्णिनीषुः श्रीभैरव उवाच—

परमो योगसद्भावो गुह्याद् गुह्यतरः प्रिये ॥२८६॥
यो न कस्यचिदाख्यातस्त योगं श्रृणु तत्त्वतः ।

यत्त्वया प्रश्नितम्, तद्योगरहस्यं तद्विना योगाभ्यासायोगात् ॥

तत्र तावत्—

सुप्रशस्ते भूप्रदेशे नाग्नितोयसमीपतः ॥२८७॥
वालुकाशर्कराहीने शुष्कवृक्षविवर्जिते ।
निःशब्दकीटवल्मीके ईतिभिः परिवर्जिते ॥२८८॥
पुण्ये धर्मिष्ठसंवासे तत्र योगं समभ्यसेत् ।

ईतयः अतिवृष्ट्यादयः । पुण्ये सत्तीर्थादियुक्ते धर्मिष्ठसंवासे पुण्याश्रये ॥

तदासौ—

देवदेवं समभ्यर्च्य भैरवं सविनायकम् ॥२८९॥
पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य युक्तो ध्यानपरायणः ।

विघ्नप्रशमनाय गणपतिपूजापूर्वमाज्ञाग्रहणाय गुरून् पूजयित्वा, भैरवमभ्यर्च्य ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति संबन्धः ॥

कथमित्याह—

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ॥२९०॥
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ॥२९१॥
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं यथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ॥२९२॥
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात् सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविशेषणम् भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टं परिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्—

'स्थिरसुखमासनम्' (पात० २।४६)

इति । ततः पूर्वोक्तं दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तररेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना, अथ च भाविप्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनुप्रविशेत् ॥

तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण स्फुटयति —

यन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ॥२९३॥
संकल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद् वै तेन सर्वगम् ।

चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्धाट्य, नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादिप्रकाशरूपम्, संकल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाशचिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शोदयेन समाविशेत् ॥२९३॥

तदेतद् नाडिशुद्धिप्राणजयपूर्वकं सुघटं स्यात्, इत्याशयेन नाडिजयं तावदाह—

अपसव्येन पूर्येत सव्येनैव विरेचयेत् ॥२९४॥

नाडीसंशोधनं चैतन्मोक्षमार्गपथस्य च।

सव्येन दक्षनाडापथेन, रेचयेत् रेचकं कुर्यात्, अपसव्येन वामेन, पूर्येत वायुपूरणं कुर्यादित्यर्थः। एवमनवरतं क्रियमाणमेतन्नाडीनां मोक्षमार्गपथस्य वा मध्यधाम्नः शोधनं मारुतप्रशमनं भवति ॥

प्राणजयं व्यक्तुमुपक्रमते—

रेचनात् पूरणाद्रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः ॥२९५॥

प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् ॥२९५॥

त्रय एते प्राणायामाः सर्वसाधारणेन नासिकापथक्रमेण निर्वर्त्यमानाः साधारणा बाह्याश्चेत्याह—

सामान्या बहिरेते तु

एतदभ्यासपूर्वमन्तःप्रयुज्यमानैः—

पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः।

तानाह—

आभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु ॥२९६॥
निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्यश्चाभ्यन्तरास्त्रयः।

आभ्यन्तरेण मध्यपथेनात्र रेचनं द्वादशान्ते, पूरणं हृदि, निष्कम्पं कुम्भकमिति निरायासं प्रशान्तकुम्भकमित्यर्थः। कार्या इति निर्वर्तनीया भवन्ति ॥२९६॥

अथ—

नाभ्यां हृदयसंचारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ॥२९७॥
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति श्रुतः।

निष्कम्पकुम्भकानन्तरं हृदयसंचाराद् इति शनैः शनैर्हृदयादधःसंचारयुक्त्या प्राणं नाभ्यामेव नियम्येत्यर्थात्, तथा मन इन्द्रियगोचरादिति तत्प्रत्याहारयुक्त्या नाभ्यामेव नियम्य, मनोनियमपूर्वकं प्राणं नाभौ नियच्छतः सुप्रशान्तः प्राणायामो भवति ॥२९७॥

तदित्थम्—

प्राणारोधे तु संपूर्णे नाभौ नीत्वा समुच्छ्वसन् ॥२९८॥

अनन्तरम्—

शनैर्विमोचयेद्वायुं वामनासापुटेन तु।

निरुद्धवायुप्रकोपापहाराय ॥

एवं चारजयान्तं प्राणायामप्रत्याहारावभिधाय, धारणा निरूपयति —

वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ॥२९९॥
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रया ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ॥३००॥

पाददेशे तिर्यग्गतेः, नाभौ जाठराग्नेः, कण्ठे स्थितिपदे धरण्याः, घण्टिकायां रसस्य, ब्रह्मरन्ध्रे च व्योम्नः सद्भावात्तथैव धारणा उक्ताः । अत्र चोद्घाते दीक्षाप्रस्तावनिर्णीतं वर्णमण्डललाञ्छनाक्षरात्मकत्वं धारणाध्येयम् । तत्र प्रथमं कण्ठे पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा हृदयादुद्घातपञ्चकेन पञ्चगुण पार्थिवं तत्त्वं भिन्द्यात्, ततोऽनेनैव क्रमेण हृदयादेव चतुर्भिरुद्घातैश्चतुर्गुणमप्तत्त्वम्, ततो हृदयादेव नाभिक्षेत्रे त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणमग्निम्, अनन्तरं हृदयादेव द्वाभ्यां पादाङ्गुष्ठगतं द्विगुणं वायुम्, ततोऽप्यङ्गुष्ठात् संकोचयुक्त्या प्राणशक्तिमूर्ध्वमुद्बोध्य हृदयादेवैकोद्घातयुक्त्या शरवद्ब्रह्मरन्ध्रस्थमेकगुणं व्योमग्रन्थि भित्वा, द्वादशान्तस्थस्य सर्वाः सिद्धयो भवन्तीति वाक्यार्थः ॥३००॥

तदेतदाह—

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसंख्योद्घातैः प्रसिद्ध्यति ।

उद्घातं लक्षयति—

संनिरुद्धे तु वै प्राणे मूर्ध्नि गत्वा निवर्तते ॥३०१॥
स उद्घात इति प्रोक्तो ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।

मूर्ध्नि इत्युपलक्षणपरं कण्ठादिक्षेत्राणाम् । ज्ञातव्य इति तत्तत्स्थानानुसार्यनुभवात्मकोऽयमित्यर्थः । अत एव पूर्वमनुभवप्रधान एवासावुक्तः ॥३०१॥

अथ प्राणायामादीनां फलमादिशति—

रागद्वेषौ प्रहीयेते प्राणायामैः सुधारितैः ॥३०२॥
धारणाभिर्दहेत् पापं प्रत्याहारेऽक्षसंयमः ।

पापं दहेदित्यावारकपृथिव्यादिग्रन्थिभेदान् शुभाशुभकर्मबन्धविच्छेदात् ॥

अथ यत्प्राणादिविषयं प्रश्नितं 'स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि (७।२८६) इति, तत्क्रमेण निर्णेतुमाह—

हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ॥३०३॥
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते

व्यानान्ताः पञ्चेत्यर्थात् ॥

एषां च—

रूपं शब्दं च मे शृणु ।

तत्र—

द्रुतताररनिभो रक्त इन्द्रगोपकसंनिभः ॥३०४॥

क्षीराभः स्फटिकाभश्च पञ्चानां रूपलक्षणम्।

द्रुततारं गलितं रूप्यम् ॥३०४॥

घण्टाकंसाब्दमधुरो गजनादो महाध्वनिः ॥३०५॥
प्राणादीनां तु पञ्चानामयं शब्द उदाहृतः।

कंसं कांस्यम, अब्दो मेघः, महाध्वनिः द्रुतनदीघोषोपमः ॥३०५॥

एषां कर्मादिशति, तत्र—

जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ॥३०६॥
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्यैवं विचेष्टितम्।

कलाश्चित्राद्याः। सर्वकर्माणीत्येतान्येव ॥३०६॥

प्रवेशयेदन्नपानं तन्मलं स्रावयेदधः ॥३०७॥
अन्धत्वं श्रोत्ररोगं च अपानस्तु करिष्यति।

चशब्दाद् ग्रहणघ्राणादि ॥३०७॥

अशितं लीढपीतं च समानः समतां नयेत् ॥३०८॥

नाडीषु संचारयेत् ॥३०८॥

क्षोभो हिक्का तथा छिक्का उदानस्य विचेष्टितम्।

छिक्का क्षुतम् ॥

स्वेदश्च रोमहर्षश्च शूलं दाहोऽङ्गभञ्जनम् ॥३०९॥
व्यानस्यैतानि कर्माणि स्पर्शं चैव स विन्दति।

स एव लभते ॥३०९॥

नागादीनां स्थानान्यादिशति—

अङ्गुष्ठजानुहृदये लोचने मूर्ध्नि संस्थिताः ॥३१०॥
नागाद्याः

क्रमेणेत्यर्थः। ३१०॥

सर्वेषामेषां शबलरूपता शबलशब्दता च तुल्येत्याह—

बहुरूपाश्च

चकाराद्बहुशब्दाः ॥

कर्म त्वेषां निबोध मे।

तत्राविकृतावस्थायां क्रमेण—

आह्लादोद्वेगजनकः शोषणस्त्रासनस्तथा ॥३११॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तश्च पञ्चमः।
अतिनिद्राकरश्चान्यो योजकश्च धनंजयः ॥३१२॥

अतिनिद्रा तन्द्रा, योजको देहान्तरसंबन्धकृत् ॥३१२॥

एषां विकृत्यवस्थायाम्—

श्वाससंकोचनच्छेदा घुर्घुरोत्क्रमणं तथा ।
नागादीनां तु पञ्चानां मृत्युकाले विचेष्टितम् ॥३१३॥

उत्क्रमणम् देहविश्लेषः ॥३१३॥

धनञ्जयकूर्मयोर्विशेषस्त्वयम्, यत्—

न चैव याति चोत्क्रान्तौ तनुं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

कंचित्कालं शवशरीरं न मुञ्चति ॥

आकुञ्चयति वै कूर्मः शोषयेच्च कलेवरम् ॥३१४॥

आकुञ्चनं संधिसंकोचः । शोषस्ताल्वादिस्थानेषु ॥

तदेवं दशधा स्थितम्—

प्राणमेव जयेत् पूर्वं जिते प्राणे जितं मनः ।
जिते मनसि शान्तस्य परं तत्त्वं प्रकाशते ॥३१५॥

तत्र—

प्राणापानं गुदे ध्यायेत् प्राणसमानं नाभितः ।
प्राणोदानं तु कण्ठे तु प्राणव्यानं तु सर्वगम् ॥३१६॥

प्राणशब्दोऽत्र सामान्यप्राणवाची अपानादीनां विशेषरूपाणां सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तः । यस्तु बहिःप्रसरणात्मा विशेषरूपः प्राणस्तं पूर्वोक्तदेशे हृदि ध्यायेत् । यथोक्तवर्णशब्दाद्यात्मानश्चैते ध्याता वशीकृता भवन्ति ॥

एवमेव च—

नागाद्याः प्राणसंयुक्ताः

सामान्यप्राणसंबद्धाः ॥

एतान् यथोक्तरूपान् पूर्वोक्तेषु—

स्वस्थानेषु निरोधयेत् ।

तदेतस्य दशकस्य यावता कालेन निरोधाज्जितता भवति, तत्कालं वक्तुमाह—

निरुद्धस्य च यः कालस्तं वक्ष्यामि निबोध मे ॥३१७॥
तालात् प्रभृति तं ध्यायेद्यावत् पञ्चशतं गतम् ।
जितोऽनिलो भवत्येव संक्रान्त्युत्क्रान्तिकर्मणि ॥३१८॥

अङ्गुल्या जानुभ्रमणावधिकालस्तालः । तेषां यावत्पञ्चशतं गच्छति, तावद्यदि प्राणादिनामाविचलं ध्यानं सिध्यति, तदा ते जिता भवन्ति । ततश्च परशरीरसंक्रान्तौ उत्क्रान्तौ च सामर्थ्यं भवति ॥३१८॥

इदं च तज्जयेऽभिज्ञानम्—

दिव्या कान्तिः शुभो गन्धः प्रज्ञा चास्य विवर्धते ।
दिव्या दृष्टिश्च श्रवणं दिव्या वाक् च प्रजायते ॥३१९॥
वायुवाद्विचरेल्लोकान् सिद्धान् देवांश्च पश्यति ।
मनसा चिन्तितावाप्तिः प्रवर्तेत गुणाष्टकम् ॥३२०॥
सर्वकामसुसंपूर्णः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
संसारबन्धनिर्मुक्तः शिवतुल्यश्च जायते ॥३२१॥

गुणाष्टकमणिमादिकम् । तदियता ग्रन्थेन

'दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत्' (७।२९३)

इति यदुपक्रान्तमभूत्तन्निर्वाहितम् ॥३२१॥

अथेदानीं सगर्भप्राणीयधारणाभिर्योगिनां योगोचितजाग्रदाद्यवस्था दर्शयन् दर्शनान्तरोक्तवेधसमावेशस्वरूपज्ञानं शिक्षयति—

प्राणापानौ तु संयोज्य ह्रस्वकोटिसमन्वितौ ।
नाभ्याधारे च योगीन्द्रः

यदा तिष्ठेत् तदास्य—

स्वेदः कम्पश्च जायते ॥३२२॥

हृदये प्रशान्ताशेषतरङ्गानाहतविश्रान्त्यनन्तरं यदा मन्त्रवृद्धेरुन्मिषत्ता भवति, तदा हृदि सामरस्यावस्थितौ प्राणापानौ ह्रस्वकोट्याकारकलाविमर्शनेन युक्तावधःप्रसरणक्रमेण नाभौ संयोज्य, प्रोक्तकालं तिष्ठतः स्वेदकम्पौ भवतः ॥३२२॥

अथासौ—

पुनरेव तु हृत्स्थौ हि प्राणापानौ निरोधयेत् ।
दीर्घकोटिसमायोगात् तत्क्षणाच्च पतेद्भुवि ॥३२३॥

नाभिपदविश्रान्त्यनन्तरमूर्ध्वमारुह्य हृत्स्थं कृत्वा दीर्घात्मकमान्त्रद्वितीयकलाविमर्शनपरो निरोधयेत् इति तत्कालोच्चारस्थाने कण्ठान्ते प्रोक्तकालं तिष्ठेत्, तदेकाग्रताप्रकर्षाद् भुवि पतेत् ॥३२३॥

ततोऽपि यद्यसौ—

कण्ठस्थं च तथैवेह प्राणमेव निरोधयेत् ।
प्लुतकोटिसमायोगात् स्वप्नवृत्तिस्ततो भवेत् ॥३२४॥

उल्लासे सत्यपानप्रशमात् प्राणमितीहोक्तं कालम्, प्लुतकोटिः, पूर्वोक्तनीत्या तालवन्तोच्चारी मकारकलाविमर्शः, स्वप्नोऽत्र जिज्ञासितवस्तुप्रथनात्मा

योग्युचित: । एवमादिशता कम्प-स्वेद-पाता योगिजागरा इति निरूपितं भवति ॥३२४॥

यदा तु—

भ्रूमध्ये बिन्दुयोगेन प्राणरोधं तु कारयेत् ।
सुषुप्तं जायते तत्र क्षणाच्चैव प्रबुद्धयते ॥३२५॥

प्लुतेनैव तालुनो भेदितत्वान्मात्रबिन्दुकलाव्याप्तिविमर्शेन भ्रूमध्ये प्रोक्तकालं तिष्ठत: प्रशान्तमनोवृत्ति: सुषुप्तावस्था उदेति, क्षणाच्च प्रबुद्धयत इति न लौकिकवत् तमोवरणेन अभिभूयते । तदुक्तं—

'तदन्यत्र तु चिन्मय:' (स्प० २।२)

इति ॥३२५॥

ततोऽपि—

मूर्धद्वारं समाश्रित्य निष्कलं ध्यानमारभेत् ।
एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययस्तु तदा भवेत् ॥३२६॥
पिपीलकण्टकावेधो मूर्ध्वद्वारं विभिन्दत: ।

निष्कलमिति वर्णज्योतिर्ध्वनिव्याप्त्युल्लङ्घनात् स्पर्शनानुभवरूपम्, पिपीलकण्टकावेध इति संचरत्पिपीलस्पर्शतुल्यकण्टकस्पर्शतुल्यश्च स्पर्श इत्यर्थ: ॥३२६॥

किं च—

भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मन्यन्तानि यानि तु ॥३२७॥
पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि

लक्षणैरिति प्रणवाधिकारोक्तैरनुभवैर्युज्यते इति शेष: । तावदन्तात्र तुर्यदशा ॥

अथैतत्सर्वम्—

त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

गाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिपदप्रकर्षात् तुर्यातीतदशालाभात् चिदानन्दघनपरभैरवसमावेशमनुभवति योगीन्द्र इत्यर्थ: ॥

न केवलं देहोत्तीर्ण एव पदेऽस्य परसमावेशो घटते, यावत्—

जायते उन्मनस्त्वं हि देहेनानेन साधके ॥३२८॥

देहावस्थायां व्युत्थानेऽपि साधकस्य समावेशप्रकर्षात्तदानन्दरससंस्काराद्घूर्णमाणतैव भवतीत्यर्थ: ॥३२८॥

किं चायं स्वातन्त्र्यशक्त्युन्मेषात्—

संक्रामेत् परदेहेषु क्षुत्तृष्णाभ्यां न बाध्यते ।
अतीतानागतं चैव त्रैलोक्ये यत् प्रवर्तते ॥३२९॥

प्रत्यक्षं तद्भवेत्तस्य सर्वज्ञत्वं च जायते।

यच्च प्रवर्तते इति यदपि वर्तमानं किंचिदस्ति, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति। सर्वज्ञत्वम् इति क्रमेणाभ्यासप्रकर्षान्मन्त्रमन्त्रेशादितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥३२९॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरन् पटलान्तरेण संगतिं दर्शयति—

प्रसङ्गेऽध्यात्मकालस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ॥३३०॥
सर्वमेतत् समाख्यातमंशकांश्च निबोध मे।

अध्यात्मकालकथनप्रसङ्गेन तत्त्ववृत्त्या ज्ञानं मृत्युजययोगिजागरावस्थाद्यात्मकवेधादिरूपं च विज्ञानमेतदुक्तमनुक्तमप्यनुजिघृक्षावेशात्, अतः—

'कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसादतः' (७।१)

इति यत् प्रश्नितम्, ततः कालस्वरूपं कथितं प्रसङ्गाज्ज्ञानं विज्ञानं चाप्यादिष्टम्, अंशकस्वरूपं तु निर्णेतुमवशिष्टम्, अतोंऽशकान् भाविपटलेन निर्णेष्यमाणन्निबोध जानीहीति पाटलिकी संगतिरिति शिवम् ॥३३०॥

संवित्स्फारव्याप्त्या विश्वं प्राणान्तःस्थं सम्प्रग्ज्ञात्वा।
तास्ताः सिद्धीरंशज्ञप्त्या पूर्णास्थितिं यायात् ॥१॥

इति स्वच्छन्दोद्द्योते

कालाधिकारः सप्तमः पटलः समाप्तः ॥७॥

अष्टमः पटलः

यस्य बोधमहाम्भोधेर्ब्रह्माद्या भुवनेश्वराः ।
अंशा मिता बुद्बुदवत् तं स्तुमः परभैरवम् ॥

'अंशकांश्च निबोध मे' (७।३३०)

इति यत्पटलान्ते उपक्षिप्तम्, तद्विभक्तुं श्रीभैरव उवाच—

अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।

परस्य बोधभैरवस्य शक्तिभिर्ब्राह्म्याद्यादिभिरधिष्ठिता ब्रह्माद्यास्तथावभासिता अंशा, ततस्तदनुग्राह्या अपि तदंशा इत्युच्यन्ते। अतोंऽशानाराध्यत्वेन स्थितान् कायति, अयं ब्रह्मांशोऽयं विष्ण्वंश इत्यादिक्रमेण यो वक्ष्यमाणो भावस्वभावादिः, सोऽंशक इत्युच्यते। स च साधकं प्रति सिद्ध्यनुकूलत्वाद् अल्पांशोऽंशक इत्यभिधीयते ॥

तमुद्दिशति—

भावांशकः स्वभावांशः पुष्पपातांश एव च ॥१॥
मन्त्रांशकः स्मृतश्चान्यस्त्वंशकापादनं द्विधा ।

भावः सहजस्तत्तद्भक्तियुक्त आशयः। स्वभावस्तदनुगुणो व्यापारः। यस्तु पूर्वयुक्त्या बद्धनेत्रस्य पुष्पपातानुसारं निश्चीयते, तन्मन्त्रवाच्यदेवतात्मा अनुष्ठातुम्, स मन्त्रांशः। अंशकापादनमंशस्यानिरूपितस्यापि मन्त्रस्य वीरद्रव्यादिहोमेन साधकदीक्षाक्रमेण वा आराधकं प्रति क्रियते, इति द्विरूपमिति षोडशांशकाः ॥

एषां माद्यस्य लक्षणमाह—

देवानुस्मरणं भावः सहजं तं विजानता ॥२॥

अदत्तानुष्ठानस्यापि प्राग्जन्मवासनापरिपाकवशात् तत्तन्नियतदेवतानुस्मरणं यत्सहजम्, स भावांशः ॥२॥

द्वितीयमाह—

स्वभावश्च भवेच्चेष्टा

प्रोक्तभावानुगुण एवमेव लिङ्गार्चनाद्यात्मा व्यापारः ॥

तं च—

कथयाम्यनुपूर्वशः ।
ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ॥३॥

रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।
विष्ण्वंशो विष्णुभक्तश्च चन्द्रांशः प्रियदर्शनः ॥४॥
सर्वदेवरतः शान्तो यक्षांशो धनसंग्रही ।
लुब्धो गर्वितमृष्टाशी वातांशश्चपलः स्मृतः ॥५॥
सर्पविस्रम्भगामी स्यान्नागांशो दीर्घशाय्यथ ।
दीर्घरोषः पूतिवक्त्रो गुरुक्षीररुचिः सदा ॥६॥
गान्धर्वो गायनो नित्यं शिवभक्तो वरानने ।
विद्याधरांशकः प्राणी दैत्यांशो द्वेषणः स्मृतः ॥७॥
कामांशो रूपवांश्चैव सुभगो गणिकाप्रियः ।
रक्षोंशः क्रूरनिस्त्रिंशो देवद्वेषी द्विजेषु च ॥८॥
पिशाचांशश्छलान्वेषी वासरे भीरुकातरः ।
अग्न्यंशः परुषस्तीव्र उष्णादः पिङ्गलस्तथा ॥९॥
सवित्रंशश्च तेजस्वी पूर्तधर्मरतः सदा ।
इष्टानि कुरुते नित्यं दयालुः शिवभावितः ॥१०॥

पूतिवक्त्रो दुरामोदलालास्यः । विद्याधरांशस्य शिवभक्तत्वं शिवशास्त्रोक्तविधानेन गुटिकाञ्जनादिसिद्धिरसित्वम् । क्रूरो दारुणहृदयः । निस्त्रिंशो निर्घृणव्यापारः । परुषो वाचा । तीव्रः कर्मणा । पूर्तं वापीकूपादिकरणम् । इष्टं यज्ञः । स्पष्टमन्यत् ॥१०॥

ये च यदंशास्तेषामिते ब्रह्मादयः—

स्वसिद्धेः फलदाः सर्वे स्वध्यानजपहोमतः ।

यस्य यावदैश्वर्यम्, तावदेवासावाराधितः साधकेभ्यः प्रयच्छति । एवं चाभिदधदिदमाह—यत् परिमितांशस्य तत्तत्पदप्रापक एव मन्त्रोदया । स च येषां विशेषतः शास्त्रेषु नास्ति, तेषां प्रणव एव तन्नामनमस्कारयुक्तः ॥

यदा तु—

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्·········॥'

इत्युक्तस्थित्या इहत्यमन्त्रैः कृतदीक्षस्य साधकस्यैतन्मन्त्राराधनेनाराधितास्ते ते देवताविशेषाः, तदा सर्वे भैरवरूपा एवेति सर्वसिद्धिसाधका इत्याह—

भैरवाङ्गसमालब्धाः सर्वे देवा वरानने ॥११॥
भैरवास्तु स्मृताः सर्वे सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।

भैरवाङ्गसमालब्धा इत्युक्त्येदमाह—येषां कपालीशादिमन्त्राणां वक्त्राणि नोक्तानि, तेषामाराधकैर्निष्कलवक्त्राङ्गानि प्रयोक्तव्यानि । कश्चिदत्र सर्व-

शब्दस्य द्विःस्थितस्य वाक्यद्वयविषयां योजनामसहमानः सर्वे देवा इत्यत्र सर्वदैवेति सर्वसिद्धिफलप्रदा इत्यत्र च सर्वकामसमन्विता इति पठित्वा एतन्मन्त्रदीक्षिताः साधकास्तदाराधनाद् भैरवा एव पूर्णसिद्धिभाजनं भवन्तीति **व्याख्यातवान्** । पुराणपुस्तकेषु त्वविगानेनाद्य पाठो दृश्यते ॥

एवम्

स्वभावांशः समाख्यातः साधकानां हिताय वै ॥१२॥

साधकपदेन मुमुक्षूणां नायं नियम इत्यादिशति ॥१२॥

पुष्पपातांश लक्षयति—

पुष्पपातवशान्नाम कर्तव्यं सुरसुन्दरि ।

अनिश्चितभावस्वभावांशस्य बुभुक्षोर्बद्धनेत्रस्य पूजितसर्वावरणे भगवन्मण्डले पूर्वोक्तस्थित्या एकं पुष्पं क्षिपतो यत्र तत्पतेत्, तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसारेण नाम कार्यम् ॥

अतश्च ज्ञातांशकेनाचार्येणोपदिष्टतत्तत्त्वस्य—

स मन्त्रः सिद्धयते तस्य तमेवाराधयेद् यदि ॥१३॥

शास्त्रोक्तविधानेनेत्यर्थात् ॥१३॥

क्रमप्राप्तं मन्त्रांशकमधिकवक्तव्यत्वात् संप्रत्यनुक्त्वा, अंशकापादनं प्रस्तौति—

अंशकापादनं देवि कथयामि समासतः ।

कथमित्याह—

वैहायसं ध्वजं चैव होमयेद् यस्तु साधकः ॥१४॥
स मन्त्रः सिद्धयते तस्य अयंन्तोऽपि हि सुव्रते ।

वक्ष्यमाणस्थित्यार्यन्तोऽपि यो मन्त्रस्तदाराधनायैव वैहायसमिति उद्बद्धनरमांसम्, ध्वजं च शूलारोपितनरमांसष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथासंभवव्यवसायं यः साधक इत्याराधक आचार्यस्तत्प्रयुक्तोऽन्योऽपि वा साधको होमयेद् जुहुयात्, तस्यासावेवमाराधितः सिद्धचति साधनानुगुणो भवति ॥

यस्य तु प्रोक्तक्रमेणाविवेचितांशकोऽपि प्रभावातिशयश्रवणात् कश्चिन्मन्त्र आरिराधयिषितो भवति, न च वीरद्रव्यक्रमे योग्यतास्ति, तस्यारिराधयिषितं पूजहोमादिनादौ तर्पयित्वा प्राक्प्रोक्तसाधकदीक्षाभिषेकविधानेनैव तन्मन्त्रांशकत्वापादनं कर्तव्यमित्यभिदधद् **द्वितीयमंशकापादनं** लक्षयति—

अनंशकोऽपि यो मन्त्रो ज्ञातचिह्नैर्वरानने ॥१५॥
तदा यागं पुरा कृत्वा अग्नौ होमं तु कारयेत् ।

प्रोक्तप्रकारैर्न परिच्छिन्न अंशक आराधकः शिष्यो यस्यासावनंशकः । यागहोमौ तं शिष्यं प्रति तस्य मन्त्रस्याभिमुखीकरणाय ॥

ततः—

शिष्यस्य पूर्ववत् कर्म कृत्वा तु विधिपूर्वकम् ॥१६॥
पूर्णाहुतिप्रयोगेण योजयेच्छाश्वते पदे ।

कर्मेति भगवदर्चादिपूर्वं साधकाभिषेकान्तम्, योजयेदिति तमेव शिष्यं मन्त्रेण सह शाश्वत इति परमशिवपदे, साधकाभिमते च शाश्वतभोगप्रदे सदाशिवादिधाम्नि शाश्वतपदयोजनादेव चायमासादितवीर्योऽनंशकतामुत्सृज्य, सदंशकत्वमेति ॥

इत्थमासादितांशकोऽसौ—

परतत्त्वमभिध्यायन् साधयेन्मनसेप्सितम् ॥१७॥

एवमंशकापादनं द्विधोक्त्वा, मन्त्रांशकमाह—

मन्त्रांशं गणयित्वा तु गृह्णीयात् सुविचारितम् ।

मन्त्ररूपमंशमक्षरभेदक्रमेणांशीकृतं मन्त्रम् ॥

साधकस्य चानुरूपांशकरूपत्वादप्यंशेन—

हीनमध्यसमुत्कृष्टं कथयामि समासतः ॥१८॥

तत्र—

हीनं शत्रुं विजानीयान्मध्यमं साध्यरूपिणम् ।
सिद्धं चैव सुसिद्धं च उत्तमं परिकीर्तितम् ॥१९।

कथमित्याह—

मन्त्राक्षरं तु विश्लेष्य मात्राबिन्दुसमन्वितम् ।
आत्मनामाक्षरं तद्वदधोभागेऽस्य योजयेत् ॥२०॥

'ॐशिवाय नमः' इत्यादिके मन्त्रे ॐकारादि मन्त्राक्षरं मात्राभिरकारोकारादिभिर्बिन्दुना च समन्वितं विश्लेष्येत्यकारोकारादिमात्रा बिन्दुं च मकारमात्राकल्पनयाऽस्य पृथक्कृत्य, एवं शिकारवाकाराभ्यामिकारमाकारं च विश्लेषयेत् । अकारमात्रा तूच्चारणार्थम्, न कुतश्चिद्विश्लेषयेत् प्रत्युत यतो वर्णान्मन्त्रान्तरं विश्लेषितम्, तस्याकारमुच्चारणार्थं कल्पयेदन्यथा उच्चारायोगात् । एवमात्मनः शिष्यसंबन्धि यन्नाम विष्णुमित्रमित्यादिकम्, तत एकैकमक्षरं तद्वत् प्रोक्तमात्राभेदेन विश्लेष्य, अस्येति विभक्तमन्त्रस्याधोभागे योजयेत् । तेन अउमशइवआयनम इति दशानामक्षराणामधोविभक्तानि विष्णुमित्रनामाक्षराणि दद्यात् । यत्र मन्त्राक्षराणि बहूनि भवन्ति, तत्र नामाक्षराणि पुनः पुनर्योजयेदामन्त्राक्षरसमाप्ति योजयेत् ॥२०॥

एवं स्थिते सति—

आत्मवर्णात् समारभ्य यावन्मान्त्रार्णमागतम् ।
यस्मिन् स निपतेद् देवि तमायं परिकल्पयेत् ॥२१॥

शिष्यनामाक्षरमेकैकमवधि कृत्वा मातृकावर्णपाठक्रमेण गणनया एकैक-नामाक्षरोर्ध्वस्थ एकैको मन्त्रवर्णो यावदागच्छति, तावद्वक्ष्यमाणेन सिद्धसाध्य-सुसिद्धारिभेदगणनेन यत्रैतदन्यतमे स नामवर्णो निपतेत् संयुज्येत, तमायमिति शुभाशुभसूचकं निश्चिनुयात् । यथोक्तं म(या ? य)संग्रहे—

'आयान्तीष्टेतरार्थाय भवन्त्यायास्तत'

इति ॥२१॥

अत्र गणनोपायप्रदर्शनपूर्वमायस्वरूपमादिशति—

रेखाङ्गुलिगतं तं तु कथयामि समासतः ।

रेखोपलक्षिताङ्गुलीगतमङ्गुलिरेखासु कथितं तमायत् ॥

स च—

पर्वणि प्रथमे सिद्धः साध्यश्चैव द्वितीयके ॥२२॥
तृतीये तु सुसिद्धः स्यादरिश्चतुर्थके ।

अनेन क्रमेण नामाक्षराणि मन्त्राक्षरप्राप्ति यावद् गणयित्वा आयं परीक्षेत ।

तत्र—

अरिसाध्यौ परित्यज्य दातव्यश्चुम्बकेन तु ॥२३॥
सिद्धरूपः सुसिद्धश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।

अरिसाध्योराद्यन्तस्थितयोर्बहुलयोर्वा परित्यागः, सिद्धसुसिद्धयोस्तु स्वीकारः, क्रमेण भक्तिमुक्तिप्रदत्वात् । यथोक्तम्—

'सिद्धान्ते सिध्यतेऽवश्यं साध्यान्ते कृच्छ्रसाधनः ।
सुसिद्धः पूर्वसिद्धस्तु अर्यन्तो न प्रसिध्यति ॥'

इति । तथा—

'एवं शुद्धौ कृतायां तु सुसिद्धोऽभ्यधिको यदि ।
सिद्धौ न लभ्यते ग्राह्यमूर्तिः साध्येऽपि साधकः ॥'

इति । शुद्धौ कृतायामित्यंशकविषये निश्चितायां साध्येऽप्यधिके त्रिश्चतुर्वा आयाते सति मन्त्रमूर्तिराराध्यत्वेन ग्रहीतव्या, इत्यत्रार्थः । इयं चांशकपरीक्षा एकाक्षरमालामन्त्रयोर्न कर्तव्या । यथोक्तम्—

'एकाक्षरेषु कूटेषु मालामन्त्रेषु भामिनि ।
अंशकं न परीक्षेत परीक्षेतान्यमन्त्रगम् ॥'

इति, कूटेष्वद्वैततत्त्वेषु । अत एव—

'मायां नेत्रे च देवेशि तथा द्वात्रिंशदक्षरे ।
न च तत्रारिशङ्का स्यात्·············॥'

इत्यप्यन्यत्रोक्तम् ॥

तदित्थंविचारात्

यस्त्वंशकाविशुद्धः स्याद् भैरवोऽत्र वरानने ॥२४॥
तं मध्यमस्थं संपूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत् ।

य इति कपालीशाद्यन्यतमः । मध्यमस्थमिति, आराधनायां प्रधानीभूतत्वात्, तत्स्थान इति तस्यावरणकक्ष्यास्थस्य कपालीशादेः पदे, मध्यममिति श्रीस्वच्छन्दमयं तुर्यादिरूपतया परीक्ष्येति दर्शितम् ॥

अथ कथं श्रीस्वच्छन्दनाथस्य परिवारं प्रति परिवारतया न्यास इत्याशङ्कां शमयितुमाह—

यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः ॥२५॥
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः ।

यः सर्वगतो व्यापको देवः क्रीडादिशीलश्चिदानन्दघनः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः सर्वेषु कपालीशादिषु प्रपञ्चव्याप्त्यावस्थितेष्वन्तर्गतः परमार्थरूपो यतः, तस्मात् स एव तत्तत्कपालीशाद्यात्मना स्मृतः, साधकस्यांशकशुद्ध्या सिद्धिमभेदव्याप्त्या च मुक्तिं ददाति परमार्थतः, न तु व्याप्तिज्ञानशून्या वर्णाः किंचित् कुर्वन्ति । उक्तं हि प्राक्—

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः' (७।२३८)

इति तेन स्वस्यावरणभेदस्यान्यथाकल्पनेऽपि न तत्त्वभूमेः काचिन्म्लानिः ॥

तदिदमंशकविचारान्ते प्रसङ्गायातं वस्तु—

कथितं सरहस्यं ते गुह्याद् गुह्यतरं परम् ॥२६॥

अथ यत् कथितमित्युक्तम्, तत्प्रमाणीकर्तुं परमशिवात् प्रभृति दुरुपारम्पर्येणेदं रहस्यं तन्त्रमवतीर्णमिति दर्शयन् परादि दिव्यान्तं संबन्धषट्कं प्रदर्शयति—

अतस्तन्त्रावतारार्थं कथयामि समासतः ।

तत्र—

अदृष्टविग्रहायातं शिवात् परमकारणात् ॥२७॥
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम् ।
तदेवापररूपेण शिवेन परमात्मना ॥२८॥

मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रमहात्मना ।
पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक् ॥२९॥
लौकिकादिशिवान्तानि परापरविभूतये ।
तदनुग्रहयोग्यानां स्वे स्वे विषयगोचरे ॥३०॥
अनुष्टुप्छन्दसा बद्धं कोटयर्बुदसहस्रधा ।

शिवात् परमाद्वयप्रथात्मकश्रेयोरूपात्, परमकारणात् शिवान्तानां कारणानां सर्वेषां स्वभित्तावाभासकात्, अत एवादृष्टः परद्रष्ट्रेकरूपो विग्रहः स्वरूपं यस्य तस्मात्, भिन्नमेतत्पदं छान्दसेन पञ्चम्यात्वादेशेन, अथ च तस्मिस्तद्रूपमेवायातं प्रसरणस्फुरणं यस्य तद्ध्वनिरूपं नादामर्शात्मकं सुसूक्ष्ममप्रमेयं विश्वव्यापकं च, अकारादिकलाकलितत्वाभावात् सुशुद्धम्, सुप्रभान्वितं महाज्ञानरूपं यत्तदेवापररूपेणेत्यनाश्रितभट्टारकाख्येन शिवेन दण्डवक्त्रभङ्ग्यवस्थितसद्योजातपञ्चमहामन्त्रशरीरे पृथक् पृथगनुग्राह्यानुसारं साधनान्यनुष्ठानानि लौकिकादिशिवान्तानि विचार्य तत्तत्सिद्धिसाधनार्थमपररूपेणैव स्थूलेन वेदादिरहस्यान्ततत्तत्स्रोतोभेदोद्भूतनानाशास्त्ररूपमनन्तग्रन्थसंदर्भात्मकं निबद्धम् । मन्त्रसिंहासनस्थेन सार्धत्रिकोटिमन्त्राधिपतिनेत्यनेनैव शास्त्रानन्त्यस्यावकाशो दत्तः । पञ्चमन्त्रमहात्मनेत्यनेन श्रीकण्ठीयसंहिताद्युक्तनानास्रोतोभेदः सूचितः । तत्र—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
ज्ञानरूपं विनिष्क्रान्तमनवच्छदनं महत् ॥'

इत्यादिना नादस्वरूपं निरूप्य—

'ततो जातमिदं सर्वं चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥'

इत्युक्त्वा स्रोतोभेदेन नानाशास्त्रप्रपञ्चोदयः प्रदर्शितः । तदेवेत्यादिना आबद्धमित्यन्तेन तत्तदनुग्राह्याशयानुसारेण भिन्नभिन्नफलान्यपि शास्त्राणि वस्तुतो वाक्यैकवाक्यतया परिपूर्णाभिन्नविमर्शस्फाराण्यासूत्रितसमस्तभेदाभेदप्रपञ्चानीति तथाविधव्याप्तिज्ञं तत्त्वज्ञं प्रत्यभिन्नचिदानन्दघनतत्त्वविश्रान्तिपरमार्थान्येवेति ध्वनति । तदुक्तम्—

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम् ।'

इति ॥

एवं परसंबन्धमूलतां शास्त्रप्रसरस्य प्रदर्श्य, संबन्धान्तरगोचरतामपि प्रदर्शयिष्यामीत्याशयेन परमशिवेनात्मीयमिदमुत्थाप्यत इत्याह—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ॥३१॥
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ।
तज्ज्ञानमीश्वरेऽदात् तदीश्वरेण शिवेच्छया ॥३२॥

विद्यायाः कथितं पूर्वं विद्येशेभ्यस्तथादरात् ।

देवः परवाक्शक्तिमयः शिवभट्टारक एव, सदाशिव इति गृहीततत्तद्रूपात्मिकः, स्वयं गुरुशिष्यपदे स्थित्वेति प्रतिभाभुवि प्रष्टृप्रतिवक्तृभावासूत्रणेन परममहापश्यन्तीवाक्शक्त्यासूत्रितपूर्वोत्तरपदात्मकैर्वाक्यैरुपलक्षितं तन्त्रमशेषशास्त्रसंदर्भमयं तज्ज्ञानं चेश्वरेऽदादिति संक्रमितवान् । आधारभेदत इति ईश्वरात्मकमाधारभेदमाश्रित्य स्वयं तदात्मना स्थित्वा इत्यर्थः । तज्ज्ञानमीश्वरे दत्तमिति तु पाठः पूर्वश्लोकान्त आसूत्र्येति योजयित्वा तेन चेत्यनुषङ्गेण व्याख्येयः । इयता महत्संबन्धो दर्शितः । शिवेच्छया सदाशिवेच्छया, इत्यनेनामायातशक्तिपातो नोपदेश्य इति ध्वनति । विद्याया इति—

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका परा' (१०।११४४)

इति वक्ष्यमाणमातृकावाच्याया देव्यास्तथा वेदनप्रधानत्वाद् विद्याशब्दवाच्यस्याशेषस्य मन्त्रग्रामस्य, अनन्तभट्टारकादिभ्यश्च विद्येशेभ्यो मन्त्रचक्रवर्तिभ्य ईश्वरेण तन्त्रं तज्ज्ञानं च कथितं संक्रमणयुक्त्या विमर्शपदं नीतम् । आदरादिति भक्त्युल्लासप्रकर्षात् । यद्यपि भगवतो मातृका तदुत्थाश्च मन्त्राः परमेशवदभेदेनावभासिता विद्यातत्त्वधाम्नि तावदशेषविश्वाभेदव्याप्तिरत्र निमग्नेव स्थितेति तामुन्मज्जयितुमीश्वरेण विश्वानुजिघृक्षया ज्ञानसंक्रान्तिरत्र कर्तुमुपपन्नैव । इतः प्रभृत्यन्तरालसंबन्धः आसूत्रितः—

'मयापि तव देवेशि साधिकारं समर्पितम्' (८।३६)

इत्येतावत्पर्यन्तो भविष्यति ॥

एवं पश्यन्तीप्रसरणस्पर्यन्तां शास्त्रस्थितिमुक्त्वा, मध्यमाप्रसरणेनाह—

मायानियतिपर्यन्तैस्तस्माद्रुद्रैरवापि तत् ॥३३॥

तस्मादिति विद्यातत्त्वचक्रवर्तिनोऽनन्तभट्टारकादित्यर्थात्, मायानियतिपर्यन्तैरिति मण्डलप्रभृतिभिः कञ्चुकवासिभिश्च रुद्रैरवापीति संक्रमणयुक्त्यैव ॥३३॥

ततोऽनन्तरं तदेव ज्ञानं तथैव—

श्रीकण्ठेनेश्वरात् प्राप्तं ज्ञानं परमदुर्लभम् ।

अहं हि भगवानीश्वरात्मनः शिवस्य शिष्यः मण्डल्याद्यास्त्वनन्तशिष्याः । अत्र मध्ये पुंस्तत्त्वाधिष्ठातारो रुद्रा बन्धहेतुतया स्थापिता इति तेषामेतज्ज्ञानशक्तिसंक्रान्तिर्न कृता ॥

ततोऽपि तथैव—

तेनापि तदधः प्रोक्तं रुद्राणामीश्वरेच्छया ॥३४॥

प्रधानाच्छतरुद्रान्तं दीक्षयित्वा विधानतः ।

ममापि च पुरा दीक्षा तथा चैवाभिषेचनम् ॥३५॥

श्रीकण्ठेन पुरा दत्तं तन्त्रं सर्वार्थसाधकम् ।

यद्यपि गुणतत्त्वे श्रीकण्ठनाथः स्थितः, तथाप्यसौ शिवशिष्यत्वेन प्रभावातिशयवानिति स्वोर्ध्वस्थप्रकृतिवर्तिनः क्रोधाद्यष्टकस्य स्वाधारतत्त्वगतानां च शतरुद्रान्तानां रुद्राणामनुग्रहीता । ममापीति कैलासवासिनस्तन्त्रप्रवक्तुर्भगवत उमापतेरुक्तिः । तदित्थमनन्ताद्याः श्रीकण्ठश्चेश्वरभट्टारकात्मनः शिवस्य शिष्याः, मण्डलिनस्त्वनन्तशिष्याः, क्रोधादयः शतरुद्रान्ता उमापतिश्च श्रीकण्ठशिष्या इत्यादिष्टं भगवता । तेन यत् खेटकनन्दनेन—

'मण्डलिनः श्रीकण्ठः क्रोधाद्याः शतभवा सवीरेशाः ।
एते कलादियोगात् प्रकटीकृतदृक्क्रियाः परेशेन ॥' (त० सं० ३०)

इत्युक्तम्, तद्यथोक्तानुसारं क्वचित् साक्षात् क्वचित् पारम्पर्येणेति व्याख्येयम्, नत्वविशेषेण । दीक्षयित्वेति, अभिषेचनं कृत्वेति च शाक्तसमावेशसंक्रमणयुक्त्या पूर्वं शांभवसमावेशयुक्त्यैव । एवं च नादीक्षितस्य ज्ञानग्रहणे, नाप्यनभिषिक्तस्य तद्दानेऽधिकार इत्यादिष्टं भवति ॥

अथैतत्तन्त्रं च तज्ज्ञानं च संक्रमणयुक्त्यैव —

मयापि तव देवेशि साधिकारं समर्पितम् ॥३६॥

इतः प्रभृति वैखर्याः प्रसरः ॥३६॥

एवमियतान्तरालाख्यं संबन्धं प्रकटीकृत्य, दिव्यान्तमादिशति—

त्वमपि स्कन्दरुद्रेभ्यो ददस्व विधिपूर्वकम् ।
ब्रह्मविष्ण्वन्द्रदेवानां वसुमातृदिवाकृताम् ॥३७॥
लोके संगृह्य नागानां यक्षाणां परमेश्वरि ।

विधिर्दीक्षाभिषेकरूपः ॥

दिव्यादिव्यसंबन्धमाह—

कथयस्व ऋषीणां च

एवं च देव्या विश्वानुग्रहाधिकारार्पणेन भगवता महाकारुणिकत्वं परिपोषितम् ॥

अदिव्यं संबन्धमाह—

ऋषिभ्यो मनुजेष्वपि ॥३८॥

कथयस्वेति स्थितम् । देवी एव हि पराशक्तिस्वभावा विश्वाधिष्ठात्री अनुजिघृक्षारससरसहृदया तत्तदाचार्यदेहमाविश्यानुग्रहं करोति । एवं चादिव्यसंबन्धपर्यन्तः पर एव संबन्धः सर्वत्र प्रपततीत्यभिहितं भवति । तदुक्तम्—

'............सर्वः परकलामयः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्परः ।'

इति त्रिकहृदये ॥३८॥

उपसंहरति—

एवं तन्त्रवरं दिव्यं सिद्धरत्नकरण्डकम् ।
त्वया गुप्ततरं कार्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥३९॥

यद्यपि पूर्वोक्ते सर्वतन्त्रे तवाधिकारो दत्तस्तथापि यदेवं निर्णीतनिर्णेष्यमाणपटलगतरहस्यार्थपूर्णत्वाद् वरमुत्कृष्टमिदं दक्षिणस्रोतःसमुद्भूतभैरवतन्त्रजातमध्ये प्रधानभूतं दिव्यं सर्वभोगापवर्गप्रदं तन्त्रं, तत्त्वया गूहनीयं ज्येष्ठाशक्तिपातवतामेव प्रकाश्यं, नेतरेषामिति शिवम् ॥३९॥

आ देवेभ्यः क्रमान्तं निखिलमिदमियच्छासनत्राणरूपं
विश्वं यत्संप्रसूतं परमशिवपदाल्लोकपर्यन्तमेतत् ।
शास्त्रं वाक्यैकवाक्यस्थितमिव विगलद्भेदविश्रान्तिलब्ध-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनपरमिदं स्तात्समग्रस्य जन्तोः ॥

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते
अंशकाधिकारोऽष्टमः पटलः समाप्तः ॥८॥

नवमः पटलः

श्रीमन्निष्कलसद्भित्तावुट्टङ्क्य सकलस्थितिम् ।
विश्राम्यत्यकले तत्त्वे यस्तं भैरवमाश्रये ॥

साधकोद्देशेनाराध्यपञ्चप्रणवनिरूपणानन्तरं तदुपयोगिबहुप्रमेयगर्भं कालस्वरूपमभिधायांशकसतत्त्वमुक्तम्, प्रसङ्गात् तन्त्रावतारो दर्शितः । अथ विघ्नौघविघातेन झटित्यभीष्टसिद्धिसाधनं श्रीकोटराक्षविधानं रक्षाचक्रप्रपञ्चमप्रश्नितमप्यनुजिघृक्षया प्रतिपिपादयिषुः **श्रीभैरव उवाच—**

अतः परं प्रवक्ष्यामि रहस्यमिदमुत्तमम् ।

अतःशब्दो व्याख्यातक्रमसूचनाय । प्रकर्षेण अनुजिघृक्षादरेण वक्ष्यामि । उत्तमं रहस्यमिति सर्वविघ्नप्रशमनं झटित्यभीष्टसिद्धिप्रदं च ।।

अत एव—

यन्न कस्यचिदाख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सुव्रते ॥१॥

शोभनं व्रतं परतत्त्वावहितत्वं यस्या इत्यामन्त्रणेन योगतमविरलशिष्यविषयत्वमस्यानुष्ठानस्येति ध्वनति, अतश्च योग्यदेवीव्यतिरेकेण नैतदन्यस्याप्युक्तम् ॥१॥

एतदुद्घाटयति—

महाभैरवदेवस्य क्रीडमानस्य भामिनि ।
सृष्टिसंहारकर्तारं हृदयात्तु विनिर्गतः ॥२॥

महाभैरवदेवः प्रथमपटलदर्शितनिर्वचनस्थित्या स्वच्छन्दनाथः, तस्य निःशेषविघ्नप्रशमनसर्वसिद्धिसंपादनानुजिघृक्षात्मिकां क्रीडां ताच्छील्येन कुर्वता, स्वस्वातन्त्र्यशक्त्यात्मकाद् हृदयात्, सृष्टिसंहारयोः कर्ता वक्ष्यमाणश्रीकोटराक्षनामा देवः, अरं शीघ्रम्, विनिर्गतः समुच्छलित इत्यर्थः । अत एव भगवानघोरहृदय इत्युच्यते ॥२॥

तं भगवन्तं दर्शयितुमाह—

कल्पान्तवह्निवपुषं प्रलयाम्बुदनिःस्वनम् ।
तडित्पुञ्जनिभोद्दंष्ट्रं जटाज्वालासमप्रभम् ॥३॥
चन्द्रसूर्याग्निनयनं कोटराक्षं सुभीषणम् ।
बृहद्वक्षःस्थलाभोगं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥४॥

स्फुरन्माणिक्यमुकुटं सर्पकुण्डलभूषितम् ।
सर्पहारकृताटोपं सर्पकङ्कणनूपुरम् ॥५॥
सिंहचर्मपरीधानं सर्पमेखलमण्डितम् ।
गजचर्मावृतपटं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥६॥
पञ्चवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ॥७॥
पाशाङ्कुशधरं देवं शरशाङ्गवितानितम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं वरदाभयपाणिकम् ॥८॥
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं स्फुरिताधरभास्वरम् ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुनमितं त्रिदशैरपि दुर्लभम् ॥९॥

सर्वमेतत् प्रागुक्तव्याख्याभिर्व्याख्यातसतत्त्वम् । तडित्पुञ्जनिभे उद्गते दंष्ट्रे यस्य, जटानां ज्वालानां चासमा प्रभा दीप्तिर्यस्य, कोटरं कुहरं तदाकृतीन्यक्षीणि यस्य, अनेन अन्तर्लक्ष्यतां बहिर्दृष्टित्वं च दर्शयति, सुष्ठु भीषणत्वं नाम्नैवोक्तम् । मेखलशब्दे तु ह्रस्वः ऐश्वरः । त्रिलोचनमिति प्रतिवक्त्रम् । अवतानितं मण्डलीकृतदोर्दण्डम्, स्फुरिताधरत्वं निःशेषविघ्नभक्षणपरत्वेन ॥९॥

एतद्रूपमनुग्राह्यं रुपास्यमित्याह—

एवं तं भैरवं देवं स्वच्छन्दं परिकीर्तयेत् ।

स्वच्छन्दनाथमेव बहुरूपत्वादनेन सुभीषणेन विघ्नसंत्रासनेन रूपेण चिन्तयेदित्यर्थः ॥

अतश्च—

स्मरणान्नाशयेद् देवः पापसंघातमुल्बणम् ॥१०॥

ध्यायिनां व्याध्याद्युद्भावकप्राक्तनमहापापप्रशमनायैव तेनैवंविधं रूपं स्वेच्छया गृहीतम् । अतः स्मरणादेवोल्बणं दुष्टभोगदानायोन्मुखीभूतं पापसंघातं नाशयत्येव । अत एव चतुर्वक्त्रात् श्रीव्याधिभक्षभट्टारकादयमन्य एव देवो [1]व्याध्याधिकारणभूतमहापापभक्षण इत्यवगतम् ॥१०॥

किं च

अस्य मन्त्रः पुराख्यातो द्वात्रिंशाक्षरसंमितः ।

यस्तं भीषणरूपानुगुणतया—

पञ्चप्रणवपूर्वान्तं तत्र लीनं जपेन्मनुम् ॥११॥

---

१. व्याधिः शारीरो रोगः आधिर्मानसी व्यथा ।

प्राग्दर्शितसतत्त्वाः पञ्चः प्रणवाः पूर्वान्तयोर्यस्य तम्, तत्रैव पञ्चप्रणवस्वरूपे लीनं विश्रान्तम्, तद्भित्यर्थं तदाच्छुरितं चेमं महामन्त्रं पूजान्ते जपावसरे जपेत् । अतश्चैवं वाच्यवाचकक्रमाभ्यां दीप्तत्वादघोरीश्वर्ययुक्तत्वाद् भाविविशिष्टदेवतापरिवृतत्वेतराभ्यापस्य द्वात्रिंशदक्षरादन्यत्वमित्यनुष्ठानान्तरमेवैतत् ॥११॥

तदीदृशस्य—

तस्य कल्पं प्रवक्ष्यामि समासान्न तु विस्तरात् ।

कल्प्यत आराध्यतेऽनेनेति कल्पः विधानम् ॥

तमाह—

पूर्वोक्तभूप्रदेशे च विशुद्धे शुभलक्षणे ॥१२॥
पुष्पप्रकरसंकीर्णे गन्धधूपाधिवासिते ।
तत्र मण्डलमालिख्य पूर्वोक्तैर्वर्णकैः शुभैः ॥१३॥
एकहस्तं द्विहस्तं वा चतुर्हस्ताष्टहस्तकम् ।
सुसूत्रितं समं कृत्वा चतुरस्रं समन्ततः ॥१४॥
पूर्ववत् साधयित्वा तु दिग्भागास्तु वरानने ।

पूर्वोक्तैरिति—

'धाम्ना तु रजसां पातः' (४।३५)

इति वाक्येन सूचितैः, वर्णकैः सिन्दूरादिभिः । गतार्थमन्यत् ॥

एतत् प्राक्तनमण्डलाद्विशिष्टं मण्डलमित्याह—

चतुर्द्वारसमोपेतमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
मध्ये पद्मं समालिख्य केसरैरुपलक्षितम् ॥१५॥
द्वात्रिंशदक्षरं बाह्ये चक्रमालिख्य शोभनम् ।
एवं सुसूत्रितं कृत्वा बाह्ये चैव तु वर्तुलम् ॥१६॥
चतुरस्रं तदासन्नं बाह्ये वीथीं प्रकल्पयेत् ।
मध्यपद्मप्रमाणेन द्वारं कल्प्येत पूर्ववत् ॥१७॥

एवमिति चक्रपरीमाणानुसारेण, सुसूत्रितं वर्तुलं भ्रमं कृत्वा, तस्यासन्नं च चतुरस्रं कृत्वा वीथीं प्रकल्पयेत् । तद्बाह्येऽन्तःपद्मक्षेत्रमानं कण्ठकपोलशोभोपशोभाढ्यं चतसृषु दिक्षु द्वारचतुष्टयं कल्पयेत् ॥१७॥

अथ निष्पन्ने मण्डले साधकः—

भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालंकारभूषितः ।
केशयज्ञोपवीती च दिग्वासाः संयतेन्द्रियः ॥१८॥

शंखार्घं गात्रहस्तस्तु सकलीकृतविग्रहः ।
परितोऽस्त्रं प्रविन्यस्य भैरवं पूजयेत् प्रिये ॥१९॥
प्रणवासनसंस्थं तु

भस्मोद्धूलितत्वादिना साधकस्य मन्त्राराधनावसरे महाव्रतित्वमुक्तमत एव परभैरवानुकारित्वेनापि तदभिमानिनो विघ्ना नश्यन्ति । भाव्यस्यात्र जलस्नानादि नोक्तम्, दिग्वासाः, तदन्यस्य यत्संयमनाशयेनैव कौपीनग्रहणात् । शङ्खमत्र प्रकरणसामर्थ्यान्महाशङ्खम् । परितोऽस्त्रं सर्वतोऽस्त्रप्राकारम् । प्रणवासनस्थत्वं प्राग्वत् ॥

कथं पूजयेत्, कं च भैरवमित्याह—

मूर्ति हंसाक्षरेण तु ।
तमेव सकलं देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥२०॥

मूर्ति हंसाक्षरेणेति पूर्वोक्तेन चिन्मूर्तिमन्त्रेण द्वात्रिंशदक्षरेण च सकलमूर्तिरूपेण । तमेवेति पूर्वोक्तम् ॥२०॥

किमविशिष्टम्, नेत्याह—

यत्तत् परमनिर्भासमनामयमरूपकम् ।
तेन चावाहयेद् देवि

परमः सर्वोत्कृष्टो निर्भासो यस्य, अनामयं मायासंबन्धहरम्, अरूपकमनाकृति, यत्पूर्वं निष्कलं तत्त्वमुक्तम्, तेन प्रोक्तनीत्याद्यन्तस्थितेन सहितमावाहनमुद्रयाऽऽवाहयेत् पूजनार्थमभिमुखीकुर्यात् ॥

किं च—

हृच्छिरश्च शिखां तथा ॥२१॥
वर्म नेत्रे तथास्त्रं च तेनैव परिकल्पयेत् ।

तेनैवेति नैष्कलेन हृदाद्यङ्गमन्त्रेण, न तु प्राग्वत् सकलेनापि । ब्रह्मपञ्चकमन्त्राणां तु न सकलादिविभागोऽस्तीति प्राग्वत् तन्न्यासानन्तरं भगवदाकृतौ निष्कलाङ्गन्यासः ॥

इत्थं च निष्कलसकलात्मकैकरूपे भगवत्याह्वानसमये एव निष्कलसकलमन्त्रोच्चाराद् निष्कलस्थानविहितपरमीकरणे न्यस्ते वक्त्रनैष्कलाङ्गविन्यासे कृते—

स्थापनं संनिधानं च निरोधार्घादिपूजनम् ॥२२॥
सर्वं तेनैव कर्तव्यमुक्तानुक्तं वरानने ।

स्थापनादि सर्वं पूर्वप्रदर्शितमुद्राबन्धपूर्वं कर्तव्यम् । तेनैवेति निष्कलसंपुटितेन सकलेन । उक्तमिति स्थापनादि, अनुक्तं तु स्वागतपाद्याचमनस्नानादि आत्मनिवेदनपर्यन्तम् ॥

इत्थं च—

मध्यस्थं भैरवं पूज्यमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥२३॥

मध्यस्थमिति मध्यगतम्, भैरवमिति भैरवतेज इत्यर्थः ॥२३॥

किं चात्र पद्मबाह्ये द्वात्रिंशदरके चक्रे ॥

ततः पत्रस्थिता देवीर्द्वात्रिंशार्णैर्निवेशयेत् ।
पूर्वारकात् समारभ्य यावदन्ते व्यवस्थिता ॥२४॥

पत्रस्थिता इति अष्टपत्रस्य पद्मस्योक्तत्वात् प्रतिदिक्पत्रानुसारिस्थिताराचतुष्टये चक्रे संनिवेशयेदिति द्वात्रिंशार्णैरिति तकारलोप ऐश्वरः, तेन द्वात्रिंशद्देवीः द्वात्रिंशतैव अर्णैः, अर्थाद् द्वात्रिंशद्वर्णसंबन्धिभिर्विभज्य निवेशयेत् ॥२४॥

तासां नामानि वक्ष्यामि द्वात्रिंशत्परिसंख्यया ।

तानि मन्त्रस्थाक्षरस्फारसारतत्सदृशप्रथमनामाक्षररूपाणि निरूपयति—

अरुणा घोषा देवी च रेवती भोगदायिका ॥२५॥
स्थापनी घोरसंज्ञा च रक्षा भारभरेति च ।
घोररूपा रवा घोणा रतिस्ताराथ रूपिणी ॥२६॥
भयहानिस्तु चण्डा वै सर्वदा च तथा वरा ।
तक्षकी च तथा शार्वी बर्बरा सर्वगा तथा ॥२७॥
रौद्री च भ्रामणी चैव नागिनी च मनोहरा ।
स्तम्भनी रोषणी चैव द्रावा रुद्रा प्रशासिनी ॥२८॥
भयापहारिणी देवी ज्ञेया द्वात्रिंश तत्क्रमात् ।

तत्क्रमादिति मन्त्रगताक्षरक्रमानुसारेणेत्यर्थः । एवं चाभिदधन्न केवलं मन्त्रस्य पूर्वनिर्णीतवाक्यरूपा वीर्यव्याप्तिः, यावद्वर्णानुसारेण प्रोक्तदेवताचक्रव्याप्तिमयत्वमपीत्यादिशति देवः ॥

आसां देवीनामावाहनादौ मन्त्रमाह—

प्रणवादिस्ततो वर्णो देवीनाम नतिस्तथा ॥२९॥
सर्वासां तु विधिर्ह्येष कर्तव्यो विधिवेदिना ।

वर्ण इति द्वात्रिंशदक्षरसंबन्धी क्रमेणैकैक इत्यर्थः । नाम इति चतुर्थ्यन्तमित्यर्थात् । विधिरिति पूजादिविषयो मन्त्रोच्चारणप्रकारः । विधिवेदिनेत्येष आवाहनादावामन्त्रणविभक्त्यन्तं नाम तथा तत्कर्मानुसारेण जातिप्रयोग इत्यनुमन्तव्यमिति ध्वनति ॥

अथासां देवीनां प्रतिदिशं चतसृणां पूर्वोक्तनीत्या भैरवीयप्रपञ्चव्याप्तितत्त्वलोकपालानुसारेण भैरवानुसारेण ध्यानं निर्दिशति—

हेमाभं प्राक् चतुष्कं तदिन्द्रचापसमप्रभम् ॥३०॥
चतुर्मुखं चतुर्बाहु वज्रहस्तं सुगर्वितम् ।
कपालमालाभरणं प्रहसत्तु विचिन्तयेत् ॥३१॥

प्राक् चतुष्कमिति पद्मप्राग्दलसंश्लिष्टानां चतुष्टयनिविष्टमरुणादिचतुष्कं तद्दिक्पतितुल्यत्वाद् हेमप्रभं वज्रहस्तं च, इन्द्रचापसमप्रभमित्यन्तःस्फुरन्नानावर्णभास्वरम्, ऊर्ध्ववक्त्रस्य निष्प्रपञ्चत्वात् सिद्ध्यनुगुणता नास्तीति पञ्चवक्त्रशक्तिमदधिष्ठितमपि देवताचक्रं साधकसिद्ध्यानुगुण्येन गृहीतचतुर्मुखचतुर्भुजादिरूपं दर्शितम् । एकत्र दक्षहस्ते वज्रस्योक्तत्वादनुक्तमपि कपालखट्वाङ्गधारित्वमभयकरत्वमंशेन भैरवरूपानुकारादुक्तम्, अतश्च कपालमालाभरणत्वमपि संगतमेवेति तदनुसारेण प्रतिवक्त्रं त्रिनेत्रत्वमपि मन्तव्यम् । सुगर्वितत्वं प्रहसत्त्वं च निर्विघ्नसिद्धिदानानुगुण्येन कियदेतद्वस्तु इत्याशयात् । एतच्चतुर्मुखत्वादि प्रहसितत्वान्तं सर्वत्र चतुष्केऽनुमन्तव्यम्, तथा कपालखट्वाङ्गहस्तत्वादिकं च ॥३१॥

आग्नेयं रक्तवर्णाभं शक्तिहस्तं सदा स्मरेत् ।
दण्डहस्तं स्मरेद्याम्यं कृष्णवर्णं सुभीषणम् ॥३२॥
नीलमिन्दीवराभासं नैर्ऋतं खड्गहस्तकम् ।
श्यामं वारुणदिग्भागे पाशहस्तं विचिन्तयेत् ॥३३॥
धूम्रं सामीरदिग्भागे ध्वजहस्तं सुचञ्चलम् ।
उत्तरं धवलं ज्ञेयं गदाखेटकधारि च ॥३४॥
स्फटिकाभं तथैशान्यां त्रिशूलायुधपाणिकम् ।

उत्तरस्मिन् देवीचतुष्टये खेटकधारित्वस्य स्वकण्ठेनोक्तत्वादभयपाणित्वं न ध्यातव्यम् । चतुर्मुखत्वादि सर्वमन्यत् प्राग्वत् ॥

अत्र ध्याने फलमाह--

एवं ध्यानपरो यस्तु चक्रमेतत् सदाभ्यसेत् ॥३५॥
वत्सरार्धाद् वरारोहे तस्य सिद्धिस्त्रिधा भवेत् ।

उत्तममध्यमाधमरूपा ॥

एवं ध्यानसिद्धिमुक्त्वा, तस्यैव जपसिद्ध्युचितं क्षेत्रमादिशति—

महेन्द्रे मलये सह्ये पारियात्रेऽर्बुदे तथा ॥३६॥
विन्ध्ये श्रीपर्वते चैव तथा कोलगिरौ प्रिये ।

एतान्यष्टौ सिद्ध्यनुगुणानि पर्वतस्थानानि ॥

किं च—

गङ्गायमुनासंबाधे

संबाधः संकटं संमिश्रयोस्तयोः यावती प्रवाहभूमिः ।।

कुरुक्षेत्रे वरानने ।।३७।।

गङ्गाद्वारे प्रयागे च ब्रह्मावर्ते समास्थितः ।

सरस्वतीचर्मण्वत्योरन्तरस्थो देशो ब्रह्मावर्तः ।।

अन्तर्वेद्यां सुपुण्यायां नर्मदायां तथैव च ।।३८।।

गङ्गायमुनाप्रवाहयोर्मध्यमन्तर्वेदी । नर्मदायामपि तत्तटे ।।३८।।

किं च—

सुस्निग्धदेशे भूभागे पद्मषण्डैर्मनोरमे ।

पद्मषण्डैर्मनोरमो यः सुस्निग्धो देशस्तत्र भूभागे इति योजना ।।

किं च—

येषु येषु प्रदेशेषु स्वयंभूर्भगवाञ्छिवः ।।३९।।
तेषु स्थानेषु देवेशि नियमस्थो जितेन्द्रियः ।
वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा लक्षाक्षरजपे रतः ।।४०।।
शाकभक्ष्यः फलाहारी नीवाराद्यशने रतः ।
त्रिकालपूजानिरतोऽथाग्निकार्यपरायणः ।।४१।।
भावितात्मा सहासत्त्वो रक्षायाश्च विधानवित् ।

यः—

तस्य मन्त्रः प्रसिद्ध्येत्तु

स च—

साधयेत् सचराचरम् ।।४२।।

स्वयंभूनामनुग्रहार्थमेवावतीर्णत्वात् तत्क्षेत्रस्य सातिशयं सिद्धिप्रदत्वम् । नियमस्थ इति शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधाननिष्ठः । वाक् च निःशेषेण रुद्धा जपैकनिष्ठीकृता येन, प्रसन्नः त्यक्तसंगसंस्कार आत्मा मनो यस्य, लक्षाक्षरजपे रत इति प्राग्वत् द्वात्रिंशता लक्षैः सदशांशहोमैः, न तु यथान्ये—अक्षरं मन्त्रस्तस्य लक्षेणैकेनेति, अक्षरशब्दस्य मन्त्रवाचित्वाभावात्,

'लक्षेणाक्षरसंख्यया' (६।५१)

इति प्राक्तनोक्त्यविशेषप्रतिभासनादेतस्या उक्तेः । न च षाण्मासिकस्य प्रोक्तचक्रध्यानस्य काचिदनुपपत्तिः, तस्यैतज्जपसंख्याविधिं विना शुद्धस्यैव प्रोक्तफलहेतुत्वात् । न च ध्यानमात्रात् सिद्धिर्न भवतीति वाच्यम्, आगमेषु शतशस्तत्प्रतिपादनात्, जपे तु तथोचितं ध्यानं न प्रत्याचक्ष्महे । यदि प्रोक्तचक्रध्यानं मन्त्रजपेऽङ्गं स्यात्, तच्चक्रदेवीनामपि जपनियममभिदध्यादित्यलम् ।

भावितात्मा आश्वस्तहृदयः, अत एव महासत्त्वः सावष्टम्भोऽत्यन्तशुद्धचित्तः। रक्षाया दिग्बन्धास्त्रप्राकारादिरूपायाः, चकारात् क्षेत्रपालबल्यादेः, विधानविदितिकर्तव्यताज्ञः ॥४२॥

यदुक्तं साधयेत् सचराचरमिति, तत्संक्षेपेण दर्शयन् भाविपटलप्रमेयवस्तु कटाक्षयति—

कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः।
सप्तलोकं सब्रह्माण्डं पञ्चाष्टकमतः परम् ॥४३॥
देवयोन्यष्टकं चैव प्रधानपुरुषान्तकम्।
नियतिः कालतत्त्वं च रागो विद्या कला तथा ॥४४॥
माया विद्येश्वरं तत्त्वं सादाख्यं शक्तिगोचरम्।
सर्वं सिद्धयत्यनायासान्मन्त्रराजप्रभावतः ॥४५॥

एतत्समनन्तरपटलनिर्णेष्यमाणं शक्तितत्त्वान्तं सर्वं साधकस्य वशे भवत्यतश्च शिवरूपः साधको जायत इति यावत् ॥४५॥

यत्र चेयद्विश्वमस्य वर्तते, तत्र दण्डापूपीयन्यायो मितसिद्धीनां स्थित एवेत्याह—

पूर्वोक्तं कर्म वै क्षिप्रमधमं मध्यमोत्तमम्।
साधयेन्नात्र संदेहो भैरवस्य वचो यथा ॥४६॥

अधमादि प्राग्वत्। मारणोच्चाटनवश्याकर्षणशान्तिकाप्यायनादि च यदधमादि कर्म पूर्वमुक्तम्, तदपि यथोक्तद्रव्ययुक्तिसहकृतमयं मन्त्रराजः पूर्वोक्तन्यायेनैव जपलक्षेण सहोमेनाराधितः साधयतीति सिद्ध एवायम्। भैरवस्य यथैव वचस्तथा अत्राश्वस्तव्यम्। आश्वासो हि अकम्पः सिद्धिलिङ्गम् ॥४६॥

अथ योग्यतमसाधकविषयमेतदेव दर्शनं द्वात्रिंशद्देवताचक्रपरिवारं बिना एकवीरं निरूपयितुमाह—

अथैकवीरमाश्रित्य अङ्गषट्कसमन्वितम्।
जातियोगयुतं कृत्वा अष्टपत्रे कुशेशये ॥४७॥
पूजयेत् पूर्वविधिना

एकमेव देवीपरिवाराद्यपरिवृतं वक्त्राङ्गषट्कमात्रसहितम्, वीरं साधकानां मुक्तिपर्यवसिततत्तत्सिद्धिसाधनायोद्यतम्, परमेश्वरं पूर्वोक्तविधिनेति **'भस्मोद्धूलितदेहस्तु'** (९।१८) इत्यादिनोक्तेन सर्वेण क्रमेण पूर्वोक्त एव क्षेत्र आराधनार्थं होमान्तेन विधिना पूजयेत् ॥

ततः प्रोक्तसंख्याकं जपं होमं च प्रतिज्ञाय, तत्संपत्त्यै—

जपहोमार्चने रतः ।
ध्यायन्नेव महादेवि स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥४८॥
प्राप्नोति चिन्तितान् कामान् देवि नास्त्यत्र संशयः ।

एवं साधकसिद्ध्यानुगुण्येनाराधनप्रकारानुक्त्वा रक्षाकल्पं प्रस्तावयितुमाह—

अथ रक्षाविधानेषु अघोरं योजयेद्यथा ॥४९॥
तथाहं कथयिष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ।

तत्र—

द्वात्रिंशदरसंयुक्तं चक्रमालिख्य भामिनि ॥५०॥
नाभिकेसरसंयुक्तं सुसमं तु वरानने ।
गोरोचनां तु संगृह्य सिद्धालक्तकसंयुताम् ॥५१॥
दूर्वाकाण्डेन देवेशि हरितेन समालिखेत् ।

सिद्धैः सिद्धार्थकैरलक्तेन च मिश्रां गोरोचनां कृत्वा दूर्वाकाण्डेन नीलेन तत् चक्रमर्थाद् भूर्जे लिखेत् । सिद्धालक्तकमलक्तकविशेष इत्यन्ये । सिद्धा भगवती चण्डिका, तत्पादाद्गृहीतेन कुङ्कुमेनेति त्वसत् ॥

अथास्य चक्रस्य—

विद्याराजं कर्णिकास्थं बिन्दुनादसमन्वितम् ॥५२॥
शक्त्यवसानं देवेशि तस्मिन् साध्यं समालिखेत् ।
कषमध्ये वरारोहे नयनाद्यन्तरोधितम् ॥५३॥
ईकारवेष्टितं कृत्वा

विद्याराजं नवात्ममन्त्रम्, कर्णिकास्थमिति द्वात्रिंशदरचक्रनाभिगतकमलकर्णिकागतमिति यावत्, बिन्दुनादशक्तयोऽत्र लिपिक्रमेण लेखितव्याः । साध्यमिति तन्नाम, एवं चाभिदधद्वाच्यस्य वाचकाभिन्नत्वमीशेच्छाकृतमिति सूचयति । कषमध्य इति नवात्मसंबन्धिनः क्षकारस्य यौ ककारषकारौ तयोर्मध्य इति, कादुत्तरस्य षस्य प्रथमभागे । नयनेन त्र्यक्षरेण पूर्वोक्तेन नेत्रमन्त्रेण, रोधितमिति संपुटीकृतम् । तत्र च नेत्रमन्त्राक्षराणामादावनुलोमक्रमः पश्चात् प्रतिलोमक्रम इति संप्रदायः । ईकारवेष्टितं कृत्वेति मायाबीजमालिख्य तदीकारेण नेत्रमन्त्रसंपुटितं तत्साध्यनाम त्रिवेष्टितं कषमध्ये लिखेदित्यर्थः ॥

इत्थं कर्णिकायां लिखित्वा—

अरकस्था निवेशयेत् ।
पूर्वोक्तदेवता देवि

पूर्वोक्ता अरुणाद्या यथोक्तैकैकमन्त्राक्षररूपाः साध्यान्ते भगवत्संमुखत्वेन, न तु तत्पराङ्मुखतयेत्याम्नायोऽत्र ॥

अथ—

तद्गर्भे साध्यमालिखेत् ॥५४॥

साध्यमिति तन्नाम । ५४॥

कथम्—

भवगर्भे तु तत्कृत्वा ईकाराख्येन वेष्टयेत् ।
त्रीन् वारांस्तु वरारोहे ध्यानयोगसमाश्रितः ॥५५॥

भव इह प्रणवः, तत्पूर्वस्य देवीमन्त्रस्योक्तत्वात् तस्य गर्भे मध्ये, तदिति साध्यनामकृत्वा पश्चादुपरिवर्तिमायाबीजसत्केनेकारेण प्राग्वद् वेष्टयेत् । तदीदृगितिकर्तव्यताविशेषितं साध्यनाम एकैकारानिविष्टदेवीमन्त्राक्षरमध्ये आलिखेदित्यर्थः । एवं घोशब्दस्य रेशब्दस्य अन्यस्य च प्रथमकुटिलभागात्मनि मध्ये एतत् लेखनीयम् । तथाभूतं चैतदेकैकं देवीमन्त्राक्षरं कर्णिकागतमन्त्रराजसंमुखं पूर्वादिक्रमेणारासु निवेशयेत् । ध्यानयोगसमाश्रित इति भगवतो देवतानां च स्वरूपं सिद्धिसमुचितयथोक्ताकारं ध्यात्वा तद्व्याप्तिं च भावयित्वा लिखेत् ॥५५॥

तदेवं लिखितमेतत् सर्वमेव चक्रम्—

ऊर्ध्वे चैव तु संरोध्य क्रोंकारेण वरानने ।

दिगष्टकेऽस्याष्टौ बहिः क्रोंकारा दातव्या इत्यर्थः ॥

अथैतत्—

इन्दुनाच्छुरितं कृत्वा पुष्पधूपैः प्रपूजयेत् ॥५६॥

इन्दुः कर्पूरम् । पूजनं मध्यमन्त्रात् प्रभृति सर्वमन्त्रैः यथास्थानम्, यथालेखोत्पुंसनं व संपद्यते ॥५६॥

अथ—

वेष्टयेच्चैव तद्भूर्जमरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
पञ्चरङ्गकसूत्रेण वेष्टयित्वा वरानने ॥५७॥
सिक्थेन मुटयेत् पश्चात् क्षौद्रमध्ये निधापयेत् ।

सिक्थं मधूच्छिष्टम् । क्षौद्रं माक्षिकं सर्वौषधिरससारभूतमिति तन्मध्ये स्थापनं साध्यस्याप्यायनाय ॥

अस्य रक्षाविधेः फलमाह—

यदा मृत्युवशाघ्रातं कालेन कलितं प्रिये ॥५८॥
अरिष्टचिह्नितं ज्ञात्वा रक्षामेतां समालिखेत् ।
तस्य मृत्युर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ॥५९॥

यदाशब्दो भिन्नक्रमः समालिखेदित्यस्यादौ योज्यः। अस्य च पश्चात् तदेत्यध्याहार्यम्, तेन कालाधिकारप्रोक्तैरन्यैर्वारिष्टैः चिह्नितम्, तत एव च—

'एकोत्तरं मृत्युशतमस्मिन् देहे प्रतिष्ठितम्।
तत्रैकः कालमृत्युः स्याच्छेषास्त्वागन्तवः स्मृताः॥'

इति स्थित्यागन्तुशतेनाघ्रातं कालमृत्युना च एकेन कलितं साध्यं ज्ञात्वा गुरुरिमां रक्षां यदा समालिखेत्, तदा तस्य मृत्युः कोऽपि न स्यादिति भगवतैवोक्तमेतदिति नात्र संशयितव्यं लिपिमात्रात् कथमेतद्भवतीति। यतः श्रीसर्ववीरश्रीभर्गशिखानिरूपितनीत्या लिपिरपि पराशक्तिप्रसररूपैव, अतो भगवतैवैवं-प्रतिज्ञातत्वात् सत्यमेवैतन्मन्तव्यम्॥५९॥

मृत्युरक्षणे प्रकारान्तरमाह—

कपालीशस्य गर्भे तु नाम यस्य समालिखेत्।
भूर्जपत्रे वरारोहे रोचनाया रसेन तु॥६०॥
ओंकारपुटमध्यस्थं रोधितं नयनाक्षरैः।
वौषड्जातिप्रयोगेण तस्य मृत्युर्न जायते॥६१॥

कपालीशः पूर्वोक्तः, तस्य गर्भे प्राग्वत् कषमध्ये। कीदृशं नाम। ओंकार-पुटमध्यस्थमाद्यन्तयोरोंकारसंपुटीकृतम्, तथाकृतं च सत्पूर्वोक्तैर्नयनाक्षरैर्वौषड्-जातिप्रयोगेण पश्चात्कृतेनोपलक्षितैः रोधितमिति प्राग्वदनुलोमप्रतिलोमक्र-माभ्यामाद्यन्तयोः संपुटीकृतम्। दिग्विशेषानुपादानादष्टासु दिक्षु इति। अत्र च प्राग्वद् दूर्वाकाण्डलेखनपूजनादिक्षौद्रमध्यनिधापनपर्यन्तं सर्वमनुसर्त-व्यम्॥६१॥

एवं परिवारस्थभैरवाष्टकाद्यन्तस्थकपालीशविद्याराजाश्रयेण रक्षाविधानेन मृत्युजयमुक्त्वा, प्रसङ्गात् कर्मान्तरसिद्धिमपि यन्त्रक्रमेणादिशति देवः—

शिख्याह्वेन तु देवेशि साध्यनाम विदर्भयेत्।
अनलार्णमधश्चोर्ध्वे साध्यार्णेषु नियोजयेत्॥६२॥

शिख्याह्वेन शिखिवाहनमन्त्रेण पूर्वोक्तेन, विदर्भयेदिति—

'अभिधेयं भवेत् पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत्'

इति शास्त्रान्तरोक्तस्थित्यानुविन्यस्तमन्त्रं कुर्यात्, अनलार्णं रेफः, तदेकैकत्र साध्यनामाक्षर ऊर्ध्वाधो नियोजयेत्। इत्थं विदर्भितमेतदाग्नेयमण्डलान्तस्थ-वायुमण्डलसंस्थितं कुर्यात्, आग्नेयमण्डलं त्रिकोणं तद्बहिर्वायुमण्डलं षट्कोणं वर्तुलम्॥

एतच्च यस्य लिख्यते—

तस्य वै जायते दाहः

वाय्वाघ्माताग्निदीपितत्वादग्निवर्णमध्यगताक्षरत्वात् शिखिवाहनविदर्भितत्वाच्च ॥

किं शिखिवाहनविदर्भितमात्रमेव नामाग्नेयमण्डलान्तः क्रियते । न तन्मात्रमेव, किं तु—

फट्काराद्यन्तरोधितम् ।

फट्कारान्तशिखिवाहनबीजविदर्भितमिति व्याख्यानमसत्, तथा वाक्यार्थस्याभावात् ॥

एतल्लेखनानन्तरं च मन्त्रनाथं पूजयित्वा,

एतच्चक्रमध्यगतमेव—

ज्वलन्तं चिन्तयेत् साध्यं दिनानां सप्तकं यदि ॥६३॥

ततस्तस्य—

तत्क्षणाज्जायते दाहो भैरवस्य वचो यथा ।

क्रोधराजप्रयोगेण मारणमाह—

क्रोधराजनिरुद्धं तु श्मशानपटमध्यगम् ॥६४॥
श्मशानादलिना लेख्यं विषरक्तान्वितेन तु ।
यस्य नाम वरारोहे हुंफट्कारविदर्भितम् ॥६५॥
मारयेतिसमायोगात् क्रूरजातिसमन्वितम् ।
म्रियते सप्तरात्रेण यो रक्षाभिः सुरक्षितः ॥६६॥

सोऽपीति शेषः । श्मशानादलिः श्मशानाङ्गारः, तेन प्रेतरक्तविषमिश्रेण मषीं कृत्वा, प्रेतपटखण्डे यस्य नाम हुंफट्कारविदर्भितमित्यन्ते विन्यस्य हुंफट्कारं कृत्वा, पश्चात् प्रागुक्तेन क्रोधराजेन निरुद्धमित्याद्यन्तरोधितम्, ततोऽपि मारयेत्यनेन युक्तम्, ततोऽपि क्रूरजात्या हुंफट्इत्यनेन समन्वितं लिख्यते, स रक्षाभी रक्षितोऽपि सप्तरात्रान्म्रियते । अत्र श्रीक्रोधराजरूपं शत्रुसंहारोचितमुग्रं चिन्त्यम् ॥६६॥

अथ शत्रोस्त्रासनाय विकरालप्रयोगमाह—

विकरालो महादेवि ऊर्ध्वाधः पाशसंस्थितः ।
साध्यनाम्नस्तु देवेशि हुंफट्कारविदर्भिणः ॥६७॥
न क्षामयत्ययत्नेन—

यस्य साध्यनाम्नः प्रोक्तयुक्तया हुंफट्कारविदर्भितस्य विकरालाख्यो मन्त्रविशेष चतुर्दिग्गतः प्रोक्तया मष्या लिख्यते, तस्यासावयत्नेन हेलयैव न क्षमते । क्षामयतीत्यैशः पाठः ॥

किमस्य न क्षमणमित्याह—

तस्य शत्रोर्भयं भवेत् ।

अत्र च श्रीविकरालस्वरूपं मध्यस्थितस्य साध्यस्य चतसृषु दिक्षु त्रासकत्वेनोत्थितं चिन्तनीयम् ॥

अथ मन्मथप्रयोगं वशीकारायाह—

मन्मथेन युतं कृत्वा साध्यनाम वरानने ॥६८॥
ध्रुवाद्यं स्वाहयान्तेन रक्तध्यानसमन्वितम् ।
अमुकोऽत्र वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ॥६९॥
अमुकस्य वशं यातु जपहोमौ समाचरेत् ।
सप्ताहाद् वशमायाति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥७०॥

पूर्वोक्तेन ह्‌व्ऊऔकारसमुदायात्मना सबिन्दुकेन पिण्डाक्षरेण मन्मथेन युक्तं यत्साध्यनाम, तदेव विभजनि । अमुक इति अमुकस्य वशं यातु इत्येतदन्तं स्वाहया स्वाहाशब्देनान्तेनान्तस्थेन युतं कृत्वा च, ईदृशा प्रणवपूर्वेण मन्त्रेण रक्तध्यानसमन्वितमिति तं साध्यं रक्तं ध्यायन् तदवस्थितिदिगभिमुखः साधको यदि सप्ताहं जपं होमं च वशीकरणोचितैर्द्रव्यैः करोति' तदास्य साध्यो वशमायात्येवेत्यत्रार्थः ।

अत्र च यन्त्रप्रकरणादेतन्निश्चितम् यदेवंविधं मन्त्रं लिखित्वा संपूज्य जपहोमौ कार्यौ ॥७०॥

मेघनादप्रयोगमुच्चाटनायाह—

मेघनादावसाने तु नाम यस्य समालिखेत् ।
यकाराद्यन्तसंरुद्धं मन्त्र फड्द्वितयान्वितम् ॥७१॥
प्रेतस्थाने निधाप्यैतद् भैरवं तत्र पूजयेत् ।
अक्षपुष्पैर्वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ॥७२॥
तमुच्चाटयते क्षिप्रं देवि नास्त्यत्र संशयः ।

मेघनादो ह्‌र्य्ऊबिन्दुसमुदायात्मा । यकारेति सविसर्गयकारसंपुटितमित्याम्नायः । एतदित्येवं लिखितं भूर्जे । निधाप्येति श्मशानभूम्यन्तर्गतं कृत्वा तत्र ईदृशे भूर्जे । अक्षाविभीतकाः । तदिति साध्यदिगभिमुखः । सप्ताहादिति स्थितमेव । स्पष्टमन्यत् ॥

सोमराजप्रयोगं विभवार्थं वशीकृत्यर्थं चाह—

सोमराजेन देवेशि आदिमध्यान्तसंयुतम् ॥७३॥
नाम यस्य समालिख्य वषड्जातिसमन्वितम् ।
संनिधाप्य त्रिमधुरे स्थापयेत्सुरसुन्दरि ॥७४॥

सप्तरात्रप्रयोगेण त्रिकालाष्टशतेन च ।
असाध्यं साधयत्याशु धनं च विपुलं लभेत् ॥७५॥

सोमराजो हुंकारः, तेन साध्यनाम आदिमध्यान्तसंबद्धं कृत्वेति नाम्न आदौ मध्येऽन्ते च त्रिः सोमराजं लेखित्वा, ततो वषडन्तं कृत्वा, तद्यन्त्रं संनिधाप्य पूजयित्वा सिक्थसंमुटितं क्षीरक्षौद्रशर्करापात्रसंपुटगं कृत्वा, सप्तदिनं यस्त्रिसंध्यं तथैव जपेदसाध्यं साधयितुमशक्यमपि साधयति वशीकरोति, श्रियं चाप्नोति ॥७५॥

पुनः प्रोक्तस्य क्रोधराजस्य जपहोमाभ्यां प्रयोगमुन्मादार्थमाह—

पञ्चाङ्गेन पिशाचस्य क्रोधराजावसानिकाम् ।
संज्ञां समुच्चरेद्देवि क्रूरजातिसमन्विताम् ॥७६॥
उन्मत्तो जायते साध्यो होमेन च जपेन च ।

पिशाचस्य विभीतकस्य मूलकाण्डपत्रकुसुमफलानि पञ्चाङ्गानि, तैर्मिलितं सप्ताहं प्रणवादिक्रोधराजहुंफडन्तं साध्यनामोच्चार्य, त्रिसंध्यमष्टोत्तरशतं यो जुहुयात्, तस्यासौ साध्यः शत्रुरुन्मत्तो भवति ॥

पुनरप्यनुग्रहहेवाकितया मृत्युजिद्विधिमाह—

मृत्युञ्जयं प्रवक्ष्यामि तमेकाग्रमनः शृणु ॥७७॥
भूर्जपत्रं समादाय नीरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
तस्मिन् समालिखेत् पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥७८॥
तस्मिन् वै कर्णिकामध्ये साध्यनामसमालिखेत् ।
संवेष्टयाष्टौ दिशो देवि स्वच्छन्देन कृशोदरि ॥७९॥
प्रणवेन तु संवेष्टय

स्वच्छन्देनेति सिद्धिप्रदानेन सकलेन साध्यनामाष्टौ दिशश्चक्रवदावरणक्रमेण संवेष्टय ततः प्रणवेन संवेष्टय कर्णिकामध्ये लिखेदिति योजना ॥

कर्णिकावत् प्रतिपत्रं लिखेदित्याह—

पत्रेष्वेवं समालिखेत् ।

अष्टस्वपि ।

किं च—

पत्राष्टकेऽप्यघोरस्य नामाधस्तात् समालिखेत् ॥८०॥

पत्रबाह्य आवरणक्रमेण व्योमरेखामित्यर्थः ॥

एवं लिखित्वा प्राग्वत् कर्पूरादिना पूरयित्वा संपूज्य विज्ञप्त्यर्थम्—

वक्तव्यं देव संरक्ष शरणं त्वामुपागतम् ।

साध्यमित्यर्थात् । तत एषा रक्षा सिक्थकादिना संवेष्टय पयसि क्षेप्या । पयसि क्षीरे निक्षिप्तमात्रैव सती साध्यस्य सद्योमृत्युविनाशिनीति कर्णिकायां लिखित्वा तल्लग्नेष्वष्टसुपत्रेष्वेवमेव लिखेत् ॥

अथ शान्तिकमाह—

आदौ त्र्यक्षरविन्यासं स्वच्छन्दं तदनन्तरम् ॥८१॥
जन्मनाम तु साध्यस्य अक्षरान्तरितं लिखेत् ।
पुनस्त्र्यक्षरविन्यासं वषडन्तं नियोजयेत् ॥८२॥

नेत्रमन्त्राक्षराणि त्रीणि चतुष्कलं च लिखित्वा जन्मसमयकृतं साध्यनामाक्षरैरिति, अर्थादघोरसत्कैरन्तरितमेकैकतदक्षरव्यवहितम्, 'अ देवदत्तः घो देवदत्तः, इत्यादिक्रमेण लिखित्वा पुनर्वषडन्तानि प्राग्वल्लिखेत् ॥८२॥

इमां च रक्षां संपूज्य—

मुटित्वा सिक्थकेनैव क्षीरमध्ये तु प्रक्षिपेत् ।

इत्थं च साध्यस्य—

जायते परमा शान्तिः

किं च—

पुनरन्यन्निबोध मे ॥८३॥

कथम्—

जुंसःसंपुटमध्यस्थं प्रणवोभयसंयुतम् ।
नाम कृत्वा वरारोहे प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ॥८४॥

जुंस इत्यनेन प्राग्वत् प्रागनुलोमं पश्चात्तु प्रतिलोमं विन्यस्तेन संपुटीकृतं नाम पश्चात् प्रणवेन संपुटितं कुर्यादित्यर्थः । मधुरत्रयं प्राग्वत् ॥८४॥

इत्थं च—

परां शान्तिमवाप्नोति मृत्युरोगैर्न बाध्यते ।

साध्य इत्यर्थात् ॥

पुनर्मृत्युजयप्रकारान्तरमाह—

भूर्जपत्रं समादाय रोचनाया वरानने ॥८५॥
मातृकान्तरितं नाम दूर्वाकाण्डेन चालिखेत् ।
तदभ्यन्तरगर्भं तु स्वरैरन्तरितं कुरु ॥८६॥
पुनर्गर्भे समालिख्य साध्यनाम वरानने ।
ध्रुवेण वेष्टयेत् पश्चाद् वकारेण ततः प्रिये ॥८७॥

सकारं च क्षकारं च लिखेच्च तदनन्तरम् ।
पुनर्वेष्ट्य ठकारेण मायाबीजेन सुव्रते ॥८८॥
अङ्कुशेन निरुद्ध्येत रक्षां मृत्युविनाशिनीम् ।
स्वच्छन्दसहितां देवि प्रणवेनादियोजिताम् ॥८९॥
वषड्जातिसमोपेतां कर्पूरक्षोदचर्चिताम् ।
गन्धपुष्पादिना पूज्य प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ॥९०॥

गर्भे साध्यनाम । प्रणवेनादियोजितामपि प्रणवान्तर्गर्भीकृतां विधाय स्वच्छन्दसहितां वषड्जातिसमोपेतां रक्षां कृत्वेति गर्भीकृतनाम्नः प्रणवस्य बहिरघोरं वषडन्तं परिवेष्टनया लिखेत् तच्च तदभ्यन्तरगर्भे तु स्वरैरन्तरितं कुर्विति बहिर्विन्यस्तकादिक्षान्तमातृकाया अभ्यन्तरे षोडशभिः स्वरैरन्तःकृतैः-परिमण्डलेन लिखतैर्व्याप्तं करणीयम्, यदाह—**मातृकान्तरितमिति** । एतच्च सर्वं पुनर्ध्रुवेण वेष्टितं सत् क्रमेण वकारसकारक्षकारठकारैर्वेष्टयेत् । तदनु माया-बीजसत्केकारेण त्रिर्वेष्टयेत् । पश्चादष्टसु दिक्षु क्रोंकारेण रोधयेदिति व्यवहित-वाक्यार्थसंगत्यनुसारेण चक्रमेतत् प्रदर्शितम् ॥९०॥

अर्चयित्वा चैतत् सिक्थकेन मुटितं मधुरत्रये यस्य क्षिप्यते, तस्य—

जायते परमा शान्तिर्नात्र कार्या विचारणा ।

निश्चितमतिनैतत् प्रयुक्तमभीष्टं साधयत्येव ॥

अथवा गुटिकां कृत्वा कण्ठे बाहौ च धारयेत् ॥९१॥

यः—

तस्य व्याधिर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

गुटिकां कृत्वेति जतुबद्धां कनकादिभूषितां विधाय कण्ठे भुजे वा धारयेत् । चो वार्थे ॥

गुटिकां विना विशिष्टमन्त्राभिमन्त्रितभोजनपानक्रमेण सततं क्रियमाणेन मृत्युजिद्विधिमाह—

त्र्यक्षरं मूलमन्त्रं च वषड्जातिसमन्वितम् ॥९२॥
भोजनोदकपाने तु मन्त्रयित्वाश्नतः सदा ।
न तस्य जायते मृत्युर्भैरवस्य वचो यथा ॥९३॥

नेत्रमन्त्रचतुष्कलनाथाभ्यां वषडन्ताभ्यां भोजनपाने द्वे सततमभ्यवहरतो न मृत्युर्भवति ॥९३॥

अथ विषादिहेतुर्यस्यापि मृत्युर्न, तं समादिशति—

अथाहिना महादेवि दूषितः साधको यदा ।

तदा —

मूलमन्त्रसमोपेतमघोरं तत्र योजयेत् ॥९४॥

मूलमन्त्रः श्रीचतुष्कलः, तेन समोपेतं संपुटीकृतम्, तत्रेति अहिदूषण-प्रशान्तिनिमित्तम्। अस्यान्ते 'भगवन् विषं शमय-शमय हुं फट्' इति क्रूरजात्यन्त ऊहः प्रयोक्तव्य इत्यर्थात् ॥९४॥

प्रयोगावसरे च—

आत्मनो भैरवं रूपं कृत्वा चैव सुदारुणम्।
दंष्ट्राकरालविकटं ज्वालामालोपशोभितम् ॥९५॥
सर्पैर्लम्बमानैः खड्गहस्तं सुभीषणम्।
पूर्वरूपसमोपेतं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥९६॥
तेनाक्रान्तं महादेवि दष्टकं तु विचिन्तयेत्।
तज्ज्वालाभिः सुदीप्ताभिर्दग्धं संचिन्तयेद् विषम् ॥९७॥
तत्क्षणाद् देवदेवेशि निर्विषः स तु जायते ।

कृत्वेति ध्यात्वा, सर्पैरिति हारकटकादिस्थैरूपलक्षितम् पूर्वरूपं श्रीकोटराक्षसंबन्धि। अहिदूषितत्वं विषदूषितत्वोपलक्षणपरम् ॥

किं च—

ग्रहेष्वेवंविधं ध्यानं यः कुर्यात्

सः—

मोचयेत् क्षणात् ॥९८॥

तेभ्योऽस्मारादिग्रहेभ्यः साध्यमित्यर्थात्। अत्र च **'भगवन्नस्य साध्यस्य ग्रहं शमय शमय हुं फट्'** इत्यन्तपूर्वोक्तमन्त्राभिमन्त्रितेनाम्भःकुसुमादिना साध्यं ताडयेदित्यर्थात् ॥९८॥

ध्यानासमर्थं प्रति विषशमनं कारुणिकत्वादोषधिप्रयोगैरप्यादिशति शंभुः—

अथ ध्याने ह्यकुशलो यदा कश्चिन्नरो भवेत्।
तदागदैर्महादेवि निर्विषं कुरुते क्षणात् ॥९९॥

दष्टं भक्षितविषं च ॥९९॥

अगदमाह—

कुमारिद्वितयं गृह्य नागिन्या तु सहैकतः।
गोकर्णिकासितं मूलं सोमाह्वामूलसंयुतम् ॥१००॥

आमगोक्षीरसंपिष्टं भक्षयेन्निर्विषो भवेत् ।

कुमार्याख्यौषधिः सफला वन्ध्या चेति द्विरूपापि, नागिन्या महागोनासाह्वया सह गोक्षीरपिष्टमित्येकः प्रयोगः । गोकर्णिका गिरिकर्णिका, सोमाह्वा सोमराजी, तयोः सितं मूलं गोक्षीरपिष्टमिति द्वितीयः, क्षीरेण पिष्टमप्येतद्घृतेन सह पाने नस्ये वा प्रयोक्तव्यम् ।

यद्वक्ष्यति—

'अगदान् घृतसंयुक्तान पिबेत्' (९।१०८) इत्यादि ॥

किं च—

गोनिम्बस्य च मूलेन निर्विषत्वं प्रजायते ॥१०१॥

गोनिम्बो भूम्यामलकी । क्वचित्तु ऐरण्डस्य मूलेनेति पाठः । अत्रापि आमगोक्षीरपिष्टत्वं स्थितमेव ॥१०१॥

अश्वमारस्य मूलं तु उदकेन तु पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ॥१०२॥

अश्वमारः करवीरकम् ॥१०२॥

आरग्वधस्य मूलं तु उदकेन च पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ॥१०३॥

आरग्वधमारोचकमिति प्रसिद्धम् ॥१०३॥

मधुकस्य तु सारं यन्नस्ये पाने प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु प्रजायेत भैरवस्य वचो यथा ॥१०४॥

मधुकस्य मधूकस्य सार आन्तरो भागस्तं द्वयोः प्रक्रान्तत्वाद् उदकेन क्षीरेण वा पिष्ट्वा, नस्ये पाने प्रदातव्यम् । मधुकं मधुयष्टिरित्यन्ये ॥१०४॥

जम्बुलासिकमूलं तु पाने नस्ये प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु भवेद् देवि नात्र कार्या विचारणा ॥१०५॥

जम्बुलासिकमूलं जम्बुवृक्षमूलम् । अत्रापि गोक्षीरपिष्टमिति स्थितमेव ॥१०५॥

अथ विषानाक्रमणहेतुमगदगुटिकाप्रयोगमाह—

षड्बिन्दुपटखर्जूरसूक्ष्मचूर्णं तु कारयेत् ।
मयूरपित्तसंयुक्तां गुटिकां कारयेत् प्रिये ॥१०६॥
त्रिलोहवेष्टितां कृत्वा करे कण्ठे निधापयेत् ।
न विषं क्रमते तस्य यश्च दष्टो महोरगैः ॥१०७॥

षड्बिन्दुः प्राणिविशेषः। पटखर्जूरं शतपदी। गुटिकां कारयेदित्यनन्तरं तां चेति, निधापयेदित्यनन्तरं यत इति चाध्याहार्यम्। त्रिलोहं हेमरजतताम्रम् ॥१०७॥

अगदप्रयोगे शेषविधिमाह—

अगदान् घृतसंयुक्तान् पिबेद् वै विषदूषितः।
न विषं क्रमते तस्य इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥१०८॥

एतेष्वगदेषु वान्येषु वा प्रथक्पृथक् कुण्डलीयगारुड्येकवीराबलामोटादिमूलविषयेषु निष्कम्पप्रतिपत्तिना प्रयुज्यमानेष्वविसंवादिता भवतीति दर्शयन् पटलमुपसंहरति—

एवमन्येऽपि ये योगाः स्वच्छन्देन विनिर्मिताः।
कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः ॥१०९॥
प्रदद्याद् भावितात्मा च सिद्ध्यन्ते नात्र सशयः।

स्वच्छन्देनेति सर्वं हि परमेश्वरेण प्रवर्तितम्। यदुक्तं **श्रीश्रीकण्ठयाम्**—

'प्रवर्ततेश्वरात् सर्वं निवर्तेत तथेश्वरात्।
ईश्वराधिष्ठितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
महादेवात् परं नास्ति सत्यमेतन्न चान्यथा'।

इति च एवार्थे, भावितात्मैव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। पाटलिकी संगतिरदूर एव—

'कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः' (९-१०९)

इत्यादिना **पटलान्तं** कटाक्षयता ग्रन्थेन कृतेति शिवम् ॥

व्याधीनामगदं दिव्यमाधीनां मूलकर्तनम्।
उपद्रवाणां दलनं महादेवमुपास्महे ॥

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते

नवमः पटलः समाप्तः

———

दशमः पटलः

आ कालाग्नेः शिवपुरपरो योऽयमध्वा स सर्वो
मूर्त्याभासा स्फुरति लहरी यस्य यश्चाखिलं तम् ।
मेयत्वेन प्रथयति परां मातृतां भक्तिभाजां
व्यङ्क्तुं देवो जयति स महाभैरवः श्रीस्वतन्त्रः ॥

नवमपटलोपान्ते कालाग्निरित्यादिना कटाक्षिताध्वस्वरूपावबोधार्थं श्रीदेव्युवाच—

अध्वायं तु महादेव सूचितो न तु वर्णितः ।
कथयस्व प्रसादेन साधकानां हिताय तम् ॥१॥

पारमेशधामप्राप्त्युपायः प्रबुद्धैरदनीयश्चाध्वायमिति नवमपटलोपक्रान्तो भुवनात्मा, साधकानामिति भुक्तिं मुक्तिं च साधयतामाचार्यादीनाम् ॥१॥

एतत्प्रश्ननिर्णयं श्रीभैरव उवाच—

अध्वानं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै ।

अध्वानमिति भुवनरूपम्, सम्यक् तत्तद्भुवनेशाधिष्ठितक्रमेण प्रकर्षेण वैतत्येन वक्ष्यामि ॥

तं प्रस्तौति—

अथ कालाग्निरुद्राधः कटाहः संव्यवस्थितः ॥२॥
कोटियोजनबाहुल्यः

पृथ्व्याः सर्वतत्त्वावृतत्वात् तदीयब्रह्माण्डान्तरवस्थितं कालाग्निरुद्रभुवनमादौ, तस्याधः कटाहो ब्रह्माण्डकर्परः कटाह इव च यत्र निमज्ज्योन्मज्ज्यते कृच्छ्रात् । बाहुल्यं घनता ॥

किं च—

तस्योर्ध्वे भुवनानि तु ।
नवनवतिकोट्यश्चाप्यण्डानां तु सहस्रकम् ॥३॥
कोटीनां सप्ततिर्लक्षाण्ययुतानां सहस्रकम् ।
अर्बुदान्यथ वृन्दानि खर्वाणि च तथैव च ॥४॥
पद्मानि चाप्यसंख्यानीत्येवमादीन्यनेकशः ।
तेषां वै नायको ह्यत्र त्वनन्तः परमेश्वरः ॥५॥

तस्य कटाहस्योर्ध्वे पृष्ठे कर्परबाह्ये इत्यर्थः। नवनवतिकोट्य इत्यादिना तद्बहिर्वर्तिनां भुवनानां ब्रह्माण्डानां च निःसंख्यत्वमुच्यते। यथोक्तं **श्रीमालिनीविजये** ब्रह्माण्डं प्रकृत्यण्डं चाधिकृत्य—

'पृथग्द्वयमसंख्यातम्' (२।५०)

इति। **श्रीकण्ठसंहितायामपि**—

'ब्रह्माण्डं कोटिविस्तीर्णम्'

इत्युक्तम्। **यत्तु टीकाकारैः**—

'अथ कालाग्निरुद्राधः, (१०।२)

इत्यत्र कालाग्निरुद्रभुवनसामीप्यादाद्यं पार्थिवमनन्तभुवनमुक्तम्, अण्डानामित्यत्र चाण्डशब्देन भुवनान्युच्यन्ते, तेषां च कालाग्निब्रह्माण्डकवाटयोर्मध्यवर्तित्वमिति व्याख्यातम्, तदनागमिकं स्वयंकल्पितमित्युपेक्ष्यम्। यतोऽनन्तभुवनस्य प्रथमत्वेऽपि शतरुद्रमध्यवर्तित्वेनाण्डबाह्याधोभागगतत्वमेवागमेषु दृश्यते। यथोक्तं **श्रीमालिनीविजये**—

'तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक्पृथक्' (५।१२)

इत्युपक्रम्य...

'अनन्तः प्रथमस्तेषां' (५।१३)

इति इहाप्येकादशे भविष्यति—

'अनाथोऽनन्तरूपेण स्थितश्चाध्वनि धारकः' (११।२२)

इति। तथा—

'संस्थितश्चाम्भसो मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः' (११।२४)

इति। एतच्चानन्तरमेव व्यक्तीभविष्यति। अण्डशब्दस्य च भुवनवाचकत्वमप्रसिद्धम्। एवमपि पृथग् भुवनशब्दोऽनुपादातव्यः स्यात्। वक्ष्यमाणे च ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभुवनमानसंख्यामध्येऽनन्तभुवनमानस्यानुद्देशान्न कर्परिकाकालाग्निभुवनयोर्मध्येऽनन्तभुवनम्, अपित्वधःकर्परिकाबाह्यपृष्ठभागेऽधःस्थशतरुद्रदशकमध्ये, इत्यलम् ॥५॥

तदित्थं प्रपञ्चव्याप्त्याऽनन्तब्रह्माण्डाश्रया भूः। तस्यात एवानन्तशब्दवाच्यस्य भगवतः शुद्ध्या सर्वब्रह्माण्डाधोवर्तिनिःसंख्यभुवनशुद्धिरूहकाख्यैः रुद्रभुवनैः सहास्यां भुवनदीक्षायां संपद्यत इत्याह—

तेन शुद्धेन शुद्धानि त्वण्डान्यत्रोहकैः सह।

ऊहन्ते तर्कयन्ति परिच्छिन्दन्ति विश्वमित्यूहकाः ॥

कीदृशैरूहकैरित्याह—

शक्त्याधाराश्रयैरेव

शक्तिः पारमेश्वर्येव विश्वभित्तिभूतत्वादाधार इवाधारस्तदाश्रयैरेव शक्तिविश्रान्ततैरित्यर्थः ॥

ते चोहकाः कियन्तः, कीदृशाः, के इत्याह—

द्वात्रिंशत्परिसंख्यया ॥६॥
कोटिकोटिपरीवारास्त्वनौपम्यगुणान्विताः ।
दिव्याङ्गनौघसंकीर्णा भ्रूभङ्गललितेक्षणैः ॥७॥
सूर्यायुतप्रतीकाशास्तोरणाट्टालमण्डिताः ।

किं च—

न तत्र दुःखितः कश्चिन्मुक्त्वा दुःखमनङ्गजम् ॥८॥
रमन्ते तत्र वै वीरा नारीभिः सह लीलया ।
भुवनेषु विचित्रेषु योन्याकारेषु संस्थिताः ॥९॥

अनेन स्त्रैणभोगप्राधान्यमेवैषां भुवनानामुपोद्बलितम् ॥९॥

तदित्थम्—

भुवनान्येवमुक्तानि भुवनान्तरवासिनाम् ।

'तस्योर्ध्वे भुवनानि' (१०।३) इति यान्युपक्रान्तानि, तानीहानन्तभुवनमध्यगतेषु भुवनविशेषेषु ये वसन्त्यूहकास्तेषामाश्रयत्वेनोक्तानि ॥

एवं च दीक्षायाम्—

सर्वाणि शुद्धिमायान्ति तान्यनन्ते विशोधिते ॥१०॥

स्वामिन्यनन्तभट्टारके दीक्ष्यं प्रति भोगप्रदत्वान्निर्वर्तिते तदधिष्ठिता ऊहकास्तद्भुवनानि चानन्तानि शुद्ध्यन्ति न भोगदत्वेन बन्धकानि भवन्तीत्यर्थः । एवमेव चोत्तरत्रापि तत्तद्भुवनेशशुद्धिद्वारेण भुवनशुद्धिर्मन्तव्या । शोधने चोपस्थानादिपूर्वं विधिमग्रे वक्ष्यति । एवं कर्परिकाया बाह्येऽनन्तभुवनम् ॥१०॥

ततस्तु—

अथोपरिष्टात् कालाग्निः श्रीकण्ठेन निवेशितः ।
अधिकारं प्रकुरुते तदाज्ञानुविधायकः ॥११॥
अनेकरुद्रकोटीभिरुपेतस्तिष्ठति प्रिये ।

उपरिष्टादिति कटाहस्य । कालः संहारकृदग्निः । यद्यपि पूर्वोक्तनीत्या स्वतन्त्रभट्टारकमयत्वाद् विश्वस्योर्ध्वाधरप्रविभागो नास्ति, तथापि तदिच्छयैवारुरुक्षूणामुपदेश्योपदेशकानामयमित्यमाभासितः क्रमः । कालाग्न्यादिश्च परमेश्वरमयत्वाद् व्यापकोऽपि तदिच्छयैव तथावभासितस्तत्र तत्र तथा तथा संनिविष्टः ॥

एवं कटाहस्याध ऊर्ध्वे च भुवनद्वयमुक्त्वा पुरप्रमाणं निर्णिनीषुरुपक्रमते—

अधुना संप्रवक्ष्यामि प्रमाणं शिवनिर्मितम् ॥१२॥
योजनानां वरारोहे

तच्चोपक्रमत एव—

यथा भवति तच्छृणु ।

तत्र—

अव्यक्ताद्दशभिर्भागैर्महान् स्थूलो विभाव्यते ॥१३॥
द्विपञ्चभागो महतो भूतादिः स्थूल उच्यते ।

इह योगिनः प्रति विश्वं मेयमयोगिनस्तु प्रकृतितत्त्वात् प्रभृति मेयव्यवस्था मायायाः पुरुषं प्रत्याच्छादकत्वात् कलादेश्च कञ्चुकरूपत्वेन ग्राहकशक्तिमयत्वात् । प्रकृतितत्त्वं तु वेद्यसामान्यरूपं मुमूर्षावसरे कण्ठगतमिव स्मर्यमाणं प्रतिभात्येव । कण्ठो हि प्रकृत्यधिष्ठातुः विष्णोः स्थितिधाम । तदित्थं वेद्यरूपादव्यक्ताद्दशगुणं स्थूलत्वं महतो बुद्धेः । बुद्धिर्ह्यध्यवसायव्यापाररूपा स्वसंवेदनेन संवेद्यते । तस्याश्च प्रोक्तप्राकृतरूपाद् वेद्यात् स्थूलत्वं प्रतीतिसाक्षिकमेव । एवंभूतान्महतो द्विपञ्चभाग इति दशगुण एव, भूतानामादिः कारणं तन्मात्रं स्थूलः, न तु भूतादिरहङ्कारो व्याख्येयस्तस्य महत आधिक्येनासंचेत्यत्वात् । तन्मात्रस्वरूपं तु वासनारूपतयान्तःस्थितं वृद्धस्येवाभिलाषास्पदीभूतं प्रमदामात्ररूपं स्फुरत्येव । तच्चाध्यवसायात्मनो बुद्धेराकारतया स्फुरत्स्थूलतां धत्त एव ।

तदेतदन्तःकरणैकपरिच्छेद्यमित्याह—

भूतादेः परिमाणं च भावग्राह्यं न चाक्षुषम् ॥१४॥

तदीदृशात्—

भूतादेर्यद्दशगुणमणीयो दृश्यते रजः ।
जालान्तरगते भानौ परमाणुः स उच्यते ॥१५॥

अणीयः स्वल्पतरं भूताद्यपेक्षया तु दशगुणं स्थूलं चाक्षुषत्वात् । अयं च परमाणुः तार्किकोपगतपरमाणुविलक्षणः ॥१५॥

ईदृशश्च—

अष्टानां परमाणूनां समवायस्तु यो भवेत् ।
त्रसरेणुः स विख्यातः तत्पद्मरज उच्यते ॥१६॥

समवायः संघट्टनम् । तस्य त्रसरेणुः, पद्मरज इति नामद्वयम् ॥१३॥

त्रसरेणवश्च ये त्वष्टौ बालाग्रं तु विधीयते ।
बालाग्राणि तथा त्वष्टौ लिक्षेति परिकीर्तिता ॥१७॥

लिक्षाचाश्टौ विदुर्यूकां यूकाश्चाष्टौ यवो भवेत् ।
अष्टौ यवा वरारोहे पर्वाङ्गुष्ठमथाङ्गुलम् ॥१८॥
द्वादशाङ्गुलमानेन वितस्तिस्ताल उच्यते ।
तालद्वयं भवेद्धस्तश्चतुर्विंशतिकाङ्गुलः ॥१९॥

बालाग्रादीनि प्रमाणविशेषाभिधानानि । पर्वणोऽङ्गुष्ठमङ्गुलमिति पर्यायः, वितस्तेस्तु तालः ॥१९॥

चतुर्हस्तो धनुर्दण्डो नालिका यूप एव च ।

धनुष एव दण्डो नालिका यूप इति च नाम ॥

धनुःसहस्रे द्वे पूर्णे क्रोशः समभिधीयते ॥२०॥
क्रोशद्वयेन गव्यूतिर्गव्यूती द्वे तु योजनम् ।

एतत्प्रकृते योजयति—

अनेन परिमाणेन योजनानां यशस्विनि ॥२१॥
सिंहासनं महादीप्तं सहस्रद्वयविस्तृतम् ।
सहस्रमुच्छ्रितं तस्य

तस्येति कालाग्नेः ॥

महापीठेषु सुव्रते ॥२२॥
तिष्ठते यत्र देवेशः कालो द्वादशलोचनः ।

तिष्ठते प्रकाशते ॥

स पश्चिमोत्तरप्राग्दक्षतः—

सितरक्तपीतकृष्णश्चतुर्वक्त्रो महाबलः ॥२३॥

ऊर्ध्ववक्त्रमस्यानुन्मीलितं भगवता दर्शितं मा भूद्भूरादिलोकदाह इति ॥२३॥

किं च—

रक्ताङ्गोऽथ करालश्च पिङ्गभ्रूश्मश्रुलोचनः ।
वक्त्रज्वाला जटाज्वाला लोमज्वालाः सुजाज्वलाः ॥२४॥
ज्वलन्त्यस्यायुधज्वालाः सुतीव्राः करमध्यगाः ।

इत्थं चायम्—

ज्वलत्पर्वतवद्दीप्तो ज्वलज्ज्वालाभिराजितः ॥२५॥
दशबाहुर्महात्मा वै खड्गखेटकधारकः ।
शरशार्ङ्गविहस्तश्च पाशाङ्कुशधरस्तथा ॥२६॥
कपालखट्वाङ्गधरो वरदाभयपाणिभृत् ।

विहस्तो विशिष्टहस्तः ॥

अपि च—

दश योजनलक्षाणि शरीरं भाति भास्वरम् ॥२७॥

एतद्भास्वरायाः कान्तेः प्रमाणम्, न तु शरीरस्य अन्यथा प्रागुक्तासनमातस्यासंगतत्वापत्तिः। शरीरमानं त्विह नोक्तम् ॥२७॥

कोटियोजनमानेन भुवनं चास्य जाज्वलम्।

तच्च—

संभृतं रुद्रकन्याभी रुद्रैर्ज्वलितशूलिभिः ॥२८॥
नानारूपविमानैश्च प्रज्वलद्भिः समावृतम्।

किं च—

ज्वालास्तस्य विनिष्क्रान्ताः कोटयो दश चोर्ध्वतः ॥२९॥

तस्येति भुवनस्य ॥२९॥

तस्योपरिष्टाद्देवेशि पञ्च कोट्यो वरानने।
न कश्चिन्निवसत्यत्र धूमोष्मपरिवारितः ॥३०॥

एवं कटाहः कोटिस्तदुपरि कालाग्निभुवनं कोटिः, भुवनज्वाला दश कोटयः, शून्यं पञ्च कोटय इति सप्तदश। न चात्र मध्येऽनन्तभुवनपरीमाणमुक्तमिति मध्ये तत्परिकल्पनमसदित्युक्तमेव ॥३०॥

अतः परं वरारोहे नरकाः परिकीर्तिताः।
पञ्चाशत्कोटयो देवि कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥३१॥

अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् नरान् काययन्ति साक्रन्दान् संपादयन्ति दुःखानुभवेनेति नरकाः कथिता इति महासंहितासु ॥३१॥

इह तु—

प्रधानं संप्रवक्ष्यामि शतं तत्र वरानने।
चत्वारिंशत्समोपेतं कथितं

यन्महासंहितासु तत्

नामतः शृणु ॥३२॥

अवीचो रौरवश्चैव महारौरव एव च।
तामिस्रश्चान्धतामिस्रः संजीवनसुजीवनौ ॥३३॥

तदेते—

'अवीचिर्वीचिभिश्छन्नः पूयासृक्कर्दमादिभिः।
रुदन्तः प्राणिनो यत्र निक्षिप्यन्ते स रौरवः ॥'

तामिस्रस्तमसा मिश्रः शर्वरीध्वान्तधूसरः ।
तथारूपोऽन्धतामिस्रस्त्वविभावितदिङ्मुखः ॥'

इति श्रीपरायां निरुक्ताः। रौरव एव सातिशयो महारौरवः। यातनाभिर्मृतकल्पानां पुनर्यातनार्थं यत्र सम्यग्जीवनम्, सुष्ठु भूयोभूयश्च जीवनं तौ संजीवनसुजीवनौ ॥३३॥

पद्मश्चैव महापद्मः कालसूत्रस्तथैव च ।

एते च श्रीपरायाम्—

'पद्मः पद्मसमाकारः सुषीतो हिमकर्दमः ।
महापद्मस्तथारूपः किन्तु शीतहिमोत्तरः ॥
कालसूत्रोऽसितः पाशस्त्रिकण्टदृढवेष्टनः ।'

इति निरुक्ताः ॥

सूचीमुखः

एषोऽपि—

'सूचीमुखः सुतीक्ष्णाग्रसूचीवत्प्रविभेदकः'

इति तत्रैवोक्तः ॥

महाकायः

महान् दुर्वाहः कायो यत्र ॥

क्षुरधारोऽसिपर्वतः ॥३४॥

'क्षुरधारो लुनात्यङ्गं क्षुरधारानिरन्तरः'

इत्युक्तः । असिः खड्गस्तन्मयश्च पर्वतो गच्छतां दुःखदः ॥३४॥

असिस्तालो द्रुमश्चैव द्रुममस्तक एव च ।
द्रुमारामश्च विख्यातः

असिसंज्ञः—

'खड्गश्छिनत्ति गात्राणि खड्गधारापरिग्रहः'

इति परायां निरुक्तः । तालोऽपि—

'तालस्तालवदङ्गस्थैर्विदारयति वल्कलैः'

इति निरुक्तः। द्रुमो दारुणवाताभिभवनीयद्रुमाकारो निश्चलदेहहेतुः। द्रुमो मस्तके यत्र स द्रुममस्तकः। एवं द्रुमाणामारामः समूहो यत्राङ्गेषु स द्रुमारामः ॥

कुम्भीपाकस्तथैव च ॥३५।

'कुम्भीपाको बृहद्घोरः कुम्भवक्त्रोज्ज्वलच्छिखः'

इति निरुक्तः ॥३५॥

अम्बरेषोऽङ्गारराशिः

'अम्बरेषोऽम्बराद्यस्मात् सुतीक्ष्णेषून् प्रवर्षति ।
तप्ताङ्गारोऽग्निसंकाशो लोहाङ्गारनिकेतनः ॥'

इति निरुक्तावेतौ ॥

तीक्ष्णतुण्डस्तथैव च ।

वज्रतुण्डश्च शकुनिः

एवंविधशकुनिभिर्जना यत्र ताड्यन्ते ॥

मीनोदरखरोदरौ ॥३६॥

मीनखरयोरुदरे महासंतापदे यत्र जनाः पीड्यन्ते ॥३६॥

सन्दंशः

सन्दंशो यत्र संतप्तैः सन्दंशैर्जनाः पीड्यन्ते ॥

वज्रकायश्च

यत्र महायातनानुभववतां वज्रमयः कायः ॥

मेदकश्च वरानने ।

यत्र महासंतापवति मेदोमयशरीरता ॥

उष्ट्रग्रीवो महाकायो वेतालो वडवामुखः ॥३७॥

उष्ट्रस्येवातिदीर्घत्वात् कृच्छ्रेणाशनीयप्रापणी ग्रीवा, कायश्च महान् बह्वन्नभरणीयः वेताला ज्वालास्या भयानका यत्र । वडवामुखाकारो दारुणोऽनलः संतापनो यत्र ॥३७॥

असृक्पूयह्रदश्चैव

असृग्ह्रदः पूयह्रदश्च ॥

भ्रमरो मषकस्तथा ।

यत्र भ्रमरा मषकाश्च विषमा दंशकारिणः ॥

संग्रहश्च

यत्र तप्तोदकवज्जनाः संगृह्यन्ते क्वाथ्यन्ते ॥

कपालश्च

यत्र कपालेष्विवापूपाः जनाः पच्यन्ते ॥

तप्तकवच एव च ॥३८॥

यत्र तप्तकवचान्तर्निविष्टाङ्गानि पीड्यते ॥३८॥

गजपादो महावक्त्रः कूर्माख्यो नकुलस्तथा ।

यत्र गजपादैर्जनाः पीड्यन्ते । यत्र महावक्त्रैः प्राणिभिः ग्रसनम् । यत्र कूर्मैर्नकुलैश्च जना भक्ष्यन्ते त्रास्यन्ते च ॥

पीडनश्चैव

यत्र महाशिलाभिर्जनाः पीड्यन्ते ॥

कुम्भीरः

एतन्नाममहाजलचरभीषणः ॥

क्रकचः शूलमेव च ॥३९॥

यत्र क्रकचैरङ्गच्छेदनम् । यत्र च शूलारोपणम् ॥३९॥

अनङ्गश्चाङ्गारोद्गारः

यत्र तापेनाङ्गानि विलीयन्ते । यत्र चाङ्गारोद्गारैर्महोष्मभिः संतापः ॥

प्रदीप्तस्त्रिमुखस्तथा ।

पञ्चवक्त्रः शतास्यश्च

प्रदीप्तोऽन्यत्र—

'अन्तःसंतापकृत्तापः शोषितोदरकन्धरः'

इत्युक्तः । त्रिपञ्चशतमुखाश्च प्राणिनो यत्र दशन्ति ॥

जलौको बिलधूमकः ॥४०॥

यत्र जलौकःसमाख्यैः प्राणिभिरुपद्रवः । यत्र च धूमबहुलेषु बिलेषु जन्म ॥४०॥

सुतप्तो जतुपङ्कश्च

'सुतप्तस्तापकृत्प्रोक्तः केवलोज्ज्वलितानलः ।

जतुपङ्को ज्वलल्लाक्षाप्रलेपप्लुष्टविग्रहः ॥'

इति श्रीपरायां निरुक्तः ॥

घोररूपोऽतिदारुणः ।

यत्र घोररूपा भीषयन्ते, अत एवातिदारुणोऽयम् ॥

अस्थिभङ्गः पूतिमांसः

यत्रास्थ्नां भङ्गः । यत्र च पूतिमयमांसदेहता ॥

द्रव्यश्चैव त्वमेध्यकः ॥४१॥

यत्र द्रव्ये बहुमूत्रमध्येऽमेध्यमध्ये च निवासः ॥४१॥

उलूकः परशुर्दण्डः काकाख्यश्च तथैव च ।

यत्रोलूकैर्भक्षणम्, परशुना छेदः, दण्डैस्ताडनम्, काकैश्च भक्षणं जनानाम् ॥

सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः

'सोच्छ्वासः श्वसनप्रायो निश्चेष्टकृतकाश्रयः ।
निरुच्छ्वासोऽक्षसंरोधान्निरुच्छ्वसनलक्षणः ॥

वृकास्यश्च तथैव च ॥४२॥

अश्वास्यो गोपलादश्च

महतां वृकाणां सृगालानामश्वानां च भक्षणार्थमास्ये यत्र जनाः सृज्यन्ते ॥ गावः पशवः पलं मांसमदन्ति यत्र । यदुक्तम्—

इति ॥

'मांसादः सर्वदेहस्थसर्वमांसापकर्षकः'

अलोको दहनस्तथा ।

यत्राविद्यमानोऽन्यो लोकः । यश्च दहनः—

'उष्णोऽत्युष्णज्वरारम्भः सर्वाङ्गपरितापकः'

इत्यन्यत्रोष्ण इति प्रोक्तः ॥

श्ववक्त्रोऽथ दवाग्निश्च

श्ववक्त्रः श्ववक्त्रवान् । दवाग्निमध्ये जन्म यत्र॥

क्षारकूपस्तथा

यत्र क्षारमये कूपे जनः क्षिप्यन्ते ॥

तमः ॥४३॥

'तमःसंज्ञो महामोहश्चैतन्यगुणमोहकः'

इति निरुक्तः ॥४३॥

अहीनां निचयश्चैव

भयानककृष्णसर्वमयः ॥

तप्तपाषाण एव च ।

'सुदाहकृज्ज्वलल्लोहपाषाणपरिपूरितः'

इति निरुक्तः ॥

विरूपो रूपवांश्चैव

वैरूप्यप्रद एकः । रूपवद्दुर्लभाभिलषणीयजनदर्शनसंभाषणाभ्यां दुःखासिकाप्रदो द्वितीयः ॥

चित्री चित्रधरस्तथा ॥४४॥

चित्रं श्वित्रिवच्छबलरूपं मुहुर्मुहुरन्यदन्यद् यत्र भूम्ना जुगुप्सापदं जायते। चित्रधरस्तु यत्र जन्तोश्चित्रमेकमेव रूपम् ॥४४॥

कृष्णपिङ्गलरक्तास्यः

कृष्णं पिङ्गलं रक्तमास्यमतीव विभीषणं यत्र ॥

महिषो राक्षसस्तथा।

यत्र भीमैर्महिषैः राक्षसैश्च वित्रास्यमाना जायन्ते ॥

कुब्जः

कुब्जा एव यत्र जायन्ते ॥

उत्तप्ततैलाख्यः

उत्तप्तं तैलमङ्गेषु निषिच्यते यत्र ॥

अशनी वृष्टिमुद्गरौ ॥४५॥

वृष्टिमुद्गरावशनिरूपौ यत्रोपरिष्टात् पततः ॥४५॥

मुसलः

मुसलवृष्टिः ॥

अनातपश्चैव

अनातपः शीत इत्युक्तः। तथा च श्रीपरायाम् —

'शीतः शीतज्वरारम्भः समस्ततनुतापकृत'

इति ॥

यमलाद्रिस्तथैव च।

'युग्माद्रिः कर्कशाश्माद्रिः सन्दंशपरिपीडितः'

इत्युक्तः॥

क्रिमिकूटः

'क्रिमीणां निचयः प्रोक्तः केवलक्रिमिसञ्चयः'

इत्युक्तः। तन्मध्ये यत्र जन्मेत्यर्थः ॥

बहुशाखः शल्मलिश्च फडिस्तथा ॥४६॥

निगडो लोहरज्जुश्च लोहपञ्जर एव च।

फडिः पादबन्धः, निगडः शृङ्खलैकदण्डादिबन्धः, लोहरज्जुः सर्वत्र बन्धाय। एवं लोहपञ्जरः सर्वगात्रनिश्चेष्टत्वोत्पादनाय ॥

तनुभेदश्चोरगश्च वृश्चिकः काल एव च ॥४७॥

यत्र तनोर्देहस्य भेदश्चूर्णनम्। यत्रोरगैर्जना बाध्यन्ते। यत्र वृश्चिकैर्दश्यन्ते। कालः संहर्तृ पुरुषपूर्णः ॥४७॥

वज्रकण: कटाहश्च

तप्तवज्रकणपतिता: कटाहपतिताश्च यत्र जना: ॥

पट्टः

यत्र तप्तैर्लोहपट्टैर्नरा निबध्यन्ते । एष च लोहस्तम्भ इत्यन्यत्रोक्तः । यदुक्तम्—

'लोहस्तम्भो ज्वलल्लोहपट्टकप्लुष्टविग्रहः'

इति ॥

संकुल एव च ।

यत्र संकुले स्थाने निःस्पन्दतयाङ्गक्लेशः ॥

घोरश्चाजगरश्चैव

यत्र घोरा अजगरा ग्रसन्ते ॥

महावैतरणी तथा ॥४८॥

'वैतरण्यां वितार्यन्ते जन्तवः पूयपूरिताः ।
तस्मादसौ नदी घोरा दुर्गन्धा तु वहेत् सदा ॥'

इति । वितारणं पिपासातुराणां जलभ्रान्तिजननम् ॥४८॥

गृद्ध्रश्च कुररश्चैव कुक्कुटश्च प्रमर्दकः ।

गृद्ध्राद्यभिधहिंस्रपक्षिसंकुला एते चत्वारः ॥

कर्दमः

यत्र कर्दममध्ये मग्ना जायन्ते ॥

दुर्दुरश्चैव लम्बोष्ठो वज्रनासिकः ॥४९॥

चिपिटः खञ्जरीटश्च

दुर्दुरो मण्डूकबहलः । लम्बोष्ठादय एतद्रूपभयानकप्राणिबहुला नरकाः । खञ्जरीट एतन्नामकोपघातकपक्षिपूर्णः ॥

शबलो नील एव च ।

शबलो विचित्रो नीलो नीडो यत्र ॥

काकः

विषमकाकपूर्णः ॥

कङ्कमुखश्चैव

कङ्कः सन्दंशः, तदाकारमुखपक्षिमयः ॥

शिवारावस्ततः परः ॥५०॥

यत्र शिवाभिरारावैर्जनात्रास्यन्ते ॥५०॥

गजनादो महानादः सिंहनादस्तथैव च ।

स्पष्टार्था एते त्रयः ॥

महाग्राहस्तथा नक्रो मूषिकाकीटसागरः ॥५१॥

ग्राहा अतिक्रूरा नक्राख्यजलचरविशेषव्यतिरिक्ताः प्राणिनः, ते महान्तो यत्र स महाग्राहः । तथा नक्र इति महानक्रः । मूषिकामयः सागरः । कीटसागरः सूक्ष्मक्रिमिबहुलामेध्यसागरः, यस्तु **श्रीपरायाम्**—

'विण्मूत्रो विट्छिलाशीर्णचूर्णास्यकृतपूरणः'

इत्युक्तः ॥५१॥

अवाक्शिराः

अवाग् अधः शिरः, ऊर्ध्वं तु पादौ यत्र ॥

त्रिरावर्तः

त्रिरावर्तन्ते समन्तात् प्रवर्तन्ते यत्र । यदुक्तं **श्रीपरायाम्**—

'त्रिनिवासः पिपासार्तिबुभुक्षापीडितोदरः'

इति ॥

चक्रपीडनकस्तथा ।

यत्र तिलवज्जनाश्चक्रेण पीड्यन्ते ॥

त्रपुलेपस्त्रपुकूप

गलितत्रपुणा तप्तेन यत्राङ्गानि लिप्यन्ते । यत्र च तादृगेव कूपः ॥

इक्षुयन्त्रः

यत्र इक्षुवज्जनाः पीड्यन्ते ॥

गिरेर्लता ॥५२॥

गिरिप्रभवाभिर्विषलताभिर्यत्र जनास्ताड्यन्ते ॥

कटङ्कटश्च विख्यातः

एतन्नाममहाकटाहप्रख्योऽतिविषमः कूपः ॥

तप्तवालुक एव च ।

यत्रातितप्तासु वालुकासु पापीयांसः संचार्यन्ते ॥

तदेते सचत्वारिंशच्छतसंख्याताः—

एतेऽतिघोरा नरकास्त्रिकोणाः परिकीर्तिताः ॥५३॥

नरकदेशानां संस्थानतस्त्रिकोणत्वमित्यर्थः ॥

एते च—

असत्कर्मरतानां च प्राणिनां पातनाय तु ।

असद् एकादशपटलवक्ष्यमाणात् सामान्यविशेषात्मन स्वस्मात् शास्त्राद्-बहिष्कृतम् ॥

विशेषतस्तु—

निस्त्रिंशकर्मकर्तॄणां शठानां पापिनां तथा ॥५४॥

निस्त्रिंशकर्म परवधादिकम्, शठानां निवारणयाप्यनिवर्तमानानाम्, अत एव प्रागर्जितादेव पापसंस्कारात् पुनरपि पापिनामित्याह ॥

इत्थं चैषाम्—

निर्दयाधमजातीनां परहिंसारतात्मनाम् ।

तथा—

परदाररतानां च

विशेषतः—

शिवशास्त्रस्य दूषिणाम् ॥५५॥

देवद्रव्यापहर्तॄणां ब्रह्मघ्नपितृघातिनाम् ।

गोघ्नानां च कृतघ्नानां मित्रविस्रम्भघातिनाम् ॥५६॥

कृतमुपकारं घ्नन्तीति कृतघ्नाः । मित्रं विस्रम्भेण विश्वासेन घ्नन्तीति तच्छीला मित्रविस्रम्भयघातिनः ॥५६॥

किं च—

सुवर्णभूमिहर्तॄणां शौचाचारनिवर्तिनाम् ।

दयादाक्षिण्यहीनानां पैशुन्यानृतचेतसाम् ॥५७॥

नरकास्तु समाख्यातास्त्वकर्मपथवर्तिनाम् ।

शौचमाचारश्च निजनिजशास्त्रोक्तौ । अन्यथा—

'किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साशुद्धिः शम्भुदर्शने ।

न शुद्धिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेन्नरः ॥' (वि० भै० १२३)

इत्यादिश्रुतेर्निर्विषयत्वं स्यात्—

'जिह्मजेनोपवीतेन' (३।२)

इत्यादि च पूर्वोक्तमवाच्यं स्यात् । अत्र च यथायोगं शरीरमनोवाग्विषयत्वं योज्यम् । एतदेवाकर्मपथवर्तित्वं यत् स्वशास्त्रविरुद्धाचरणम् । प्रकर्षाप्रकर्षयोगाच्चैषां पापानां तदुचितनरकसम्बन्धः ॥

ये तु एतद्विपरीतास्ते—

शुभकर्मरता लोका नरके न पतन्ति हि ॥५८॥

यच्च तेषां संबन्धि सुखं कर्म—

तत्समासेन वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

अनुपूर्वशः—

'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्निबन्धनाः'

इत्युक्तत्वाद् वाचिकादिक्रमेण ॥

तच्च—

सत्यं क्षान्तिरहिंसा च

एतानि वाङ्मनःकायकर्माणि सुखानि ॥

किं च—

शौचं स्नानमकल्कता ॥५९॥
दयालौल्यं च यस्यासौ नरकान्नाधिगच्छति ।

शौचं प्राग्वत् । स्नानं भस्मादिनापि । अकल्कता शुभसंकल्पता । अलौल्यमिन्द्रियाचापलम् ।

शान्तो दान्तः सुहृष्टात्मा त्वनहंकारवान् समः ॥६०॥
अद्रोही चानसूयश्च परैश्वर्ये च निःस्पृहः ।

नरकान्नाधिगच्छतीत्येव । शान्तो जितचित्तः । दान्तो जितेन्द्रियः । अतश्च विषयवैवश्याभावात् सुहृष्टात्मा, निरहंकारश्च । समः शत्रुमित्रादि साम्येन पश्यन् । परैश्वर्ये निःस्पृहः संतुष्टः ॥

किं च—

अमात्सर्यममानित्वं शिवभक्तिरचापलम् ॥६१॥
जपध्यानरतिः स्थैर्यं कार्पण्यस्य च वर्जनम् ।
व्रतानि नियमाश्चैव स्वाध्यायश्च त्रिसंध्यता ॥६२॥
सर्वत्र श्रद्दधानत्वमार्जवं ह्रीर्मनस्विता ।
तेजः प्रशान्तिः संतोषोऽप्रियवाक्यविवर्जनम् ॥६३॥
समीक्ष्यकारिता नित्यं मनोहंकारनिग्रहः ।
अदम्भित्वममायित्वमकल्को ज्ञानशीलता ॥६४॥
पितृदेवार्चने भक्तिर्गोब्राह्मणशरण्यता ।
अग्नौ होमो गुरोर्दानं ज्ञानिनां पर्युपासनम् ॥६५॥
एकान्ते च रतिर्ध्यानमात्मन्येव च तुष्टता ।
अव्यापारः परार्थेषु औदासीन्यमनागसः ॥६६॥
अक्रोधित्वमनालस्यमेते धर्माः प्रकीर्तिताः ।

शिवभक्तिर्मुख्यो धर्मः। अचापलं कर्तव्यविषयारूढिः, विशेषात्तु जपध्यान-विश्रान्ती। तेजः परानभिभवनीयत्वम्। प्रशान्तिः सौम्यदर्शनता। मनोहंकारयोर्निग्रहो यत्र तत्र वर्तनपरिहारः। दम्भो मिथ्याचारता। माया परवञ्चनम्। अकल्कोऽपापचित्तः। परार्थेषु परवित्तेषु, अव्यापारो मनसाप्यचिन्तनम्। औदासीन्यमिति व्यवहारविषयम्। अनागस इत्यनागस्त्वं गुर्वाज्ञादावप्रमादित्वम्। अनालस्यमित्युपादेयानुष्ठानोद्योगः। एते धर्माः शुभा आचाराः ॥

अतश्च—

यस्त्वेतान् भजते भावान् सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥६७॥

शिवे भक्तिरेकैव मोक्षप्रदा किमङ्गैतद्धर्मान्तरसहिता ॥६७॥

यस्मात्—

नश्यन्ति पौरुषाः पाशा येऽप्यनन्ताः प्रकीर्तिताः।
शिवाचाररतानां तु धार्मिकाणां हि देहिनाम् ॥६८॥
तस्मादेवं तु विज्ञाय मनो धर्मे नियोजयेत्।

पुरुषतत्त्वभुवनावसरे पौरुषा ये पाशा वक्ष्यन्ते, तेऽपि शिवभक्तिभाजां नश्यन्ति। धर्म इति प्रोक्तरूपे ॥

किं च—

यस्य चित्तमसंभ्रान्तं निर्विकल्पमकल्मषम् ॥६९॥
स याति परमांल्लोकान्नरकांश्च न पश्यति।

अकल्मषत्वादपापत्वाद् निर्विकल्पं कृत्वा तात्त्विकेऽर्थे समाश्वस्तम्। न पश्यतीति दर्शनमात्रमप्यस्य नास्तीति तदुपभोगे कैव संभावना ॥

यस्य बुद्धिरसंमूढा सर्वभूतेष्वपातकी ॥७०॥
अकल्कवान् सत्त्ववान् यो नरकान् न पश्यति।

असंमूढा निवृत्ताज्ञाना। अकल्कवान् शुद्धाशयः, अत एव सत्त्ववृत्तिनिष्ठः ॥

जितानि येनेन्द्रियाणि मनो यस्य वशे स्थितम् ॥७१॥
तज्जयेन जितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।

सर्वा भोगभूरनेन सुप्रापेत्यर्थः ॥

एतदेव श्लाघते—

स्वकार्ये परकार्ये वा यस्य बुद्धिः स्थिरा भवेत् ॥७२॥
एतदेव हि पाण्डित्यं शेषाः पुस्तकवाचकाः।

स्वकार्यमात्मज्ञाननिष्ठत्वम्, परकार्यं परेषामात्मज्ञाने योजनम् ॥

उपसंहरति—

इत्येष तान्त्रिको न्यायः कथितस्तु समासतः ॥७३॥
अतान्त्रिकाणामन्येषां परिसंख्या न विद्यते ।

तान्त्रिकः परमेशसंहिताप्रसिद्धः । अतान्त्रिकाः धर्मसूत्रकारादिप्रसिद्धाः ॥

असामान्यैराचारैः—

शिवशास्त्ररता ये तु गुरुभक्तिपरायणाः ॥७४॥
परतत्त्वविदो ये तु न तेषां दुरितं भवेत् ।

दुष्टमितमागमनं जन्मेत्यर्थः ॥

एवं प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतमाह—

एतेषां नरकाणां तु प्रधानानि निबोध मे ॥७५॥
पञ्चत्रिंशत्तु नरकाः

यस्मादेत एव—

चतुर्भेदाः प्रकीर्तिताः ।

पञ्चत्रिंशत् चतुर्भिर्गुणिताश्चत्वारिंशदधिकं शतं भवतीत्यर्थः ॥

तदाह—

चत्वारिंशच्छतं ह्येतत् समासात् परिकीर्तितम् ॥७६॥

यस्मात्—

तैर्विशुद्धैर्विशुद्ध्यन्ति पञ्चाशत्कोटयस्तु ताः ।

तैरिति चत्वारिंशदधिकशतसंख्यैः । ता इति पूर्वोपक्रान्ताः ॥

यदि वा—

पञ्चत्रिंशद्यदा वैते द्वात्रिंशद्वा विशोधिताः ॥७७॥
चत्वारिंशच्छतं शुद्धं तदेतत् स्याद्वरानने ।

अवीचीकुम्भीपाकरौरववर्जं वक्ष्यमाणनामानो द्वात्रिंशत् ॥

यद्वा—

त्रिभिः शुद्धैस्तु द्वात्रिंशच्छुद्धा एव भवन्ति हि ॥७८॥

निर्विशेषं न सामान्यमिति स्थित्या सामान्यशुद्ध्या विशेषशुद्धिः, विशेषाणां वा गर्भीकृतसामान्यानां शुद्ध्या सामान्यशुद्धिः । अत्र चायं गुरूणामाशयः—यस्य दीक्ष्यस्य पापभूयस्त्वं निश्चितम्, तस्य वितत्य नरकशुद्धिः कर्तव्या, अन्यस्य तु संक्षेपेणेति प्रघट्टकचतुष्टयेन शुद्धिरत्रोक्ता, किरणायां तु प्रघट्टकत्रयेण । यदुक्तम्—

'चत्वारिंशत्समधिकं यदेतेषां प्रकीर्तितम् ।
द्वात्रिंशत्तत्र राजानो राजराजेश्वरास्त्रयः ॥'

इति । **श्रीमालिनीविजये** कूष्माण्डरुद्रशुद्ध्यैव तच्छुद्धिरुक्तेति प्रक्रिया-भेदः ॥७८॥

अथ—

तेषां नामानि वक्ष्यामि त्रयाणां वरवर्णिनि ।
अवीचिश्चैव विख्यातः कुम्भीपाकश्च दारुणः ॥७९॥
महारौरवराजश्च

अथ—

स्थानं तेषां निबोध मे ।
अधोमध्योर्ध्वभागेषु संस्थितास्ते यथाक्रमम् ॥८०॥

किं च—

व्याप्तिं तेषां प्रवक्ष्यामि यथावदनपूर्वशः ।

द्वात्रिंशन्नरकास्त्रिभिर्यथान्तर्गर्भीकारेण व्याप्ताः, तथेत्यर्थः ॥

अत्र—

नरकैकादशगतमवीचिं शोधयेत् प्रिये ॥८१॥
आत्मना द्वादशं देवि कुम्भीपाकं विशोधयेत् ।
महारौरवसंज्ञं चाप्येवमेव न संशयः ॥८२॥

तानेतान्—

पञ्चत्रिंशत् प्रवक्ष्यामि समासेन वरानने ।
अवीचिः क्रिमिनिचयो नदी वैतरणी तथा ॥८३॥
लोहश्च शल्मलिश्चैवाप्यसिपर्वत एव च ।
सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः पूतिमांसः परस्तथा ॥८४॥
तप्तत्रपुः क्षारकूपो जतुलेपस्तथैव च ।
अन्तर्भूता अवीचौ तु

अवीचिरेव क्रिमिनिचयपदेन विशेषितो न तु पूर्वनिर्दिष्टादसौ व्यतिरिक्तः संख्याधिक्यप्रसङ्गात् ॥

अथ—

कुम्भीपाकस्य श्रूयताम् ॥८५॥
अस्थिभङ्गः क्रकचच्छेदः कूपश्चापि कटङ्कटः ।
वसामिश्रो ह्ययस्तुण्डस्त्रपुलेपः प्रकीर्तितः ॥८६॥
कुम्भीपाकश्च विज्ञेयस्तीक्ष्णासिश्च तथैव च ।
तप्तलोहश्च विज्ञेयः क्षुरधारपथस्तथा ॥८७॥

अशनिश्च सुतप्तश्च द्वादशैते प्रकीर्तिताः ।
एकादशान्तर्विज्ञेयाः कुम्भीपाकस्य दारुणाः ॥८८॥
महारौरवराजे च अत ऊर्ध्वं निबोध मे ।
कालसूत्रो महापद्मः कुम्भः संजीवनेक्षुकौ ॥८९॥
पाशोऽम्बरेषकश्चैव अयःपट्टस्तथैव च ।
दण्डयन्त्रस्त्वमेध्यश्च घोररूपस्तथापरः ॥९०॥
महारौरव एतेषामुपरिष्टाद्व्यवस्थितः ।

वसामिश्र इति यः पूर्वं मेदक उक्तः । अयस्तुण्डस्तु तीक्ष्णतुण्ड इति, तीक्ष्णासिरसिरिनि, कुम्भस्तु कुम्भीर इति, अशनिरित्यशनी वृष्टिमुद्गराविति, पाशोऽप्युरग इति, दण्डयन्त्रो दण्ड इति पूर्वमुक्तः ॥

यदाऽऽदाववीच्यादित्रयमेव शोध्यते, तदा—

अवीचौ क्रिमिनरकान् कुम्भीपाके सुदारुणान् ॥९१॥
महारौरवकेऽमेध्यानन्तर्भूतान् विचिन्तयेत् ।

अथैतैस्त्रिभिर्व्याप्तानाम्—

द्वात्रिंशन्नरकाणां च मानं चैव निबोध मे ॥९२॥

तत्र योजनानाम्—

नवनवतिर्लक्षाणि एकैकस्योच्छ्रयः स्मृतः ।

एते च—

लक्षमात्रान्तरा ज्ञेया द्वात्रिंशच्चाप्यनुक्रमात् ॥९३॥

एवमेतन्मानं द्वात्रिंशत्कोटयो नरकभूः ॥९३॥

अथ—

एतेषामुपरिष्टात्तु प्रभुत्वेन वरानने ।
योगैश्वर्यगुणोपेतः कूष्माण्डाधिपतिः स्थितः ॥९४॥

एष च—

'क्ष्वति क्षितिः समुद्दिष्टा तस्यामूष्मानुलोमतः ।
सोऽण्डे यद्वद्दूरालोकः कूष्माण्डस्तद्वदुद्भटः ॥'

इति **श्रीपरायां** निरुक्तः । अस्य च कुकर्मजनानुशासकत्वात् क्रूररूपत्वं क्रूररूपनिर्वृत्तत्वं च **श्रीपरायामुक्तमतः** समस्तनरकशुद्धिं कृत्वैतच्छ्रावणा कार्या । एवमन्यत्र ॥९४॥

किं च—

नवनवतिर्लक्षाणि पुरं तस्य प्रकीर्तितम् ।

अथ—

तस्योपरिष्टात् पातालान् कथयामि समासतः ॥९५॥
आभासं वरतालं च शर्करं च गभस्तिमत् ।
महातलं च सुतलं रसातलमतः परम् ॥९६॥
सौवर्णमष्टमं ज्ञेयं सर्वकामसमन्वितम् ।

विशेषणमेतत्सर्वसाधारणम् । आ समन्तात् सर्वरत्नादिभिर्भासनात्, वरभोगयोगात्, शर्करावत् स्पृहणीयगुणत्वात् भास्वरत्वात्, महाभोगयुक्तत्वात्, शोभनतलत्वात्, रसास्वादयुक्तत्वात्, सुवर्णमयत्वाच्च एतान्येषां नामानि । यदुक्तं **श्रीपरायाम्**—

**'समन्तात् सर्वरत्नानां भासो यस्माद्विभान्त्यलम् ।
तद्धर्म्याणां च तत्स्त्रीणामाभासं तेन तत्स्मृतम् ॥'**

इत्यादि । शर्कराख्यं तु तत्र नितरां भोगसंपत्त्यादितलमित्युक्तम् ॥

अथ—

आभासाद्यावत् सौवर्णं प्रमाणं कथयामि ते ॥९७॥
सहस्रनवकोत्सेधमेकैकं तु पुरोत्तमम् ।

उत्सेध औन्नत्यम् ॥

तथा—

एकैकस्यान्तरं ज्ञेयं सहस्रपरिसंख्यया ॥९८॥

एवं पातालात्यशीतिसहस्राणि ॥९८॥

किं च—

छत्राकाराणि सर्वाणि तेषां वै भुवनानि तु ।
सर्वकामैः समेतानि गुणैः सर्वैर्युतानि तु ॥९९॥
हेमप्राकारशिखरैश्छत्रध्वजसमाकुलैः ।
किङ्किणीजालमुखरैस्तोरणाट्टालमण्डितैः ॥१००॥
निर्गमैः सगवाक्षैश्च दिव्यवस्त्रविभूषितैः ।
तन्त्रीमुरजवाद्यैश्च गेयतूर्यरवाकुलैः ॥१०१॥
नानाभुवनपङ्क्त्योघैः सर्वरत्नसमुज्ज्वलैः ।
प्रासादैस्तुङ्गशिखरैश्चन्द्रातपसमप्रभैः ॥१०२॥
रथ्यामार्गवरारामैः सदापुष्पफलान्वितैः ।
कोकिलारावमधुरैः शिखिषट्पदसेवितैः ॥१०३॥
हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकोपशोभितैः ।
सारसारावसंघुष्टपद्मिनीषण्डमण्डितैः ॥१०४॥

तडागैः स्वच्छतोयाढ्यैर्दीर्घिकाभिर्युतानि तु ।
पुरुषैश्च महाकायैर्महाबलपराक्रमैः ॥१०५॥
सर्वैश्वर्यस्वरूपाढ्यैः सर्वलक्षणसंयुतैः ।
दिव्यवस्त्रैः सुताम्बूलैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥१०६॥
दिव्याभरणसंयुक्तैर्मुकुटै रत्नमण्डितैः ।

युक्तानीत्येव । मुकुटैरित्युपलक्षितैरित्यर्थः ॥

किं च—

शिवाराधनसक्ता ये तत्प्रसादेन साधकाः ॥१०७॥
ते विशन्ति महादेवि पातालं सिद्धसेवितम् ।

तत्प्रसादेनेति काकाक्षिवद् योज्यम् ॥

विष्ट्वा तु—

रसं रसायनं दिव्यं सिद्धद्रव्यं लभन्ति ते ॥१०८॥

रसं हेमसाधनम् । रसायनं शरीरस्थैर्यहेतुः । सिद्धद्रव्यं पादुकादि । तदुचितसिद्ध्यर्थं लब्ध्वा यथारुचि भुवनानि चरन्तीत्यर्थः ॥१०८॥

ये तु ततो न निर्यान्ति, ते—

क्रीडन्ति चान्ये सततं दिव्यानां योषितां गणैः ।
कामिनः कामरूपैस्तु मत्तमातङ्गगामिभिः ॥१०९॥
सर्वाभरणसंयुक्तैः कामशास्त्रसुपेशलैः ।
दिव्यवस्त्रपरीधानैः स्तनभारसमानतैः ॥११०॥
मध्यक्षामैः प्रसन्नास्यैस्तरलायतलोचनैः ।
सकिङ्किणीनितम्बैश्च हारकेयूरशोभितैः ॥१११॥
सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गैः काञ्चीमेखलमण्डितैः ।
एवं ते कथिता देवि पातालान्तरवासिनः ॥१२२॥

किं च—

त्रयोऽसुरास्तथा नागा राक्षसाश्च विभागतः ।
एकैकत्र च पाताले कथितास्ते वरानने ॥११३॥

कथिता इत्येतदन्यशास्त्रोक्तं श्रीभैरवः श्रीदेवीं स्मारयति । तथा च **श्रीपरायाम्**—

'आभासे शङ्कुकर्णाख्यः कुटिलो विकलः पतिः ।
वरतालेऽपि प्रह्लादो वासुकिर्लोहिताननः ॥
नितले शिशुपालाख्यः कम्बलो यमदंष्ट्रकः ।
गभस्त्याख्ये सकर्कन्धुः कर्कटो विकटाननः ॥

महातले हिरण्याख्यः कालाङ्कश्च कराङ्ककः ।
रसातले बृहद्भोगो दुर्दर्शो भीमनिःस्वनः ॥
षडेतानि त्रिखण्डानि भोग्यान्येभिर्महात्मभिः ।
सुतले संस्थितोऽधस्ताद् बलिस्तक्षकपिङ्गलौ ॥

इत्युक्तम् ॥११३॥

किं च—

पातालसप्तके ज्ञेयास्तथान्ये भुवनाधिपाः ।
बलो ह्यतिबलश्चैव बलवान् बलविक्रमः ॥११४॥
सुबलो बलभद्रश्च बलाध्यक्षश्च कीर्तिताः ।

यतः सप्तसु पातालेषु यथाक्रमं स्थिता एते रुद्रास्ततः—

एतैः शुद्धैरिमे शुद्धाः सप्तपातालवासिनः ॥११५॥

सप्तसु पातालेषु भूम्ना वसनं यैः स्वकर्मार्जितैर्भोगविशेषैः, त इमे प्रोक्ता भोगविशेषाः शुद्ध्यन्तीत्यर्थः ॥११५॥

अतस्तु—

यदूर्ध्वे चैव सौवर्णं पातालं परिकीर्तितम् ।
तत्र वसत्यसौ देवो हाटकः परमेश्वरः ॥११६॥
पुरकोटिसहस्रैस्तु समन्तात् परिवारितः ।
सिद्धै रुद्रगणैर्दिव्यैर्भगिनीमातृभिर्वृतः ॥११७॥

सिद्धैः रुद्रैरिति सिद्धविशेषाप्तरुद्रमूर्तिभिः, भगिन्यो ब्राह्म्याद्यंकोशद्भूता देव्यः, मातरस्तु ब्राह्म्याद्याः, ता हि प्रपञ्चव्याप्त्या परापरभावेन प्रायः सर्वत्र स्थिताः ॥११७॥

किं च—

योगिनीयोगकन्याभी रुद्रैश्चैव सकन्यकैः ।

योगिन्यो योगेन सिद्धाः, योगकन्यास्तु जातमात्रा एव संस्मारितयोगाः ॥

किं च—

सिद्धद्रव्यसमैर्मन्त्रैश्चिन्तामणिरसायनैः ॥११८॥

सिद्धद्रव्यसमत्वं प्राप्तमात्राणामेवाभीष्टप्रदत्वम् । चिन्तामणिभिः रसायनैश्चेत्यर्थः ॥११८॥

तदित्थम्—

सिद्धविद्यासमृद्धं वै हाटकेशस्य मन्दिरम् ।

एतच्च उक्तरुद्राद्युपलक्षणपरम् ॥

हाटकपदं निर्वक्ति—

हठात् प्रवेशयेल्लोकांस्तद्भावगतमानसान् ॥११९॥
तेनासौ हाटकः प्रोक्तो देवदेवो महेश्वरः ।

देवानां बलादीनां देवः, भगवतः श्रीकण्ठस्यैवेत्थं भोगप्रदत्वेनानया मूर्त्या स्थितत्वान्महेश्वरः ॥

एवं चान्तर्भूतपातालसप्तके तत्पुरशुद्धौ हाटकरुद्रोपस्थापनपूर्वं चतुर्थपटलोक्ताध्वसंधानादिसमस्तेतिकर्तव्यतां श्रावणान्तां कुर्यात् । एवं प्रतिभुवनेशमेतदेव स्मर्तव्यम् । तदेवं भूकटाहः कोटिः, कालाग्निरुद्रपुरं कोटिः, तज्ज्वाला दश कोटयः, धूमः पञ्च कोटयः, नरका द्वात्रिंशत्कोटयः, कूष्माण्डपुरं नवनवतिलक्षाणि, पातालमशीतिसहस्राणि, इत्येवं सहस्रविंशत्यूनाः पञ्चाशत्कोटयः । एतावदन्तोऽध्वा कोटिपञ्चाशतैव, शिष्टानि तु—

तस्योर्ध्वे तु सहस्राणि योजनानां तु विंशतिः ॥१२०॥
भूकटाहः समुद्दिष्टः समन्तात्तु वरानने ।

भूकटाहो मनुष्याधारभूः । एवमियदन्तं ब्रह्माण्डस्यार्धम् ॥

अतो भगवती पृथ्वी नानाजनपदाकुला ॥१२१॥
तस्या मध्ये महामेरुः सौवर्णश्च वरानने ।
तस्याचलस्य विस्तारमूर्ध्वाधः कथयामि ते ॥१२२॥

जनपदो लोकानां निवासः ॥१२२॥

तत्र—

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
षोडशैव सहस्राणि अधोभागे प्ररोपितः ॥१२३॥

वैपुल्यमस्याह—

तान्येव मूलविस्तारः

तानीति षोडशैव ॥

द्विगुणो मूर्धविस्तरः ।

द्वात्रिंशन्मूर्धविस्तारोऽस्येत्यर्थः ।

'भैरवीयं च तल्लिङ्गं धरणी चास्य पीठिका' (तं० आ० ८।४५)

इति गुरवः । एष च **श्रीपरायां** कर्णिकाकारमस्तक इत्युक्तः ॥

अथ—

तस्योर्ध्वे तु सभा दिव्या नाम्ना चैव मनोवती ॥१२४॥

चतुर्दश सहस्राणि योजनानां प्रमाणतः ।
सर्वरत्नसुशोभाढ्या स्त्रीसहस्रसमन्विता ॥१२५॥
सर्वभोगगणोपेता ब्रह्मणस्तु महात्मनः ।

ब्रह्मणः सत्यलोकस्थब्रह्मांशावतारस्यास्थानभूः, अतश्च सर्वत्र मध्यं ब्रह्मस्थानमुच्यते ॥

सा च—

सिद्धविद्याधराकीर्णा ऋषिभिः परिवारिता ॥१२६॥
तस्या ईशानदिग्भागे ज्योतिष्कं शिखरं स्मृतम् ।

ज्योतिष्कं स्फाटिकम् ॥

तच्च—

सूर्यकोटिप्रतीकाशं गणप्रथमसेवितम् ॥१२७॥
सर्वर्तुकुसुमोपेतं देवगन्धर्वसेवितम् ।
स्त्रीसहस्रसमाकीर्णं सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ॥१२८॥

गणप्रथमाः प्रधानगणाः ॥१२८॥

तत्रास्ते भगवान् देवस्त्र्यम्बकः परमेश्वरः ।
लोकपालैर्वृतोऽसौ हि ब्रह्मविष्णिवन्द्रनायकः ॥१२९॥
ममांशं तं विजानीयाः सुरसिद्धनमस्कृतम् ।

कैलासवासिन उमापतेरियमुक्तिः ॥

स च तत्र—

अधिकारं प्रकुरुते परेच्छासंप्रचोदितः ॥१३०॥

एवं चाभिदधत् पर एवाहं श्रीसदाशिवेशानन्तश्रीकण्ठरूपतया विष्णुभुवनोर्ध्वस्थरुद्रत्वेन मेरुशिखरगतत्र्यम्बकत्वेन च प्रपञ्चव्याप्त्यावस्थितो न तु पृथक्त्वमेषामित्यादिशति । अधिकारं ब्रह्मविष्णिवन्द्रनायकत्वमेव । एतच्च शृङ्गं प्रधानत्वादिहोक्तम्, न त्वेनदेवास्ति **श्रीचन्द्रगर्भादौ**—

'शृङ्गत्रयसमोपेता ब्रह्मविष्णुहरालयाः'

इति, **श्रीकिरणायां** तु—

'त्रिभिः शृङ्गैः समायुक्तो रुक्मकाञ्चनरत्नजैः ।'

इति प्रतिपादितत्वात् ॥१३०॥

अस्य च मेरोः—

सभाया ब्रह्मणोऽधस्तात् सहस्राणि चतुर्दश ।
योजनानां परित्यज्य चक्रवाटः समन्ततः ॥१३१॥

चक्राकारो वाटः पुरीणां समूहः ॥१३१॥

एष एव च—

स्वर्गाष्टकं समुद्दिष्टं

यतः—

तत्र तिष्ठन्ति लोकपाः ।

इन्द्रादयः ॥

तत्र—

पूर्वेणेन्द्रस्य विख्याता पुरी नाम्नामरावती ॥१३२॥
तेजोवती तथाग्नेय्यां चित्रभानोः प्रकीर्तिता ।
दक्षिणे यमराजस्य नाम्ना संयमनी पुरी ॥१३३॥
कृष्णाङ्गारा तु नैर्ऋत्यां राक्षसेशस्य कीर्तिता ।
पश्चिमेन जलेशस्य नाम्ना शुद्धवती स्मृता ॥१३४॥
वायव्यां तु पुरी वायोर्नाम्ना गन्धवहा प्रिये ।
उत्तरेणापि सोमस्य पुरी नाम्ना महोदया ॥१३५॥
ऐशान्यामीशराजस्य पुरी नाम्ना यशोवती ।

तथा—

एतासामुत्तरे देवि शृणु षड्विंशतिं पुरीः ॥१३६॥
दक्षिणेनामरावत्याः कामवत्यप्सरःपुरी ।
सौवर्णी सिद्धसङ्घानां तस्या वै दक्षिणेन तु ॥१३७॥
तस्या वै दक्षिणेनान्या पद्मरागोपशोभिता ।
आदित्यानां पुरी ख्याता नाम्ना चांशुमती शुभा ॥१३८॥
साध्यानां राजती दिव्या ख्याता वै कुसुमावती ।

दक्षिणेनेत्येव । कामवती रेवत्याः पुरीत्यसत्, कामवती सौवर्णीति हि नामनी ॥

वह्नेः पश्चिमदिग्भागे विश्वेषां रेवती पुरी ॥१३९॥

रेवत्याख्या, विश्वे देवा यत्र स्थिताः ॥१३९॥

तस्यास्तु पश्चिमे देवि दिव्या वै विश्वकर्मणः ।

दिव्येति नाम्ना ॥

पश्चिमे धर्मराजस्य मातृनन्दा पुरी स्मृता ॥१४०॥
क्रीडन्ति मातरस्तत्र मधुपानाविघूर्णिताः ।
रुद्राणां पश्चिमे तस्या रोहिता नाम काञ्चनी ॥१४१॥
तत्र शूलधरा रुद्रा यमस्य परिचारकाः ।
तस्याः पश्चिमतो ज्ञेया नाम्ना गुणवती पुरी ॥१४२॥

एकादशानां रुद्राणां वज्रप्राकारतोरणा ।
निर्ऋतेः पूर्वभागे तु पिङ्गला नाम वै पुरी ॥१४३॥
स्वकर्मसंज्ञा देवेशि पिशाचास्तत्र संस्थिताः ।

स्वेन कर्मणा पिशिताशनेन निमित्तेन संज्ञा येषाम् ॥

नैर्ऋत्युत्तरसामीप्ये पुरी कृष्णावती स्मृता ॥१४३॥
निस्त्रिंशा नाम तत्रैव वसन्ति राक्षसाः सदा ।

नैर्ऋत्या दिश उत्तरं यत्सामीप्यं समीपम्, तत्र ॥

तस्या अप्युत्तरे भागे पुरी हैमी सुखावती ॥१४५॥
मित्रो वसति तत्रैव बहुभृत्यजनावृतः ।

सुखावतीति नाम्ना ॥

तस्या अप्युत्तरे हैमी गान्धर्वी नाम विश्रुता ॥१४६॥
वसन्ति तत्र गन्धर्वा दिव्यकन्यासमावृताः ।
दशकोटिसहस्राणि तेषां संख्या प्रकीर्तिता ॥१४७॥
भूतानां सिद्धसेना तु वरुणस्य तु दक्षिणे ।
हेमसंज्ञा वसूनां तु वरुणस्यापि चोत्तरे ॥१४८॥

वरुणस्येति तत्पुर्याः ॥१४८॥

तस्यास्तूत्तरतो देवि नाम्ना सिद्धवती पुरी ।
सर्वविद्याधराणां तु सा पुरी परिकीर्तिता ॥१४९॥
वातोर्दक्षिणतो देवि सिद्धा नाम पुरी स्मृता ।
वसन्ति किन्नरास्तत्र पुरैर्हेमार्कसप्रभैः ॥१५०॥
वायोः पूर्वेण गान्धर्वी हैमी चित्ररथस्य तु ।
गन्धर्वराजमुख्यस्य दिव्यगन्धर्वनादिता ॥१५१॥
आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषिता ।
ग्रामत्रयपरीधाना जातिमेखलमण्डिता ॥१५२॥
मूर्च्छनातानचित्राङ्गी नानातालकलोदया ।
लक्षणव्यञ्जनोपेता मध्यमेनावगुण्ठिता ॥१५३॥
गन्धर्वैर्गीयमाना सा तत्र देवी सरस्वती ।
नारदाद्यैश्च ऋषिभिर्नागकिन्नरसेविता ॥१५४॥

ग्रामाः षड्जमध्यमगान्धाराः । षाड्जीनन्दयन्त्याद्या जातयोऽष्टादश, ता एव मेखलाः । स्वरा मूर्च्छन्ति गुम्फनया समुच्छ्रायं नीयन्ते याभिस्ता मूर्च्छना उत्तरमन्द्राद्याः,

'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिशब्दिताः' (२८।३४)

इति **भरतनाट्यशास्त्रे** लक्षिता एकविंशतिः, तास्तायन्ते विस्तार्यन्ते यैस्ते तानाः, एकोनपञ्चाशत् पञ्चत्रिंशच्च । यदुक्तं **तत्रैव**—

'षट्पञ्चस्वरकास्ताना' (२८।३४)

इत्युपक्रम्य—

'तत्र मूर्च्छनाश्रयास्तानाश्चतुरशीतिरेकान्नपञ्चाशत्षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत्पञ्चस्वराः' (२८।३५)

इति । तालाश्चञ्चत्पुटाद्या यत्यात्मकाः । कलास्तु तालाक्षररूपा गुरुलघुमात्राः । लक्षणानि—

'भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणे तथा'

इत्यादीनि षट्त्रिंशत् । व्यञ्जनेति व्यज्यन्ते येषु गीतकविशेषेषु तैरुपेता । मध्यमेनेति मध्यमाख्येन स्वरेण श्रव्यतातिशययोगादवगुण्ठिता । नायिकापक्षे रूपकाणां श्लेषच्छाया स्पष्टा ॥१५४॥

तस्याः पूर्वेण चित्रा वै तुम्बुरोर्नारदस्य च ।
सोमस्य पश्चात् प्रमदा गुह्यकानां पुरी स्मृता ॥१५५॥
पूर्वेणैव तु सोमस्य नाम्ना चित्रवती पुरी ।
सर्वधातुमयी चित्रा कुबेरस्य महात्मनः ॥१५६॥

स हि तत्र—

षड्विंशतिसहस्रैस्तु कोटीनां परिवारितः ।
यक्षाणामुत्तमः श्रीमानास्ते भोगैरनुत्तमैः ॥१५७॥

युक्तः ॥१५७॥

तस्याः पूर्वे शुभा नाम्ना जाम्बूनदमयी पुरी ।
तत्र वै कर्मदेवास्तु

च ते—

देवत्वं कर्मणा गताः ॥१५८॥

वाजपेयादिना ॥१५८॥

पश्चिमेनेशराजस्य विष्णोर्वै श्रीमती पुरी ।
तत्रास्ते श्रीपतिः श्रीमानतसीपुष्पसन्निभः ॥१५९॥
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।
ईशस्य दक्षिणे भागे नाम्ना पद्मवती पुरी ॥१६०॥
महापद्मोपविष्टस्य पद्ममालाधरस्य तु ।
पद्मपत्रायताक्षस्य ब्रह्मणः पद्मजन्मनः ॥१६१॥

सत्यलोकनिवासिब्रह्मांशावतारस्य ॥१६१॥

तस्या दक्षिणतो देवि नाम्ना कामसुखावती ।
अश्विनौ तत्र देवेशि

देववैद्यौ ॥

तथा धन्वन्तरिः स्थितः ॥१६२॥

गोवैद्यः ॥१६२॥

उत्तरे त्वमरावत्या महामेघेति विश्रुता ।
विनायकानां सा दिव्या वसतिस्तत्र कल्पिता ॥१६३॥

ते हि पूर्वम्—

दशकोटिसहस्राणि वीर्यवन्तः शुभास्तथा ।
विनायका महादीप्ता अग्निज्वलिततेजसः ॥१६४॥
असुराणां वधार्थाय अङ्गुष्ठान्निर्मिता मया ।

अङ्गुष्ठात् कालाग्निस्थानान्निर्मितत्वाद्दीप्तत्वमेषाम् ॥

उपसंहरति—

एवंविधैरधश्चोर्ध्वं मेरुः पुरवरैर्वृतः ॥१६५॥

ऊर्ध्वं ब्रह्मसभाया ज्योतिष्कगतत्र्यम्बकपुरेण ॥१६५॥

एताश्च—

पुर्यश्च याः समाख्याता मेरोश्चैव समन्ततः ।
पुरकोटिसहस्रैस्तु सर्वास्ता संभृताः प्रिये ॥१६६॥
सर्वैश्वर्यसुसंपूर्णाः सर्वरत्नसमुज्ज्वलाः ।
दिव्यस्त्रीभिः समाकीर्णा दिव्यपुंभिः समाकुलाः ॥१६७॥

तत्र—

आनन्दा सततं देवि देवानां च पुरे पुरे ।
विमाननगरारामैश्चतुरोद्यानमण्डपैः ॥१६८॥
छत्रध्वजपताकाभिर्गजवाजिसमाकुलैः ।
द्वन्द्वभीनन्दिशब्दैश्च शङ्खकाहलनिःस्वनैः ॥१६९॥
गीतनृत्तैस्तथाकीर्णं देवानां मन्दिरं सदा ।

आकीर्णमाकुलम् ॥

अतश्च—

इष्टापूर्तरता देवि ये नरा पुण्यभारते ॥१७०॥
त्र्यम्बकं सकृदर्चन्ति मेरुं गच्छन्ति ते नराः ।

पुष्यजनाश्रये वक्ष्यमाणे भारते वर्षे इष्टापूर्ते रता ये च त्र्यम्बकं महेश्वरं सकृदेकवारं हेलामात्रेणार्चयन्ति ते मेरुं प्राप्नुवन्ति, गृहीतदीक्षास्तु सततं तदर्चापरा मुच्यन्त एव ॥

येऽपि—

गङ्गातोयसुसंसिक्ताः

तेऽपि तत्र—

क्रीडन्ति सुरसत्तमाः ॥१७१॥

प्राप्तप्रधानसुरभावाः ॥१७१॥

एवं श्रुतगङ्गाप्रभावा तज्जिज्ञासार्थं श्रीदेव्युवाच—

कथं गङ्गा समुत्पन्ना सुरसिद्धनमस्कृता ।
कथयस्व प्रसादेन समासात् सुरसत्तम ॥१७२॥

श्रीभैरव उवाच—

गङ्गायाश्च समुत्पत्तिं कथयिष्यामि सुव्रते ।

तां वक्तुमुपक्रमते—

जगन्माता महादेवि मम पत्नी पुरा हि सा ॥१७३॥

मम परया व्याप्त्या विश्वकारणस्य परयैव व्याप्त्या स्थिता पत्नी क्षयाख्या शक्तिरत एव पुरा जगन्माता आदिसर्गे विश्वप्रसरहेतुः ॥

स्वातन्त्र्याद् गृहीतरुद्रलोकाधिष्ठातृरुद्रमूर्तेस्त्वसौ— तैं

मम नेत्रोदकं चैव

आनन्दाश्रु इत्यर्थः ॥

यस्मादाकृतिमत्या प्रणयकेलिवशेन कदाचित्—

करजैश्छादिते मम ।
पुनरुद्घाटिते नेत्रे जगन्मातः पुरा त्वया ॥१७४॥
मन्नेत्रेभ्योऽस्रवत्तोयं त्वदीयाङ्गुलिभिः प्रिये ।

एवं चाभिदवदुमापतिरूर्ध्वस्थरुद्रलोकवर्तिरुद्रभट्टारकाभेद आत्मनः, तत्रस्थदेव्यभेदश्चोमाभट्टारिकाया इत्यादिशति ॥

यच्च तत्तोयमङ्गुलिभिः स्रुतम्, तदेव ॥

दशधा निःसृता गङ्गा

तासां मध्यात्—

कपालावरणे मम ॥१७५॥

सप्तैव संस्थितास्तत्र

कान् प्रजापतीन् पालयतीति कपालो रुद्रस्तदावरणे तल्लोके ब्रह्माण्डोर्ध्व-कपालोपलक्षितावरणे रुद्रलोके इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी ।
वसिष्ठा च वराहा च वरारोहा च सप्तमी ॥
गङ्गा ह्येताः समाख्याता रुद्रलोकवहाः सदा ।' (१०।५५०-५५१)

इति ॥

तिसृणां मध्यात्तु—

एका विष्णुपुरे स्थिता ।
द्वितीया ब्रह्मलोकोर्ध्वे

ब्रह्मलोकस्य सत्यलोकस्य यदूर्ध्वम्—

'कोटियोजनमानेन सत्यलोकोपरि प्रिये ।
ब्रह्मासनमिति ख्यातं जपासिन्दूरसप्रभम् ॥' (१०।५३४)

इति यद् ब्रह्मणो निवासस्थानम्, तत्र ॥

तृतीया सत्यलोकगा ॥१७६॥

तृतीयैव प्राकाम्यवशात्—

स्वर्गे चैव

किं च—

पुनः सा वै संस्थिता सोममण्डले ।

सोमलोके ॥

एषैव तु—

सोमाच्चैव विनिःसृत्य पुराकाशे व्यवस्थिता ॥१७७॥

सोमात् सोमलोकात् ॥१७७॥

ततोऽहं संस्तुतो देवि ब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।

यथा—

गङ्गां नदीं महापुण्यां मर्त्यानां हितकाम्यया ॥१७८॥
अवतार्य महादेव मर्त्यलोकं विसर्जय ।

आकाशादित्यर्थात् ॥

ततो मया सुरेशानि प्रोक्ता सा त्वपराजिता ॥१७९॥
लोकानां तु हितार्थाय आगच्छ सुरसुन्दरि ।

अथासौ—

आगत्य मम मूर्धानं

ममेति ज्योतिष्कशिखरगतस्य ॥

मेरुमूर्ध्नि पुनर्गता ॥१८०॥
तस्मान्निर्गत्य देवेशि चतुर्दिक्षूदधिं गता ।

सा च—

पूर्वे सीता समुद्दिष्टा सुवहा दक्षिणेन तु ॥१८१॥
सुनन्दा पश्चिमे भागे भद्रसोमा तथोत्तरे ।

बहुपर्वतादिव्यवहितचतुर्दिग्गतोदधिप्राप्तिर्गङ्गायाः प्राकाम्यादिति मन्तव्यम् ॥

प्रसङ्गाद्गङ्गामाहात्म्यमुक्त्वा प्रकृतमाह—

मन्दरस्तु महादेवि गन्धमादनसंज्ञकः ॥१८२॥
विपुलश्च सुपार्श्वश्च पूर्वाद्या उत्तरान्तकाः ।
विष्कम्भाश्च समाख्याताः

अवष्टम्भका इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

'एतैर्भुवमवष्टभ्य मेरुस्तिष्ठति निश्चलः' (८।६०)

इति ॥

एषां पर्वतानाम्—

वर्णांश्चैव निबोध मे ॥१८३॥
सितं चैव हरिद्राभं नीलं दाडिमसप्रभम् ।

स्फटिकहेममहानीलपद्मरागसमा एते इत्यर्थः ॥

एषां च पृथङ्मानस्यानुक्तत्वाद् भाविनवसहस्रेलावृताङ्गतैव मन्तव्या । तथा च श्रीकिरणायाम्—

'..........................इलावृतम् ।
मेर्वन्तं चतुरस्रं तु सहस्रनवसंयुतम् ॥'

इति तस्योक्तत्वात्, अर्थात्तदेकदेशता पादपर्वतानाम् ॥

किं च—

प्राग्विष्कम्भसमीपे तु नाम्ना चित्ररथं वनम् ॥१८४॥
तत्रारुणोदकं नाम तडागं पद्ममण्डितम् ।
गन्धमादनसामीप्ये नन्दनं तु महावनम् ॥१८५॥
तस्य मध्येऽम्बुजच्छन्नं मानसं तु सरोवरम् ।
विपुलस्य समीपे तु वैभ्राजं तु महावनम् ॥१८६॥

सितोदं तस्य मध्ये तु तडागं विमलोदकम् ।
वनं पितृवनं नाम स्वपार्श्वस्य समीपतः ॥१८७॥
तस्यान्तस्तु महाभद्रं तडागं च मनोरमम् ।

अत्रैव—

कल्पद्रुमांश्च चतुरः कथयामि निबोध तान् ॥१८८॥
मन्दरेऽथ कदम्बं स्यान्मस्तके तु व्यवस्थितम् ।
सहस्रयोजनायामं शाखापञ्चशतोच्छ्रितम् ॥१८९॥
पुष्पैः कुम्भप्रमाणैश्च भ्राजते तत्सुपुष्पितम् ।

कदम्बं वृक्षः । तच्च शाखाभिः सह सार्धसहस्रयोजनोच्छ्रायम् ॥

तत्प्रमाणा स्मृता जम्बूर्गन्धमादनमूर्धनि ॥१९०॥
तस्याः फलसमूहोत्थो रसो ज्ञेयोऽमृतोपमः ।
तेन जम्बूनदी जाता प्रिये वेगवती भृशम् ॥१९१॥

तेनेति रसेन ॥१९१॥

स च—

मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य जम्बूमूलं विशेत् स्वकम् ।
तत्संपर्कात् समुत्पन्नं कनकं देवभूषणम् ॥१९२॥
तेन जाम्बूनदं लोके ज्ञायते भूषणोत्तमम् ।
तत्र वृक्षलतागुल्माः पक्षिणः श्वापदादयः ॥१९३॥
जाम्बूनदमयाः सर्वे ये चान्ये तत्रवासिनः ।

किं च—

विपुलेऽपि तथाश्वत्थः केतुमाल इति श्रुतः ॥१९४॥

तथेति तत्प्रमाणकः ॥१९४॥

केतुमालसंज्ञां व्याचष्टे—

तस्येन्द्रेणासुरान् जित्वा रत्नमाला प्रलम्बिता ।
तेनासौ केतुमालेति ख्यातः सिद्धनिषेवितः ॥१९५॥

किं च—

न्यग्रोधश्च सुपार्श्वे तु तत्तुल्यः परिकीर्तितः ।

प्रमाणमहत्त्वाभ्याम् ॥

तदित्थम्—

अनेकगुणसंपन्नो मेरुः ख्यातः समासतः ॥१९६॥

अथ यथायं समासत उक्तः—

तत्पार्श्वस्थान् प्रिये देशान् कथयामि समासतः ।

तत्रादौ—

मेरुमध्याच्चतुर्दिक्षु लक्षार्धं तु समासतः ॥१९७॥
लवणोदधिपर्यन्तं जम्बुद्वीपं समन्ततः ।

मेरुमूलमध्यात् पञ्चाशत्सहस्राणि, तत्पार्श्वद्वयकलनया लक्षं भवति ॥

पर्वतान्तरितास्तत्र नव भागा भवन्ति हि ॥१९८॥

तत्रेति जम्बुद्वीपे । भागाः खण्डाः ॥

तथाहि—

दक्षिणे चैव दिग्भागे त्रयो ज्ञेया महीधराः ।
निषधो हेमकूटश्च हिमवानिति ते त्रयः ॥१९९॥

'निषिद्धो यत्र वै तार्क्ष्यः शेषाहिं हन्तुमुद्यतः ।' इति,

'हेमकूटस्तथा सोऽद्रिर्यत्र दत्तः प्रजापतेः ।
सुवर्णस्य महाकूटो यागार्थं धनदेन तु ॥' इति
'.................हिमवान् हिमकूटवान् ।
रत्नाढ्योऽपि हिमप्रायस्तेनासौ हिमवान् गिरिः ॥'

इति **श्रीपरायां** निरूपितम् ॥१९९॥

किं च—

उत्तरे चापि मेरोस्तु नीलः श्वेतोऽथ शृङ्गवान् ।
'शनिस्तत्र सुनीलाभो जातो नीलस्त्वतो गिरिः ।
नीलवच्च गिरिः श्वेतो यत्र श्वेतो महामुनिः ॥
मृत्युना ग्रस्यमानोऽपि रक्षितश्चन्द्रमौलिना ।'

इति,

'श्वेतवच्च त्रिशृङ्गोऽद्रिर्वज्रपातोपमर्दनः ।
त्र्यश्रितस्तेषु शृङ्गेषु किल देवास्त्रयः स्थिताः ॥'

इत्यपि **तत्रैवोक्तम्** ॥

एषां मानमाह—

प्राक्पश्चिमायता ह्येते षडेव तु महीधराः ॥२००॥

पूर्वाब्धेः पश्चिमाब्धिं प्राप्ताः ॥२००॥

तत्रापि—

नीलश्च निषधश्चैव लक्षायामौ प्रकीर्तितौ ।

मध्यासन्नत्वात् ॥

द्वीपवर्तुलतानुपाततस्तु—

श्वेतश्च हेमकूटश्च सहस्रनवतिः स्मृतौ ॥२०१॥
हिमवान् शृङ्गवांश्चैव सहस्राशीतिरेव तु ।

तदेते—

लवणोदधिपर्यन्ताः

पार्श्वमानात्तु—

सहस्रद्वयविस्तृताः ॥२०२॥

किं च—

कैलासयुक्तो हिमवांस्त्रिशृङ्गश्च सजारुधिः ।

हिमवतो मध्ये कैलासः शृङ्गरूपः । यदुक्तं देवीयामले—

'तस्य मध्ये महाशृङ्गं शतयोजनविस्तृतम्'

इत्युपक्रम्य,

'तत्रासावमरैः सार्धं शूली वसति सर्वदा'

इति । शृङ्गवतस्तु जारुधिः संलग्नः ॥

एषां प्रातिलोम्यतो वर्णं निरूपयति—

शृङ्गवांश्चन्द्रकनिभः सितः श्वेतो विराजते ॥२०३॥
नीलरत्नमयो नीलो निषधः पद्मरागभः ।
सौवर्णो हेमकूटश्च हिमाभो हिमवानिति ॥२०४॥

मेरोः पूर्वपश्चिमयोः पर्वतावाह—

पूर्वेण माल्यवान् मेरोः पर्वतस्तु विराजते ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां सुरेश्वरि ॥२०५॥
योम्योत्तरायतो भाति सहस्रं तस्य विस्तृतिः ।
तथैवापरदिग्भागे तत्तुल्यो गन्धमादनः ॥२०६॥

आयामविस्ताराभ्याम् । अयं च दक्षिणस्थाद्विष्कम्भकगन्धमादनादन्यः ।

एतौ च श्रीपरायाम्—

'दृष्ट्वा माल्यानि दिव्यानि ब्रह्मसेवार्थमागतैः ।
संभृतानि यतः सिद्धैर्माल्यवांस्तेन लभ्यते ॥'

इति, तथा च—

'मदमत्ता पुरा दृष्टा माल्या विद्याधरी किल ॥
ऋषिणा नारदेनास्मिन्नाघ्राता मोदभाविता ॥
गन्धो मे मादनो ह्यत्रेत्युक्तस्तद्गन्धमादनः ।'

इति निरुक्तौ ॥२०६॥

एषां सर्वेषामुच्छ्रायमानमाह—

नीलश्च निषधश्चैव माल्यवान् गन्धमादनः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रिताः ॥२०७॥

नीलादयो मेरोः प्रतिप्राकारस्थानीयत्वेन स्थिताः एवंप्रमाणकाः । दक्षिणोत्तरगतानां तु श्वेतश्रृङ्गवद्धेमकूटहिमवतां दशयोजनसहस्रोच्छ्रितत्वम् । यदुक्तं **श्रीमृगेन्द्रोत्तरे**—

'सहस्रद्वयविष्कम्भा दशोत्सेधा नवान्तराः' (१३।५)

इति । एवं दक्षिणोत्तरस्थैस्त्रिभिस्त्रिभिः पूर्वपश्चात्स्थाने च एकैकेनेत्यष्टाभिः पर्वतैर्विभक्तं नवधा जम्बुद्वीपं जातम् ॥२०७॥

किं च—

चतुर्दिक्षु गतौ मेरोर्द्वौ द्वौ सीमान्तपर्वतौ ।

पूर्वादिदिगभिमुखौ समुद्रान्तं प्राप्तौ ॥

तत्र—

जठरो हेमकूटस्तु पूर्वभागे व्यवस्थितौ ॥२०८॥
कैलासो हिमवांश्चैव दक्षभागे व्यवस्थितौ ।
निषधः पारियात्रश्च अपरेण महीधरौ ॥२०९॥
जारुधिः श्रृङ्गवांश्चैव उत्तरेण व्यवस्थितौ ।

पूर्वोक्तहेमकूटादिसमनामानोऽन्य एवामी हेमकूटाद्याः । एते चाष्टावलङ्घ्यत्वान्नवधा विभक्तस्य जम्बुद्वीपस्य नवभागान्तरहेतव इति ॥

पूर्वोक्तपर्वतैर्नवविभक्तेऽत्र नामभेदेन देशविभागमाह—

मेरोः समन्ततो रम्यमिलावृतमुदाहृतम् ॥२१०॥
अधस्ताच्चक्रवाटस्य नवसाहस्रविस्तृतम् ।
योजनानां चतुर्दिक्षु चतुरश्रं समन्ततः ॥२११॥

तेन मध्यवर्तिनः षोडशसाहस्रिकस्य मेरोः पार्श्वद्वयं नव नव सहस्राणीत्याकलय्य दैर्घ्यदिशां चतुस्त्रिंशत्सहस्रमेतद्भवति । अत एव पूर्वपश्चात्स्थयोर्माल्यवद्गन्धमादनयोश्चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि दैर्घ्यमिति युक्तमुक्तम् । अस्य च निर्वचनम्—

**'इला नामाप्सरा दिव्या रूपयौवनशालिनी ।
दृष्टा साम्तरूपेण विचरन्ती मनोहरा ॥
भुजाभ्यामावृता रागात्तेनेलावृतमुच्यते ।'**

इति **श्रीपरायामुक्तम्** ॥२११॥

अत्र च चक्रवाटावृतत्वात्—

नातपो भानुजस्तत्र न च सोमस्य रश्मयः ।
प्रभवन्ति हि लोकानां

किन्त्वेतत्—

मेरोर्भासा प्रभासितम् ॥२१२॥

अत एव—

प्रत्यग्राम्बुजपत्राभा जनाश्चातीव कोमलाः ।
जम्बूरसफलाहारा जरामृत्युविवर्जिताः ॥२१३॥
त्रयोदशाब्दसाहस्रं तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।

अतश्चाकालमृत्युविवर्जिता इत्युक्तं भवति ॥

किं च—

देवगन्धर्वसिद्धाश्च ऋषयोऽथ विनायकाः ॥२१४॥
गणमातृभगिन्यश्च वेताला राक्षसादयः ।
एवमाद्यै रसंख्यातैर्वृतं चैतदिलावृतम् ॥२१५॥

अथ—

गन्धमादनवारुण्यां समुद्रस्य च पूर्वतः ।
केतुमालमिति ख्यातं वर्षं सर्वगुणोत्तमम् ॥२१६॥

मेरुपश्चात्स्थगन्धमादनस्य या वारुणी, सा पश्चिमाब्धेः पूर्वैव भवति ।

उक्तं च **श्रीपरायाम्**—

'देवासुराणामारम्भे दारुणे समुपस्थिते ।
अकस्मात्तत्र केतूनां या माला सहसोत्थिता ॥
ता दृष्ट्वा विबुधा भीताः केतुमालमतो मतम् ।'

इति । वर्षं जनपदः ॥२१६॥

नीलोत्पलदलश्यामा जनास्तत्र सुशोभनाः ।
पनसस्य रसं पीत्वा जीवन्त्ययुतमेव च ॥२१७॥

दश सहस्राणि अयुतम् ॥

किं च—

जयन्तो वर्धमानश्च अशोको हरिपर्वतः ।
विशालः कम्बलः कृष्णस्तत्र सप्त कुलाद्रयः ॥२१८॥

मेरोरग्रे तु—

माल्यवत् पूर्वभागेन समुद्रस्यापरेण तु ।
वर्षं भद्राश्वसंज्ञं च तत्रापि त्वयुतायुषः ॥२१९॥
जनाश्चन्द्रप्रतीकाशाः कालाम्रफलभोजनाः ।

उक्तं च श्रीपरायाम—

'उच्चैःश्रवास्तु भद्राश्वः क्षीरोदमथनोद्गतः ।
तस्मिश्चरति येनाश्वो भद्राश्वं तेन तत्स्मृतम् ॥' इति ॥

किं च—

कौरञ्जः श्वेतपर्णश्च नीलो मालाग्रकस्तथा ॥२२०॥
पद्मश्चैव समाख्यातास्तत्र पञ्च कुलाद्रयः ।

एते च केतुमालभद्राश्वे—

द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि पूर्वपश्चायते स्मृते ॥१२१॥
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि दक्षिणोदक्समायते ।

एवं च केतुमालभद्राश्वे प्राक् पश्चाद् द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत् सहस्राणि, गन्धमादनो माल्यवांश्चैकमेकं सहस्रम्, इलावृतमुभयपार्श्वगतमष्टादश, षोडश मेरुरित्येवं लक्षयोजनं जम्बुद्वीपं पूर्वापरतः । जठरादिसीमान्तपर्वतमानं जयन्तादिकुलपर्वतमानं च तत्रैवैकदेशीभूतत्वान्न पृथग्गणनीयम् ॥

एवं पूर्वपश्चिमयोर्वर्षस्थितिमुक्त्वोत्तरेऽपि तामाह—

वर्षे द्वे तु समाख्याते

समाख्याते इत्युपसंहारोपक्रमयोः काकाक्षिवद्योजनीयम् । पूर्वपश्चाद्गते केतुमालभद्राश्वे समाख्याते ॥

मेरोरुत्तरे तु ये वक्ष्यमाणविभागे कुरुहिरण्मये वर्षे, तयोर्मध्यात्—

कुरुवर्षनिवासिनः ॥२२२॥

कुरवो नाम लोकास्ते

यस्मात्—

कुरुवृक्षफलाशिनः ।

अतश्च—

त्रयोदशसहस्राणि जीवन्ति स्थिरयौवनाः ॥२२३॥
युग्मं युग्मं प्रसूयन्ते वियोगभयवर्जिताः ।

तुल्यकालं जायन्ते, तथैव म्रियन्ते इत्यर्थात् । अतश्च पतिमनुयातानां स्त्रीणामनुजन्म संभाव्यते ॥

किं चात्र—

श्यामापुष्पनिभाः स्निग्धाः सुरूपाः पुरुषाः स्त्रियः ॥२२४॥

स्त्रियश्चेत्यर्थ ॥२२४॥

तथा—

सर्वरत्नमयी भूमिर्हिमवालुकया चिता।

एतच्च कुरुवर्षं पार्श्वमानात्—

नवयोजनसाहस्रं धन्वाकारं प्रकीर्तितम् ॥२२५॥

धन्वाकारमित्यत्र सकारलोपश्छान्दसः। दैर्घ्यादेतच्छृङ्गवत्प्रमाणम्। अनुपातेन वलयाकृत्यवस्थितोत्तराब्धिसमीपगतत्वाद् धनुराकारतैवास्य भवति ॥

सूर्यकान्तेन्दुकान्तौ च द्वौ तत्र कुलपर्वतौ।
कल्पवृक्षः कुरुर्नाम तत्रैव कुसुमोज्ज्वलः ॥२२६॥
तस्य नाम्ना तु तज्ज्ञेयं कुरुवर्षं सुशोभनम्।

श्रीमत्परायाम्—

'रम्यवत् कुरुवर्षाख्यमुपमन्युर्हरेण सः।
कुर्वेवं तु पिब क्षीरं यत्रोक्तस्तेन तत्कुरु ॥'

इति निरुक्तम् ॥२२६॥

अथ—

तस्य चोत्तरदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ॥२२७॥
पञ्चयोजनसाहस्रं चन्द्रद्वीपं प्रकीर्तितम्।
तथा वायव्यदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ॥२२८॥
योजनानां सहस्राणि चत्वार्येव वरानने।
दशयोजनसाहस्रं द्वीपं भद्रं प्रकीर्तितम् ॥२२९॥
भद्राकारमिति ज्ञेयं सर्वकामफलप्रदम्।

चत्वार्येवेत्येवकारात् पूर्वत्राप्यब्धिप्रवेश एतत्संबध्यत एव ॥२२९॥

किं च—

अयुतायुषो जनास्तत्र दिव्यामृतफलाशिनः ॥२३०॥

इत्थमेव—

चन्द्राख्येऽप्ययुतं चायुर्जीवन्ति फलभोजिनः।

एवं शृङ्गवदुत्तराब्ध्यन्तराले कुरुवर्षमुक्त्वा हिरण्मयं वर्षमाह—

श्वेतशृङ्गवतोश्चैव मध्ये ज्ञे हिरण्मयम् ॥२३१॥

हेममयत्वादिहैवमुक्तम्, **परायां तु—**

'यत्र गन्धर्वमुख्येन रमणा रमिता बलात् ।
रमणं तत्परं वर्षम्.....................।।'

इति संज्ञान्तरेणोक्तम् । गन्धर्वमुख्येन चित्ररथेन, रमणाख्या अप्सराः ।।२३१।।

लकुचस्य फलं प्राश्य जनास्तत्रेन्दुसन्निभाः ।
जीवन्त्यब्दसहस्राणि मानेनार्धत्रयोदश ।।२३२।।

अथ—

नीलस्योत्तरदिग्भागे तथा श्वेतस्य दक्षिणे ।
रम्यकं नाम वर्षं तु

एतदपि परायाम्—

'उर्वशी याप्सरा भद्रा दृष्ट्वा चन्द्रमसा किल ।
प्रोक्ता रम्येति तद्वाक्यात्तेनेदं रम्यनामकम् ।।'

इति निरुक्तम् ।।

तत्र च—

न्यग्रोधफलभोजनाः ।।२३३।।
नीलोत्पलदलश्यामा जरारोगविवर्जिताः ।

अतश्च—

द्वादशाब्दसहस्राणि तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।।२३४।।

एतच्च दैर्घ्यमानात् पूर्वमुक्तमपि, पार्श्वतः—

नवसाहस्रविस्तारं रम्यकं च हिरण्मयम् ।

रम्यकं च हिरण्मयं चेत्यर्थः ।।

मेरोरुत्तरे वर्षस्थितिमुक्त्वा दक्षिणे क्रमेणाह —

हेमकूटस्य सौम्येन दक्षिणे निषधस्य तु ।।२३५।।
हरिवर्षं समाख्यातं रौप्याभास्तत्र जन्तवः ।
द्वादशैव सहस्राणि जीवन्तीक्षुरसाशिनः ।।२३६।।
अतीव शोभनं तच्च नवसाहस्रविस्तृतम् ।

एतच्च—

'यत्र नागेन शेषेण हरिराराधितस्तथा'

इति श्रीपरायां निरुक्तम् ।।

अथ—

हेमकूटस्य याम्येन हिमवतस्त्वथोत्तरे ।।२३७।।

वर्षं किंपुरुषं नाम तत्र हेमनिभा जनाः ।
नववर्षसहस्राणि जीवन्ति प्लक्षभोजनाः ॥२३८॥
नवैव तु सहस्राणि विस्तारस्तत्र कीर्तितः ।

किंपुरुषम् । एतदपि—

**'यत्र विद्याधरी रम्या विद्याधरकरच्युता ।
किं त्वया पुरुषस्त्यक्त इत्युक्ता·········॥'**

इति **परायां** निरुक्तम् ॥

अथ—

याम्ये हिमाचलेन्द्रस्य उत्तरे लवणोदधेः ॥२३९॥
भारतं नाम वर्षं तु तत्र चाल्पं सुखं स्मृतम् ।

यतः—

जना रोगभयत्रस्ता दुःखिता मन्दसंपदः ॥२४०॥
सुरूपा मन्दरूपाश्च सुभगा दुर्भगाः परे ।
भोगिनो मन्दभोगाश्च तथान्येऽत्यन्तदुःखिताः ॥२४१॥
गौराः श्यामास्तथा कृष्णा बभ्रवः श्वेतपिङ्गलाः ।
वर्णजातिप्रभेदेन नानाकर्मानुरूपतः ॥२४२॥
चतुर्वर्णा अन्त्यजाश्च जायन्ते भारताह्वये ।

वर्णो ब्राह्मणादिः । जातिः पुलस्त्यपुलहादिगोत्ररूपा । एतदपि वर्षम्—

'भरतेन भृतं दुःखं यत्र पुत्रैः कुमार्गगैः'

इति **श्रीपरायां** निरुक्तम् । एवमेतानि नव वर्षाणि श्रीपरायां निरुक्तानि, इह त्विलावृताद्याख्यस्वाम्यधिष्ठितत्वादिति वक्ष्यति ॥

अत्र च—

स्वदेशभाषायुक्तानि द्वीपद्वीपान्तराणि च ॥२४३॥
पण्डिताश्च तथा मूर्खाः शिल्पविज्ञानिनस्तथा ।
योगिनो ज्ञानिनश्चैव धर्मिष्ठाः पापिनोऽपरे ॥२४४॥
याचकाश्चापि जायन्ते दातारश्चापरे जनाः ।
प्रेष्या दासाश्च बहवो मानवाः सतत प्रिये ॥२४५॥

द्वीपेष्वन्तर्द्वीपानि द्वीपान्तराणि । प्रेष्या विनियोज्या अदासा अपि भवन्ति ॥२४५॥

तदित्थं दोषवत्यपि—

गुणस्त्वेकः स्थितस्तत्र शुभाशुभफलार्जनम् ।

द्वयमप्यत्र संभवति । सचेतसस्तु अशुभवर्जनेन शुभार्जनाय उद्यच्छन्ति । यदुक्तं **श्रीमृगेन्द्रायाम्**—

'गुण एको यदुद्युक्तो नेष्टं किंचिन्न साधयेत्' (१ ३।९२) इति ॥

किं च, भारतवर्जमन्यवर्षेषु—

नाष्टासु विद्यते काचिद्युगत्रयमयी स्थितिः ॥२४६॥

कृतयुगव्यतिरेकेण त्रेतादिमयी ॥२४६॥

तस्मात्—

चतुर्युगवती ज्ञेया भारताख्ये वरानने।

एवं च—

तत्रैव यत्कृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ॥२४७॥
वसन्ति तेन लोकाश्च शिवाद्यवीचिमध्यगाः।

अत्रैव भोगमोक्षसिद्धिसाधनस्वयंभूपुण्यतीर्थमहानदीसंपदस्तीत्याह—

महाकालस्तथैकाम्रमेवमादि वरानने ॥२४८॥
तीर्थानां कोटिरुद्दिष्टा महापुण्यफलोदया।
गङ्गादीनां नदीनां च तत्र पञ्च शतानि च ॥२४९॥

एवमादीत्यादिशब्दात् **श्रीअमरेशादिपञ्चाष्टकानां वाराणस्यादिगतश्रीमहादेवाष्टषष्टेश्च** परिग्रहः। तीर्थानामिति प्रभासादीनाम्। यदुक्तं **श्रीदेवीयामले**—

'प्रभासाद्या तु तीर्थानां कोटिरेका वरानने।
पञ्चाष्टकं तु तत्रैव लोकानुग्राहकं सदा॥' इति ॥२४९॥

कुरुवर्षं च—

नवयोजनसाहस्रं धन्वाकारं निबोध तम्।

भारते च वर्षे—

नव भेदाः स्मृतास्तत्र सागरान्तरिताः प्रिये ॥२५०॥

हिमवद्दैर्घ्येण अवतारितैः सामुद्रैर्वारिभिः कृतव्यवधानाः। अत्र चाष्टमो वारिदेशो बिन्दुसरःसंज्ञः। यद्वक्ष्यति—

'बिन्दुसरःप्रभृत्येव कुमार्याह्व......।' (१०।२५४) इति ॥२५०॥

तदत्र योजनानाम्—

एकैकस्य तु द्वीपस्य सहस्रं परिकीर्तितम्।

जलेन सह मानमेतदित्यर्थः॥

यदाह—

शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं पञ्च जलं तथा ॥२५१॥

एतत् पार्श्वमानम्। दैर्घ्यं तु हिमवद्यथानुपातमर्धं पञ्चशतिकजलव्यवहितत्वात् ॥२५१॥

एवं च—

परस्परमगम्यास्ते

ते इति द्वीपविशेषाः ॥

तेषां नामानि मे शृणु ।
इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रवर्णं गभस्तिमत् ॥२५२॥
नागद्वीपं च सौम्यं च गान्धर्वं वारुणं तथा ।
द्वीपं कुमारिकाख्यं च नवमं परिकीर्तितम् ॥२५३॥

द्वीपाष्टकस्य सागराः सप्त व्यवधायका उक्ताः । नवमस्य त्ववधिनिरूपणेन व्यवधायकमाह—

बिन्दुसरःप्रभृत्येव कुमार्याह्वं प्रकीर्तितम् ।

पूर्वेभ्योऽस्यायं विशेषः, यदयम्—

योजनानां सहस्रं तु

नेतरवत् पञ्चशतिकम् । केवलं साहस्रिकस्यास्य विभागो वारुणान्तस्थेन बिन्दुसरसा कृतः ॥

एतच्च—

नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥२५४॥

वर्णा ब्राह्मणाद्याः ॥२५४॥

किं च—

ये पूर्वोक्ता गुणा लोके भारते वरवर्णिनि ।
ते तत्रैव स्थिता लोके कुमारीसंज्ञके प्रिये ॥२५५॥

गुणाः शुभार्जनस्वयंभूतीर्थपुण्यनद्यधिष्ठानादिरूपाः कुमारीद्वीप एव । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्—

'तत्र मध्ये महद्द्वीपं कुमारीद्वीपसंज्ञकम् ।
तत्र रुद्रशतं पूर्णमवतीर्णं शुभङ्करम् ।
पशूनां हेतुभूतं च स्मरणात् पापनाशनम् ॥'

इति । इन्द्रद्वीपादिस्तु म्लेच्छादिप्रायाणां निवासो देवतातीर्थाद्यनधिष्ठितश्च । तदुक्तमन्यत्र

'वर्णाश्रमसमाचारः कुमार्याख्ये न संशयः ।
इतरे म्लेच्छसंज्ञेयाः शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥' इति ॥२५५॥

अन्यच्च—

भूधराः सप्त विज्ञेयास्तत्रैव तु सुशोभनाः ।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ॥२५६॥

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च भान्त्येते कुलपर्वताः ।

सुशोभनाः सिद्धिसाधनानुगुणाः । कुमालस्थात् पारियात्रादयमन्यः । एवमन्यत्र ॥

अथ—

दक्षसागरमध्यस्थान्युपद्वीपानि षट् प्रिये ॥२५७॥

तान्याह—

अङ्गद्वीपं यवाख्यं च मलयं शङ्खसंज्ञकम् ।
कुमुदं च वराहं च इत्येवं परकीर्तितम् ॥२५८॥

एषां मध्यात्—

कथितो मलयद्वीपे मलयो नाम पर्वतः ।
तस्य पादे त्रिकूटो वै लङ्का तस्योपरिस्थिता ॥२५९॥

पादे पर्यन्ते ॥२५९॥

सा च—

चामीकरमयी शुभ्रा चत्वरोद्यानमण्डिता ।

चत्वरैः शिवाधिष्ठितैश्चतुष्पथैर्मुक्तिदैः, उद्यानैश्च भोगस्थानैर्भूषिताः ॥

तथा—

चित्रप्राकाररचिता वज्रवैडूर्यमण्डिता ॥२६०॥
अनन्तविभवास्तत्र राक्षसा देवकन्यकाः ।
रमन्ते कन्यकासक्ता महाबलपराक्रमाः ॥२६१॥

पराक्रम उत्साहः ॥२६१॥

अन्यच्च—

अगस्त्यशिखरं तत्र मलये भूधरोत्तमे ।
तत्राश्रमो महापुण्य आगस्त्यः स्फटिकप्रभः ॥२६२॥
तत्रान्योन्यविरुद्धास्तु सत्त्वाः क्रीडन्त्यशङ्किताः ।
न तत्र जायते मारी नाकालः संप्रवर्तते ॥२६३॥
न जरा न च शोकश्च नोपसर्गभयं क्वचित् ।

मारी बहुमरणम् । अकालो वर्षातपवैपरीत्यम् । उपसर्गा व्याधयः ॥

किं च—

न वदत्यनृतं कश्चिद्रागद्वेषौ न कुत्रचित् ॥२६४॥
अगस्त्यस्य प्रभावेण त्वज्ञानं दूरतो गतम् ।
तत्र वै ऋषयो वीरा ज्ञानयोगकृताश्रमाः ॥२६५॥

जपाध्ययनहोमादिपूजास्तुतिपरायणाः ।
त्र्यम्बकस्य महादेवि नित्यमाराधने रताः ॥२६६॥
अगस्त्यसहिताः सर्वे मोक्षाभ्युदयवादिनः ।
तिष्ठन्ति भावितात्मानः शापानुग्रहकारिणः ॥२६७॥

मोक्षमेवाभ्युदयं वदन्ति तच्छीलाः । भावितः शिवत्वं प्रापित आत्मा यैः ॥२६७॥

उपसंहरति—

लक्षयोजनविस्तीर्णं जम्बुद्वीपं समन्ततः ।

पूर्वपश्चिमतः प्राग्दर्शितं दक्षिणोत्तरतस्तूच्यते । कुरुहिरण्मयरम्यकहरिकिंपुरुषभारतवर्षाणि षट् प्रत्येकं नवसहस्राणि, इति चतुष्पञ्चाशत्, प्रत्येकं द्विसाहस्रिकाः शृङ्गवच्छ्वेतनीलहेमकूटनिषधहिमवन्तः, इति द्वादश, मेरोः सव्यापसव्यगतमिलावृतमष्टादश, मेरोः षोडश सहस्राणि, इत्येवं लक्षयोजनं जम्बुद्वीपं भवति ॥

अस्य च —

लक्षयोजनविस्तीर्णं लवणाम्भः स्थितं बहिः ॥२६८॥

लवणाम्भः क्षारसमुद्रः ॥२६८॥

तच्च—

त्रिगुणं परिणाहेन स्थितं वै मण्डलाकृति ।

उक्तं च **श्रीमलये**—

'सर्वत्र त्रिगुणो नाहः················।' इति ॥

किं च—

वृत्रारिभयसंत्रस्ताः प्रविष्टास्तत्र पर्वताः ॥२६९॥
द्वादशैव महावीर्यास्तान् ब्रवीमि समासतः ।

वृत्रारिरिन्द्रः ॥

तानाह—

वृषभो दुन्दुभिर्धूम्रः प्रविष्टाः पूर्वभागतः ॥२७०॥
चन्द्रः कङ्कस्तथा द्रोणः प्रविष्टा उत्तरेण तु ।
अशोकोऽथ वराहश्च नन्दनश्च तृतीयकः ॥२७१॥
अपरेण नगास्तत्र प्रविष्टा लवणोदधिम् ।
चक्रो मैनाकसंज्ञश्च तृतीयस्तु बलाहकः ॥२७२॥
दक्षिणेन वरारोहे प्रविष्टाश्चैव भूधराः ।

अत्र च—

चक्रमैनाकयोर्मध्ये तिष्ठेद्वै वडवामुखः ॥२७३॥

तदेवमब्धिपरिवृतम्—

जम्बुद्वीपं समाख्यातं

अथैषां वर्षाणामिलावृतादिनाम कस्वाम्यधिष्ठानादेव ताः संज्ञा इति देवता-संज्ञानामुत्पत्तिहेतुरूपं प्रभवं दर्शयितुमुपक्रमते—

प्रभवस्त्वधुनोच्यते ।

तत्राद्यो भूपतिः—

स्वायंभुवो मनुर्नाम

अभूत् ॥

तस्य पुत्रः प्रियव्रतः ॥२७४॥

तस्याथ दश पुत्रा वै जाता वीर्यबलोत्कटाः ।
अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधा मेधातिथिर्वपुः ॥२७५॥
ज्योतिष्मान् द्यु तिमान् हव्यः सवनः सत्र एव च ।

एषां मध्यात्—

मेधाः सत्रोऽग्निबाहुश्च एते प्रव्रजितास्त्रयः ॥२७६॥
सप्तद्वीपेषु ये शेषा अभिषिक्ता महाबलाः ।

तत्र—

जम्बुद्वीपे तथाग्नीध्रः

तथेत्यभिषिक्तः ॥

तस्य पुत्रा नव स्मृताः ॥२७७॥

नाभिः किंपुरुषश्चैव हरिश्चैव इलावृतः ।
भद्राश्वः केतुमालश्च रम्यकश्च हिरण्मयः ॥२७८॥
नवमस्तु कुरुर्नाम

एते—

नववर्षाधिपाः स्मृताः ।

अग्नीध्रतस्तु जाता वै शूराश्चातिबलोत्कटाः ॥२७९॥
तेषां नामाङ्कितानीह नववर्षाणि पार्वति ।

तत्र भारतं वर्षं प्रथमं नाभिनामाङ्कितमभूत् ॥

पश्चात् तु—

नाभेः पुत्रो महावीर्यो वृषभो धर्मतत्परः ॥२८०॥

तस्यापि हि सुतो ज्ञेयो भरतस्तु प्रतापवान् ।
तन्नाम्नैव तु विज्ञेयं भारतं वर्षमुत्तमम् ॥२८१॥

अथ—

तस्याप्यष्टौ पुनः पुत्रा जाता कन्यापरा प्रिये ।

तेषां मध्यात्—

भारते त्वष्टद्वीपेऽत्र अष्टौ पुत्रा निवेशिताः ॥२८२॥
नवमस्तु कुमार्याह्वः कुमार्याः प्रतिपादितः ।

कन्याप्रतिपादनादेव कुमार्याह्वः ॥

ततश्च—

तेषां नाम्ना तु ते द्वीपा भरतेन प्रकीर्तिताः ॥२८३॥

ये पूर्वम्—

'इन्द्रश्चैव कशेरुश्च' (१०।२५२)

इत्युक्ताः ॥२८३॥

तदेवं सप्तदशधाविभक्तजम्बुद्वीपानुवादपूर्वं द्वीपान्तराण्याह—

जम्बुद्वीपं च शाकं च कुशं क्रौञ्चं च शाल्मलिम् ।
गोमेदं पुष्करं चैव सप्त द्वीपानि पार्वति ॥२८४॥

यैः समुद्रैर्वलयितानि द्वीपानि, तान्—

अधुना संप्रवक्ष्यामि समुद्रांस्तव सुव्रते ।
क्षारः क्षीरं दधि घृतं तथा इक्षुरसोऽपि च ॥२८५॥
मदिरोदश्च स्वादूदः समुद्राः सप्त कीर्तिताः ।

प्रोक्तद्वीपानुसारमेते यथोक्तक्रमेणैव स्थिताः, सर्वेषु पारमेशेष्वेवमेवोक्तत्वात् । तेनेक्षुरससुराघृतदधिक्षीरस्वादूदका इति पातञ्जले यः क्रमो दृश्यते, स लेखकदोषाद्विपर्यस्त इति मन्तव्यम् ॥

अथोक्तजम्बुद्वीपप्रमाणानुवादेनैषां द्वीपसमुद्राणां प्रमाणमाह—

जम्बुद्वीपं स्मृतं लक्षं योजनानां प्रमाणतः ॥२८६॥
परिमण्डलतो ज्ञेयः क्षारोदस्तत्समो बहिः ।

परिमण्डलत इति वैपुल्यात् ॥

एवं द्विगुणवृद्ध्यात्र समुद्रा द्वीपसंस्थिताः ॥२८७॥

संस्थिता इति संशब्दः सहार्थे । तेन शाकादिभिः द्वीपैः सह क्षीरादिसमुद्राः क्रमाद् द्विगुणवृद्ध्या स्थिताः । तद्यथा शाकद्वीपं द्वे लक्ष, तथा क्षीराब्धिः । कुशद्वीपं लक्षाणि चत्वारि, तथैव दध्यब्धिः । क्रौञ्चमष्टौ, तथैव च घृताब्धिः ।

शाल्मलिः षोडश, तद्वदिक्षुरसाब्धिः। गोमेदो द्वात्रिंशत्, तद्वद् मदिराब्धिः। पुष्करश्चतुष्षष्टिः, तथैव स्वादूदः । एतच्च द्वीपसमानत्वमब्धीनामुपसंहरिष्यति—

'पुष्करद्वीपगुणितः स्वादूदोऽन्ते व्यवस्थितः' (१०।३२७)

इति। इत्थं च मेर्वर्धात् स्वादूदान्तं कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षाणि पञ्चाशच्च सहस्राणि भवन्ति। यद्वक्ष्यति—

'पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रिपञ्चाशत्तथैव च।
योजनानां तु लक्षाणि कोटिद्वितयमेव च॥
मेर्वर्धाद्यावत् स्वादूदं प्रमाणं परिकीर्तितम्।' (१०।३२८-३२९)

इति॥२८७॥

तथा च—

अग्नीध्रश्च समाख्यातो जम्बुद्वीपे वरानने।

तथा—

शाके मेधातिथिर्नाम वपुष्मान् कुशसंज्ञके॥२८८॥
राजा क्रौञ्चेऽथ ज्योतिष्मान् शाल्मलौ द्युतिमान् स्मृतः।
गोमेदे हव्यनामा तु सवनः पुष्करे तथा॥२८९॥

किं च—

त्रेतायुगसमः कालः शाकगोमेदवासिनाम्।
तथा वर्णाश्रमाचारा ज्ञेयास्तत्र निवासिनाम्॥२९०॥

तथेति त्रेतायुगानुगुणाः। अन्यत्र विशेषानभिधानाच्चतुर्युगसमत्वं संभाव्यते॥२९०॥

शाकादिद्वीपविभागान्तरमाह—

मेधातिथेः सप्त पुत्राः शाकद्वीपेऽभिषेचिताः।
शान्तोऽभयस्त्वशिशिरः सुखदो नन्दकः शिवः॥२९१॥
क्षेमकश्च ध्रुवश्चेति वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः।

प्रसिद्धवर्षनामानुसारीणि तेषां नामानीत्यर्थः॥

वर्षाणि सप्त ख्यातानि

तत्प्रविभागहेतून्—

पर्वतांश्च निबोध मे॥२९२॥
गोमेदश्चन्द्रसंज्ञश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा।
सोमक ऋषभश्चैव वैभ्राजश्च कुलाद्रयः॥२९३॥

एते च शाकद्वीपस्य पार्श्वमानविभागेन स्थिताः सप्तधात्वं कुर्वन्ति । एवमन्यत्र ॥२६३॥

किं च—

सुकृता चानसूया च सुमुखी च तृतीयका ।
विपाशा त्रिदिवा कुम्भी तथा चामृतनालिका ॥२६४॥
एता एव महानद्यो गिरिष्वेतेषु निर्गताः ।

संस्थिता: सत्य एभ्यो निर्गता इत्यर्थः ॥

एताश्च—

पूर्वादारभ्य निष्क्रान्ताः प्रविष्टाः क्षीरसागरम् ॥२६५॥

अत्र च—

शाकद्वीपे तु ये लोकाः क्षीराहाराः फलाशिनः ।

अतश्च—

चन्द्रकान्तसमाः सर्वे सुरूपाः प्रियदर्शनाः ॥२६६॥
क्रीडन्ति दिव्यनारीभिः सर्वैश्वर्यसमन्विताः ।

तदेवम्—

कुशे वपुष्मता पूर्वं सप्त पुत्रा निवेशिताः ॥२६७॥
श्वेतलोहितजीमूता हरितो वैद्युतस्तथा ।
मानसः सुव्रतश्चेति वर्षनाम्नैव चाङ्किताः ॥२६८॥

अत्र च विभागहेतवः—

कुमुदश्चोर्वदश्चैव वाराहो द्रोणकङ्कतौ ।
महिषः कुसुमश्चैव सप्त सीमान्तपर्वताः ॥२६९॥

अत्र च—

श्वेततोया तथा कृष्णा चन्द्रा शुक्ला च लोचनी ।
वीवृता च विवृन्दा च सप्तैतास्तु सरिद्वराः ॥३००॥
दध्युदकं प्रविष्टास्ता निम्नगाः पावनोदकाः ।
जनास्तु सुखिनस्तत्र दध्नामृतफलाशिनः ॥३०१॥
दिव्यभोगरताः सर्वे क्रीडन्त्येते सयोषितः ।

दध्ना सहामृतमयानि फलानि चाश्नन्ति । एवमुत्तरत्र ॥

ज्योतिष्मता सप्त पुत्राः क्रौञ्चद्वीपे निवेशिताः ॥३०२॥

उद्भिज्जश्च समाख्यातो वेणुर्मण्डल एव च ।
रथकारश्च लवणो धृतिमान् सुप्रभाकरः ॥३०३॥

कपिलश्चेति राजानो वर्षनाम्ना च तेऽङ्किताः ।

अत्रापि विभागहेतवः—

वैद्रुमो हेमनाभश्च द्युतिमान् पुष्पदन्तकः ॥३०४॥
कुशलो हरिमर्दश्च सप्तैते तु कुलाद्रयः ।

तेभ्यः—

मही धाता शिवापापा पवित्र संततद्युतिः ॥३०५॥
दम्भा चेति समाख्याताः सप्तैताः सरितः स्रुताः ।
घृतोदं प्रविशन्त्येताः सर्वाः पापहराः प्रिये ॥३०६॥
जनास्तद्वासिनः सर्वे सुरूपास्तेजसोत्कटाः ।
घृतामृतफलाहाराः सुतृप्ताः स्मरपीडिताः ॥३०७॥
क्रीडन्ति वनितायुक्ताः पद्मपत्रायतेक्षणाः ।

स्मरपीडितत्वं संभोगैकनिष्ठत्वम् ॥

तथा—

सप्त द्युतिमता पुत्राः शाल्मलावभिषेचिताः ॥३०८॥
मनोनुगस्तथोष्णश्च पावनो ह्यन्धकारकः ।
मुनिर्दुन्दुभिनामा च कुशलश्चेति ते स्मृताः ॥३०९॥
वर्षनामानि तेषां वै सप्तानां सप्त तु क्रमात् ।
क्रौञ्चोऽथ वामनश्चैवाप्यन्धकारो दिवाकृतिः ॥३१०॥
द्विबिन्दुः पुण्डरीकश्च दुन्दुभिश्च कुलाद्रयः ।
पौण्डरी कौशिकी गौरी सिद्धा चैव कुमुद्वती ॥३११॥
सन्ध्या रात्री च विख्याता समासात् परिकीर्तिताः ।
नद्यस्ताः शैलनिष्क्रान्ता गच्छन्तीक्षुरसार्णवम् ॥३१२॥
पिबन्तीक्षुरसं तत्र ये जनास्तन्निवासिनः ।
दिव्यकान्तियुताः शान्ताः सुरूपाः प्रियवादिनः ॥३१३॥
नानानारीसमाकीर्णाः सर्वकामसुखोदयाः ।

एवम्—

हव्यराजः सुतान् सप्त गोमोदे चाभ्यषेचयत् ॥३१४॥
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मरीचकः ।
कुमुदश्चोन्नतश्चैव महाभद्र इति स्मृताः ॥३१५॥
तेषां नाम्ना च वर्षाणि अङ्कितानि स्वनामतः ।
उदयः केसरश्चैव जठरोऽथ सुरैवतः ॥३१६॥

श्यामोऽम्बिकेयो मेरुश्च शैलाः सीमान्तगास्त्विमे ।
गभस्ती सुकुमारी च कुमारी नलिनी तथा ॥३१७॥
वेणुका चाप्यथेक्षू च धेनुकेति सरिद्वराः ।
मदिरोदं वहन्त्येताः पुण्याः पुण्यजलोद्वहाः ॥३१८॥
अमृतोपमानि स्वादूनि फलान्यत्र वरानने ।
भक्षयन्ति च तल्लोकाः पिबन्ति मदिरामृतम् ॥३१९॥

मदिरोदमिति 'कालभावगन्तव्याध्वानः कर्मसंज्ञाः' ॥३१९॥

ते च—

सर्वकामसमृद्धाश्च सुरूपा व्याधिवर्जिताः ।
नानायुवतिवृन्दैश्च रूपयौवनगर्वितैः ॥३२०॥
मदालसैः पानमत्तै रमन्ते सततं प्रिये ।
अतश्च पुष्कराख्ये च सवनस्तत्र नायकः ॥३२१॥
द्वौ पुत्रौ तेन विख्यातौ पुष्कराख्ये निवेशितौ ।

वक्ष्यमाणसंज्ञौ ॥

तत्र च—

पर्वतो वलयाकारो मानसोत्तरसंज्ञितः ॥३२२॥
पञ्चाशदुच्छ्रयस्तस्य विस्तारः पञ्चविंशतिः ।
योजनानां वरारोहे

स च—

सर्वरत्नसमन्वितः ॥३२३॥

तेन द्विधाकृते देशे सति—

धातकी मध्यमे राजा महवीतो बहिर्नृपः ।

मध्यम इति भूगोलापेक्षया ॥

अत्र च—

ईर्ष्यया रागतृष्णाभिरीतिभिश्च विवर्जिताः ॥३२४॥

ईतय आधिदैविकदुःखहेतवः ॥३२४॥

अत एव—

सर्वे ते सुखिनस्तत्र तस्मिन् वर्षद्वये जनाः ।

स च पर्वतः—

चक्राकारस्तु बोद्धव्यो मानसस्तु वरानने ॥३२५॥

अथ—

चतुर्णां लोकपालानां पुरीस्त्वत्र ब्रवीमि ते ।

अत्रेति पर्वते ॥

तत्र पूर्वादिक्रमेण—

हरेर्वस्वेकसाराख्या याम्या संयमिनी पुरी ॥३२६॥
सुखाह्वा वारुणी चैव सोमस्य तु विभावरी ।

पूर्वोद्दिष्टस्वरूपमानमेव स्वादोदस्येति स्मारयति ॥

पुष्करद्वीपगु णतः स्वादूदोऽन्ते व्यवस्थितः ॥३२७॥

गुणित इति क्रमद्विगुणवृद्धया चतुःषष्टिलक्षसंख्यो यथा विभक्तं प्राक् ॥

तदित्थं मेरुमध्यात् स्वादूदान्तमुक्तं प्रमाणं संकलयति—

पञ्चाशत्तु सहस्राणि त्रिपञ्चाशत्तथैव च ।
योजनानां तु लक्षाणि कोटिद्वितयमेव च ॥३२८॥
मेर्वर्धाद्यावत् स्वादूदं प्रमाणं परिकीर्तितम् ।

एतत्प्रागेव व्याख्यातम् ॥

ततो हेममयी भूमिर्दश कोट्यो वरानने ॥३२९॥
देवानां क्रीडनार्थाय लोकालोकस्त्वतः परम् ।
पर्वतो वलयाकारो योजनायुतविस्तृतः ॥३३०॥
लक्षमात्रसमुत्सेधो योजनानां वरानने ।

अयुतं दशसहस्राणि ॥

स च—

सर्वरत्नसमोपेतो हेमवर्णः प्रकीर्तितः ॥३३१॥

किं च—

तस्यान्तर्भासयेद्भानुर्न बहिः सुरसुन्दरि ।

लोकोऽन्तःस्थितानां चतुर्दशभूतात्मनां लोकानामालोको यत्र । यद्वा लोकः प्रकाशोऽलोकश्च तमोऽन्तर्बहिश्च यस्य स लोकालोकः, आदित्यस्य लोकालोकसमानोच्छ्रायत्वाद् मेरोस्तदन्तरालवर्तित्वाच्च न तद्बहिर्भासकत्वम् ॥

अन्यच्च—

लोकपालाः स्थितास्तत्र रुद्राश्चामोघशक्तयः ॥३३२॥

च एवार्थे । रुद्रा एव भगवन्तोऽन्तर्वर्तिसमग्रलोकपालास्तत्र स्थिताः, न तु तावदध्वपालने इन्द्रादीनां सामर्थ्यमस्ति, अतो रुद्राणामेवात्र नियोगः । इन्द्रा-

दयस्तु भगवच्छक्तिमयामोघशक्त्या एतद्रुद्रांशाधिष्ठानादेव लोकपाला उच्यन्ते, अत एव भगवदावरणत्वेन पूज्यत्वमेषाम् ॥

एतान्नामत उद्दिशति—

विरजो वसुधामा च शंखपात् कर्दमस्तथा ।
हिरण्यरोमा पर्जन्यः केतुमान् भाजनस्तथा ॥३३३॥

एते—

जाम्बूनदमये शुभ्रे सिद्धामरनिवेशने ।
पूर्वादारभ्य क्रमशो यावदीशानगोचराः ॥३३४॥
लोकपालाः स्थितास्ते वै पालयन्त इमाः प्रजाः ।

सिद्धानां योगिनाममराणां च निवेशनेऽर्ध्वस्थितिधाम्नि । इमा इति, अन्तर्द्वीपवर्तिचतुर्दशविधभूतसर्गात्मनः ॥

तदाह—

अस्य मध्ये वरारोहे योनयस्तु चतुर्दश ॥३३५॥
चेष्टन्ते विविधाकाराः स्वकर्मपरिरञ्जिताः ।

यदुक्तम् —

'तस्यान्तर्भासयेद्भानु' (१०।३३२)

इति, तस्य लोकालोकसंनिकर्षविप्रकर्षोन्मिषितगतिवैचित्र्येण दक्षिणोत्तरायणस्थितिमादिशति —

लोकालोकोपरिष्टात्तु सवितुर्दक्षिणायनम् ॥३३६॥
तथोत्तरायणं तत्र उत्तरेण प्रकीर्तितम् ।

इह मेरुलोकालोकयोरन्तर्वर्तिगगनपथमध्ये संचरन् भूपीठिकाप्रतिष्ठितलिङ्गमूर्तिमेरुमनवरतं परमेश्वरनियतिनियन्त्रितषष्टिघटिकात्मना बाह्यकालेन प्रदक्षिणयन् ध्रुवनाभिनिबद्धभचक्रसंचारिग्रहमध्यगो ग्रहग्रामणीस्तत्तद्राशिसंचारानुसारितत्तद्वृत्तसहभावादाश्रिततीव्रमन्दमन्दादिदीप्तिभेदोऽन्योन्यरूपो भूतसर्गवर्तनीं विचित्रां वर्तयति । अतश्च स विभुः, लोकालोकोपरिष्टादिति तन्नैकट्येन भ्रमणात् । तत्रेति, लोकालोकमेर्वन्तरालवर्तिनि विषये स्थित्वा क्रमात्क्रमं मेरुनिकटाद्बहिर्निःसरणेन भ्रमणात् कर्कटादिराशिषट्कसंचाररूपं दक्षिणायनम्, लोकालोकसंनिकर्षान्मेरुनैकट्येनान्तरन्तः प्रवेशात्मनोत्तरेण भ्रमणान्मकरादिसंचाररूपं तूत्तरायणं भवति । वक्ष्यति हि—

'सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकस्तु दक्षिणे'[1]

---

१. वचनमेतत् ३४० तमश्लोकव्याख्यायां दृश्यते ।

इति । एवं संगतागमिकप्रक्रियैव एतद्व्याख्येयम्, न तु परस्परविसंवादिज्योतिः-शास्त्रमतानुसरणसंगत्या ॥

एवं दक्षिणोत्तरायणस्थितिमुक्त्वोदयास्तमयभेदमाह—

अर्धरात्रोऽमरावत्यामस्तमेति यमस्य च ॥३३७॥
मध्याह्नश्चैव वारुण्यां सौम्ये सूर्योदयः स्मृतः ।
यदैव चामरावत्यामुदयस्तस्य दृश्यते ॥३३८॥
तदास्तमेति वारुण्यामित्यादित्यगतागतम् ।

निर्दिष्टनीत्या मेरुं प्रदक्षिणयतः सूर्यस्य यदा सौम्य इति मेरोरुत्तरे भागे उदयो वारुण्या आगच्छतो दर्शनं तदा मेरुतत्पार्श्वस्थप्रोक्तपर्वतच्छायावशाद् यमस्य दिशि सूर्योऽस्तमेति, न दृश्यते तत्प्रकाश इत्यर्थः । तदैव च वारुण्यां दिशि मध्याह्नः, तत्पूर्वगस्यार्कस्योदयदेशाद् दक्षिणदिशः पञ्चदशघटिकावधेर्गतेः संपन्नत्वात् तदैव त्वमरावत्यामर्धरात्रः, घटिकापञ्चदशकेनात्र सूर्योदयस्य भविष्यत्वात् । इत्थं च यदैवामरावत्यामस्योदयः, तदैव वारुणीवर्तिनां सौरस्य त्रिंशद्घटिकावाहस्य जातत्वाद् वारुण्यां सूर्योऽस्तमेति दिनान्तो जायते, इत्यनेन प्रकारेणादित्यगतागतं विदिक्ष्वपि मन्तव्यम्, प्रतिपादितक्रमस्य उपलक्षणभूतत्वात् ॥

अत्र च—

सुवीथी उत्तरे तस्य अजवीथी च दक्षिणे ॥३३९॥

एतद् व्याचष्टे—

पितृदेवपथो ह्येष कथितस्तु मया तव ।

शोभना वीथी मार्गो देवपथः । न जाता उत्पत्तिस्थाने संप्रति न किमपि प्राप्ता इत्यजाः पितरः, तेषां वीथी पन्था इति यथासंभवं योज्यम् । उत्तरायणस्य दिव्यसिद्धिहेतुत्वाद् देवमार्गता, दक्षिणायनस्य त्वैहिकसिद्धिपूरकत्वात् पितृमार्गतेत्यर्थः । एतच्च कालाधिकारोक्तनीत्याऽन्तरिव बहिरपि ज्ञेयम् । यदुक्तं गीतासु—

'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
अनयोर्यात्यनावृत्तिमेकयावर्ततेऽन्यया ॥' (८।२६)

इति । अन्तरपिहृत्पद्मकर्णिकैव मेरुः, तदुपरिचिज्ज्योतिर्मात्ररूपस्यात्मनो ध्रुवस्थानुलग्नः प्राणादित्यः कालाकारोक्तसकलभचक्रग्रहाद्यनुयातः कर्णिकोपकण्ठगतप्रधाननाडीमुखस्पर्शेन प्रदक्षिणमनारतमावर्तमानस्तिष्ठन् तत्तन्मकरादिसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरदक्षिणादिविभागं दर्शयतीत्युक्तप्रायम् । यतश्च मेरुं (मेरुलोकालोकान्तरालस्थव्योमपथमध्येन) प्रदक्षिणयत्यनिशं दिनेशः, तत एव तदुदयस्थाना-

त्मकपूर्वदिगभिमुखानाम् इलावृतवर्जप्रतिपादितवर्षाष्टकद्वीपान्तरादिस्थानां जनानां[1] सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकस्तु दक्षिण । मेरुं प्रदक्षिणयन् हि भास्कर-तत्पश्चात्केतुमालादिवासिनां मेरोर्दक्षिणन उदेति, तदुत्तरस्थकुरुवर्षादिवासिनां पश्चिमतः, तत्पूर्वभद्राश्वादिवासिनामुत्तरतः, तद्दक्षिणहरिवर्षादिनिष्ठानां पूर्वत इति स्थित्या सर्वेषां द्वीपान्तरगतानामपि मेरुलोकालोकौ उदग्दक्षिणस्थौ भवत इलावृतवर्जम्, तत्रापि वा छायामात्रेण सूर्यप्रकाशानुसारिणी काचिदवस्थिति-रस्तीति कल्पनीयम् ॥

एवं प्रसङ्गाद् दक्षिणोत्तरायणे उदयास्तमयस्थितिं च प्रतिपाद्य प्रकृत-माह—

अस्य बाह्ये तमो घोरं दुःप्रेक्ष्यं जीववर्जितम् ॥३४०॥
पञ्चत्रिंशत्स्मृताः कोट्यो लक्षाण्येकोनविंशतिः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां वरानने ॥३४१॥

लोकालोकविष्कम्भो दश सहस्राण्युक्तः, तैः सह पञ्चाशत् मेर्वर्वाग् जम्बु-द्वीपः । पञ्चाशदित्यनेन लक्षेण प्राक्संकलनासंकलितेन कोटिद्वयेन हेमभूको-टिदशकेन च सह सप्तचत्वारिंशत्कोटयो भवन्ति ॥३४१॥

अथ—

सप्तसागरमानं तु गर्भोदस्तत्समः स्मृतः ।

गर्भेऽन्तः सप्तसागरसंबन्ध्युदकोपलक्षितलोकालोकतमःपर्यन्तं विश्वं तस्य स गर्भोदः । तत्सम इति क्षाराब्धिरसतुल्यः । यदुक्तं परातन्त्रे—

'गदिता येऽब्धयः सप्त तेऽत्र गर्भे यतः स्थिताः ।
प्रथितस्तेन गर्भोदः समस्ताब्धिरसोद्वहः ॥'

इति । स च सप्तानां क्षारादिसागराणामेकलक्षात् प्रभृति द्विगुणवृद्ध्या यन्मानं कोटिरेका सप्तविंशतिर्लक्षाणि तत्तुल्यमानः । एवमियदवधि प्राक्तनेन मानेन सहैकोनपञ्चाशत्कोटयो भवन्ति । ब्रह्माण्डकर्परिका च कोटिरिति पञ्चा-शत्कोटयो मेरुमध्यात् कर्परिकान्तम् ॥

तदाह—

ब्रह्मणोऽण्डकटाहेन युक्ता वै मेरुमध्यतः ॥३४२॥
पञ्चाशत्कोटयो ज्ञेया दशदिक्षु समन्ततः ।

उभयपार्श्वकलनया तु—

एवमेतच्छतं ज्ञेयं कोटीनां पार्थिवं महत् ॥३४३॥

---

१. पूर्वम् (१०।३३७) उद्धृतवचनसामर्थ्यान्मूले स्थापनीयमेतत् ।

पार्थिवमिति पृथ्वीगतं वैपुल्यम् ॥३४३॥

एवं पृथिव्या अधो मध्ये मानमुक्तम्, अधुना तु—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रमाणं वरवर्णिनि ।

ऊर्ध्वमिति भुवर्लोकाधिगतम् ॥

आस्तां वैतत्, भूर्लोकगतभुवनशुद्धौ पूर्वोक्तसंस्कारक्रमं मा विस्मार्षीदुपदेश्य इत्याशयेन तमेव तावत् स्मारयितुमाह—

अथवात्र महादेवि परिपाट्या समन्ततः ॥३४४॥

दीक्षाकाले तु संस्काराः

ये कर्तव्याः

क्रमं तेषां निबोध मे ।

कलादीक्षायां कलोपस्थापनपूर्वं ये संस्कारा उक्ताः, त एवेह भुवनोपस्थापनपूर्वं यद्यपि क्रियन्ते, तथापि शिष्यहितत्वात् परमेश्वरस्तान् स्मारयति वक्तव्यशेषं च योजयति ॥

शक्ति तत्त्वं च भुवनं योनिं चैव निवेशयेत् ॥३४५॥

संस्कृताग्नौ आदावध्वसंधितदवलोकनतदुपस्थापनतत्सांनिध्यानन्तरं शक्तिमाधाररूपां ततोऽपि भुवनाश्रयं तत्त्वं ततोऽपि भुवनेशसहितं भुवनं निवेशयेत् शोध्यत्वेनाभिसंदधीत । ततोऽपि हृदा वागीशीं सर्वयोनिव्यापिकां न्यसेत् ॥३४५॥

ततः—

तेषां गन्धोपचारं तु कृत्वा चैव यथाक्रमम् ।

तेषामित्याधारशक्तितत्त्वभुवनादीनाम् ॥

अत्र च शोधनीयानि भुवनेशसहितानि भुवनानि क्रमेण दर्शयति—

अनन्तं चैव कालाग्नि नरकांश्च यथाक्रमम् ॥३४६॥

पातालानि ततश्चोर्ध्वे शोधयेदनुपूर्वशः ।

नरकानिति प्रोक्तप्रघट्टकमध्यादेकतमेन भेदेन शोधने चात्र कलादीक्षोक्तप्रक्रिया भुवनेशश्रावणान्ता सर्वानुसर्तव्या ॥

इयदन्तं संशोध्य—

उपस्थानं ततः कुर्याद् भुवर्लोकस्य वरानने । ३४७॥

'धामादिः प्रणवादिश्च' (४।१०१)

इत्यादिना मन्त्रेण पूर्वोक्तेन केवलं कलास्थाने भुवनानामप्रक्षेप्यता, उपस्थानं च कलशाद्यग्न्यन्ताधिकरणषट्के न्यसनम् ॥३४७॥

एवं कृत्वा—

ततो वागीश्वरी देवी संपूज्या कुसुमादिभिः ।
ततः पशुस्तु संप्रोक्ष्यस्ताड्यो विश्लेष्य एव च ॥३४८॥

अथास्य—

छेदनं च तथाकर्षो ग्रहणं योजनं ततः ।
गर्भधारित्वजनने अधिकारं तथैव च ॥३४९॥
योगं भोगं लयं चैव ततो योनिविशोधनम् ।

कुर्यात् । सर्वमेतत् प्रागेव व्याख्यातम् ॥

यदुक्तं योनिविशोधनमिति, तत्र ता योनीः—

चतुर्दश समासेन कथयाम्यनुपूर्वशः ॥३५०॥
पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्मं चैवाष्टमं विदुः ॥३५१॥

एतच्चोक्तमेव ॥३५१॥

संहारक्रमयोगेन शोधनीयाः शिवाध्वरे ।

संहारक्रमयोगेन इत्यनेन चेदमाह – यत् स्थावरादि पश्वन्तं तामसं पञ्चकं संशोध्य मानुष्यं शोधयेत् । ततः पैशाचादि ब्राह्मान्तं देवयोन्यष्टकमित्येष एव च क्रमोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥

एवं योन्यष्टकमुद्घाट्य योनिषट्कमप्याह—

पशुपक्षिमृगाश्चैव तथान्ये च सरीसृपाः ॥३५२॥
स्थावरं पञ्चमं चैव षष्टं मानुषयोनिकम् ।

तदेतत्—

देवयोनिसमायुक्तं प्रोक्तं संसारमण्डलम् ॥३५३॥
चतुर्दशविधं चैव

एतच्च—

भूर्लोके तु विशोधयेत् ।

भूर्लोके कर्मानुसारेण एतदर्ज्यते, इत्यत्र विभागेनैतत्सर्वं शोधनीयम्, अन्यत्र तु सामान्येनापीत्याशयः ॥

कस्माच्चैतत् संसारमण्डलमित्याह—

आत्मा संसरति ह्यत्र मायाद्यवनिगोचरे ॥३५४॥
संसारः प्रोच्यते तस्मात् पर्यटेत् स यतस्ततः ।

संसारश्च—

सुखं दुःखं तथा मोहं भुंक्ते चैवाध्वमध्यगः ॥३५५॥
बन्धत्रयसमायुक्तो वामाशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
ईश्वरेण निमित्तेन सृष्टिसंहारवर्त्मनि ॥१५६॥

साक्षान्मन्त्रमहेशादिमुखेन वा ईश्वरेण संसारवमनारूपया स्वया वामाशक्त्याधिष्ठितः परतन्त्रीकृतः, तत एव चाणवादिबन्धत्रयेण समायुक्तः सम्यगाक्रान्तोऽभिभूतः सुखादित्रयं भुञ्जानः ॥३५६॥

पुनः पुनश्चाध्वमध्ये युज्यते स शुभाशुभैः ।

अतश्च—

अध्वमध्ये तु ये पाशा ज्ञेयाश्चानन्तकोटयः ॥३५७॥
प्रधानगुणभेदेन यावच्चानाश्रितं पदम् ।

तदुक्तम्—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४१०) इति ॥

यतश्चैवम्—

तस्मादेवं विजानीयात्

किं च—

अध्वा बन्धस्य कारणम् ॥३५८॥

तदियति संसारमण्डले कर्मैव कारणमित्याह—

चतुर्दशविधं यच्च प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।
तस्य भेदा ह्यनन्ताश्च

ये ते—

भिद्यन्ते कर्मभेदतः ॥३५९॥

तदित्थं संसारमण्डलहेतुभूताः—

कर्मवल्ल्यो ह्यनन्ताश्च कर्मेशानादिकारकाः ।

अनादिमायाशक्तिमुषितमहिमा हि अणुः स्वोपभोगाय चेष्टमानोऽनन्ताभिः कर्मसंततिभिर्बद्धः ॥

न चैतदस्यान्यतः क्वचिदायातम्, अपि त्वपूर्णंमन्यतयैवेत्याह—

आत्मना बद्ध्यते ह्यात्मा

बद्धं च तमसामर्थ्यात्—

मुञ्चेन्नात्मानमात्मना ॥३६०॥

परमेश्वरानुग्रहं विनेत्यर्थात् । मुञ्चेदात्मानमिति पाठो न संगतः ॥३६०॥

एतद्दृष्टान्तेन स्फुटयति—

कोशकारो यथा कीट आत्मानं वेष्टयेद् दृढम् ।
न चोद्वेष्टयितुं शक्त आत्मानं स पुनर्यथा ॥३६१॥
तथा संसारिणः सर्वे बद्धाः स्वैरेव बन्धनैः ।
न च मोचयितुं शक्ताः पशवः पाशबन्धनाः ॥३६२॥
स्वयमेव स्वमात्मानं यावद्वै नेक्षते शिवः ।

अनुग्रहशक्त्या ॥

यतः—

शिवशक्तिनिपातात्तु मुच्यन्ते पाशबन्धनात् ॥३६३॥
अन्यथा नैव जानन्ति स्वरूपं यत्सुनिर्मलम् ।
यत्तत् स्वाभिजनं शुद्धमनौपम्यमनामयम् ॥३६४॥

सुनिर्मलं परमशिवैकरूपम्, अत एव द्वितीयाभावाद् अनौपम्यम्, तथा स्व आत्मैव अभिजनं कारणं यस्य तत्, अनन्यकार्यं स्वतन्त्रवस्त्वित्यर्थः । यस्मात् शुद्धं चिदेकघनमतश्च अनामयं मायासंस्पर्शशून्यम्, यत्तदिति लोकोत्तरम् ॥३६४॥

कस्मादेतत्स्वरूपं न जानन्तीत्याह—

मोहिता मलमोहेन बद्धाः कर्मकलादिना ।
निगूढास्तत्र तिष्ठन्ति काष्ठे वह्निर्यथा तथा ॥३६५॥

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (४।१०५)

इति यः पूर्वमपूर्णमन्यतात्मा स्वरूपाख्यातिरूपो मल उक्तः, स एव मोहोऽज्ञानम्, तेन मोहिता अज्ञीकृताः, अत एव स्वभोगार्जनाय चेष्टमानाः, कर्मणा तदुत्थेन च कलादिना क्षित्यन्तेन च देहाद्यात्मना मायीयेन च मलेन बद्धा अस्वतन्त्रीकृताः, अतश्च तत्रैव पाशबन्धे निगूढा निमग्नप्रोक्तस्वस्वरूपास्तिष्ठन्ति, यथा काष्ठेऽन्तरग्निः ॥३६५॥

स चेत् काष्ठनिगूढः—

उद्धृतस्तु यथा वह्निर्मन्थकस्य वशात् स्फुटम् ।
स्वस्वरूपं प्रपश्येत भास्वरं यत्सुनिर्मलम् ॥३६६॥
अन्येषामपि जन्तूनां तिमिराक्रान्तचक्षुषाम् ।
प्रकाशयति वस्तूनि हत्वा वै रश्मिभिस्तमः ॥३६७॥
तथात्मा तु विजानाति यत्स्वरूपमनादिमत् ।
मन्थकस्य वशाद्देवि नान्यथा तु कथंचन ॥३६८॥

मन्थकस्य वशादित्युक्तिं विभजति—

मन्थकस्त्विह देवेशि स्वयमेव सदाशिवः ।
आचार्यतनुमास्थाय सदा चानुग्रहे स्थितः ॥३६९॥

च एवार्थे ॥३६९॥

मन्त्रा मन्थनवज्ज्ञेया अध्वा चात्रारणिर्यथा ।
वागीशी योनिसंस्थाना धूमो ज्ञेयो मलादिवत् ॥३७०॥
आत्मा वै वह्निवज्ज्ञेयो बोधकस्तु परः शिवः ।

मन्थानं मथनकारणं वैशाखं तद्वन्मन्त्राः, समनान्तोऽध्वाऽरणिः, यदावृत आत्मा वह्निः पूर्वनिर्णीतव्याप्तिदशा वागीशीयोनौ धूमस्थानीयाख्यातिरूपतुच्छ-मलापासनं परमशिवेन प्रबोध्यते गुरुमूर्तिस्थसदाशिवभट्टारकप्रयुक्त्या ॥

अतश्च—

उद्बोधितो यथा वह्निर्निर्मलोऽतीव भास्वरः ॥३७१॥
न भूयः प्रविशेत् काष्ठं तथात्माध्वन उद्धृतः ।
मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मुक्तो विगतक्लमः ॥३७२॥
तत्रस्थोऽपि न बध्येत यतोऽतीव सुनिर्मलः ।

मलादिनिर्मोकादे(वा?व) संसारतया विगतक्लमः तत्रस्थोऽप्युपनतभोगा-तिवाहनमात्रप्रयोजनतस्तन्मध्यवर्त्यपि न बध्येत तदहंभावाभिमानवान् न भवति, अपि तु सुष्ठु निर्मलचिद्घनात्माविष्ट एव सर्वदा ॥

किं च—

रसवह्निसमायोगात्ताम्रं कालिकया यथा ॥३७३॥
विश्लेषितं तु तत्त्वज्ञैर्हेमत्वं प्रतिपद्यते ।
न भूयस्ताम्रतां याति तथात्मा न कदाचन ॥३७४॥

अख्यातिरूपया कालिकया गुरुणा वियोजित आत्मा न पुनर्युज्यत इत्यर्थः ॥३७४॥

अत्र च—

रसवन्मन्त्रशक्तिस्तु क्रिया ज्ञेया तु वह्निवत् ।
तज्ज्ञश्चैव शिवो ज्ञेय शाचार्यतनुविग्रहः ॥३७५॥
आत्मा वै हेमवज्ज्ञेयो मलो ज्ञेयस्तु कालिका ।

क्रिया दीक्षा, तज्ज्ञो रसवह्नियोजनावज्ज्ञानयोगक्रियामयदीक्षासत-त्त्ववित् ॥३७५॥

अतश्च—

मन्त्रद्रव्यक्रियायोगाद्वह्न्याधारे तथा प्रिये ॥३७६॥
गुरुणा तन्त्रविदुषा ह्यात्मा वै निर्मलीकृतः ।
न भूयो मलतां याति शिवत्वं याति निर्मलम् ॥३७७॥

तथेति चतुर्थपटलोक्तप्रक्रियायोजनिकाक्रमेण । तन्त्रविदुषेति तन्त्रज्ञानमत्र पर उपाय इति शिक्षयति ।[1] उक्तं हि—

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।
मन्त्रदानव्रतादेशे शिष्यध्रुङ् नरकी भवेत् ॥'

इति । मलतामित्यपूर्णमन्यतारूपामख्यातिम, शिवत्वं परशिवैक्यम् ॥३७७॥

उपसंहरति—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे दीक्षा कार्या यथा पुरा ।

चतुर्थपटलोक्तक्रमेण । वक्ष्यति हि—

'नास्ति दीक्षासमो मोक्षः' (११।१९९) इति ॥

तत्र च दीक्षायाम्—

शोधयेन्मुख्यपाशांश्च ये प्रोक्तास्ते मया पुरा ॥३७८॥

'मलकर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम्'

इति तन्त्रान्तरे ॥३७८॥

अतश्च—

गुणभूतास्तु ये पाशास्तेऽपि शुध्यन्ति तद्वशात् ।

गुणभूताः मदमोहादयः, तद्वशादित्याणवकार्ममायीयशुद्धिवशात् ॥

किन्तु गुणभूतमपीदम्—

चतुर्दशविधं चैव यदुक्तं तु मया पुरा ॥३७९॥
संसारमण्डलं देवि शोध्यं तदवनीतले ।

शोध्यमिति पृथगेवेत्यर्थः ॥

अतश्च—

तद्वक्ष्यामि क्रमात् सर्वं यथा शोध्यं शिवाध्वरे ॥३८०॥

अदूर एव ॥३८०॥

यच्च—

ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तं प्राधान्येन विशोधयेत् ।

---

१. तन्त्रालोक (२३।२९-३०) समुद्धृतसिद्धातन्त्रवचनेन तुलनीयम् ।

न त्वन्तर्भाविनेत्युक्तम् ॥

तत् क्रमेण तावदुद्दिशति—

ब्राह्मं चैव तु प्राजेशं सौम्यमैन्द्रं तथैव च ॥३८१॥
गान्धर्वं चापरं याक्षं राक्षसं च तथापरम् ।
पैशाचं क्रमतः शोध्यं स्थावरं मानुषं तथा ॥३८२॥

स्थावरं पञ्चविधं तिर्यग्योन्युपलक्षणम् । क्रमत इति संहारक्रमेण ॥३८२॥

यदुक्तम्—

'संहारक्रमयोगेन ते च शोध्याः' (१०।३५२)

इति संहारक्रमेण शोधनं तत्तत्स्थावरादिजातीयमध्यगतप्रधानभूतैकैकक्रमेण प्रस्तावयति—

सप्तच्छदं स्थावराणां सर्पाणां वासुकिं तथा ।
पक्षिणां गरुडं चैव मृगाणां सिंहमेव च ॥३८३॥
पशूनां चैव गोयोनिं

अत्र च देवदत्तात्मने प्राक्कर्मार्जितस्थावरादिजातिप्रधानभूतं सप्तच्छदं शोधयामि स्वाहा, इत्याद्यूहः कार्यः ॥

एवं तैर्यग्योनं पञ्चप्रकारं प्रातिलोम्येन संशोध्य—

मनुष्यांश्च विशोधयेत् ।

तानपि प्रातिलोम्येन ॥

अन्त्यजान् शूद्रविट्क्षत्रब्राह्मणांश्च विशोधयेत् ॥३८४॥

तदेतासु सर्वासु जातिषु—

पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्देवि त्वधिकारान् विशोधयेत् ।

अधिकारान् प्राक्कर्मवशसंभाव्यमानतत्तज्जातिसंबन्धात् ॥

कथम्—

दशाहुतिप्रयोगेण अन्त्यजान् ब्राह्मणावधि ॥३८५॥

'तिस्रः पञ्चदशैका वा' (४।४४८)

इति प्रागुक्तेरिहाद्यमपवादः । तत्र स्थावरादिपश्वन्ते पञ्चकेऽन्त्यजादिब्राह्मणान्ते च पञ्चके प्रातिलोम्येन सद्योजातादय ईशानान्ताः प्रणवपूर्वका मन्त्रा मन्तव्याः ॥३८५॥

ब्राह्मणस्य षट्कर्माधिकारित्वात् तत्तच्छुद्धौ विशेषमाह—

ब्राह्मणस्याधिकाराष्टौ चत्वारिंशतमेव च ।

विशोधयेदित्येव ॥

तान् क्रमेणाह--

गर्भः पुंसवनं चैव सीमन्तो जातकर्म च ॥३८६॥
नाम निष्क्रमणं चैव अन्नप्राशनचूडकम् ।
अनेनैव वरारोहे शोध्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः ॥३८७॥

सीमन्तोऽङ्गोपाङ्गविभागसंपत्तिः, निष्क्रमणमादित्यदर्शनम्, चूडकं शिखाक्लृप्तिः । अनेनैवेति, प्रोक्तक्रमायातविनियोगेनेशानभट्टारककारणकेन दशाहुतिप्रयोगेण ॥३८७॥

अतश्च—

एतैर्निवर्तितैर्देवि ततोऽसौ जायते द्विजः ।

अविप्लुताभ्यां ब्राह्मणाभ्यामेकं वैदिकैर्मन्त्रैः संस्कारैश्च द्वितीयं जन्म द्विजस्य यत्सिद्धं तदुभयमपीहत्यैरेव मन्त्रैः कृतमिति ॥

एवमस्य द्विजस्य—

नवमो व्रतबन्धस्तु

संस्कारः ।

स चाङ्गी परिकीर्तितः ॥३८८॥

यतस्तेनास्य—

अङ्गानि संप्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

तान्याह—

मेखला दन्तकाष्ठं च अजिनं त्र्यायुषं तथा ॥३८९॥
संध्यां वह्न्युपासां च भिक्षां वै सप्तमं विदुः ।

त्र्यायुषं भस्मत्रिपुण्ड्रकम् । एतानि च मेखलाव्रतानि सप्त, एतानि ब्रह्मचारी समाचरेत् ॥

नियन्तॄणि च दृष्टानि दीक्षाकाले वरानने ॥३९०॥

दीक्षाकाले मण्डलोपलक्षितभाविगोदानसमयेऽनिष्पन्नानि सन्त्येतानि नियन्तॄणि प्रथमाश्रमावस्थितेर्लोपो मा भूदित्यवश्यानुष्ठेयानि ॥३९०॥

किं च—

भौतेशं पाशुपत्यं च गाणं गाणेश्वरं तथा ।
उन्मत्तकासिधारं च घृतेशं सप्तमं विदुः ॥३९१॥
सप्तैतानि तु दृष्टानि व्रतानि ब्रह्मचारिणाम् ।

दृष्टानीति पारमेश्वरे शास्त्रे, वेदे तु उच्छिन्नशाखापक्षे स्थितानि, अद्यत्वेऽननुष्ठेयत्वात् ॥

एतानि च —

चर्याव्रतानि बोध्यानि

व्रतसंधावसरे चरणीयानि ।

एतानि च—

अङ्गत्वे कीर्तितानि तु ॥३६२॥

फलेन फलवतो व्रतबन्धाख्यस्य संस्कारस्यैतान्यङ्गभूतानि व्रतान्तराणि ॥३६२॥

अतश्च—

एभिस्तु सहितं ह्येकं नवमं व्रतबन्धनम् ।
तस्यान्तर्भूतमेवैतत् कथितं व्रतसप्तकम् ॥३६३॥

तदेवं मेखलादीनि सप्त, भौतेशादीनि च सप्तेति कृत्वा—

चतुर्दश व्रतान्येवं होतव्यानि वरानने ।

पृथक् पृथक्, न तु व्रतबन्धान्तर्भावमात्रेणेत्याशयः ॥

अथ—

वेदव्रतानि चत्वारि होतव्यानि न संशयः ॥३६४॥

होमेन संपाद्यानि ॥३६४॥

तान्याह—

ऐष्टिकं पार्विकं चैव भौतिकं सौमिकं तथा ।

इष्टिपर्वभूतसोमयज्ञप्रतिपादकवैदिकग्रन्थपाठेन कालकार्याणि व्रतान्यैष्टिकादिशब्दैः पारमेश्वरेषु ग्रन्थेषु उक्तानि । **यज्ञसूत्रे तु—**

'त्रैविद्यं च चतुर्होत्रं गोदानं स्नानमित्यपि ।
वेदव्रतानि चत्वारि......................॥'

इत्येवमुक्तानि । इह तु गोदानं पृथगेव भविष्यति ॥

एते च वेदाध्ययनाधिकारदानेन व्रतान्तरापेक्षया प्राधान्यात्—

व्रतेश्वरास्तु चत्वारो ब्रह्मचारिनियामकाः ॥३६५॥

ब्रह्मचारिणां नियामकास्तथात्वसंपादकाः ॥३६५॥

तदेतावत्पर्यन्तमेतान् संस्कारान्—

त्रयोदश विजानीयात्

एभिरनुष्ठितश्चायं वेदेष्वधिकृत इत्याह—

ततो वै वेदभाजनम् ।

किं च—

ततो भवति गोदानं तच्चतुर्दशकं प्रिये ॥३६६॥

वेदाध्ययनान्ते उपाध्यायाय गोमिथुनदानेनोपलक्षितमात्मनः केशादिवपनं गोदानम् ॥३६६॥

अथ गुरुभिर्गार्हस्थ्यायानुज्ञातः—

स्नात उद्वाहयेद्भार्यां ज्ञानसिद्धः कुमारिकाम् ।

वेदाध्ययनेन लब्धशुद्धिः स्नात उच्यते । अध्ययनान्ते हि स्नानमनेनैवाशयेनाम्नातम्, अत एवायं वेदार्थाधिगमात्मना ज्ञानेन सिद्धः संपूर्णः ॥

अथ वा 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति चोदितत्वात् शीघ्रमेव प्राव्राज्यमिच्छन्—

कृत्वा दर्भमयीं पत्नीं तया सह यजेत् क्रतून् ॥३६७॥

गृहस्थाश्रमचोदितनित्यनैमित्तिकरूपमित्थमुद्वाहात्मकसंस्कारसंपादनरूपमेतत् कर्म—

तज्ज्ञेयं पञ्चदशमं

अनेनैव च—

'पितृदेवमनुष्याणां भूतानां तर्पणं तथा ।
ब्रह्मणोऽध्ययनं चेति महायज्ञास्तु पञ्च वै ॥'

इति यज्ञसूत्रप्रतिपादिता नित्ययज्ञाः संगृहीताः । तदुक्तम्—

'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
खण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यस्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महात्मभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥'

इत्येवमुद्वाहेनैवैते नित्ययज्ञाः संग्रहीता इत्याशयः ॥

नैमित्तिकानाह—

ततः पाकमखाः क्रमात् ।
नैमित्तिकांश्च तानाहुः प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥३६८॥
अष्टकाः पार्वणी श्राद्धं श्रावण्याग्रायणी तथा ।
चैत्री चाश्वयुजी चेति सप्त पाकमखाः क्रमात् ॥३६९॥

पौषादिकृष्णपक्षगताः शाकाद्या अष्टकाः । पार्वणी सितासितपक्षाद्यदिने, तत्रत्यो यागस्तथोक्तः । श्राद्धं पित्र्यादिदिनोक्तो विधिः । श्रावण्यां यागः श्रावणी । आग्रायणी नवान्नयागः । एवं चैत्र्यादिरपि बोद्धव्यः । अन्ये तु आग्रायणीद्वयमिति पठित्वा शरद्वसन्तयोर्नवान्नयागद्वयं व्याचक्षते, ते च पार्वणं श्राद्धमेकमेव वर्णयन्ति । एते च पाकयज्ञा वेदे तु पुरोडाशादिभिः कार्या उक्ताः,

वक्ष्यमाणास्तु हविर्यज्ञाः सक्त्वादिभिः । इह तु विशेषानभिधानात् प्रस्तुतैस्तिलैरेव कार्या इति ज्ञेयम् ॥३९९॥

तदेवम्—

एतैः सह विजानीयाद् द्वाविंशत् परिसंख्यया ।

एतैः सप्तभिः सह पूर्वोक्तान् पञ्चदश संस्कारान् ।

अथ—

आग्नेयं चाग्निहोत्रं च दर्शं चैव ततः परम् ॥४००॥
पौर्णमासी तथा ज्ञेया चातुर्मास्यं तथैव च ।
पशुबन्धः समुद्दिष्टः सौत्रामणिरतः परम् ॥४०१॥
हविर्यज्ञाः समाख्याताः सप्तैते पावनाः प्रिये ।

आग्नेयमरणिक्रमेणाग्न्यानयनम् । अग्निहोत्रं सायंप्रातश्च होमः । दर्शो विपरीतलक्षणयाऽदृश्यमानचन्द्र आमावस्यो यागः । चातुर्मास्यं फाल्गुनात् चैत्राद्वा प्रभृति मासचतुष्टयान्ते पौर्णमासीभवो विशिष्टो यागः । पौर्णमासीशब्देन तु सर्वपौर्णमासीगतः सामान्ययाग उक्तः । पशुबन्धो यागविशेषो यत्र पशोर्मांसवसादि हूयते । सौत्रामणिः सुत्रामदेवताकः सुरायागः ॥

एतानपि संकलयति—

एभिः सह विजानीयात् संस्कारैकोनत्रिंशकम् ॥४०२॥

अथ—

अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमौ उक्थ्यः षोडशिका तथा ।
वाजपेयोऽतिरात्रस्तु आप्तोर्यामस्तु सप्तमः ॥४०३॥

त एते यागविशेषाः—

सोमसंस्था समाख्याताः

ग्रहकरणकसोमपानयुक्ता यज्ञरूपाः क्रियाः सोमसंस्थाः ॥

एतावदन्तानेतान् संस्कारान्—

षट्त्रिंशत् परिसंख्यया ।

प्रोक्तमन्त्राहुतिक्रमेण कुर्यादिति शेषः ।

अथ—

हिरण्यपादः प्रथमस्तथा गुह्यहिरण्यधृत् ॥४०४॥
हिरण्यमेढ्रो हिरण्यनाभिर्हिरण्यगर्भ एव च ।
हिरण्यश्रोत्रो हिरण्यत्वग् हिरण्याक्षस्तथैव च ॥५०५॥
हिरण्यजिह्वस्तच्छृङ्गो दश यज्ञाः प्रकीर्तिताः ।

गर्भो हृदयम् । एते पक्ष्याद्याकारा अग्निचित्याविशेषा येषां पादादिस्थानेषु हिरण्यं दीयते ॥

येषां तत्तत्पक्ष्याद्याकृतिभेदात्—

शतेन तु घृतं चात्र एकैकं तु विजायते ॥४०६॥

एतत्संपत्त्यर्थं होमे विशेषमाह—

एते सर्वे सहस्रेण शुद्ध्यन्ते

स एव सहस्रहोमसंपाद्यो हिरण्यपादादिश्चित्ययज्ञः ।

सप्तत्रिंशकः ।

किं च—

अश्वमेधं ततः पश्चाज्जुहुयात्तु यथाक्रमम् ॥४०७॥

ब्राह्मणस्यापि कर्मवशप्राप्तसार्वभौमभूपतित्वस्यायमश्वमेधः कार्य एव ॥४०७॥

एवं विवाहात् प्रभृति एतावदन्तैः—

एवं कृतैस्तु तैः सर्वैस्ततश्चैव गृही भवेत् ।

द्वितीयाश्रमस्थः ॥

अष्टात्रिंशत्तमं तं तु

अश्वमेधाख्यं संस्कारं जानीयादित्यर्थः ।

वानप्रस्थं ततो भवेत् ॥४०८॥

पारिव्राज्यं ततोऽन्तेष्टिमेवं ब्राह्मण्यमाप्नुयात् ।

वानप्रस्थं पारिव्राज्यं चाश्रमद्वयरूपं संस्कारद्वयम् । अन्तेष्टिर्विहिताननुष्ठानसंभाव्यमानप्रायश्चित्तशुद्ध्यर्थं गार्हस्थ्यावस्थितस्य कार्या, न तु वानप्रस्थस्याश्रितपारिव्राज्यस्य वा, तेनासौ पृथङ् न गण्यते ; एवमिति पारमेश्वरमन्त्रहोमक्रमेण, पाशवे तु विधौ सत्यपि बीजाहारादिदोषसद्भावान्न सम्यग् ब्राह्मण्यं भवति । इदं तु पारिव्राज्यलक्षणं चत्वारिंशत्तमसंस्कारमेतैः सह विजानते, एतैः सह गणितमिति यावत् ॥

अत आत्मगुणानष्टौ कथयामि समासतः ॥४०९॥

दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्तिश्चाप्यनसूयता ।

शौचं चैवमनायासो मङ्गलं चाप्यतः परम् ॥४१०॥

अकार्पण्यं चास्पृहा चेत्यष्टावात्मगुणाः स्मृताः ।

दया परानुकम्पा, **क्षान्तिः** अपकारिषु शक्तत्वेऽप्यप्रतिक्रिया, परगुणसहत्व**मनसूयता**, चित्तवाक्शरीरशुद्धिः **शौचम्**, अक्लेशावहकर्मकारित्व**मनायासः**, मङ्गल्यद्रव्याणां दर्शनस्पर्शनचिन्तनानि **मङ्गलम्**, यथाशक्ति दातृत्व**मकार्पण्यम्**, **अस्पृहा** संतोषः, इत्येते आत्मन आत्मसंनिकृष्टस्यान्तःकरणवागादेर्गुणाः, न त्वात्मनस्तस्य चिदेकरूपत्वात् । तत्र न दीक्ष्यात्मनो ब्राह्मण्याय गर्भाधानं करोमि स्वाहा, इत्यनेन सप्रणवेशानोच्चारपूर्वेण मन्त्रेणादौ पञ्चकृत्वो हुत्वा पुनर्गर्भा-

धानं संपन्नमस्तु, इत्यन्तेन पञ्चकृत्वो जुहुयात्। इत्थमेव चत्वारिंशदन्तान् संस्कारान् निधाय वक्ष्यमाणमन्त्रक्रमेण गुणाष्टकोत्थापनपूर्वं ब्राह्मण्यमस्यापाद्ये-शानेनैवाधिकारभोगादिपूर्वं ब्राह्मण्यमस्य शोध्यम् ॥

इत्थमेव—

चत्वारिंशदथाष्टौ तु संस्काराश्च समासतः ॥४११॥
एतैः शुद्धैस्तु शुद्ध्यन्ति असंख्या येऽपि सुव्रते।

चत्वारिंशद्देहविषयाः, अष्टौ तु पुर्यष्टकनिष्ठाः। असंख्या इत्याचारा-ध्यायोक्तविविधाचाररूपाः ॥

यत एते आत्मगुणाश्चत्वारिंशद्देहसंस्कारानन्तरमुक्ताः—

अतोऽन्तेष्टिं तु हुत्वा वै गुणानापादयेच्छिशो ॥४१२॥

अत्रापि ब्राह्मण्यशुद्धौ सामान्योक्त्येशानमन्त्रस्य विनियोगे प्राप्ते विश्लेषमाह—

पञ्च पञ्चाहुतीर्हुत्वा ब्रह्मभिश्चाप्यनुक्रमात्।

चशब्द एवार्थे, ब्रह्मभिरेव, अपिशब्दात्समुचितोहयुक्तैः। अनुक्रमशब्द-स्यायमर्थः—प्रागुक्तक्रमेण सद्यआदिचतुष्टयेन दयाक्षान्त्यनसूयाशौचाख्यं चतुष्टयं प्रोक्तयुक्त्या पञ्चधा पञ्चधा हुत्वा, ईशानेनानायासमङ्गलाकार्पण्यास्पृहाख्यं चतुष्टयं तथैवाहुतिभिः संपादयेदिति ॥

आहुतिषु करणमाह—

तिलैर्घृतेन वा तांश्च

दत्त्वेति संबन्धः। तिलाः स्नेहमयबीजात्मकाः, आज्यं मूर्तः स्नेह इति। संस्कारबीजानां संस्काराभिलाषस्नेहस्य चैतत्प्र[ति]कृतिरूपं वासनास्नेहदाहात्मके दीक्षाकर्मणि होतव्यम् ॥

एवं कृत्वा—

ऊर्ध्वे तु विनियोजयेत् ॥४१३॥

किमूर्ध्वमित्याह—

ऊर्ध्वशब्देन चाशुद्धं यत्कर्म परिकीर्तितम्।

मनुष्यजातिप्रदस्य कर्मणो भूर्लोके शोधितत्वात् तदुपरिवर्तिदेवयोनिप्रदं कर्म यत्तदूर्ध्वमुच्यते ॥

तच्छुद्धये च दीक्ष्यस्य—

तस्मिन् संयोजनं कार्यं

न तु तं त्यक्त्वान्यत्रेत्याह—

न चान्यत्र विधीयते ॥४१४॥

एतत् स्फुटयति—

तस्मान्नोद्धरणं कार्यं न चापि नयनं क्वचित् ।
यत्तत्र परिपाट्या तु कर्म तत्र नियोजयेत् ॥४१५॥

उद्धरणमुल्लङ्घनम्, नयनमस्य स्थानेऽन्यस्य शोधनं नियोजयेत्, इति दीक्ष्यम् ॥४१५॥

एवं स्थावरादिक्रमेण मनुष्यजातिभेदान् संशोध्य देवयोनीः शोधयितुमाह—

ततोऽणिमादिरापाद्यो ब्रह्मभिश्चाप्यनुक्रमात् ।
पञ्चाहुतिप्रयोगेण भोगार्थं चैवमात्मनः ॥४१६॥

प्राग्वत् संहारक्रमेण प्रणवसद्योजातोच्चारपूर्वं देवदत्तस्य पैशाचाणिमादिमापादयामि स्वाहेत्याहुतीः पञ्च हुत्वा तद्भोगप्राप्तिमस्य संचिन्त्य तेनैव मन्त्रेण पैशाचभोगमस्य शोधयामि स्वाहेति पञ्चाहुतीर्दद्यात् । अनेन क्रमेण वामदेवाघोरतत्पुरुषैः राक्षसयाक्षगान्धर्वान् संशोध्य ऐन्द्रादिब्रह्मान्तचतुष्टयं सत्त्वप्रधानमीशानभट्टारकेणैव शोधयेत् ॥४१६॥

न च मानुष्यादनन्तरं देवयोनीरूर्ध्वस्थाः शोध्याः, इति मत्वा बुद्धितत्त्ववर्तिनीस्ताः शोधयेत्, अपि तु—

ऊर्ध्वशब्देन तज्ज्ञेयं यद्भूर्लोकं समाश्रितम् ।
तस्मिन् युक्तस्य कर्तव्यं न चान्यस्मिन् कदाचन ॥४१७॥

भूर्लोकमाश्रितं भूर्लोके देवयोन्युपपत्तिदं यत्कर्म, तदत्रोर्ध्वं ज्ञातव्यम् । तत्र युक्तस्य भोगार्थं योजितस्य मन्त्रैः कर्तव्यं शोधनमित्यर्थात्, न तु बुद्धितत्त्वे, तत्र सुनन्दकरालादिनामविशेषोच्चारणेन शोधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥४१ ॥

युक्तं चैतत्, अन्यथा क्रमप्राप्तात् शोध्यस्थानाद् दीक्ष्यात्मनि—

अनुद्धृते कथं योगः

न च ततस्तावदुद्धरणं युज्यते—

यावत् कर्म न भुज्यते ।

दीक्ष्येण दीक्षाप्रभावादिति शेषः ॥

यतश्चायं कर्मफलमवश्यं भोजयितव्यः, ततो योजनमस्य तत्तत्कर्मवासनैकतानतामथमाचार्येण भावनया क्रियत इत्याह—

तस्मात्तु योगशब्देन तत्तत्कर्मैकचिन्तना ॥४१८॥
निवर्त्यते महादेवि

अथ—

निष्कृतिं जुहुयात्ततः ।

शिवेनाष्टशताहुत्या

शिवेनेति निष्कलेन । एतच्चतुर्थपटल एव निर्णीतं तथा वक्ष्यमाणमपि ॥

यदाह—

ततस्तु भुवनाधिपान् ॥४१९॥
भुवनान्तर्निवासांश्च भुवनानां यथाक्रमम् ।
होमेनैव तु संशोध्य विश्लेषं छेदनं तथा ॥४२०॥
पूर्णां चैव समुद्धारं तत्स्थत्वं चाप्यनुक्रमात् ।

कुर्यादिति शेषः । भुवनानां शोधने प्रस्तुते भुवनेशान् कालाग्न्यादीन् प्रधानभूतान् भुवनान्तर्वासिनश्चान्यानपि तदङ्गभूतानाहूय आहुतिभिः स्मर्तव्यश्रावणादिपूर्वं विसर्जयेदिति । तेषां शोधनं कृत्वा भुक्तेभ्यो भोगेभ्यो दीक्ष्यस्य विश्लेषो वियोजनम्, छेदनं तु सूत्रस्य भुवनात्मनः पाशस्य, समुद्धारं ततो भुवनात्, तत्स्थत्वं शिष्यहृन्निवेशमित्यादि पूर्वमेव निर्णीतम् । यथाक्रममिति वदन्नुद्धारादनन्तरमात्मस्थीकरणम्, ततस्तत्स्थीकरणम्, ततो भुवनेशाह्वानमिति प्रागुक्तमेव क्रमं स्मारयति भूर्लोकेशाधिपतिर्भगवान् शर्व इत्यग्रे भविष्यति ॥

किं च—

प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा न्यूनाधिकनिमित्ततः ॥४२१॥

उत्तरं कर्म कार्यमिति शेषः ॥४२१॥

एतत्सर्वं भूर्लोकोक्तं भुवनान्तरशुद्धावप्यतिदिशति—

एवमादिक्रमेणैव धामान्तं च विशोधयेत् ।

धाम समनावधिकशिवतत्त्वरूपं तदन्तम् । यदुक्तम्—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (स्व० ४।४१०)

इति । एवमादिक्रमेणेति, प्रोक्षणादिपूर्वं शिष्यात्मनस्तत्र प्रागुक्तसंस्कारान्तरोपस्कृतान् जन्माधिकारभोगलयनिष्कृतिविश्लेषपाशच्छेदपूर्णाहुत्युच्चारात्मस्थतत्स्थत्वसंस्कारान् कृत्वा भुवनेशाह्वानतर्पणश्रावणाविसर्जनादियुक्त्येत्यर्थः ॥

तदेतत् प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुबध्नाति—

भूर्लोकस्तु समाख्यातो भुवोलोकं निबोध मे ॥४२२॥
भूपृष्ठाद्यावदादित्यं लक्षमेकं प्रमाणतः ।

तत्र च—

दश वायुपथा मध्ये त्वयुतायुतसंख्यया ॥४२३॥

अयुतं दश सहस्राणि, अयुतायुतमन्तरमिति पाठे तेषामयुतायुतमन्तर्निवासस्थानमिति व्याख्येयम् ॥४२३॥

तत्र—

आद्ये वायुपथे मेघान् कथयामि यथास्थितान् ।

परमेश्वरेच्छानियमितवायुविततविहरणोपभोगभूमयो वायुपथाः ॥

तत्र—

पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वमृतर्द्धिर्नाम मारुतः ॥४२४॥
यो विवर्धयते पुष्टिमोषधीनां बलं तथा ।
बृंहयेच्च महीं सर्वामाप्याययति चाव्ययः ॥४२५॥

अव्यय इति सदा आप्यायादि कुर्वन्नपि न क्षीयते ॥४२५॥

किं च—

दिवा हंसः स वै वायुर्मनुजानां सुखावहः ।

स एव—

यतो गृद्ध्रान् धारयति तेन गृद्ध्रधरः स्मृतः ॥४२६॥

एक एवायं नानासंज्ञो नानाव्यापारश्चेत्यर्थः ॥४२६॥

तदुपरि—

प्राचेतसो नाम वायुः प्रचेतोऽभिविनिर्मितः ।
स वै नाशयते वृक्षान् कदाचित् संप्रवर्तयेत् ॥४२७॥

प्रचेतसा वरुणेनाभिविनिर्मित उत्पादितः । नाशयते दहति । प्रवर्तयत्युद्भिन्नाङ्कुरान् संपादयति ॥४२७॥

वायोः कथं दाहकत्वमित्याह—

अग्निः प्राचेतसो नाम तेनैव सह तिष्ठति ।

तत्साहित्यादसौ—

यदा दहति वेश्मानि तदासौ समुदाहृतः ॥४२८॥

एतन्नामैवेत्यर्थः ॥४२८॥

अयं चाग्निर्वडवात्मेत्याह—

सुखी समुद्रे वसति

अयत्नोपनतनानानीरपानाशनः ॥

वसंश्चात्र—

स जलान्नोपशाम्यति ।

प्रत्युत ज्वलति ॥

अथ—

योजनानां शतादूर्ध्वं सेनानीर्वायुरुच्यते ॥४२९॥

'नीचवायुरिति स्मृतः' इति केचित्पठन्ति । शतादूर्ध्वमित्यत्रायमाशयः—भूपृष्ठात् पञ्चाशद्योजनोर्ध्वं योजनपञ्चाशति ऋतर्द्धिः, प्रचेताश्च पञ्चाशति ॥४२९॥

विद्युद्वन्तो मूकमेघा वसन्त्यस्मिंश्च मारुते ।

चो ह्यर्थे ॥

ते भुवः क्रोशमात्रेण तिष्ठन्तोऽपसृजन्त्यपः ॥४३०॥
योजनानां शतादूर्ध्वं मेघाः सत्ववहाः स्मृताः ।
मत्स्यमण्डूककूर्मांश्च वर्षन्त्येते च दुर्दिने ॥४३१॥

यत ईदृशास्ततः सत्त्ववहा इत्यर्थः ॥४३१॥

एतस्मात् सत्त्ववहव्याप्तात्—

योजनानां शतादूर्ध्वं वायुरोघः प्रकीर्तितः ।
तस्मिंस्तु रोगदा मेघा वर्षन्ति च विषोदकम् ॥४३२॥
तेनोपसर्गा जायन्ते

चो ह्यर्थे ॥

तैश्चोपसर्गैः पीडादिभिः—

मारकाः सर्वदेहिनाम् ।

प्रवर्तन्ते ॥

अथ—

तस्मादर्ध्वं तु तावद्य्भो देव्यमोघः स्थितो मरुत् ॥४३३॥
तस्मिंस्ते मारका मेघा अमोघे संप्रतिष्ठिताः ।

तावद्य्भः पञ्चाशत इत्यर्थः । तावच्छब्दो व्यवहितपञ्चाशद्योजनामर्शकः ॥

अथ—

वज्राङ्गो नाम वै वायुः पञ्चाशद्योजनस्थितः ॥४३४॥
तस्मिंस्तूपलका नाम मेघास्तूपलवर्षिणः ।

तदुपरि—

तावद्भिर्योजनैरेव ततो वै वैद्युतोऽनिलः ॥४३५॥
मेघाश्च वैद्युतास्तस्मिन् निवसन्ति तु वैद्युते ।

तावद्भिः पञ्चाशता ॥

वैद्युतत्वमेतेषां विद्युत्कारणत्वेनेत्याह—

अशनिर्वायुसंक्षोभात्तेष्वसौ जायते महान् ॥४३६॥

अशनिर्विद्युत् । तेषु मेघेषु ॥४३६॥

तदूर्ध्वं योजनानां च पञ्चाशद्रैवतः स्मृतः ।
तस्मिन् पुष्टिवहो नाम पुष्टिं वर्षति देहिनाम् ॥४३७॥

रैवत इति तदाख्यः । पुष्टिवहाख्यो मेघः ॥४३७॥

तदुपरि स्थिते—

संवर्ते रोगदा मेघास्ते रोगोदकवर्षिणः ।

पञ्चाशद्योजने ते वै तस्मिंस्तिष्ठन्ति तोयदाः ॥४३८॥

ततोऽपि—

विषावर्तो नाम वायुः पञ्चाशदुपरि स्थितः ।
तस्मिन् क्रोधोदका नाम मेघा वै संप्रतिष्ठिताः ॥४३९॥
ते क्रोधरागबहुलं संग्रामबहुलं तथा ।
राज्ञां क्षयकरं चैव प्रजानां क्षयदं तथा ॥४४०॥
वर्षं चैवात्र कुर्वन्ति यदा वर्षन्ति ते घनाः ।

ते घनाः संवर्ताश्रयस्य पञ्चाशत उपरि पञ्चाशदुपरि । विषावर्तस्य तु मानमग्रे वक्ष्यति । क्रोधसहितो रागः क्रोधरागस्तेन बहुलं पूर्णं तत्संपादकमिति यावत् ॥

ओघादीन् सप्त वायून् धर्मसाम्येन विशिनष्टि—

ओघोऽप्यमेघो वज्राङ्गो वैद्युतो रैवतस्तथा ॥४४१॥
संवर्तश्च विषावर्तो वायवो घोरवेगिनः ।

घोरवेगिन इति, घोरो वेगो भूम्ना विद्यते येषाम् ॥

एतत्सप्तकं येषामास्पदं तान् क्रमेणाह—

ओघे वसन्ति वै दिव्याः पिशाचाः स्कन्ददेहजाः ॥४४२॥
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि स्कन्दस्यानुचराः स्मृताः ।
ते वै दिव्यैश्च कुसुमैरर्चयन्ति हरात्मजम् ॥४४३॥

तदूर्ध्वस्थे—

अमोघे विनायका घोरा महादेवसमुद्भवाः ।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि तस्मिन् वायौ प्रतिष्ठिताः ॥४४४॥
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ।

अकृतात्मनामसंयमवताम् ॥

वज्राङ्गेऽपि तथा वायौ मातङ्गाः क्रूरकर्मिणः ॥४४५॥
भिन्नाञ्जननिभा घोरास्तापना नाम विश्रुताः ।

तदारोहिणश्च—

विद्याधराणामधमा मनःपवनगामिनः ॥४४६॥

मनःपवनवन्मातङ्गारोहादेव गच्छन्ति तच्छीलाः, अत एवाधमाः । उत्तमास्तु विद्यादिप्रभावेणैव तत्तद्देशप्राप्तिमन्तः ॥४४६॥

किं च—

ये विद्यापौरुषे ये च वेतालादीन् श्मशानतः ।
साधयित्वा ततः सिद्धास्तेऽस्मिन् वायौ प्रतिष्ठिताः ॥४४७॥

विद्यापौरुषे शास्त्रविद्यादिस्पर्धायां तथा वेतालादीन् साधयित्वा ये प्रसिद्धा मृता इत्यर्थः ॥४४७॥

वैद्युतेऽप्सरसस्तस्मिन् वासवेन प्रयोजिताः ।
तिष्ठन्ति सर्वदा तत्र पृथिवीपुरपालने ॥४४८॥

पृथिवीपुरपालनं चैतत् तासां यत् तन्निवासिसदाचारजनपदस्य विमानैः स्वभूमिप्रापणम् ॥४४८॥

तदाह—

भृगौ वह्नौ जले वापि संग्रामेष्वनिवर्तकाः ।
गोग्रहे बन्दिमोक्षे वा म्रियन्ते पुरुषोत्तमाः ॥४४९॥
ते व्रजन्ति ततस्तूर्ध्वं विमानैर्मणिचिह्नितैः ।
पताकादीर्घिकाकीर्णैर्दिव्यघण्टानिनादितैः ॥४५०॥

न निवर्तन्त इत्यनिवर्तकाः संमुखं ये म्रियन्त इत्यर्थः । गवां ग्रहः सिंहादिभिराक्रमणम् । बन्द्यो बलाद्गृहीता हठम्रियमाणाः परयोषितः । एते च संग्रामादौ मृताः सदाचारत्वात् पुरुषोत्तमाः, न तु पूर्वे—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो नराः ॥' (ईशा० ३)

इति श्रुतौ तेषामनुतमत्वेनोक्तत्वात् । तत इति स्वभूमेः ॥४५०॥

कथं व्रजन्तीत्याह—

स्त्रीसहस्रपरीवारैर्विमानैस्तान्नयन्ति ताः ।

यत इति शेषः । ता इत्यप्सरसः ।

रैवते तु महात्मानः सिद्धा वै संप्रतिष्ठिताः ॥४५१॥
गोरोचनाञ्चने भस्मपादुके अजिनादि च ।
साधयित्वा महात्मानः सिद्धास्ते कामरूपिणः ॥४५२॥

सिद्धाः संपन्नाः ॥४५२॥

ततश्चात्र—

ते वसन्ति महात्मानो दिव्यां सिद्धिमवस्थिताः ।

वज्राङ्गस्थत्वेन तद्रूपत्वाद् विद्याधराधमा उक्ताः ॥

संवर्तेऽपि महावायौ विद्याधरगणाः स्मृताः ॥४५३॥
दश त्रिंशच्च कोट्यस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यगन्धानुलिप्तास्ते दिव्यस्रग्धामभूषिताः ॥४५४॥

दश ये गणाः संक्षेपतः, त एव विस्तरतस्त्रिंशत्कोटय इत्यत्रार्थः । एते च विद्याधरा देवयोनिभेदा एव, न तु मनुष्याः सन्तः खड्गादिसिद्ध्या सिद्धाः ॥

अथैतदुपरि—

आग्नेया धूमजा मेघाः शीतदुर्दिनदाः स्मृताः ।
विषावर्तं नावमिव ते वायुं यान्ति मिश्रिताः ॥४५५॥
तत्र गान्धर्वकुशला गन्धर्वसहधर्मिणः ।
वंशवीणाविधिज्ञाश्च पक्षिणः कामरूपिणः ॥४५६॥

गन्धर्वसहधर्मिता गान्धर्वेण महेश्वराराधकत्वम् ॥४५६॥

ब्रह्मजा नाम वै मेघा ब्रह्मनिःश्वाससंभवाः ।
उपरिष्टाद्योजनशताद्दुर्जयस्योपरि स्थिताः ॥४५७॥

विषावर्ताख्यवायुव्याप्तयोजनशतोपरिष्टाद् यो दुर्जयो नाम वायुः, तस्योपरि ब्रह्मजा मेघाः स्थिता इति संगतिः ॥४५७॥

किं च—

तत्र वै दुर्जया नाम इन्द्रस्य परिरक्षकाः ।
परावहाभिधं वायुं ते समाश्रित्य संस्थिताः ॥४५८॥
महावीर्यबलोपेता दश कोट्यः प्रकीर्तिताः ।

तत्रेति दुर्जयसमीपे परावहाभिधं वायुं समाश्रित्येति सगतिः ॥

अतोऽप्यूर्ध्वम्—

पुष्करावर्तका नाम मेघा वै पद्मजोद्भवाः ॥४५९॥

तथा—

शक्रेण पक्षा ये च्छिन्नाः पर्वतानां महात्मनाम् ।
परावहस्तान् वहति मनुजानिव वारणः ॥४६०॥

तानिति पुष्करावर्तकान् पर्वतपक्षांश्च परावहाख्यो वायुर्वहति ॥४६०॥

किं च—

तस्मिन् वायुगमा नाम गन्धर्वा गगनालयाः ।
एकादश तु वै कोट्यस्तेषां तु समुदाहृताः ॥४६१॥

तथा—

जीमूता नाम ये मेघा देवेभ्यो जीवसंभवाः ।
द्वितीयमावहं वायुं मेघास्ते च समाश्रिताः ॥४६२॥
तस्मिन् जीमूतका नाम विद्याधरगणा दश ।

जीवसमुद्भवा इति जीवः श्वासः, तत उद्भवाः । द्वितीयमावहमिति पुष्करावर्तकाश्रयं परावहमित्यर्थः, न तु प्रथमं दुर्जयानामाधारम् ॥

अथ—

आवहस्तु ततो वायुर्यत्र द्रोणाः समाश्रिताः ॥४६३॥

तस्मिन् द्रोणाः समाख्याता मेघानां परिरक्षकाः ।

द्रोणा नाम मेघविशेषा अधोवर्तिमेघानामयथाकारित्वं रक्षन्ते ।।

यतः—

हितार्थं तु प्रजानां वै निर्मितास्ते मया पुरा ।।४६४।।

मयेति कैलासस्थेनेति तत्र प्रवक्तुरुक्तिः हितमधोवर्तिमेघेभ्य उपद्रवपरिरक्षा ।।४६४।।

अथैषाम्—

उपरिष्टात् कपालोत्थाः संवर्ता नाम वै घनाः ।
महापरिवहो नाम वायुस्तेषां समाश्रयः ।।४६५।।

कपालोत्था इति ममैवेत्यर्थात् ।।४६५।।

उपसंहरति—

आद्ये वायुपथे ह्येवं मेघा वै वायुभिः सह ।
सिद्धाश्च पतयश्चैव कथिता मेघचारिणः ।।४६६।।

दशसहस्रोन्मानो योऽयमाद्यो वायुपथस्तस्य भुव ऊर्ध्वं शून्यं पञ्चाशद्योजनानि, तदूर्ध्वमूर्तद्भिः, प्राचेतसः, सेनानीः, सत्त्ववहः, ओघः, अमोघः, वज्राङ्गः, वैद्युतः रैवतः, संवर्तः, विषावर्त इति । एत एकादश ये वायवस्तेषां मध्यात् सेनानीः सत्त्ववहश्च शते शते योजनानां स्थितः, शेषाः प्रत्येकं पञ्चाशद्योजनावस्थितय इति कलनया भूपृष्ठाद्विषावर्तान्ते योजनसप्तशती । तदुपरि सहस्रनवके शतत्रये च दुर्जयपरावहद्वयावहावहमहापरिवहाख्याः पञ्च वायवः स्थिता इति ।।४६६।।

आद्यं वायुपथं वितत्योक्त्वा, अन्यान् संक्षेपेण विभजते—

द्वितीये वापयुथे ज्ञेया अग्निकन्याश्च मातरः ।
ता वसन्ति गुणोपेता रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठिताः ।।४६७।।

मातरोऽपरेण रूपेण ब्राह्म्याद्याः । गुणेन सर्वज्ञत्वादिनोपेता यतो रुद्रशक्त्यधिष्ठिताः ।।४६७।।

अथ—

तृतीये वायुपथे चैव वसन्ते सिद्धचारणाः ।
स्वकर्मभोगसंसिद्धाः सर्वसिद्धै रधिष्ठिताः ।।४६८।।

स्वं प्राक्तनं शुभं कर्म, भोगस्तत्तत्पदोचितसुखात्मकः, तद्वशेन संसिद्धाः प्राप्ततत्पदाः । सर्वसिद्धैरप्यन्यैरपि तत्तत्पदोचितयोगसिद्धैरधिष्ठिता आसादिताः ।।४६८।।

तदुपरि—

चतुर्थे पथि चैवात्र वसन्त्यायुधदेवताः ।
नाराचचक्रचापर्ष्टिशूलशक्तीषुमुद्गराः ॥४६९॥

ऋष्टिरायुधविशेषः । एते च खड्गखट्वाङ्गादीनप्युपलक्षयन्ति । आयुधानामेव च तद्देवतानाम ॥४६९॥

अथ—

पञ्चमे पथि देवेशि वसन्त्यैरावतादयः ।
ऐरावतोऽञ्जनश्चैव वामनश्च महागजः ॥४७०॥
सुप्रतीको गजेन्द्रश्च पुष्पदन्तस्तथैव च ।
कुमुदः पुण्डरीकश्च सार्वभौमोऽपि चाष्टमः ॥४७१॥

वामनस्य विशेषणं महागज इति । तथा सुप्रतीकस्य करीन्द्र इति ॥४७१॥

त एते—

दिग्गजा इति विख्याताः स्वासु दिक्षु व्यवस्थिताः ।

व्यवस्थिता इति पूर्वादिक्रमेण नभस्येव ॥

ततोऽपि—

षष्ठे वायुपथे देवि पक्षिराजो महाबलः ॥४७२॥
गरुत्मानिति विख्यातो दुर्जयोऽतीव वीर्यवान् ।
सप्तमे व्योमगङ्गा तु नानाजलचरानुगा ॥४७३॥
दिव्यामृतजला पुण्या त्रिधा सा परिकीर्तिता ।

दिव्यममृततुल्यं जलं यस्याः सा । त्रिधेति सत्यलोकस्वर्लोकभुवर्लोकस्थित्या ॥

सा भ्रान्ता नभसो मध्ये समन्तात् परिमण्डला ॥४७४॥
आकाशगङ्गा प्रथिता देवानां सततोत्सवा ।
पुष्पमालेव सा भाति नभसः शिरसि स्थिता ॥४७५॥
तत्र सिद्धैर्महाभागैर्विद्याधरगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च साध्यैर्विश्वैर्मरुद्गणैः ॥४७६॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैः पितृदेवमहर्षिभिः ।
रक्षोभिर्गुह्यकैश्चैव दिव्यस्तुतिपरायणैः ॥४७७॥
स्तुवद्भिश्च जपद्भिश्च गायद्भिश्च महात्मभिः ।
नृत्यद्भिर्वल्गमानैश्च दिव्यदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥४७८॥
भेरीमृदङ्गवाद्यैश्च वल्लकीनां च निःस्वनैः ।
वंशवादित्रनादैश्च मनोवायुसमीरितैः ॥४७९॥

तत्र सिद्धैरिति सिद्धादिभिरुपलक्षिता । रुद्रादीनां त्रयाणां विशेषणं पितृदेवैरिति । स्तुवद्भिश्चेत्यादिभिर्विशेषणैः पूर्वे यथायोगं विशेष्याः । दिव्यदुन्दुभिनिः-

स्वनैरित्याद्या नृत्तं वल्गनं च प्रति हेतुतृतीयाः । मनोधिष्ठितेन वायुनेति प्राणेन समीरितैः पूरितैरिति योज्यम् ॥४७९॥

किं च—

वैदूर्यनालैः कमलैर्हेमपत्रैः सुगन्धिभिः ।
केसरैः पद्मरागैश्च महाचक्रप्रमाणकैः ॥४८०॥
नृत्यन्तीव सरिच्छ्रेष्ठा विमानशतमण्डिता ।
मण्डिता च वनैर्दिव्यैर्धर्माधारा महानदी ॥४८१॥

केसरैः पद्मरागैरिति पद्मरागात्मककेसरयुक्तैः पद्मैरित्यर्थः । धर्म आ समन्ताद्धार्यते दर्शनस्पर्शनादिना संपाद्यते यया ॥४८१॥

युक्तं चैतत्, यतः—

मम नेत्राद्विनिष्क्रान्ता क्रियाशक्तिः परा हि सा ।

एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् ॥

सैषा—

महामन्दाकिनी देवी त्रिदशैः पर्युपासिता ॥४८२॥
महाविमानकोटीभिर्निरन्तरमवस्थितैः ।
शोभितासौ भगवती नित्यमास्ते नभस्तले ॥४८३॥

महत्त्वं प्रभावातिशयादस्याः । अवस्थितैरिति त्रिदशविशेषणम् ॥४८३॥

तत्रैषा मेरुशिरसि मम वै मस्तकाच्च्युता ।
पपात धरणीपृष्ठे लोकानां हितकाम्यया ॥४८४॥

एषा गङ्गा पूर्ववर्णितयुक्त्या देवैरभ्यर्थितेन मया मर्त्यलोकपावनाय समाहूय विसृष्टा सती मेरुशिरःस्थितस्य मम मस्तकं प्राप्य, ततश्च्युता मेरुशिरसि स्थिता, पश्चाद् धरणीपृष्ठे पपातेति संगतिः । उक्तं च प्राक्—

'आगत्य मम मूर्धानं मेरुमूर्ध्नि पुनर्गता ।
तस्मान्निर्गत्य देवेशि चतुर्दिक्षूदधिं गता ॥' (१०।१८१)

इति ॥४८४॥

किं च, मदीयनियतिशक्तिनियन्त्रणतः—

अक्षोभ्या साप्यसौ गङ्गा तिष्ठत्यनिलधारिता ।

अन्यथा कथमनिलेन न क्षोभ्येत कथं वाह्येत ॥

योजनानां शतं पूर्णं विस्तारोऽस्याः प्रकीर्तितः ॥४८५॥
परिणाहस्ततः कोट्यः

तत इति तस्मिन्नाकाशे । कोट्य इति बह्व्यः कोटय इत्यर्थः ॥

एषा चात्र—

महावेगवती शुभा ।
सा भ्रमन्तीव संतिष्ठेत् समन्तात् परिमण्डला ॥४८६॥

परिमण्डलेति ब्रह्माण्डान्तराकाशस्य तथात्वात् ॥४८६॥

ध्रुवमापूर्य सा देवी त्वत्यद्भुतमवस्थिता ।

ध्रुवमिति तन्नाभिनिबद्धभचक्रमित्यर्थः । देवी द्योतमाना । अत्यद्भुतं कृत्वावस्थिता ॥

किं च—

दिव्यामृतवहा पुण्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥४८७॥

दिवि भवं दिव्यं लोकोत्तरममृतं जलं वहति ॥४८७॥

अथ—

अष्टमे वृषराजस्तु सपत्नीकः सनन्दनः ।
वसति त्वप्रतीघातः प्रत्यक्षो धर्म एव सः ॥४८८॥

वृषराज इति महेश्वरस्य वाहनम् । अप्रतीघातः स्वेच्छाविहारी । धर्म इति—

'वृषो धर्मः स देवस्य गुणो ज्ञानक्रियात्मकः ।
धत्ते स चिदचिद्यस्माद्धर्मस्तेनोच्यते बुधः ॥'

इति श्रीमन्मयसंग्रहोक्तसतत्त्वः ॥४८८॥

नवमे पथि चात्रास्ते दक्षो नाम प्रजापतिः ।
ब्रह्मैव साक्षाद्वसति ब्रह्मशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥४८९॥

ब्रह्मणः शक्तिर्निर्मातृरूपा ॥४८९॥

दशमे वायुपथे देवि वसुरुद्रदिवाकराः ।

एते च पूर्वं गङ्गासेवार्थमितोऽवतीर्णा वर्णिताः ॥

तत्र प्राधान्यादादौ रुद्रान्नामतो दर्शयति—

अत्र चाङ्गारकः सर्पिर्नैर्ऋतः सदसत्पतिः ॥४९०॥
बुधश्च धूमकेतुश्च विख्यातश्च ज्वरस्तथा ।
अजश्च भुवनेशश्च मृत्युः कापालिकस्तथा ॥४९१॥
एकादश स्मृता रुद्राः सर्वकामफलोदयाः ।

सदसत्पतिरिति यः क्वचिदुक्तः । ज्वरो विख्यातः त्रिजगत्प्रसिद्धः । सर्वेषां कामफलानामुदयो येभ्य इति समासः ॥

तदित्थम्—

धाता ध्रुवश्च सोमश्च वरुणश्चानिलोऽनलः ॥४९२॥

प्रत्यूषश्च प्रदोषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।

तदित्थम्—

वसवः कथिता ह्येते आदित्यांश्च निबोध मे ॥४६३॥

अर्यमा इन्द्रवरुणौ पूषा विष्णुर्गभस्तिमान् ।

मित्रश्चैव समाख्यातस्त्वजघन्यो जघन्यकः ॥४६४॥

विवस्वांश्चैव पर्जन्यो धाता वै द्वादशः स्मृतः ।

काश्यपेयान् विदुस्त्वेतान्

कश्यपस्यामी काश्यपेयाः, कश्यपापत्यानीत्यर्थः ॥

तेषां तेजोनिधेरथ ॥४६५॥

अमृतोद्भवो रथो दिव्यः सर्वदेवसमन्वितः ।

तेषां वसुरुद्रादित्यानां मध्यात् तेजोनिधेरादित्यस्य क्षीरोदोद्भवो रथः, तस्यैव तदारूढस्य जगत्प्रकाशाय नियुक्तत्वात् । तेजोनिधेश्चिदर्कस्य परशक्त्यमृतोत्थितः पूर्वोक्तदृशा सर्वदेवमयः प्राणरूपो रथ इत्यपि सूचितम् ॥

अनेन यदुक्तं सर्वदेवमय इति, तद्विभजते—

यज्ञश्चक्रं रथे तस्मिन् सर्वज्ञानमयी च धूः ॥४६६॥

सप्ताश्वाश्च स्वराः सप्त वेदहूंकारनिःस्वनाः ।

नागा योक्त्राणि तेषां वै अरुणश्चैव सारथिः ॥४६७॥

सत्यं च मञ्चकं तस्य वायुर्वेगो रथस्य तु ।

यज्ञः क्रियाशक्त्यात्मा देवता, अस्य रथस्य चक्रम्, तद्वशादूर्ध्वाधरस्थसर्वलोकयात्रासंपत्तेः । यदुक्तं गीतासु—

'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (३।१५)

इति । विश्वान् यजतीत्याम्नातत्वात् सर्वशास्त्रज्ञानमयी वागीश्वरी अस्य धूः, यत्र लग्ना अश्वा वहन्ति । ते च समस्तवाचकात्मकवेदप्रधानभूतहूंकाररूपहेषाशब्दव्यञ्जकाः षड्जाद्याः सप्त स्वराः । एवं च नदन्नादामर्शोत्थितत्वं ज्ञानक्रियादेवताकाण्डरूपत्वात्परापरतदुभयसिद्धिमयत्वं च ऊर्ध्वाधरशक्तिसंबन्धेन वेदानां प्रतिमन्त्रमुद्रास्थानीयत्वेन दर्शयति । योक्त्राणि बन्धनरज्जवः । नागा अनन्ताद्याः तेषां षड्जादीनाम् । न अगाः सततगतिशीलाः संकल्पा नियोक्तारः । अरुणोऽनूरुर्दीप्तोऽहंकारश्च । सत्यं च ऋतम् । मञ्चकमासनम् । प्रनिप्रकाशमाने विश्वत्र साध्वाधारतया स्थितं सत्त्वात्मकं बुद्धितत्त्वम् । रथस्य वेगो वाय्वाख्या देवता । प्राणनात्मन आन्तरस्य च रथस्य प्राणापानादिरूपो वाय्वात्मैव वेगः ॥

तदेवमीदृग्रथारूढस्य—

नवयोजनसाहस्रो विग्रहो भास्करस्य तु ॥४९८॥
त्रिगुणं मण्डलं तस्य त्रैलोक्ये भाति भास्वरम् ।

जीवादित्यस्यापि नवतालो विग्रहः । मण्डलं च प्रकाशात्मकं त्रिभिः सत्त्वादिभिर्गुणैरुपेतम् ॥

स चायमसामान्य इत्याह—

ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा ॥४९९॥

सर्वशक्तेर्महेश्वरस्य विश्वप्रकाशिका ज्ञानशक्तिर्जीवादित्यबाह्यादित्यरूपतया स्थितेत्यर्थः ॥

इत्थं पारमेशज्ञानशक्त्यात्मका द्वादशादित्याः—

मासवारप्रयोगेण संचरन्ति शिवेच्छया ।

मासेन वारः, स एव प्रयोगो नियोगः । जीवादित्यस्य मासादिविभागः प्रागेव निर्णीतः । द्वादशधात्वं चास्य बुद्धिभेदात् । शिवेच्छयेति नात्रान्यस्येच्छा प्रभवतीत्यर्थः ॥

अतश्च—

अहोरात्रं भ्रमन्त्येते भुवर्लोकं समन्ततः ॥५००॥

एतच्च—

'उदयो योऽमरावत्या' (१०।३३८)

इति प्रोक्तानुसारेण योज्यम् । यत्तु—वृहट्टीकाकारराजानकमुल्लकेन यावदशेषभुवनप्रकाशनव्याप्तिः सूर्यस्य नास्ति, तावत्सूर्यसंयमाद् भुवनज्ञानं कथं पतञ्जलिनोक्तम्,[1] अत आ पातालात् सत्यलोकान्तं सूर्यस्य प्रकाशकत्वमिति स्वरुच्या व्याख्यातम्, तदसारत्वादुपेक्ष्यम् ॥५००॥

अथ सूर्योपरि चन्द्रादीनां स्थितिविभागमाह—

ततः सोमस्तु लक्षेण आदित्योपरि संस्थितः ।
आप्याययन् जगत्सर्वं सुधाधाराप्रवर्षणैः ॥५०१॥

इत्थं च—

चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु ।
इन्दूर्ध्वे लक्षमात्रेण स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥५०२॥

नक्षत्रमण्डलं ताराचक्रम् ॥५०२॥

लक्षद्वयेन तस्योर्ध्वं संस्थितो भूमिनन्दनः ।
लक्षद्वयेन तस्योर्ध्वे संस्थितः सोमनन्दनः ॥५०३॥

---

१. 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (३।२६) इत्यत्र ।

सुराचार्योऽपि तस्योर्ध्वे द्विलक्षेणैव संस्थितः ।
तस्योर्ध्वेऽपि द्विलक्षेण तिष्ठते भृगुनन्दनः ॥५०४॥
तस्योपरि द्विलक्षेण सौरिः सर्पति लीलया ।

सर्पति राशिषु संचरति । लीलयेति मन्दमन्दम्, यतोऽयं शनैश्चरः ॥

तस्योपरि—

लक्षमात्रेण तु ऋषीन् कथयामि समासतः ॥५०५॥

तान्यथावस्थिति क्रमेणाह—

अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च

भृग्वङ्गिरा गोत्रनामक्रमाभ्यामेक एव ॥

एते सप्त—

ऋषयः संप्रकीर्तिताः ॥५०६॥
यमनियमतो ह्येते शापानुग्रहकारकाः ।

अहिंसाद्या यमाः । शौचाद्या नियमाः ॥५०६॥

किं च—

भीताश्च परपीडायाः

प्रत्यवायिनामपि निग्रहं न कुर्वन्ति, दयापरतन्त्रत्वात् ॥

तथा—

शूराः शास्त्रविचारणे ॥५०७॥

शूरास्तीक्ष्णधियः ॥५०७॥

अत एवानुग्राह्याणाम्—

ज्ञानखड्गोद्यताः सर्वे त्वज्ञानपटलापहाः ।

अज्ञानमेव चित्प्रकाशावरकत्वात् पटलस्तमपघ्नन्ति ॥

तदर्थमेव च—

मन्त्रयोगक्रियाचर्यासंनद्धा दुरतिक्रमाः ॥५०८॥
योगैश्वर्यगुणोपेताः शिवाराधनतत्पराः ।

मननसारा मन्त्राः, योगो ध्यानधारणादिः, क्रिया नित्यनैमित्तिकानुष्ठानम्, चर्या व्रतादिरूपा, एतैर्मन्त्रादिभिः संनद्धाः परिष्कृताः । अत एव दुरतिक्रमा अज्ञानेन न कदाचिदभिभूयन्ते । अतश्च योगैश्वर्यगुणैरणिमादिसिद्धिभिरुपेताः । तथापि शिवाराधनप्रधानकर्मणि तत्परा नित्यासक्ताः ॥

अथ—

तेभ्यो लक्षाद् ध्रुवो देवि तारकाः स चतुर्दश ॥५०९॥

एक एव सन् ॥५०९॥

अतश्चतुर्दशभिस्तारकाभिः—

शरीरं घटितं ताभिर्ध्रुवस्य वरवर्णिनि ।

तथा च—

'उत्तानपान्मखहनुः शुचिधर्ममूर्धा
नारायणाश्विवरुणार्यमहृत्पदोरुः ।
संवत्सरप्रजननो जघनस्थमित्रो
वह्नीन्द्रकश्यपमरीच्यभयाख्यपुच्छः ॥'

इति ज्योतिःशास्त्रे हनुशिरःप्रभृतिगात्रारम्भोऽस्य यज्ञधर्मादिदेवताभिरुक्तः ॥

एष च—

ब्रह्मैवापररूपेण ब्रह्मस्थाने नियोजितः ॥५१०॥

सत्यलोकस्थो ब्रह्माण्डेनापररूपेण भुवर्लोकमध्ये नियुक्तः ॥५१०॥

इत्थं मध्ये चक्रनाभिवदवस्थितस्य—

तस्य ज्योतिर्गणो देवि निबद्धो भ्रमते सदा ।
निश्चलः स तु विज्ञेयः शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥५११॥

शिवशक्त्यैवेत्थं व्यवस्थापित इत्यर्थः । एष चान्तरस्थित्याऽविचलश्चिदात्मैव समध्यवाहत्रयोदशेन्द्रियताराचक्रपरिवृतः कालाधिकारोक्तस्थित्याशेषग्रहक्षाद्याश्रयणप्राणापानसूर्यसोमसंचारप्रवर्तक इति बोद्धव्यम् । अत एवात्मप्रतिनिधिरूपध्रुवस्य—

'यदह्ना कुरुते पापं दृष्ट्वा तन्निशि मुच्यते ।
अधिकं च भवत्यायुर्ध्रुवान्तानां समाः समाः ॥'

इत्यस्य ज्योतिःशास्त्रादौ श्रूयते । यत्तु तत्र ध्रुवनाभिनिबद्धस्य ग्रहनक्षत्रचक्रस्य बहिर्भूगोलं यन्निवर्तनम्, सूर्यादीनां भूम्यादेश्चान्वथावस्थानपरिमाणादि श्रूयते, तत—

'यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम् ।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥' (सू० जा० १।३)

इति तदुक्तप्रक्रिययैव पूर्वकर्मानुसारितेजोगोलकाधिष्ठातृसूर्यादिरूपदेवतापेक्षया कर्मार्जनस्थानस्थभूम्यपेक्षया च तथा, इदं तु तेजोगोलकाद्यधिष्ठातृसूर्यादिरूपदेवतापेक्षया । यथोक्तप्रक्रिययैव सूर्यादीनामवस्थानसंनिवेशभ्रमणादि पातालभूम्यादिपरिमाणादि वास्तवम् । सर्वसर्वज्ञमहेश्वरपरिदृष्टमेतदेवेति न तेन सह संवादविसंवादादिचर्चा कार्या । अत एव—

'शास्त्रान्तरैर्न यद्दृष्टं तद्दृष्टं पारमेश्वरे ।
नियत्यादि शिवान्तं वाक् श्वान्यत्र परिदृश्यते ॥'

इतीयमेव प्रक्रिया साध्वी ॥५११॥

दश पञ्च च लक्षाणि ध्रुवान्तं भूमिमण्डलात् ।

भुवः सूर्येन्दुभचक्राणि प्रत्येकं लक्षान्तरितानि, प्रत्येकं लक्षद्वयेन भौमाद्याः पञ्च, लक्षेण सप्तर्षयः, लक्षेण ध्रुव इति पञ्चदशलक्षमेव ध्रुवान्तं भवति ॥

किं च—

वायुस्कन्धान् स्थितांस्त्वत्र कथयामि समासतः ॥५१२॥

अत्रेति पञ्चदशयोजनलक्षोन्मानभुवःस्वर्लोकद्वये । ईश्वरशक्तिनियमितवायुसंनिविष्टभुवनादिरूपान् वायुस्कन्धान् कथयामि ॥५१२॥

तेषां कक्ष्याभेदमाह—

आ मेघाद्भास्करात् सोमान्नक्षत्राद्ग्रहमण्डलात् ।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः ॥५१३॥

आ मेघादिति प्रोक्तवायुपथगतेभ्यो मेघेभ्यः प्रभृति ध्रुवान्तं सप्तसु कक्ष्यासु सप्त वायुस्कन्धाः स्थिताः । यदुक्तं पुराणेषु—

'पृथिव्यां प्रथमः स्कन्ध आ मेघेभ्यो य आवहः ।
द्वितीयश्चापि मेघेभ्य आ सूर्यात् प्रवहस्तु यः ॥
सूर्यादूर्ध्वं तथा सोमादुद्वहो यस्तु वै स्मृतः ।
सोमादूर्ध्वं तथर्क्षेभ्यश्चतुर्थः संवहस्तु यः ॥
ऋक्षोर्ध्वं ग्रहपर्यन्तं पञ्चमो विवहस्तु यः ।
ऊर्ध्वं ग्रहादृषिभ्योस्तु षष्ठो योऽसौ परावहः ॥
सप्तर्षिभ्यस्तथैवोर्ध्वमा ध्रुवात् सप्तमः स्मृतः ।
वातस्कन्धः परिवहः··························॥'

इति । तत्रैव च प्रत्येकं शुक्रज्योतिःसत्यज्योतिश्चित्रज्योतिर्ज्योतिष्मानित्यादिसंज्ञाः सप्त सप्तावान्तरभेदा उक्ताः ॥५१३॥

तदयम्—

आदित्यादिध्रुवान्तश्च स्वर्लोकः परिकीर्तितः ।
अत्र राजा महेन्द्रो वै तिष्ठते सुरपूजितः ॥५१४॥
ऋषिदेवैः सगन्धर्वैर्वृतश्चाप्सरसां गणैः ।

भूपृष्ठादादित्यान्तो भुवर्लोको योजनानां लक्षमेकम् । ततो ध्रुवान्तः स्वर्गलोकश्चतुर्दश लक्षाणि ॥

ईदृशं चामुम्—

अग्निहोत्रं क्रतून् वापि कृत्वा ज्ञानविवर्जिताः ॥५१५॥
स्वर्लोकं तु नरा यान्ति पुनरायान्ति मानुषम् ।

अग्निहोत्रं नित्याग्निनिष्ठो होमः, क्रतवस्तु ज्योतिष्टोमादयः । ज्ञानविवर्जितत्वाद् देहान्ते स्वर्लोकं यान्ति । तत्र स्वकर्मोपचितफलं भुक्त्वा पुनर्मानुषादिकमायान्ति । ज्ञानिनस्तु यज्ञादि कुर्वन्तोऽपि निष्कामत्वान्मुच्यन्त इत्याशयः ॥

इत्थमेवंविधस्य—

स्वर्लोकस्योपरिष्टात्तु द्वे कोटी योजनानि तु ॥५१६॥
पञ्चाशीतिश्च लक्षाणि महर्लोको वरानने ।

एवमिहत्यप्रक्रियया सूर्यान्तो भुवर्लोकः । ध्रुवान्तः स्वर्लोकः तदूर्ध्वे सपञ्चाशीतिलक्षं कोटिद्वयं महर्लोकः । **श्रीपरामृगेन्द्रादौ** तु ध्रुवान्तो भुवर्लोकः, तदूर्ध्वम्—

'पञ्चाशीतिमितैर्लक्षैः स्वर्लोकः स्वर्गसंश्रयः ।
कोटिद्वयं महर्लोको महान्तो यत्र संस्थिताः ॥' इति,
तिथिलक्षैर्भुवर्लोको ध्रुवप्रान्तो महीतलात् ।
तदूनकोटिः स्वर्लोक············॥' (१३।११४)

इति प्रक्रियाभेदो दृश्यते, स तद्ग्रन्थसंग्रहकर्तृभिस्तथानिबद्धत्वात् । इदं तु साक्षात्परमेश्वरेणोक्तम्—

'भूर्भुवःस्वर्ध्रुवान्तं स्याल्लक्षाणि·········।
···········महान् कोटिद्वयं भवेत ॥'

इति **किरणादिग्रन्थेन** भगवदुक्तेन च ससंवादमित्ययमेव क्रमो युक्तः ॥

अत्र महर्लोके—

ऋषयश्चैव सिद्धाश्च मार्कण्डाद्या वसन्ति वै ॥५१७॥

अथ—

कोट्यष्टकं महादेवि योजनानां वरानने ।
महर्लोकोपरिष्टात्तु जनलोको व्यवस्थितः ॥५१८॥

किं च—

एकपादोऽथ जह्नुश्च कपिलश्चासुरिस्तथा ।
भौतिको वाड्वलिश्चैव जनलोकनिवासिनः ॥५१९॥

अथ—

द्वादशैव तथा कोट्यो जनलोकोर्ध्वतः प्रिये ।
तपोलोकः समाख्यात ऋषियोगेश्वराकुलः ॥५२०॥

तानाह—

सनकश्च सनन्दश्च सनत्कुमारः सनन्दनः।
शङ्कुश्चैव त्रिशङ्कुश्च तपोलोकनिवासिनः ॥५२१॥

अथ प्रसङ्गाद्भूर्लोकात् सत्यलोकान्तं भुवनसंख्यामाह—

पद्माः षट्पञ्चपञ्चशत् कोट्यो लक्षाणि विंशतिः।
भूर्लोकान्तं समारभ्य यावत्सत्यं वरानने ॥५२२॥
इयं संख्या समाख्याता भुवनानां वरानने।

परमेश्वरेण बृहत्तन्त्र इति शेषः। पद्मसंख्या एकादशपटले वक्ष्यमाणा ॥

प्रकृतमाह—

कोट्यः षोडश मानेन तपोलोकोर्ध्वतः प्रिये ॥५२३॥
सत्यलोकः समाख्यातो यत्र ब्रह्मा स्वयं स्थितः।
क्रीडते भगवान् देवो वृत आत्मसमैर्द्विजैः ॥५२४॥

यतस्ते तत्र—

कर्मज्ञानेन संसिद्धा अद्वैतपरिनिष्ठिताः।
आनन्दपदसंप्राप्ता आनन्दपदमागताः ॥५२५॥

कर्मणा नित्यनैमित्तिकानुष्ठानेन ज्ञानेन च वेदान्तोक्तेन समुच्चितेन सम्यक् सिद्धाः, अत एव **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ० उ० ३।६।३४) इत्युक्ताद्वैतपदे परिनिष्ठिता रूढभावनाः, अतश्च सत्यलोकाख्यमिदमानन्दपदं महाभोगस्थानं संप्राप्ता अधिरूढाः, अत्रापि चानन्दपदमागताः स्वात्मारामा एवेत्यर्थः ॥५२५॥

किं च—

ऋग्वेदो मूर्तिमांस्तस्मिन्निन्द्रनीलसमद्युतिः।
दिव्यगन्धविलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ॥५२६॥
संस्थितः पूर्वतस्तस्य दीप्यमानः स्वतेजसा।
उत्तरेण यजुर्वेदः शुद्धस्फटिकसंनिभः ॥५२७॥
दिव्यकुण्डलधारी च महाकायो महाभुजः।
स्थितः पश्चिमदिग्भागे सामवेदः सनातनः ॥५२८॥
रक्ताम्बरधरः श्रीमान् पद्मरागसमप्रभः।
स्रग्दामधारकश्चित्रमालाभूषणभूषितः ॥५२९॥
अथर्वाञ्जनवच्छ्यामः स्थितो दक्षिणतस्तथा।
पिङ्गाक्षो लोहितग्रीवो हरिकेशो महातनुः ॥५३०॥

ऋचां कर्मदेवतास्तुतिमात्रपरायणानामनुष्ठानास्फुटतया श्यामता। यजुषां तु तत्स्फुटतया सितत्वम्। साम्नां गीतिप्राधान्येन रञ्जकत्वाद्रक्तत्वम्। अथर्वण अभिचाराद्यैहिककर्मपरतया कृष्णत्वं शबलता च ॥५३०॥

किं चात्र—

षडङ्गानीतिहासाश्च पुराणान्यखिलानि तु ।
वेदोपनिषदश्चैव मीमांसारण्यक तथा ॥५३१॥
स्वाहाकारवषट्कारौ रहस्यानि तथैव च ।
गायत्री च स्थिता तत्र यत्र देवश्चतुर्मुखः ॥५३२॥

अङ्गानीति वेदस्य शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिःशास्त्राणि । इतिहासा भारतादीनि । व्यासाद्युक्तानि शास्त्राणि पुराणानि । वेदोपनिषदो वेदान्ताः । वेदविचारशास्त्रं मीमांसा । आरण्यकं बृहदारण्यकं वेदान्तेऽपि पृथगुक्तमरण्येऽनूद्यमानत्वात् । दीप्त्याप्यायविषयौ मन्त्रौ स्वाहाकारवषट्कारौ । रहस्यानि तैत्तिरीयादिवेदान्तविशेषा रहस्यत्वादेव पृथगुक्तानि । गायत्री वेदमाता । सर्वा एता आकृतिमत्यो देवताः ॥५३२॥

सोऽयं सत्यलोकः—

भोगस्थानं ब्रह्मणः स्यात्

स तत्र निर्वर्तिताधिकारः—

परं ब्रह्म ततो व्रजेत् ।

अनाकृति **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ० उ० ३।९।३४।) इति यदुक्तम्', तदित्यर्थ ॥

अथ—

कोटियोजनमानेन सत्यलोकोर्ध्वतः प्रिये ॥५३३॥
ब्रह्मासनमिति ख्यातं जपासिन्दूरसप्रभम् ।

आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं भुवनं सत्यलोकस्योर्ध्वम् ॥

तत्रासौ—

रक्तेन्दीवरमध्यस्थः पद्मरागसमप्रभः ॥५३४॥
चतुर्मुखश्चतुर्वेदश्चतुर्युगवशानुगः ।
ब्रह्मविद्भिः समाकीर्णो ब्रह्मा मुनिनिषेवितः ॥५३५॥
ऐश्वर्याष्टकसंयुक्तः षड्विधसृष्टिकारकः ।
धर्मादिफलसंबन्धप्रदाता च युगे युगे ॥५३६॥
तिर्यङ्नारकिसत्त्वानां दिव्यानां मनुजैः सह ।
स्रष्टा च सर्वभूतानां सदेवासुरमानुषे ॥५३७॥

चत्वारो युगा वशा अनुगा यस्येति पूर्वनिपातव्यत्ययः । ऐश्वर्याष्टकमणिमादि । षड्विधेति नारकिस्थावरसरीसृपादिपश्वन्ता त्रिविधा तामसी, रजस्तमोमयी मानुषी, रजःसत्त्वरूपा मौनी, सात्त्विकी दैवी चेत्येकादशे भविष्यति ।

युगे युग इति धर्मादिफलप्रदः । तिर्यगादीनां सर्वेषां भूतानां चतुर्दशसंख्यानां सदेवासुरमानुषे जगति स्रष्टा ॥५३७॥

अथ—

कोटिद्वयं तदूर्ध्वे तु योजनानां वरानने ।
नीलेन्दीवरसंकाशा इन्द्रनीलसमप्रभा ॥५३८॥
ब्रह्मलोकात् परत्वेन विष्णोश्चैव पुरी स्मृता ।
सर्वकामसमोपेता सर्वरत्नसमुज्ज्वला ॥५३९॥
मरकतस्तम्भसोपाना नीलध्वजसमाकुला ।
घण्टावितानविस्तीर्णा चारुचामरशोभिता ॥५४०॥
नीलोत्पलदलप्रख्यैः कन्यावृन्दैः समावृता ।
कामकार्मुकनिर्घोषवित्रस्तमृगलोचनैः ॥५४१॥
नूपुरारावमुखरैः स्खलद्भिर्मृदुविभ्रमैः ।
मनोभवशरायासनिपातशतजर्जरैः ॥५४२॥
सुघूर्णितमदायासविलोलधवलेक्षणैः ।
संसेव्यते स भगवान् विष्णुः कमललोचनः ॥५४३॥
इन्द्रनीलसमाकारो नीलोत्पलदलप्रभः ।
चतुर्भुजो महाकायः पीनवक्षा गदाधरः ॥५४४॥
किरीटी कुण्डली शङ्खी प्रजापालनतत्परः ।
संसेव्यते स भगवान्निकायैरात्मविक्रमैः ॥५४५॥

किरीटं मौलिः । गदाशङ्खौ चक्रशार्ङ्गे अप्युपलक्षयतः । आत्मविक्रमैरित्यात्मन इव विक्रमो येषां तैः, निकायैरनुचरसमूहैः संसेव्यते ॥५४५॥

किं च—

विष्णुभक्ताश्च ये नित्यं ध्यानपूजाजपे रताः ।
ते तु गच्छन्ति तत्स्थानं विष्णोरमितविक्रमाः ॥५४६॥

विष्णुभक्ता इति तदाकारोपासापराः ॥५४६॥

अथ—

सप्तकोट्यस्तदूर्ध्वं वै रुद्रलोको व्यवस्थितः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशश्चत्वरोद्यानमण्डितः ॥५४७॥
सहस्रभूमिकाभिश्च हर्म्यमालाभिरूर्जितः ।
विमानैः पुष्पकैर्युक्तो हंसकुन्देन्दुनिर्मलैः ॥५४८॥
वनोपवनषण्डैश्च सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलैः ।

सोपानवदुपर्युपरिवर्तिचारुदारु·········भूमयो भूमिकाः । पुष्पकैरिति संकल्पमात्रसंचारिभिः । श्रीपरायां तु—

'तद्ब्रह्मोर्ध्वं भवेद्विष्णुः स च कोटिचतुष्टयात् ।
षड्भिः स कोटिभिर्देवः शंकरः संस्थितो हरः ॥'

इति । किरणायां तु—

'दशषट्कोटयः सत्य.........।'

इत्युक्त्वा—

'तस्मादूर्ध्वं भवेद्ब्रह्मा कोटित्रयमितः खगः ।
त्रिभिस्तु कोटिभिर्विष्णुश्चतुर्भिस्तु हरः स्थितः ॥'

इति[1] प्रक्रियाभेदो न अवस्थितस्यास्य देवतात्रयस्य संकलय्य दशकोटिदेशत्वानपायाद्विरुद्धः ॥

अत्र च—

मारुताः सुखसंस्पर्शा वर्तिकर्पूरगन्धयः ॥५४९॥

एष च—

नदीनदह्रदाकीर्णः पद्मिनीषण्डमण्डितः ।

तथा च—

वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी ॥५५०॥
वसिष्ठा च वराहा च वरारोहा च सप्तमी ।
गङ्गा ह्येताः समाख्याता रुद्रलोकवहाः सदा ॥५५१॥

एताश्च—

लक्षपत्रदलाढ्यैश्च सितपद्मैर्विभूषिताः ।
इन्द्रनीलनिभैर्नालैर्योजनायतगन्धिभिः ॥५५२॥

दलानि प्रधानपत्राणि, प्रत्येकं लक्षपत्राणीत्यर्थः । उपलक्षितैरित्यर्थः ॥५५२॥

किं चात्र रुद्रलोके—

स्त्रीसहस्रकदम्बाढ्याः पुष्पप्रकरधूसराः ।
शरदिन्दुनिभा नार्यो नवनीतसुकोमलाः ॥५५३॥
सुभ्रूललाटवदनाः कृशोदर्यो मदालसाः ।
अलिपुञ्जनिभैः केशैर्मृगामोदसुगन्धिभिः ॥५५४॥
प्रलम्बश्रवणाधाराः पद्मपत्रायतेक्षणाः ।
दाडिमीपुष्पसंकाशैरोष्ठैरुत्पलगन्धिभिः ॥५५५॥
रम्भानिभाभिर्जङ्घाभिर्बाहुभिर्बिसकोमलैः ।
अशोकपल्लवाकारैः पादैः पद्मदलोपमैः ॥५५६॥

---

१. प्रक्रियाभेदो न विरुद्ध इति योजनीयम् ।

नखैश्च केतकीप्रख्यैर्दशनैर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।
स्वभावसुसुगन्धाढ्यैः प्रस्रवद्भिरिवामृतम् ॥५५७॥
हारकेयूरकटकैः सीमन्तमणिजालकैः ।
काञ्चीडोरैः सुरक्तैश्च कुसुमैर्भूषिता सदा ॥५५८॥

नार्यः स्त्रीसहस्रकदम्बकैः परिवाररूपेणाढ्याः । मृगामोदः कस्तूरिका । श्रवणाधारः कर्णपाली । अशोकपल्लवा लौहित्यस्य, पद्मदलानि तु सौकुमार्यस्य उपमानाय । केतक्यो लोहितराजयः स्वच्छाश्च ॥५५८॥

किं च—

तारकुम्भनिभाकारैरुन्नतैश्च पयोधरैः ।
सुवृत्तैः पीनपार्श्वैश्च पीनकण्ठसमाश्रितैः ॥५५९॥
गुरुश्रोणीभराक्रान्ता मुक्तावलिविराजिताः ।
राजहंसगतिस्पर्धिमत्तमातङ्गविभ्रमाः ॥५६०॥
नूपुरारावमुखरप्रस्खलन्मृदुविक्रमाः ।
हास्यलास्यविलासाढ्यभ्रूभङ्गतरलेक्षणाः ॥५६१॥
ह्लादयन्तीव गात्राणि रुद्राणां तन्निवासिनाम् ।

तारं रजतम् । पीने कण्ठे समाश्रितं समाश्रयणं येषां पयोधराणाम्, तैः । लास्यं सुकुमारं नृत्तम्, विलासा लीलाः, हास्यादिभिराढ्या भ्रूभङ्गतरलेक्षणाश्चेति विशेषणसमासः ॥

किं च—

कामग्रहग्रहाविष्टा घूर्णन्त्यो मदविह्वलाः ॥५६२॥
परिष्वजनमात्रेण मोदयन्त्यो गणेश्वरान् ।

कामे संभोगे ग्रहोऽभिनिवेश एव ग्रहो भूतमिति योज्यम् ॥

एवंविधरूपलावण्यशालिन्य एताः—

यद्यप्येवंविधा नार्यः

तथापि

निजभर्तृभयातुरा ॥५६३॥

अस्वैरिण्य इत्यर्थः ॥५६३॥

अतश्च—

वित्रस्तमृगनेत्रास्तु भर्तुरुत्सङ्गमागताः ।

ईदृश्यश्च—

अवगूह्य च सर्वाङ्गैरापीय वदनैर्मुखम् ॥५६४॥
क्रीडन्ति रुद्रभवने रुद्रकन्याः सरुद्रकाः ।

किं चात्र—

रुद्राश्चैवंविधाकारा ज्ञानयोगबलोत्कटाः ॥५६५॥

कामनिष्ठा अपि ज्ञानयोगाभ्यां न परिहीयन्त इत्यर्थः ॥५६५॥

एते च—

मुकुटैः कुण्डलैश्चित्रैर्महारत्नसमुज्ज्वलैः ।
केयूरकटकैर्डोरैः पुष्पवस्त्रविभूषणैः ॥५६६॥
मुक्ताफलावलीहारैर्ब्रह्मसूत्रोत्तरीयकैः ।

उपलक्षिताः सन्तः ॥

महाकाया महोरस्कास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ॥५६७॥
चन्द्रायुतप्रतीकाशाः कर्पूरक्षोदधूसराः ।
सुरसिद्धनुताः सर्वे सुप्रसन्ना वरप्रदाः ॥५६८॥
हरलब्धवरास्तृप्ता दशबाह्विन्दुमौलयः ।

तेषां च—

न तत्र मृत्युर्न जरा न शोकोऽस्ति वियोगजः ॥५६९॥

अतश्चैते—

क्रीडन्ति सार्धं कन्याभिः

न तद्भोगप्रदकर्मक्षये पुनः संसरन्तीत्याह—

संसारभयवर्जिताः ।

केवलमेते—

अधिकारक्षये रुद्रा रुद्रकन्यासमावृताः ॥५७०॥
श्रीकण्ठस्येच्छया सर्वे शिवं यान्ति तनुक्षये ।
गत्वा भूयो न जायन्ते कल्पकोटिशतैरपि ॥५७१॥

इच्छा अत्र अनुजिघृक्षा, तां विनोर्ध्वं सृज्यन्त एवेत्यर्थः ॥५७१॥

तदित्थम्—

एवंविधैरसंख्यातैर्विमानरथगामिभिः ।
महावृषगजारूढैः सिंहवाजिसुवाहनैः ॥५७२॥
लक्षायुतसहस्रैस्तु रुद्रकोटिभिरावृतम् ।
तन्मध्ये सर्वतोभद्रं सिंहद्वारैः सुतोरणैः ॥५७३॥
स्वच्छमौक्तिकसंकाशप्राकारशिखरावृतम् ।
नन्दीश्वरमहाकालद्वारपालगणैर्वृतम् ॥५७४॥
किंकिणीजालमुखरैः पताकाध्वजसंकुलैः ।
वितानच्छत्रषण्डैश्च मुक्ताहारप्रलम्बितैः ॥५७५॥

घण्टाचामरशोभाढ्यं दर्पणैश्चोपशोभितम् ।
कलशैर्द्वारन्यस्तैश्च रत्नपल्लवसंयुतैः ॥५७६॥
रचितैश्चित्रशास्त्रज्ञै रत्नचूर्णसमुज्ज्वलैः ।
स्वस्तिकैः पत्रवल्ल्याढ्यैश्चित्रितं भुवनाजिरम् ॥५७७॥
शतसिंहासनाकीर्णं वेदिकारत्नभूषितम् ।
गोपुराट्टालरथकैर्वीथीभिश्च भ्रमान्त्रकैः ॥५७८॥
सर्वरत्नविचित्राढ्यैर्द्वारबद्धैः सुशोभनम् ।
निर्गमैः सुगवाक्षैश्च विटङ्कैः स्फटिकप्रभैः ॥५७९॥
स्तम्भैः सोपानबद्धैश्च वज्रवैडूर्यसप्रभैः ।
पूर्णचन्द्रनिभाकारैरण्डैः शिखरमण्डितैः ॥५८०॥
मुक्ताफलप्रभाभिश्च भूमिभिश्च सहस्रशः ।
नाट्यशालैः सुशोभाढ्यैर्नृत्तगीतरवाकुलैः ॥५८१॥
मण्डपै रत्नचित्राढ्यैः सभामण्डलनिर्भरैः ।
आसीनै रुद्रवृन्दैश्च रुद्रकन्याकदम्बकैः ॥५८२॥
मत्तवारणकै रम्यैश्चन्द्रशालासुशोभनैः ।
धूपितं धूपवर्तीभिः कुङ्कुमोदकसेचितम् ॥५८३॥
चित्रपट्टैस्तु संछन्नं पुष्पप्रकरसंकुलम् ।
तूर्यशब्दजयध्वानकाहलाकूजितेन च ॥५८४॥
वंशवीणामृदङ्गैश्च गोमुखैर्मुखवादनैः ।
पणवैस्तालवाद्यैश्च शङ्खभेरीरवेण च ॥५८५॥
दुन्दुभीनादशब्देन मुरजस्फालनेन च ।
कारस्फोटमहाशब्दैः सिंहनादप्रगुञ्जितैः ॥५८६॥
गर्जद्भिर्गणवृन्दैश्च मेघस्तनितनिःस्वनैः ।
वन्दिनां स्तोत्रशब्देन सामवेदरवेण च ॥५८७॥
हुडुङ्काराट्टहासैश्च गेयझांकारयोजितैः ।
वृषनन्दितशब्देन गजवाजिरवेण च ॥५८८॥
काञ्चीनूपुरशब्देन नदतीव महत्पुरम् ।

नन्दीश्वरमहाकालप्रधाना द्वारपालगणा इति समासः । किङ्किणीजालमुखरैरित्यादि वितानच्छत्रषण्डविशेषणम् । मुक्ताहारप्रलम्बितैरिति पूर्वनिपातव्यत्ययः । चित्रशास्त्रज्ञैः कर्तृभिः रत्नचूर्णेन रचिता ये पत्रवल्ल्याढ्याः पत्रलतालंकृताः स्वस्तिकास्तैर्विचित्रम् । तत्र रुद्रभुवने भुवनाजिरं भुवनाङ्गनमिति योज्यम् । वेदिकाभिश्चतुरस्रभूमिकाभिः, रत्नैश्च प्राकारस्थैर्भूषितम् ।

गोपुराणि प्रधानद्वाराणि। अट्टालाः पुरप्राकाराः। रथका रचनाविशेषाः। वीथ्यो विमानसंचारभुवः। भ्रमान्त्रकैः जलप्रवाहप्रणालैः। सर्वरत्नविचित्रत्वाच्च आढ्यैः स्फीतैर्द्वारोपान्तगतैः शोभनम्। निर्गमाः मात्राः (?)। गवाक्षास्तदवलोकनजालकस्थानानि। विटङ्काः स्तम्भशीर्षकाः। अण्डा वर्तुलसंस्थानदेवगृहाः। रत्नरचनापरिष्कृतं यच्चित्रं तेनाढ्या। तथा सभास्थानेषु यानि रत्नचूर्णरचितानि मण्डलानि तैर्निर्भरा ये मण्डपास्तैर्युक्तम्। तूर्यं द्विखण्डं ताम्रादिमयं वाद्यम्। काहलास्तु त्रिखण्डाः। गोमुखा तट्टरी। पणवोऽन्तस्तन्त्रीवलयझांकारिणी ढक्का। तालवाद्यं वाद्यशब्दः। दुन्दुभिः कांस्यशब्दः। फनत्कारिणी ढक्का भेरी। गर्जनं सर्वप्राणबलोत्थो नादः। भक्तिवैवश्येनोच्चरन्नान्तरः शब्दो हुङ्कारः। वृषस्य परमेश्वरवाहनाभिमानप्रहर्षोत्थितो नादो नन्दितशब्दस्तेन। काञ्चीनूपुरशब्दो नृत्यद्रुद्रकन्यासंबन्धी। एवमीदृशैः शब्दैः पुरमेव साक्षान्नदतीति ज्ञायते ॥

तदित्थम्—

सर्वसंपत्करं श्रीमच्छङ्करस्य तु मन्दिरम् ॥५८६॥

तन्निवासिनामित्यर्थात् ॥५८६॥

अत्रासौ भगवान् रुद्रो ब्रह्मविष्ण्वन्द्रपूजितः।
गङ्गया स्नपितो नित्यं दिव्यवस्त्राम्बरच्छदः ॥५६०॥
पृथिव्या गन्धलिप्ताङ्गः श्रिया पुष्पैः सुपूजितः।
सप्तस्वरप्रमुख्यैश्च सरस्वत्या च संस्तुतः ॥५६१॥

पृथिवी गन्धगुणा। श्रीः पुष्पाश्रिता। एवं च गङ्गादिदेवता अस्य ब्रह्माण्डस्योपरि वक्ष्यमाणभुवनेभ्यः प्राकाम्यादवतीर्णाः स्वोचितं स्नानादि कुर्वत्योऽन्तरङ्गपरिवाररूपाः ॥५६१॥

अपि चास्य देवस्य—

पूर्णेन्दुरातपत्रं च स्वयमेव व्यवस्थितः।

तस्मिंस्तु—

गङ्गा तूत्तरिका च्छत्रे

गङ्गा तु उत्तरिकात्वं प्राकाम्येनाश्रित्य स्थिता ॥

किं चास्य—

सर्वादित्याश्च दीपिकाः ॥५६२॥

तथा—

पुष्पदन्तगणेशाद्यैरासनं तस्य संवृतम्।

तस्मिंश्चासने—

कपिलः कर्कटश्चैव विमर्दः कङ्कटस्तथा ॥५९३॥
विक्रमश्च दृढश्चैव निष्कम्पो निष्कलस्तथा ।
अष्टौ ते हरयः प्रोक्तास्त्रिनेत्रा भूरिविक्रमाः ॥५९४॥
सिंहरूपाः सुतेजस्काः सटाविकटभास्वराः ।

एतादृशैः—

शक्तिरूपधरैर्मन्त्रैर्योगैश्वर्यसमन्वितैः ॥५९५॥
आसनं विवृतं तैस्तु महोत्साहैर्बलोत्कटैः ।

अस्य भगवतो ब्रह्माण्डान्तरवस्थितस्यापि परमेव माहात्म्यमिति कृत्वा—

'शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते' (२।६३)

इति पूर्वोक्तभैरवासनवच्छिवशक्तिपरमार्था एव सिंहाः ॥

तत्र भद्रासने रुद्रः स्थितश्चन्द्रार्धशेखरः ॥५९६॥
सर्वलक्षणसंपूर्णः सर्वाभरणभूषितः ।
त्र्यक्षो दशभुजो देवो जटामुकुटमण्डितः ॥५९७॥
पीनवक्षःस्थलोरुश्च पीनस्कन्धो महाभुजः ।
बद्धपद्मासनासीनः कर्पूरक्षोदधूसरः ॥५९८॥
वरदाभयपाणिश्च सर्वायुधधरस्तथा ।

भद्रं प्रशस्तम् । वरदाभयौ पाणी मुख्यौ । सर्वायुधानि पूर्वोक्तानि खड्गखेटकादीनि ॥

किं च—

शतपत्राङ्कितैश्चैव हस्तपादैः सुकोमलैः ॥५९९॥
चन्द्रबिम्बनखाभाभिरङ्गुलीभिरलंकृतैः ।
सुश्लिष्टजानुगुल्फैश्च पादैश्चैव समुन्नतैः ॥६००॥
पूजितैर्गणरुद्रैश्च ब्रह्मविष्ण्विन्द्रवन्दितैः ।

शतपत्रपद्मचिह्नितहस्तपादत्वादिना दिव्यलक्षणत्वमुक्तम् । पादैरिति जातौ बहुवचनम्, प्राकाम्यतो वा 'यो विश्वतस्पात्' (श्वे० उ० ३।३) इति स्थित्या बहुचरणतोऽप्यस्य । इत्थंभूतलक्षण एतास्तृतीयाः ॥

किं च—

चामरव्यजनोत्क्षेपैः रुद्रस्त्रीभिः समन्ततः ॥६०१॥
वीजितस्तु सदा श्रीमांश्चन्द्रकोटिसमप्रभः ।
ज्ञानामृतसुतृप्तात्मा योगैश्वर्यप्रदायकः ॥६०२॥
ध्यातो वै योगिभिर्नित्यं प्रसन्नवदनेक्षणः ।
प्रहसन् स इवाभाति निर्मलज्ञानरश्मिभिः ॥६०३॥

अज्ञानतिमिरं हत्वा दर्शयेत् परमं वपुः ।
सर्वसौख्यप्रदाता च रुद्रमातृगणावृतः ॥६०४॥

ध्यातः सन् परस्वरूपानुप्रवेशाद् ज्ञानरश्मिभिः प्रहसन्निवाभाति । अतश्चाज्ञानं हत्वा परं स्वरूपं दर्शयत्येव ॥६०४॥

किं च—

तस्योत्सङ्गगता देवी तप्तकाञ्चनसुप्रभा ।
पूजिता योगिनीवृन्दैः साधकैः सुरकिन्नरैः ॥६०५॥
सर्वलक्षणसंपूर्णा सर्वाभरणभूषिता ।
योगसिद्धिप्रदा नित्यं मोक्षाभ्युदयदायिका ॥६०६॥
देवस्याभिमुखी नित्यमुमा तु ललितेक्षणा ।

परावेशशक्तितद्वन्तावेतदपरं रूपं श्रित्वा ब्रह्माण्डान्तःसृष्टिसंहारौ कुर्वाते इत्याह—

शक्तिश्चापररूपेण शक्तिमांश्च हरस्तथा ॥६०७॥
ब्रह्माण्डे सृष्टिसंहारौ करोति च शिवेच्छया ।

चकारावत्र तुल्ययोगे । तथेत्यपररूपेण । चकारः स्थितिविलयानुग्रहान् समुच्चिनोति । शिवोऽत्र परमः ॥

किंचेदम्—

दीक्षाज्ञानविहीना ये लिङ्गाराधनतत्पराः ॥६०८॥
ते प्रयान्ति हरस्थानं सर्वैश्वर्यसुखावहम् ।

अनेनापि क्रमेणास्यानुग्राहकत्वमित्यर्थः ॥

जरामरणनिर्मुक्ता व्याधिशोकविवर्जिता ॥६०९॥

ते च—

नाधो यान्ति पुनर्देवि संसारे दुःखसागरे ।

किन्तु

शिवं यान्ति ततश्चोर्ध्वं श्रीकण्ठेन समीक्षिताः ॥६१०॥

तत इति हरस्थानात् । सम्यगीक्षिताः शक्तिपातेनानुगृहीताः । तदेवयस्य पुरस्य भगवदधिष्ठानादयं महिमा यत्तत्प्राप्ता नाधो यान्ति, अपि तु श्रीकण्ठनाथेन सम्यगनुग्रहदृष्ट्येक्षिता मुच्यन्ते, अन्यथा तु ऊर्ध्वोर्ध्वमेव क्रमेण भोगाय सृज्यन्ते ॥६१०॥

इत्थम्—

रुद्रलोकः समाख्यातस्ततश्चोर्ध्वमुमे शृणु ।
उत्तरोत्तरवृद्ध्या च भुवनं भुवनं स्थितम् ॥६११॥

वृद्धिः प्रमाणविभवाभ्याम् । सा चाग्रे वक्ष्यते ॥६११॥

संप्रति तु—

ब्रह्माण्डस्याप्यधोभागे रुद्रलोकस्य चोर्ध्वतः ।
दण्डपाणेः पुरं ज्ञेयं नानारुद्रगणावृतम् ॥६१२॥
दण्डपाणिस्तु भगवान् योगैश्वर्यबलान्वितः ।
दण्डः पाणितलेनैव धृतो येन शिवेच्छया ॥६१३॥

रुद्रभट्टारक एवानेन वपुषा स्थितः ॥६१३॥

विवृणोति च ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं सुदुर्भिदम् ।
विधिनाराधितश्चैव अनुध्यानाच्छिवेच्छया ॥६१४॥

अनुध्यानमास्थाय विधिनार्चाजपादिरूपेणाराधितः सन् ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं सुदुर्भिदं योगिभिर्महता प्रयत्नेन भेत्तुं शक्यं विवृणोति विगतावरणं करोति ब्रह्माण्डकर्परिकाविभेदनयुक्त्या प्रगुणीकरोति, न तु रुणद्धि । अथ च परचैतन्यस्फारात्मा भगवान् रुद्रः स्वशक्तिगतसुस्पष्टीकृतप्राणदण्डप्रयोगेण शरीरगतहृत्प्रदेशाश्रितस्वात्माख्यातिरूपहृद्ग्रन्थ्याख्ये ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं करोति,

[1]'हृदये यः स्थितो ग्रन्थिरधऊर्ध्वनियामकः'

इत्याम्नाताख्यातिग्रन्थिप्रशमनेन मध्यमार्गगतशक्तिभूमिम्—

'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि० भै० २०)

इत्याम्नायोक्तस्थित्या शिवताप्राप्तिहेतुं स्फुटयतीत्यान्तरोऽर्थः, न तु ब्रह्मबिलान्ता ब्रह्माण्डव्याप्तिरिति व्याख्यातव्यम् । एवं हि जलाद्यावरणव्याप्तिर्देहाश्रया न भवेत्

'नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्रह्माणमूर्ध्वतः ॥
नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ।
नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥' (स्व० १०।१२३४-३६)

इत्यादिश्च भाविग्रन्थो भेदव्याप्तिहान्या निर्विषयः स्यात् । यत्तु—

'सौषुप्तेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्' (२।८)

इति श्रीस्पन्दे श्रीगुरुभिर्निबद्धम्, तद्ब्रह्मबिलाधिष्ठातृवक्ष्यमाणपञ्चब्रह्मोपलक्षितो यः शक्त्यण्डपर्यन्तोऽध्वा, तदभिप्रायेण स्थितमित्येतद्भ्रान्त्यापि न मुण्डान्ता ब्रह्माण्डव्याप्तिर्व्याख्येयेति यथाव्याकृतमेव भद्रम् ॥६१४॥

---

१. ई० प्र० वि० वि० II. २९३ इत्यत्र मालिनीसारवचनत्वेन स्मृतमेतत् ।

एवं दण्डपाण्यन्ते रुद्रलोके मूर्तिद्वयेनावस्थितो विश्वाधिपतित्वाद् मूर्तीशमध्ये पशुपतिर्यः, स रुद्राधिष्ठाता। ये त्वन्ये शर्वादयः सप्त मूर्तीश्वरास्ते भूरादि-सत्यान्तेषु सप्तसु लोकेष्वधिपतय इत्यादिशति—

सप्तलोकेषु ये रुद्रा

अधिपतयः ॥

तान्—

कथयामि समासतः।

तानाह—

शर्वो रुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च ॥६१५॥
महादेवस्तथेशानो रुद्रलोकाधिपास्त्वमी।

लोकानां भूरादीनां यथासंख्यमधिपाः। अनेनैवाशयेन—

निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा।
तस्यां च भुवनानां च शतमष्टोत्तरावधि॥ (स्व० ४।१०२)

इत्येतद्व्याख्याने कालाग्निः कूष्माण्डो हाटक इति ब्रह्माण्डान्तरधोभागे त्रयः, भूर्लोके शर्वः, सत्यलोकान्ते ब्रह्मा, विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोरित्यन्तः सप्त, बही रुद्रशतम्, तदुपरि सर्वाधिष्ठाता वीरभद्र इति व्याख्यातम् ॥

यदि भूर्लोकतः सत्यलोकान्तमेते रुद्राः पृथग्भुवनदीक्षायां सप्त शोध्याः, तदूर्ध्वं का तर्हि स्थितिरित्याह—

ब्रह्मलोके स्थितो ब्रह्मा विष्णुर्वै वैष्णवे पुरे ॥६१६॥

ब्रह्मलोको यः प्राग्वद् ब्रह्मासनमित्युक्तः ॥

तथैतदुपरि—

रुद्रलोके स्थितो रुद्रः सर्वेषां नायकः स्मृतः।

कालाग्न्यादित्रयस्य शर्वादिसप्तकस्य ब्रह्मविष्ण्वोश्चेत्यर्थः। अयं विश्वा-धिपतित्वाद् मूर्तीश्वरमध्ये पशुपतिरित्याख्ययोक्तः। एवं च—

'अनन्तं चैव कालाग्निं नरकांश्च यथाक्रमम्।
पातालानि ततश्चोर्ध्वं शोधयेदनुपूर्वशः॥' (१०।३४७)

इत्युक्तक्रमेण संशोध्य भूरादिसत्यान्तलोकसप्तकशुद्धौ शर्वादीनीशानान्तान् सप्त क्रमेण संशोधयेत्। ततो ब्रह्मविष्णुभुवनशुद्धौ ब्रह्मविष्णू संशोध्याविति भुवन-दीक्षायामस्यां भुवनेशशुद्धिविभागो ग्रन्थोपारूढ एव स्थितः। तेन यत् **श्रीभुल्लकः**—अनन्तभुवनात्प्रभृति समस्तद्वीपसमुद्रभूर्लोकान्तं शर्वः, भूर्भुवः-स्वर्महःसु रुद्रभीमभवाः, जनस्तपःसत्येषु त्रिषूग्रः, महादेवो विष्णुलोके, रुद्रलोके-ऽधिपश्चेशानः शोध्य इति स्वकल्पनयाऽभिहितवान्, तदुपेक्ष्यमेव ॥

तदेतत्संकलयितुमाह—

कालाग्नेर्दण्डपाण्यन्तमष्टानवतिकोटयः ॥६१७॥
योजनानां वरारोहे त्वध्वायमुपवर्णितः ।
कटाहस्तु अधश्चोर्ध्वं ब्रह्माण्डस्य वरानने ॥६१८॥
कोटियोजनमानेन घनाकारेण संस्थितः ।
पञ्चाशत्कोटयश्चोर्ध्वं भूपृष्ठात्तु वरानने ॥६१९॥
पञ्चाशच्च अधो ज्ञेया योजनानां समन्ततः ।
एवं कोटिशतं ज्ञेयं पार्थिवं तत्त्वमुच्यते ॥६२०॥

अधःकटाहाद्यथा भूपृष्ठान्तं पञ्चाशत्, तथा दर्शितम् । भूपृष्ठात्तु ध्रुवान्तं पञ्चदश लक्षाणि, तदूर्ध्वं महर्लोकः पञ्चाशीतिर्लक्षाणि कोटिद्वयं च, जनोलोकः कोट्यष्टकम्, तपोलोकः कोटयो द्वादश, सत्यलोकः षोडश, ब्रह्मभुवनं कोटिः, विष्णुलोकः कोटिद्वयम्, रुद्रलोकः कोटयः सप्त, ऊर्ध्वकटाहः कोटिरित्यूर्ध्वमपि पञ्चाशत्कोयय: पार्थिवं तत्त्वमिति तत्र यः स्थूल आभोगः, न तु तत्त्वस्यैतावत्येव व्याप्तिरुद्धातदीक्षायां बिन्द्वन्तमपि सूक्ष्मदृशा तद्व्याप्तेर्दर्शितत्वात् । ज्ञेयमुच्यत इति दीक्षाधारणादौ ज्ञातव्यमाचार्यसाधकादिभिरित्यभिधीयते भगवतेत्यर्थः ॥६२०॥

तदेतत्—

शतरुद्रावधि ज्ञेयं सौवर्णं परिवर्तुलम् ।
वज्रसाराधिकसारं दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ॥६२१॥

वज्रसारादधिकं सारं यस्य ॥६२१॥

एतच्च मन्त्रनादास्त्रप्रयोगेण दीक्ष्यस्य भेदनीयमित्याह—

हुंफट्कारप्रयोगेण भेदयेत्तु वरानने ।

एवं मान्त्रतेजःस्फारानुप्रवेशेनैव पादाङ्गुष्ठाग्रगतादनन्तभुवनादारभ्य हृदन्तमवस्थितं ब्रह्माण्डं चेद्विदीर्णम्, तद्बाह्यमपि तदनुषक्तं दलितमेव भगवतोक्तं भवति ॥

शतरुद्रावधीति यदुक्तम्, तद्विभक्तुमाह—

शतरुद्रानतो वक्ष्ये समासेन कृशोदरि ॥६२२॥

शतरुद्राभिधेत्थमेषामित्याह—

दश दश क्रमेणैव दशदिक्षु समन्ततः ।
पूर्वादिक्रमयोगेन

यतः स्थितास्तत एते शतरुद्रा उच्यन्त इति शेषः ॥

तांश्च—

कथयाम्यनुपूर्वशः ॥६२३॥
कपालीशो ह्यजो ब्रध्नो वज्रदेहः प्रमर्दनः ।
विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः ॥६२४॥

एते च—

इन्द्रस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा इन्द्रेण च सुपूजिताः ॥६२५॥

आक्रम्येत्यधिष्ठाय, अत्र हेतुः प्रभोः परमेश्वरस्य शक्त्या स्वातन्त्र्यात्मनाधिष्ठिता इदृशीमुन्मीलितदृक्क्रियाशक्तिमधिकारभूमिं ग्राहिताः, विचरन्ति सृष्ट्यादि कुर्वन्तः क्रीडन्ति । अत एवेन्द्रेण सुष्ठु भक्तिप्रकर्षेण पूज्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥६२५॥

अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलः खादको हरः ।
ज्वलनो दहनो बभ्रुर्भस्मान्तकक्षयान्तकौ ॥६२६॥
अग्नेर्बलं समाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा अग्निराजसुपूजिताः ॥६२७॥

अग्निराज आग्नेयदिक्पतिः । एवमन्यत् ॥६२७॥

याम्यो मृत्युर्हरो धाता विधाता कर्तृसंज्ञकः ।
सयोक्ता च वियोक्ता च धर्मो धर्मपतिस्तथा ॥६२८॥
यमस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा यमराजसुपूजिताः ॥६२९॥
नैर्ऋतो मारुतो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः ।
ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रलोहितदंष्ट्रकौ ॥६३०॥
नैर्ऋतं बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा नैर्ऋतेन्द्रसुपूजिताः ॥६३१॥
बलो ह्यतिबलश्चैव पाशहस्तो महाबलः ।
श्वेतोऽथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जलान्तकः ॥६३२॥
मेघनादी सुनादी च समासात् परिकीर्तिताः ।
वारुणं बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥६३३॥
विचरन्ति महादेवा वरुणेन्द्रसुपूजिताः ।
शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णो भयानकः ॥६३४॥
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः ।
वायोस्तु बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥६३५॥
विचरन्ति महादेवा वायुराजसुपूजिताः ।
निधीशो रूपवान् धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ॥६३६॥

लक्ष्मी रत्नधरः कामी प्रसादश्च प्रभासकः ।
सोमस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥६३७॥
विचरन्ति महादेवाः सोमराजसुपूजिताः ।
विद्याधिपोऽथ सर्वज्ञो ज्ञानदृग्वेदपारगः ॥६३८॥
शर्वः सुरेशो ज्येष्ठश्च भूतपालो बलि प्रियः ।
ईशानानुमता देवाश्चेष्टन्ते सुरपूजिताः ॥६३९॥
विचरन्ति महादेवा ईशशक्त्या त्वधिष्ठिताः ।
वृषो वृषधरोऽनन्तः क्रोधनो मारुताह्वयः ॥६४०॥
ग्रसनो डम्बरेशौ च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रकः ।
विष्णोस्तु बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥६४१॥
विचरन्ति महादेवा अनन्तेन सुपूजिताः ।

ईशानो दिक्पतिरनुमतो दिक्पतित्वेनाभिमतो येषाम् । सुरैः सर्वैः पूजिताः सर्वसिद्धिप्रदत्वात् । विष्णोरित्यधोदिग्गतस्य । अनन्तेनेति सर्वाधोदिगधिष्ठात्रा ॥

ऊर्ध्वदिशि तु—

शंभुर्विभुर्गणाध्यक्षस्त्र्यक्षश्च त्रिदशेश्वरः ॥६४२॥
संवाहश्च विवाहश्च नलो लिप्सुस्त्रिलोचनः ।
ब्रह्मणो बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥६४३॥
विचरन्ति महादेवा ब्रह्मणैव सुपूजिताः ।

एषां सर्वेषां मध्यात्—

एकैकस्य सहस्रं तु परिवारोऽभिधीयते ॥६४४॥

बृहत्तन्त्रेषु ॥६४४॥

एते च

शतरुद्रा इति ख्याता ब्रह्माण्डं व्याप्य संस्थिताः ।

व्याप्येति परिवृत्य ॥

एते च—

असंख्याताः सहस्राणि ये च ऊर्ध्वादिदिग्गताः ॥६४५॥
स्वच्छन्दा विश्वगा देवाः कल्पमन्वन्तरेष्वपि ।

सहस्रसंख्ययापि सख्यातुमशक्याः । प्रोक्तप्रभुशक्तिसमन्वितत्वात् स्वच्छन्दा अनुग्रहादौ स्वतन्त्राः । नियतशरीरत्वेऽपि विश्वगा व्यापकाः कल्पादिष्वपि च देवा द्योतमानाः ॥

प्रतिदिशं चैते दशदिग्व्यवस्थायां संनिविष्टा इत्याह—

पूर्वादिदशदिग्रुद्राः स्थिता दश दशैव तु ॥६४६॥

दशानां दशानाम्—

एकैकमधिपं चैव कथयामि वरानने ।
स्थितो वै पूर्वतोऽण्डस्य श्वेतो वै नाम नामतः ॥६४७॥
रुद्राणां तु शतैर्युक्तो महावीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिमद्भिर्महातीव्रैर्मयूखैरिव भास्करः ॥६४८॥
आग्नेय्यामग्निसंकाशो वैद्युतो नाम विश्रुतः ।
सोऽपि विद्युत्प्रभैः रुद्रशतैस्तु परिवारित. ॥६४९॥
याम्येऽण्डस्य महाकालो युगान्तानलसंनिभः ।
शतरुद्रैर्वृतो देवि तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥६५०॥
नैरृते विकटो नाम शतेन परिवारितः ।
संतिष्ठते महातेजा द्वितीय इव भास्करः ॥६५१॥

शतेनेति मुख्येन । एवमन्यत्र ॥६५१॥

पश्चिमेऽण्डस्य यो रुद्रो महावीर्य इति श्रुतः ।
शतरुद्रैर्वृतः सोऽपि तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥६५२॥
वायव्यदिशि चाण्डस्य वायुवेगो महाबलः ।
शतेन च वृतः श्रीमांस्तिष्ठत्यत्र महाबलः ॥६५३॥
सुभद्रनामोत्तरतः शतेन परिवारितः ।
महावीर्यबलोपेतस्तिष्ठत्यत्र महाबलः ॥६५४॥
परिविष्टो मरीचिभिस्तत्र तिष्ठति वीर्यवान् ।
विद्याधरो नाम रुद्र ऐशान्यां वै प्रतिष्ठितः ॥६५५॥
शतरुद्रैर्वृतः सोऽपि परिविष्ट इवोडुराट् ।
महावीर्यबलोपेतस्तिष्ठतेऽनन्तविक्रमः ॥६५६॥

परिविष्टो मरीचिभिः परिवृतः ॥६५६॥

अधः कालाग्निरुद्रोऽन्यः स्थितस्त्वत्र द्वितीयकः ।
समावृतो रुद्रशतैः स्थितैस्त्वत्र वरानने ॥६५७॥

द्वितीयक इत्यन्तस्थात् कालाग्नेरन्यः ॥६५७॥

शतैः समावृतो रुद्रो मयूखैरिव भास्करः ।

उपरिष्टाद् रुद्र इत्येतदाख्ययाख्यातः ॥

तदित्थम्—

वीरभद्रो वृतो रुद्रैरुपर्यण्डस्य संस्थितः ॥६५८॥
एकादशो महाकायै रुद्रक्रोधसमुद्भवैः ।

वृत इत्येतैः श्वेतादिभिरेव पूर्वादिदिग्गतशतरुद्राधिष्ठातृभिः । एवं मध्यवर्ती वीरभद्र एकादशः । एतैश्च समस्तरुद्रावणस्य भगवतो रुद्रस्य संसारवित्रासकारिणः क्रोधादुद्भूतैः । क्रोधसमुद्भव इति पाठो वीरभद्रैकविषयः । यतश्चैते श्वेतादयो वीरभद्रस्य परिवारभूतास्तत एव श्रीपूर्वशास्त्रे—

'अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापरः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शंभुश्च...................॥' (मा० वि०५।१३-१४)

इति प्रतिदिग्गतरुद्रदशकमध्यगमेकैकं रुद्रमुक्त्वा वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभ एकादश उक्तः, श्वेतादयस्तु तत्परिवारत्वान्न प्राधान्येन गणिताः ॥

उपसंहरति—

एवं तेऽत्र महात्मान एकैकं तु शतेन च ॥६५९॥
दशैते वेष्टिता देवि शतरुद्रैश्च सुव्रते ।

प्रत्येकं शतेन परिवारभूतेन प्रोक्तैश्च कपालीशादिभिरन्तरङ्गैर्दशभिर्वेष्टितः । एवमस्यां विततायां भुवनदीक्षायां सर्व एवैते पार्थिवाण्डगता यथोक्तभुवनेश्वराः शोध्याः, न तु प्राक् संक्षिप्तदीक्षोक्तमष्टोत्तरमेव शतमिति न तदाशयेनेदं विपर्यासितव्यं प्रतिपदोक्तस्य विधेः श्रुतिप्रमाणोत्कर्षेण बलवत्त्वादिति । यत्तु श्रीभुल्लकेन—अनन्तश्री······दिभिर्द्वीपादिभिः सह सप्तनवतिः, बहिरेकादशेति कल्पितम्, तदसदेव ॥

एते श्वेतादयो दश शतरुद्रपरिवृता अपि एकैकं शतेन परिवृता इति यदुक्तम्, तत्संक्षेपाशयेन, विस्तरतस्तु—

एषामपरिसंख्येयः परिवारो महात्मनाम् ॥६६०॥

अतश्चैते सर्वे —

आवृत्याण्डं स्थिता ह्येते मधु यद्वन्मधुव्रताः ।
कदम्बकुसुमं यद्वत् केसरैः परिवारितम् ॥६६१॥
परिवारितं तथा ह्यण्डं रुद्रैरमितविक्रमैः ।

मधुव्रता मधुकराः ॥

तथा—

गृहैः सतोरणाट्टालैर्नानारत्नविचित्रितैः ॥६६२॥
जाम्बूनदमयैश्चित्रैः समन्तात् समलंकृतम् ।
दिव्यनारीभिराकीर्णं सर्वकामसमन्वितम् ॥६६३॥

ब्रह्माण्डमेतदाख्यातं पाशजालावतारितम् ।
जन्मव्याधिजरामृत्युमहोदधिपरिप्लुतम् ॥६६४॥
गुणत्रयमलच्छन्नं नानाजातिसमाकुलम् ।
पशुज्ञानपरिक्रान्तं गतित्रयसमाकुलम् ॥६६५॥

गृहा भुवनानि । आणवादिपाशजालेनावतारितमाच्छादितं जन्मादिपरिप्लुतं चेति तदाश्रयजनाभिप्रायेण । गुणत्रयं सत्त्वादि, तदेव मलम् । जातयश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः । पशुज्ञानेन वेदसांख्यादिना परितः समन्तात् क्रान्तं तज्ज्ञानाश्वासबहुलमिति यावत् । गतित्रयं देवमनुष्यतिर्यग्रूपम् ॥६६५॥

अत्र च—

अनित्या एव गतयः सर्वेषामेव वादिनाम् ।

गतयो देवमनुष्यतिर्यक्प्रवृत्तयः ॥

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥'

(भ० गी० ९।२१)

इति नीत्याऽनित्याः परिमितकालाः । वादिनामिति वेदसांख्यपुराणेतिहासन्यायवैशेषिकसौगतार्हतादिनिष्ठानाम् ॥

यत एते—

परापरविभागं तु नैव जानन्ति मोहिताः ॥६६६॥

भेदात्मकं पदमपरम्, अद्वैतं तु परमिति न जानन्ति मायया व्यामूढीकृतत्वात्, अतो भेदपद एव सुरनरतिर्यक्पदानि परापरतया प्राप्याणि मन्यन्ते ॥६६६॥

अतश्च—

हेमाण्डं तु पुरा सृष्टं क्षयात्म भुवनाकृति ।
ईशमायासमाविष्टस्यात्मवर्गस्य भूतये ॥६६७॥

यद्यपि समनान्तं क्षययोगि, तथापि यदस्य क्षयात्मत्वमुक्तम्, तदतिपरिमितकालतया तुच्छताप्रतिपादनाशयेन । समाविष्टस्य क्रोडीकृतस्य । भूतये कर्मोपभोगसिद्ध्यर्थम् ॥६६७॥

गतमेतत्—

अथोपरिष्टात्तत्त्वानि उदकादिशिवान्तकम् ।

उच्यन्त इति शेषः ॥

तत्र मानकलनयोतानि—

उत्तरोत्तरयोगेन दशधा संस्थितानि तु ॥६६८॥

शतकोटिविस्ताराद् ब्रह्माण्डाद् दशधा गुणितं जलतत्त्वम् । ततो दशगुणं तेजः । ततोऽपि वायुः । ततोऽपि व्योम । ततोऽपि गर्भीकृततन्मात्रेन्द्रिय एव गुणः ॥६६८॥

अहंकारः

एवंकलितपरिमाणादहंकारात्—

तदूर्ध्वं तु बुद्धिस्तु शतधा स्थिता ।

ततोऽपि—

ऊर्ध्वं सहस्रधा ज्ञेयं प्रधानं वरवर्णिनि ॥६६९॥

गुणतत्त्वेन सह प्रकृतितत्त्वस्य तत् परिमाणमित्यर्थः ॥६६९॥

तदुपरि—

पौरुषं दशसाहस्रं

ततोऽपि—

नियतिर्लक्षधा स्मृता ।

तदूर्ध्वं दश लक्षाणि कला यावत्तु सुव्रते ॥६७०॥

तदेवंविधात् कलातत्त्वमानादपि—

माया तु कोटिधा

सा च—

व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम् ।

सर्वमिति कलादिक्षित्यन्तम् । एतच्चोपलक्षणपरं सर्वतत्त्वेषु, तेन पृथिव्यादितत्त्वान्युत्तरोत्तरं जलादितत्त्वैर्व्याप्तानि । अतश्च शतकोटिविस्तीर्णाद् ब्रह्माण्डाद् दशगुणं यदप्तत्त्वमुच्यते, तत्तदन्तर्वर्तिना ब्रह्माण्डेन सह । तेन मध्ये ब्रह्माण्डं कोटिशतम्, अधोजललेखिका चत्वारि सर्वाणि कोटिशतानि, जलावरणस्य मानं मध्यवर्तिना व्याख्यातेन ब्रह्माण्डेत सह तु कोटिशतान्येव, सर्वतः पारिवार्तुल्यमानब्रह्माण्डेनान्तर्वर्तिना दशकोटिशतानि जलावरणमिति स्थित्या तेजस्तत्त्वादीन्यप्यन्तर्वर्तिजलादितत्त्वमानेन सह यथोत्तरं दशादिगुणितानि व्याख्यातव्यानि ॥

तदेवंविधान्मायापरिमाणात्—

दशकोटिगुणा विद्या

सापि व्याख्यातदृष्ट्या ऊर्ध्वाधःकोटिनवकपरीमाणा मध्यस्थात् कलामानात् कोटिगुणितात् ॥

मायां व्याप्य व्यवस्थिता ॥६७१॥

अथ ततोऽपि—

शतकोटिगुणेनैव व्याप्तासावीश्वरेण तु ।

ईश्वरेण ईश्वरतत्त्वेन ॥

ततोऽपि तद्व्याप्यैव स्थितम्—

सादाख्यं कोटिसाहस्रं बिन्दुनादं तदूर्ध्वतः ॥६७२॥

सादाख्यं यत् तत्त्वं कोटिसहस्रपरिमाणम्, तदेवोर्ध्वत इति तत्रैवाध्वन्यूर्ध्वभागे परव्याप्त्या बिन्दुनादं वक्ष्यमाणबिन्दुनादात्मकावरणरूपतया स्थितं परं सादाख्यं रूपम् । बिन्दुनाऽर्धचन्द्रनिरोधिकावरणे, नादेन च नादान्तावरणमुपलक्षितम् । एतच्चाग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥६७२॥

अतोऽप्यूर्ध्वे—

योजनानां तु वृन्दं वै शक्तिर्व्याप्य व्यवस्थिता ।

वृन्दं शतकोटिसहस्राणि । शक्तिरिति शक्तितत्त्वम् ॥

अत्रैव च शक्तिसंबन्धिन्यूर्ध्वभागे—

व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवि व्यवस्थिता ॥६७३॥

शक्तिरेव परया व्याप्त्या परशिवतत्त्वात्मा व्यापिनीरूपाः, सर्वमिति शक्तिसदाशिवाद्यधस्तनं समनात्मकं चोर्ध्वमध्वानं व्याप्य स्थिता । एषां च सर्वेषां तत्त्वानां पूर्वमेव स्वरूपं व्याख्यातमिति मायान्तं तत्तत्पदोचितानां क्षेत्रज्ञानां विचित्राणाम्, विद्यादिव्यापिन्यन्तं तु मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वराद्यावर्तन भेदभिन्नानां रुद्राणामवस्थितिरिति तदपेक्षया तत्र तत्र तथोचितमेव भुवनभोगादिकम् । तदेतदग्रे व्यक्तीकरिष्यति भगवान् ॥६७३॥

एवमपरशिवतत्त्वान्तमध्वपरिमाणमुक्त्वा विश्वव्यापिनि परमशिवतत्त्वे न परिमाणमस्तीत्याह—

अप्रमेयं ततो ज्ञेयं शिवतत्त्वं वरानने ।

ततो व्यापिनीसमनान्तादध्वन ऊर्ध्वं यत् श्रेयोरूपं तत्त्वं पारमार्थिकं स्वतन्त्रप्रकाशानन्दघनं परमशिवरूपम्, तदप्रमेयं परप्रमात्रेकरूपमित्येवं ज्ञेयं निश्चेतव्यम्, न त्वितरतत्त्ववदुत्तरोत्तरप्रमाणाधिक्यकलनया कलनीयम् । एवं चाभिदधदेवमादिशति यत् समनान्तं विश्वं यथोक्तप्रक्रियया प्रमेयीकुर्वन्नेव परप्रमात्रात्मनि स्वप्रकाशचिदानन्दघने परमशिवपदे समाविशेदिति ॥

एवं प्रसङ्गादुक्त्वा जलतत्त्वादौ भुवनस्थितिं प्रकटयितुमाह—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि अप्तत्त्वादावनुक्रमात् ॥६७४॥

तथा—

आकारं विभवं चैव भुवनानेकविस्तरम् ।

आकारः संस्थानम् । विभवो विभूतिः । भुवनानेकस्य तत्तत्प्रधानभुवनानुलग्नस्य भुवनसमूहस्य विस्तारो दशसंख्याकृतं वैतत्यम् ॥

एतच्च पारमेश्वरव्यतिरेकेण नान्यत्र दृष्टमित्याह—

यन्न दृष्टं पशुज्ञानैः कुपथभ्रान्तदृष्टिभिः ॥६७५॥

स्वतन्त्रचिद्घनानन्दात्मकपरभैरवस्वस्वभावाख्यातिपाशपाशितत्वात् संकुचितदृक्शक्तीनां ज्ञानानि ज्ञायतेऽभिलषितं पशुभिः यैस्तैः पशुशास्त्रैः, यन्न ज्ञातं तथा कुपथेन परिमितक्लेशमात्रप्रशमकारिणा, न तु परिपूर्णपदप्राप्तिप्रदेनोपायप्रदर्शनेन भ्रान्ता लब्धातात्त्विकप्रकाशा दृष्टिर्ज्ञानं प्रतिपद्यमानं येषां तादृग्भिः ॥६७५॥

तान्येतानि पशुज्ञानानि लेशतो दर्शयितुमाह—

यन्न सांख्यैर्न योगैर्वा न चैव पाञ्चरात्रिकैः ।

प्रकृतिपुरुषयोरविवेकमात्रात् संसारो विवेकात्तु मुक्तिरितीदृग्ज्ञानैः सांख्यैः, अत्रैव चित्तैकाग्र्यात्मयोगावेशसंप्राप्यद्रष्टृस्वरूपावस्थित्यात्ममुक्तिवादिभिर्योगशास्त्रस्थैः, षड्विंशतितत्त्वरूपमहाविभूत्यात्मकवासुदेवाख्यपरप्रकृतिपरिणामात्मकप्रकृत्यादिजगद्वादिभिः पाञ्चरात्रिकैर्यन्न दृष्टमिति संबन्धः ॥

तथा—

स्वभाववादिभिर्नापि न च कर्मप्रवादिभिः ॥६७६॥
नापि संशयवादैश्च नग्नक्षपणकादिभिः ।

पृथिव्यादयः स्वभावेन तनुकरणभुवनादिकार्यार्थं प्रवर्तन्ते न पुनरत्रेश्वरः प्रवर्तकोऽस्तीत्येवं वदद्भिः **स्वभाववादिभिः**, कर्मैव विश्वकारणं नान्यदित्याचक्षाणैः **कर्मप्रवादिभिः**, दैवं पुरुषकारो वा विश्वकारणमिति ब्रुवाणैः **संशयवादिभिः**,

'जीवाजीवास्रवाश्चैव संवरो विवरस्तथा ।
बन्धो मोक्षश्च सप्तैते सप्तभङ्गीविचित्रिताः ॥'

इति वचनव्यक्त्याऽनादिसिद्धो बन्धो मोक्षश्च । त्रिविधो जीवः अजीवस्तु स्थावरम्, पुद्गलो देहः, धर्मोऽधर्मो भुवनाद्यधिकरणं लोकाकाशो मुक्तपुद्गलस्थानमलोकाकाशश्चेति षड्विधा शब्दादिविषया विकल्पवृत्तिः सुखदुःखादिसंभिन्ना विकल्पकप्रशमनरूपा आ समन्तात् स्रवति प्रसरत्यजस्रमित्यास्रवो यमनियमादिनियमितेन्द्रियवृत्तिपूर्वममलपुद्गलरूपध्यानम् सम्यग्वृणीते जीवानिति संवरः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलापतनमलधारणादिसमस्तदुःखानुभवः प्राक्संचिताशुभसंचयस्य निर्झर इव विध्वंसको विवरः लोभमोहशोकादिलोहपञ्जर इवा-

लाबुपात्राणां निमज्जकः पुद्गलानामावारको बन्धः तदावरणव्यपगमे सुखसंविदात्मकपुद्गलोन्मज्जनमलोकाकाशो मोक्षश्चेति जीवाजीवादिपदार्थसप्तकवादिभिः—१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च, ४ स्यादनिर्वाच्यं, ५ स्यादस्ति च निर्वाच्यं, ६ स्यान्नास्ति च निर्वाच्यं, ७ स्यादस्ति च नास्ति चानिर्वाच्यं चेति सप्तभिरेव भङ्गोभिरनिश्चितमेव सर्वं वदद्भिर्नग्नक्षपणकादिभिर्यन्न दृष्टमिति संबन्धः ॥

तथा—

न भूतवादिभिश्चैव

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति भूतचतुष्टयमेव प्रत्यक्षदृष्टमस्तीति कथयद्भिश्चार्वाकैः ॥

नापि स्याल्लौकिकैरपि ॥६७७॥

वार्तादण्डनीतिमात्रनिष्ठैः ॥६७७॥

न चात्मचिन्तकैर्वापि

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' (ऋ०१०।६०।२)

इत्यादि चिन्तयद्भिर्वैदिकैः—

न च तर्कप्रवादिभिः ।

'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'

(न्या० सू०१।१।४०)

इत्यूहरूपेण तर्केण व्यवस्थां कुर्वद्भिः ॥

न च वैशेषिकैर्वाऽपि षट्पदार्थपरायणैः ॥६७८॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यपदार्थषट्कमेव तत्त्वमित्यभिदधद्भिः कणादशिष्यैः ॥

न चापि न्यायवादैश्च

प्रमाणादिपदार्थषोडशकतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमो भवतीति ब्रुवाणैर्नैयायिकैः ॥

हेतुदृष्टान्तवादिभिः ।

न च यद्दृष्टमिति स्थितमेव ।

'तद्भावहेतुभावो हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्यातेऽर्थे विदुषो नान्यो हेतुरेव हि केवलः ॥' (प्र० वा० ३।२७)

इत्यारटद्भिः सौगतैः ॥

नाप्येकजन्मवादैश्च

वर्तमानमेवेदमेकं जन्म, न तु जन्मान्तरमभूद् भावि वेत्युदितवद्भिः ॥

न चाप्येकत्ववादिभिः ॥६७९॥

पारमेशशास्त्रप्रतिपादितस्वप्रकाशस्वतन्त्रचिदद्वयवादव्यतिरेकेण सत्ताद्यद्वयवादिभिः ॥६७९॥

न धूर्तवादैर्लोकैर्वा सुपरिज्ञातमैश्वरम् ।

धूर्तविरचितम्लेच्छादिशास्त्रनिष्ठैः । ईश्वरेण शिवभट्टारकेण प्रोक्तमप्तत्त्वादिभुवनानामाकारविभवविस्तारादिकं यत् सांख्यादिभिर्धूर्तलोकपर्यन्तैर्न कैश्चिदपि परिज्ञातम्, तत्ते वक्ष्यामीति प्रोक्तेनैव संगतिः ॥

न चेयन्त एव वादिनः, अपि तु—

इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् ॥६८०॥
त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये वादिनां भ्रान्तचेतसाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानामुन्मीलनकृदुत्तमम् ॥६८१॥
संसारपङ्कमग्नानां नौरिवोत्तारणं परम् ।
महामोहतमोऽन्धानां तमोनुदमिदं परम् ॥६८२॥
परमेशमुखोद्भूतं यन्मया प्राप्तमद्भुतम् ।
ज्ञानामृतमिदं दिव्यं नानाभुवनविस्तरम् ॥६८३॥
शृणुष्वैकमना देवि विचित्राकारमद्भुतम् ।

इतिशब्दः प्रकारवाची । एवंप्रकारं वदतां वादिनां संबन्धिनो ये वादास्तेषां मध्ये जलादिशिवान्तगततत्तद्भुवनाद्यध्ववेद्यीकरणप्रतिपादनेन तावद्वेद्यवेदकपरभैरवात्मकमहाप्रमातृपदसमावेशप्रदमिदं ज्ञानामृतम् । अज्ञानतिमिरेण तत्त्वावेदनान्धकारेण, अन्धा अनुन्मीलितदृक्शक्तयः, तत एव भ्रान्तचेतसः, तेषां शक्तिपाततः प्राप्तं सद् उन्मीलनकृत् स्वस्वभावोन्मेषकम् । तथा संसारकर्दमे मग्नानां नौरिवोत्तारणं परं पारप्रापकम् । महामोहो विषयेष्वलंकारवस्त्रस्त्र्यादिष्वात्माभिमानः, तमः पुर्यष्टके आत्माभिमानः, आभ्यां मोहतामिस्रान्धतामिस्रा लक्ष्यन्ते । एवमेभिरन्धीकृतानां तमोनुदमित्यज्ञाननाशनम् । परमेशमुखोद्भूतमिति परभैरवादेव शक्तिसदाशिवादिक्रमेणायातं यद् मया कैलासवासिना प्राप्तमिति श्रीश्रीकण्ठाद् लब्धदीक्षेणाधिगतम् । अद्भुतं निभाल्यमानं सद्विस्मयमुद्रानुप्रवेशनेन परभैरवस्वरूपाभिव्यञ्जकम्, अत एव दिव्यम् । नानाभुवनानां प्रतिपाद्यमानानां विस्तारो विभवादिप्रपञ्चो यत्र तत्तादृशम् । ज्ञानामृतप्रतिपादकमिदं शास्त्रमेव ज्ञानामृतम् । एकाग्रमनाः शृण्वित्यनेन परमोपादेयतां ध्वनति ॥

अद्भुतत्वं भुवनानां स्पष्टयति—

अनन्तो भुवनव्रातस्त्वव्युच्छेदादव्यवस्थितः ॥६८४॥
मधुकोशजालकवत्तथा भूरिचयावृतिः ।

अव्युच्छेदान्नैरन्तर्येण । मधुकोशे मधुमक्षिकाणां गोलकाकृतावाश्रये यानि जालकानि उपर्युपरि वर्तुलाकृत्या स्थितानि । भूरिचयावृतिरिति विततया परस्परमावार्यावारकतयावस्थितः ॥

किं च—

मीनशंखकुलायाभं दाडिमीबीजवत् स्थितम् ॥६८५॥
कदम्बकेसरनिभं पुराणां तु समूहकम् ।

कुलायमालयः । दाडिमीबीजवदित्यतिनिबिडगर्भार्थस्थितम् ॥

किं च—

महासेनावासकेवद्वने तरुसमूहवत् ॥६८६॥
निरन्तरमनन्तानि भुवनानि वरानने ।
नानाकाराणि चित्राणि सर्वरत्नमयानि च ॥६८७॥

महती चासौ सेना च महासेना, तस्या आवासकः शिबिरम्, तद्वत् । आकारः संस्थानम् । विचित्राणि विविधशोभाभाञ्जि ॥६८७॥

तथा—

परिमण्डलानि दीर्घाण्यर्धचन्द्राकृतीनि च ।
पुरुषाकृतीनि चान्यानि नन्द्यावर्ताकृतीनि च ॥६८८॥
पर्वताकृतिरूपाणि गजयूथाकृतीनि च ।
शरावाकृतीनि चान्यानि ज्वालारूपाकृतीनि च ॥६८९॥
महाविमानरूपाणि त्रिशूलाकृतिमन्ति च ।
मुरजाकृतीनि चान्यानि त्र्यश्राकृतिपुराणि च ॥६९०॥
महापुरुषरूपाणि शतशृङ्गाकृतीनि च ।
सहस्रशृङ्गावर्तानि तथान्यानि वरानने ॥६९१॥
कोटिशृङ्गाणि चान्यानि असंख्यशिखराणि च ।
वृत्तानि चतुरश्राणि त्रिकोणान्यपराणि च ॥६९२॥

परिमण्डलानि सन्ति दीर्घाणीति पश्चात्परिमण्डलान्यग्रे तु दीर्घाणि, अत एव वृत्तानीत्यनेन न पुनरुक्तता । नन्द्यावर्तः संनिवेशविशेषः । मुरजाकृतीनां भुवनानां त्र्यश्राकृतीनि पुराणि गृहा येषामिति विशेषणम्, तेन त्रिकोणानीत्यपुनरुक्तम् । महापुरुषः—

'पृथुवक्षा दीर्घबाहूरुश्च'

इत्यादिरूपः । पुरुषाकृतीनीति तु सामान्योक्तिः ॥६९२॥

किं च—

दिव्यचित्रपताकानि दिव्यघण्टाध्वजानि च ।
भेरीनादस्वराढ्यानि दिव्यगीतध्वनीनि च ॥६६३॥
दिव्यदुन्दुभिनादानि महावेणुस्वनानि च ।
नानावादित्रघोषाणि भुवनानि च सर्वदा ॥६६४॥

इत्थमेषां विभूतिमुक्त्वा वर्णमाह—

शुक्लानि स्फटिकाभानि पद्मरागाकृतीनि च ।
चन्द्रकान्तसवर्णानि मुक्तादामनिभानि च ॥६६५॥
लाक्षारससवर्णानि कानिचिद्द्रवर्णिनि ।
इन्द्रगोपकवर्णानि इन्द्रनीलनिभानि च ॥६६६॥
नीलोत्पलसवर्णानि विद्युत्पुञ्जनिभानि च ।
बालादित्यसवर्णानि पद्मगर्भनिभानि च ॥६६७॥
चन्द्रप्रभानि चान्यानि चन्द्रकोटिनिभानि च ।
मध्याह्लार्कसवर्णानि सूर्यकोटिनिभानि च ॥६६८॥
अशोकस्तबकाभानि हरितालनिभानि च ।
शक्रचापसवर्णानि गोक्षीरधवलानि च ॥६६९॥
सिन्दूरकुङ्कुमाभानि गोरोचननिभानि च ।
तप्तहेमसवर्णानि निर्धूमाग्निनिभानि च ॥७००॥
शङ्खपाण्डुरवर्णानि कानिचिद्भुवनानि च ।
नानावर्णानि चान्यानि नानारूपाकृतीनि च ॥७०१॥

इन्द्रगोपकः खद्योतकः । एतानि च जलतत्त्वादनाश्रितशिवतत्त्वान्तमीदृश्युक्तानि ॥

यतः—

एतेषां परतो देवि व्यापकं परमं पदम् ।
अप्रमेयमसंख्येयमगम्यं सर्ववादिनाम् ॥७०२॥

अप्रमेयमिदन्तया परिच्छेत्तुमशक्यं यतः संख्ययापि निर्देष्टुमशक्यम् । अतश्च शैवशास्त्रज्ञव्यतिरेकेण प्रागुक्तानां सर्ववादिनामगम्यमप्राप्यम् ॥७०२॥

तदाह—

विना प्रसादादीशस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते ।
न चापि भावो भवति दीक्षामप्राप्य देहिनाम् ॥७०३॥

शक्तिपाततो लब्धमाहेश्वरदीक्षाणामेतज्ज्ञानं लब्धं सत् प्ररोहति नान्यथेत्यर्थः ॥७०३॥

एतदेव स्पष्टयति—

यदा तु कारणाच्छक्तिर्भवेन्निर्वाणकारिका ।
शिवेच्छया प्रपद्येत दीक्षां ज्ञानमयीं शुभाम् ॥७०४॥
मन्त्रयोगात्मिका दिव्यां

तदेति मध्ये व्याकार्यम् । कारणात् परमशिवात् निर्वाणकारिका शक्तिर्भवेद् अनुग्राह्यस्योन्मज्जति तदा सोऽनुग्राह्यो दीक्षां प्रपद्येत । दीक्षां ज्ञानमयीमित्यनेन प्रोक्तवक्ष्यमाणसमस्ताध्वमेयीकरणलब्धपरप्रमातृपदानुप्रवेशाभिव्यक्तिदाम्, शुभां जीवन्मुक्तिरूपाम्, ज्ञानमयीमित्यनेन क्रियादीक्षयापि ज्ञानसारतैवेत्यादिशति । मन्त्रेण मननत्राणधर्मिणा योग ऐक्यं यस्याम्, दीक्षायां हि मन्त्राराधनात् तत्तादात्म्यं भवति । दिव्यामिति वैष्णवादिदीक्षाभ्योऽभ्यधिकप्रभावाम् ॥

इत्थं ज्ञानमयीं दीक्षामासाद्य—

ततो मोक्षं व्रजेत् पशुः ।

जीवन्मुक्तिं लभते पशुरिति प्रागवस्थानुवादः ॥

यदि त्रिवर्यद्विश्ववेद्यवेदनतः परां वेदकभुवं नारोहति, तदा न मुच्यत इत्याह—

नान्यथा मोक्षमायाति अपि ज्ञानशतैरपि ॥७०५॥

पूर्वनिर्दिष्टरूपैः ॥७०५॥

अतश्च—

यस्य प्रकाशितं सर्वं शिवेनानन्तरूपिणा ।
स एव मोक्षं व्रजति

प्रकाशितमित्यनेन भुवनाध्वज्ञानेनाभिव्यक्तिं नीतम् । अनन्तरूपिणाऽशेषशरीरेण ॥

काऽस्य मोक्षप्राप्तिरित्याह—

शिवः सर्वमहेश्वरः ॥७०६॥

शिव इति प्राप्ताद्वयप्रकाशानन्दघनश्रेयोरूपः, तत एव ब्रह्माद्यनाश्रितान्ताधिष्ठातृत्वात् सर्वेषां महानीश्वरः ॥७०६॥

किं च—

तेनेदं ज्ञानमुख्यं तु पुरा प्रोक्तं मया तव ।

तेनेति सर्वमहेश्वरात्मकपरस्वरूपेण मया कैलासवासिना देव्याः परशक्तिरूपायाः पुरा प्रोक्तमित्यनेन परस्वरूपप्रत्यभिज्ञापनया देवीमुन्मिषत्स्वस्थानां कुर्वन्नेतद्बृंहयन् प्रोक्तज्ञानदीक्षातो मुक्तः परमेश्वर उमापतिश्चैकं तत्त्वमिति । अतश्च तन्त्रावतारपटलोक्तपरसंबन्धसारतैव सर्वत्रेति दर्शितं भवति ॥

एतच्च—

संसारार्णवमग्नानां नौरिवोत्तारणं परम् ॥७०७॥

यत एतत्—

महामायाञ्जनातीतं

मायोपरि महामाया सदाशिवादीनामपि समुचितसंकोचोत्थापिका शून्यातिशून्यरूपा शक्तिस्तत्कृतमञ्जनमावरणमप्यतीतम् ॥

अत एव—

अज्ञातं पशुगोचरे ।

पशूनां मायाञ्जितत्वात् ॥

किं चेदम्—

अनन्तं पारमक्षोभ्यं सुबोधं परमेश्वरम् ॥७०८॥

अनन्तं देशकालाकारानवच्छिन्नम् । पारं च मायापर्यन्तात्मकम् । स्वतन्त्रचिदेकघनाकारत्वान्न केनचित् क्षोभणीयमपि तूल्लासनविलापनक्रमेण विश्वक्षोभकम् । सुबोधमिति—

'दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।

तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥' (४।१३)

इति श्रीस्पन्दनिरूपितनीत्या विश्वप्रमेयीकरणेन सुखोपायप्राप्यं स्वप्रकाशस्वस्वरूपात्मकत्वात् अथ चेदं पारमेश्वरं ज्ञानं शास्त्रं शतकोटिप्रविस्तीर्णत्वादनन्तपारं वाद्यन्तरैः क्षोभयितुमशक्यम् ॥७०८॥

तदीदृशम्—

परमेशमुखोद्गीर्णं यन्मया प्राप्तमद्भुतम् ।

तत्—

वक्ष्ये ज्ञानामृतमिदं शृणुष्वैकमनाः प्रिये ॥७०९॥

शृणुष्वेति पुनरपि सावधानत्वग्राहिकयोक्त्या देवीं प्ररोचनायाभिमुखीं कुर्वन्नस्य ज्ञानस्य परमोपादेयतामेव प्रथयति ॥७०९॥

तत्र—

ऊर्ध्वं वै ब्रह्मणोऽण्डस्य पुरैकादशकं स्थितम् ।

एकादशानां रुद्राणां युगान्ताग्निसमत्विषाम् ॥७१०॥

ऊर्ध्वमिति शतरुद्रपुराण्यतिक्रम्य, एकादशानामपि प्रागुक्तानां श्वेतादीनां वीरभद्रान्तानां युगान्ताग्निसमत्विषामेषामतिदीप्तत्वात् ॥७१०॥

एवं शतरुद्राधिपतेर्वीरभद्रस्य सपरिवारस्य भुवनान्युक्त्वा, तदुपरि श्रीभद्रकालीपुरमाह—

अथोर्ध्वे भुवनं देव्याः कथयामि वरानने ।
इन्द्रनीलमयं दिव्यं समन्तात् परिमण्डलम् ॥७११॥
तस्मिन् भगवती देवी भद्रकाली व्यवस्थिता ।

सा च तत्र—

वसतीन्दीवरश्यामा स्निग्धकङ्कुष्टसप्रभा ॥७१२॥
सूर्यमण्डलरूपाभ्यां कुण्डलाभ्यामलंकृता ।
पौर्णमास्यां यथा संध्या चन्द्रर्काभ्यां विराजते ॥७१३॥

कङ्कुष्टं रञ्जनद्रव्यविशेषः ।'७१३॥

अस्याश्च—

राजते च महाहारः स्तनाभ्यामन्तरे स्थितः ।
असिताञ्जनशैलाभ्यां मध्ये स्रोतोवहा यथा ॥७१४॥

स्तनाभ्यां शैलाभ्यां चेति सहार्थे तृतीये ॥७१४॥

किं चास्याः—

चतुर्भिश्च धृतं पीठं सिंहैरमितविक्रमैः ।

पीठमासनम् ॥

तत्र च—

सर्ववज्रमये दिव्ये दिव्यरत्नविभूषिते ॥७१५॥
आसने सुप्रभे देवी जात्यञ्जनसमप्रभा ।
शुक्ले हिमवतः शृङ्गे नीलमेघ इव स्थिता ॥७१६॥

किं च—

सर्वरत्नमयी दिव्या रशनास्याः विराजते ।

इयं च देवी—

पीतमाल्यांशुकवती शर्वरीवारुणोदये ॥७१७॥

शर्वरी रात्रिः कृष्णा, अरुणोदयसमये संध्यारागरञ्जिता भवति ॥७१७॥

देव्या रुद्रशक्तित्वात्—

तृतीयं नयनं तस्या ललाटस्थं विराजते ।
उदयस्थ इवादित्यो रश्मिजालविभूषितः ॥७१८॥

किं च—

उच्छ्रितेनातपत्रेण सा श्वेतेन विराजते ।
कृष्णमेघोपरिस्थेन चन्द्रेणेव विभावरी ॥७१९॥

एषा च देवतारूपाणाम्—

कोटिकोटिसहस्रेण स्त्रीणां तु परिवारिता ।
आवृता चन्द्रलेखेव नक्षत्रैस्तु नभस्तले ॥७२०॥

एताश्च—

कुमुदोत्पलवर्णाश्च हेमश्यामाश्च योषितः ।
प्रियङ्गुकलिकाश्यामाश्चन्द्रगौर्यः सयौवनाः ॥७२१॥
पद्मावदातरूपिण्यः पीनश्रोणिपयोधराः ।
हावभावविधिज्ञास्तु नृत्तगीतविशारदाः ॥७२२॥
वीणावेणुमृदङ्गाद्यैर्वंशवादित्रनिःस्वनैः ।
उपासीनास्तु तां देवीं रमन्ते तत्र योषितः ॥७२३॥

हावश्चेष्टालाञ्छनः, भावस्तु तत्तच्चेष्टाद्युदितः सात्त्विको धर्मः ॥७२३॥

तदेतद्देव्याः संबन्धि—

एवं विद्धि जयं नाम भुवनं तु वरानने ।

एषा च सा देवी—

या दुर्गेति स्मृता लोके ब्रह्माण्डोदरवर्तिनी ॥७२४॥
विष्णुना तपसा पूर्वमाराध्य परमेश्वरम् ।
अवतारिता वधार्थाय महिषस्य महात्मनः ॥७२५॥

महात्मनो महाशरीरस्य ॥७२५॥

महिषस्य माहात्म्यं प्रकटयति

येन चैकेन शृङ्गेण भगवान् हिमवान् गिरिः ।
शुष्कपर्णमिव क्षिप्तः

भगवानिति देवतात्मा ॥

सोऽयमीदृशो महिषासुरः—

भगवत्या विनाशितः ॥७२६॥

कथमित्याह—

सा तं विनाशयेद्देवी तमः सूर्य इवोत्थितः ।

किं च—

सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति ॥७२७॥
योगमायाप्रतिच्छन्ना

योगात् परतत्त्वैक्यादुत्थिता या माया स्वरूपगोपना, तया प्रतिच्छन्ना स्थगितपरस्वरूपा । सर्वदेवीनां संबन्धिना नामरूपप्रपञ्चेन स्थितेत्यर्थः ॥

किं चैषा ब्रह्माण्डमवतीर्णा सती—

कुमारी लोकभाविनी ।

भगवच्छक्तिरेषा परानुपभोग्यत्वात् कुमारीत्वमाश्रित्य स्थिता । तादृशी चासौ लोकान् भावयत्स्वभीष्टफलेन सफलान् संपादयति ॥

इत्थमाकृतियुक्ताप्येषा वस्तुचिन्तायाम्—

अचिन्त्या चाप्रमेया च अन्यत्र परिपठ्यते ॥७२८॥

अन्यत्रेति तात्त्विके तत्स्वरूपनिरूपणपरे तत्र तत्र शास्त्रे ॥७२८॥

किं चैषा—

विष्णुना सहिता देवी कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
भगिनीत्वेन चायाति नामरूपविपर्ययैः ॥७२९॥
मन्वन्तरे मन्वन्तरे तथा चैव युगे युगे ।
रक्षणार्थं हि लोकानां मातेव हितकारिणी ॥७३०॥

कल्पादिस्वरूपमेकादशे व्यक्तीभविष्यति । नामरूपविपर्ययैरिति नानानामरूपभोगैः ॥७३०॥

उपसंहरति—

इत्याख्यातं तु भुवनं जयं नाम वरानने ।

अतश्च—

तद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति तस्या मण्डलदीक्षिताः ॥७३१॥

मण्डलशब्देन तदधिकरणं भुवनं तत्प्राप्त्यर्थम् ॥७३१॥

तदित्थं दीक्षापूर्वभक्तिक्रमलभ्यमेतत्, नान्यथेत्याह—

न चैतत्तपसा प्राप्यं न यज्ञैर्भूरिदक्षिणैः ।
न दानैर्विविधैश्चापि शक्यं प्राप्तुं वरानने ॥७३२॥

किन्तु—

प्रसादाद्देवदेवस्य शशाङ्काङ्कितमौलिनः ।
दीक्षां प्राप्य प्राप्नुवन्ति

जयमित्यनुवर्तते ॥

न चैतज्ज्ञानप्राप्तिमेव दीक्षिताः, अपि तु—

मण्डलं चक्रवर्तिनाम् ॥७३३॥

मन्त्रमन्त्रेश्वरादीनामपि मण्डलमेतद्दीक्षातः प्राप्नुवन्ति । मण्डले इति सप्तमीपाठे प्राप्तिर्भवतीति योजना कार्या ॥७३३॥

न च केवलं दीक्षितेभ्यो देवी स्वमण्डलप्राप्तिं विद्येशपदप्राप्तिं च ददाति, यावत्—

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति खलु देहिनाम् ।

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति, किमङ्ग सबीजया ॥

यतः—

सा मुक्तिदीक्षा परमा विधिवत् परिकीर्तिता ॥७३४॥

विधिवदिति समयपाशशुद्ध्यन्तेन विधिनेत्यर्थः ॥७३४॥

किं च—

विद्येशावरणे दीक्षा यावती क्रियते नृणाम् ।
तावतीं गतिमाप्नोति भुवनेऽत्र वरानने ॥७३५॥

यावती यादृशभोगप्रापिका । आप्नोतीत्यर्थाद् दीक्षितः । यावतीं कुरुत इति तु स्पष्टः पाठः । अत्रेति श्रीभद्रकालीभुवने ॥७३५॥

अथैतद्भद्रकालीभुवनादूर्ध्वम्—

भुवनानि तदीशांश्च संस्थानानि यथाक्रमम् ।
कथयिष्यामि ते सर्वं शृणुष्वैकमनाः प्रिये ॥७३६॥

संस्थानानि भुवनसंनिवेशाः ॥७३६॥

भद्रकाल्याः परो देवो रुद्रक्रोधसमुद्भवः ।
कोटिमात्रेण देवेशि युगान्ताग्निसमप्रभः ॥७३७॥
युगान्ताम्बुदवृन्दोत्थगर्जितध्वनिनिःस्वनः ।
शतबाहुर्महातेजा दिव्याभरणभूषितः ॥७३८॥
शिरसीन्दुधरः श्यामो नीलाञ्जनसमद्युतिः ।
शिखिकण्ठनिभः किंचित्किंचिदापाण्डुलोहितः ॥७३९॥
चाषजीमूतवर्णश्च अतसीपुष्पसंनिभः ।
इन्द्रनीलनिभः किंचित्किंचिद्भृङ्गनिभाकृतिः ॥७४०॥
जात्यञ्जननिभाकारो रुद्रैकादशिकान्वितः ।

रुद्रैकादशिका—

'अत्र चाङ्गारकः सर्पिर्नैर्ऋत' (१०।४६०)

इत्यादिना या पूर्वमुक्ता, सैवेह पररूपेण स्थिता ॥

किं च—

युतं कोटिसहस्रेण रुद्राणां च महात्मनाम् ॥७४१॥
भुवनं तस्य देवस्य विजयं नाम विश्रुतम् ।
इन्द्रनीलनिभं दिव्यं सर्ववज्रनिभं महत् ॥७४२॥

वज्रनिभत्वं सारप्रकर्षात् ॥

अत्र च—

दशकोटिसहस्राणि रुद्राणां वरवर्णिनि ।

मुख्यानि स्थितानि ॥

एतच्च भुवनम्—

अन्तर्भुवनसंघातैरन्यैश्च परिवारितम् ॥७४३॥
नीलोत्पलदलश्यामैः शिखिकण्ठनिभैस्तथा ।

अन्यच्च—

रुद्रैर्दिव्यैर्महावीर्यैः समन्तात् परिवारितम् ॥७४४॥

प्रधानानामपि प्रधानभूतैरित्यर्थः ॥७४४॥

किं च—

स्तुतिभिर्मङ्गलैर्गीतैर्नृत्तवादित्रवादितैः ।
पणवैर्वेणुवीणाभिर्भेरीझल्लरिगोमुखैः ॥७४५॥
पटहैः काहलैश्चैव शङ्खदुन्दुभिपीलुकैः ।
मृद्दलैस्तट्टरीभिश्च तालकैर्मुरजैस्तथा ॥७४६॥
मौन्दकाहलटङ्कैश्च तमिलद्रघटादिभिः ।
वादित्रैर्वल्गितैस्तालै रोटनैर्मुखमृद्दलैः ॥७४७॥
भूतैर्भूतगणै रुद्रैर्जल्पितैः पठितैस्तथा ।
ध्यायद्भिश्च जपद्भिश्च धावद्भिश्चेष्टितैस्तथा ॥७४८॥
मयूरकोकिलारावान् मुञ्चद्भिश्च तथापरैः ।
नानारुतविलासैश्च विकुर्वद्भिर्महात्मभिः ॥७४९॥
आवृतस्तैर्महातेजा मयूखैरिव भास्करः ।
गजवक्त्रैः सिंहवक्त्रैरश्ववक्त्रैः शुभाननैः ॥७५०॥
गोकर्णैर्गोमुखैश्चान्यैर्द्वीपिऋक्षमुखैस्तथा ।
व्याघ्रवानरवक्त्रैश्च भगवान् पर्युपास्यते ॥७५१॥
वीरभद्रो महातेजा युगान्ताग्निसमप्रभः ।

पीलुकमृद्दलकद्रघटादयो वाद्यविशेषा इह प्रसिद्धाः । तृतीयाश्चैता यथायोगमित्थंभूतलक्षणे कर्तरि करणे हेतौ च योज्याः ॥

किं च—

आसनं तस्य देवस्य सर्ववज्रमयं महत् ॥७५२॥
दशयोजनविस्तीर्णं चतुरस्रानलप्रभम् ।
राजतेऽत्राष्टभिः सिंहैर्वृतं भीमपराक्रमैः ॥७५३॥

चतुरस्रानलप्रभमिति कर्मधारयः । अत्रेति विजयाख्ये पुरे ॥७५३॥

एतद्येषां यथोत्पत्ति स्थानम्, तान् दर्शयति—

अत्र ते पुण्यकर्माणः

जायन्ते ॥

के—

ये स्मरन्ति महेश्वरम् ।

जले मरुत्स्वथाग्नौ वा शिरश्छेदेन वा मृताः ॥७५४॥

ते यान्ति चैश्वरं बोधं वीरभद्रं महाद्युतिम् ।

मरुत्सु महावात्यासु । मरुष्विति पाठे महापथेषु महेश्वरं स्मरन्ति, मृताश्च ये तथा भगवत्पादपूजार्थं शिरश्छेदेन ये वा मृताः सग्रामे शिरश्छेदेन, महेश्वरं स्मरन्तो मृतास्त एतत्स्थानं लभन्ते । महेश्वरस्मरणं विना तु ये जलादौ मृतास्ते पूर्वोक्तं वैद्युतं वायुपथमिति विभागः ॥

अथ—

भुवनस्यास्य देवेशि ह्युपर्यावरणं महत् ॥७५५॥

अम्मयं तु घनं चापि शक्रचापमिव स्थितम् ।

वितानमिव तद्भद्रमन्तरे समवस्थितम् ॥७५६॥

घनमतीव आश्यानम् । भद्रं रम्यम् । अन्तर इति जयविजयादिभुवनान्त-तेजस्तत्वस्य च ॥

तत्र चास्ते महात्मासावङ्गुष्ठाग्रप्रमाणकः ।

भगवान् रुद्रो ध्यायिनां ध्यानाय सूक्ष्मरूपमाश्रित्य प्रभावातिशयशाली तत्र स्थितः ॥

यथा च ब्रह्माण्डस्योर्ध्वकर्परिका कोटियोजना, तथाऽऽव्यावरणकर्परिकापी-त्याह—

तत्र योजनकोटिर्वै विष्कम्भादूर्ध्वमुच्यते ॥७५७॥

तत्रेत्यावरणकर्परिकाभागे । विष्कम्भाद्घनत्वादूर्ध्वमुच्यत इत्यावरणकर्परिके-त्यर्थात् ॥

अतश्च—

तिर्यक्त्रिगुणविस्तारमाप्यमावरणं प्रिये ।

शतकोटिविस्ताराद् ब्रह्माण्डाद्दशगुणं यदाप्यमावरणं सहस्रकोट्युन्मान-मुक्तम्, 'तत्सर्वं त्रिगुणेनोह्य' इति नीत्या त्रिसहस्रकोटिपरिमाणमित्यर्थः, न तु कर्परिकाघनतानुसारेण त्रिगुणविस्तारत्वं योज्यमासमञ्जस्यापत्तेः ॥

अतश्च—

आवृतं तेन तत्सर्वं महाम्भोधिविसारिणा ॥७५८॥

तेनेत्याप्यावरणेन ॥७५८॥

किमावृतमित्याह—

रुद्राण्ड इति विख्यातं रुद्रलोक इति प्रिये।

वीरभद्रादिवीराश्रयत्वाद् रुद्राण्ड इति रुद्रलोक इति चागमेषु ख्यातं पुरजातमाप्यावरणेनावृतमित्यर्थः ॥

एतदेव विभजति—

वीरभद्रनिकेतश्च भद्रकाल्यालयस्तथा ॥७५९॥
त्रयोदशभिरन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम्।

वीरभद्रनिकेतो भद्रकाल्यालय इत्यादिप्रागुक्तरुद्रभुवनैकादशकेन सह त्रयोदशभिः, अन्यैश्च धरित्र्यादिभिर्भुवनैर्वक्ष्यमाणैर्भ्राजमानम् ॥

एतच्च—

नानारुद्रगणैर्दिव्यैर्निरन्तरमलंकृतम् ॥७६०॥
अण्डं वै वीरभद्रस्य ब्रह्माण्डसदृशं प्रिये।

वीरभद्रस्याण्डमिति प्राधान्यात्। ब्रह्माण्डसदृशं चतुर्दशविधभूतसर्गाश्रयनानाभुवनपरिष्कृतत्वात् ॥

यदुक्तमन्यैश्च भुवनैरिति, तत्स्फुटयति—

अतः परं प्रवक्ष्यामि धरित्र्या भुवनं महत् ॥७६१॥
धात्री यस्मिन् भगवती धरालोके सनातनी।

धत्ते सर्वमिति धात्री आकृतिमती भगवच्छक्तिः ॥

एषा हि—

हैरण्यमतुलं प्राप्ता आधारं यत्र संस्थिता ॥७६२॥

आधारमिति भुवनम् ॥७६२॥

कीदृशम्—

चक्रवर्तिविमानैश्च बहुभिः परिवारितम्।
आवृतं भूतसंघातैराचार्यैस्तत्परायणैः ॥७६३॥
दिव्यगीतनिनादाढ्यैर्वादित्रशतनिःस्वनैः।
अन्तर्भुवनसंघातैः रुद्राणां परिवारितम् ॥७६४॥

चक्रवर्तिनोऽत्र महापुण्यभाजो गीर्वाणादयः। भूतसंघैरिति चतुर्दशभिः। आचार्यैस्तत्परायणैरिति पार्थिवधारणासिद्धैर्योगिरूपैरित्यर्थः। पारमेश्वरी मूर्तिरेषेति कृत्वैतद्भुवनं रुद्रभुवनैः परिवृतम् ॥७६४॥

भुवनस्यास्य मध्ये तु उदयादित्यसंनिभः।
रक्तोत्पलनिभो दिव्य अशोकस्तबकच्छविः ॥७६५॥

पद्मरागमयो दिव्यः प्रासादो बहुभूमिकः।

प्रासादो देवगृहम्। बहुभूमिक इति शिखरवर्तनागतनानाभूमिकायुक्तः॥

तस्य मध्ये भगवती धरित्री लोकधारिणी ॥७६६॥
मालया रक्तपुष्पस्य लम्बया नित्यभूषिता।
चन्द्रार्कमण्डलाकारकपोलतलभूषिता ॥७६७॥
पीतहेमांशुकवती महाहारविभूषिता।
शतयोजनविस्तीर्णे कूर्मपृष्ठे व्यवस्थिता ॥७६८॥
चतुर्वक्त्रा चाष्टभुजा दिव्याभरणभूषिता।

पीतहेम्ना कृतमंशुकं प्रशस्तवस्त्रं यस्याः॥

किं च—

रुपयौवनसंपन्ना नृत्तगीतविशारदाः ॥७६९॥
परिवार्योपासते तां दिव्या वै मानसाः स्त्रियः।

तस्यास्ता मनस उद्भूताः॥

काः कियत्यश्चेत्याह—

त्रिंशत्कोट्यस्तु तासां वै दिव्याभरणभूषिताः ॥७७०॥
उत्पादितास्तु शर्वेण तदर्थं हितमिच्छता।

शर्वेण धरामूर्तीश्वरेण स्वस्या मूर्तेर्धरित्र्या हितार्थं विनोदायैता मनसा निर्मिता इत्यर्थः॥

किं चैताः—

तप्तजाम्बूनदनिभा दिव्याभरणशोभिताः ॥७७१॥
उच्छ्रितेनातपत्रेण ध्रियमाणेन शोभिताः।

किं च—

पुरःस्थितो महातेजा योऽसौ मेरुर्महागिरिः ॥७७२॥
उपासीनस्तु तां देवीं तत्रास्ते स नगाधिपः।

शिरःपाण्याद्याकृतिमानित्यर्थः॥

तथा—

नीलोत्पलदलश्यामो नीलजीमूतसंनिभः ॥७७३॥
नीलो नाम महाशैलः पीतवासा महाद्युतिः।
अतिकान्तेन रूपेण कैटभारिरिवापरः ॥७७४॥
उपास्यमानो दिव्याभिर्नगरीभिर्नगाधिपः।
तस्योत्तरे चन्द्रनिभो नानालंकारभूषितः ॥७७५॥

श्वेतातपत्री तेजस्वी श्वेतो नाम महागिरिः ।
तस्योत्तरेण सूर्याभो मुकुटादिविभूषितः ॥७७६॥
पीताम्बरधरः श्रीमान् शृङ्गवानिति विश्रुतः ।
अतिकान्तेन रूपेण कुसुमास्त्र इवापरः ॥७७७॥

आद्यस्तस्योत्तर इति शब्दः काकाक्षिवद् मेरोरुत्तरे नीलः, तस्याप्युत्तरे श्वेत इति योज्यः ॥

किं चास्य मेरोः—

दक्षिणेनापि वक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये ।

आकृतिमतः पर्वतान् स्थितानिति शेषः ॥

तान् क्रमेणाह—

चन्द्रावदातदीप्तौजा दिव्याभरणभूषितः ॥७७८॥
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् निषधो नाम विश्रुतः ।
तप्तहेमप्रतीकाशो दिव्याभरणभूषितः ॥७७९॥
अतिशुभ्रेण देहेन पितामह इवापरः ।
पीताम्बरधरः श्रीमान् पीतमाल्यानुलेपनः ॥७८०॥
हेमकूटो महातेजास्तेजसामिव संग्रहः ।
राजते भगवान् शैलः संध्यावृत इवांशुमान् ॥७८१॥
पाण्डुराभ्रप्रतीकाशः शङ्खगोक्षीरसंनिभः ।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् दिव्यकुण्डलभूषितः ॥७८२॥
आतपत्रेण महता ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
हिमवानिति विख्यातो द्वितीय इव भास्करः ॥७८३॥

किं च—

इन्द्रगोपकसंकाशः पश्चिमे गन्धमादनः ।
रक्ताम्बरधरः श्रीमानस्ताद्रिस्थ इवांशुमान् ॥७८४॥
शुद्धस्फटिकसंकाशः शुक्लाम्बरधरः शुभः ।
किरीटी कुण्डली श्रीमान् माल्यवान्नाम पर्वतः ॥७८५॥
इत्येवमादिभिश्चान्यैः पर्वतैः परिवारिता ।
लोकालोकावसानैश्च तथान्यैः कुलपर्वतैः ॥७८६॥
दिव्यरूपधरा देवी तनुर्वै पारमेश्वरी ।

भूलोके ये मेर्वादयस्तदधिष्ठातृरूपा एवेत्यर्थः । पारमेश्वरीत्यनेन—

'स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्' (४।२९५)

इति पूर्वोक्तं प्रमाणीकृतम् ॥

यत एवमतः—

धारणां गन्धतन्मात्रे प्राणांस्त्यक्त्वा तु योगिनः ॥७८७॥
ते यान्ति तादृशीं मूर्तिं धरित्र्याः परमां तनुम् ।

गन्धतन्मात्रे धारणां कृत्वा योगिनस्तामिमां धरित्र्याः परमां मूर्तिमाकृतिमतीं देवीं सायुज्यसामीप्यसालोक्यभेदेन प्राप्नुवन्ति, अतश्च आचार्यैरुपास्यमानामिति यत्पूर्वमुक्तम्, तत् स्फुटीकृतम् ॥

अतः परतरं देवि सामुद्रं भुवनं महत् ॥७८८॥
सर्ववज्रमयं दिव्यं नानाश्चर्यशतान्वितम् ।

सामुद्रमिति समुद्राधिष्ठातृदेवताश्रयम् ॥

तच्च—

नीलोत्पलसमच्छायं सर्वतः परिमण्डलम् ॥७८९॥
मध्ये तु भुवनस्यास्य मण्डलं चन्द्रसंनिभम् ।
शतयोजनसाहस्रं समन्तात् परिमण्डलम् ॥७९०॥
तस्य मध्ये तु पुरुषो रुक्मवर्णो महाद्युतिः ।
किरीटी कुण्डली स्रग्वी दिव्याभरणभूषितः ॥७९१॥
अपां निधेर्भगवतो वरुणस्य परा तनुः ।

पुरुष इति समुद्रदेवतात्मा ॥

तं तु देवं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥७९२॥
रूपयौवनसंपन्नाः सततं पर्युपासते ।

देव्यः ॥

तासां मध्ये तु—

शुक्लाम्बरधरा देवी शुक्लगन्धानुलेपना ॥७९३॥
शुक्लयज्ञोपवीता च शुक्लहारोपशोभिता ।
शुक्लेनैवातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥७९४॥
गङ्गा ह्युत्तरतस्तस्य स्थिता वै परमा तनुः ।
नीलाम्बरधरा देवी नीलगन्धानुलेपना ॥७९५॥
नीलस्रग्दामकण्ठा च यमुना तस्य दक्षिणे ।
एवमाद्या महानद्यः परिवार्य महाद्युतिम् ।७९६॥
समुद्राष्टकं च देवेशि स्वनदीभिः समावृतम् ।
उपासते सदा भक्त्या वारुणीं परमां तनुम् ॥७९७॥

परमां तनुमित्यधिष्ठातृदेवतारूपाम् ॥७९७॥

अत्र चाकृतिमन्त्येव—

नानासरांसि तीर्थानि

तथा—

तद्भक्ताश्चापि संस्थिताः ।

रसतन्मात्र अत्रैव कृत्वा सम्यक्तु धारणाम् ॥७९८॥

अपां योनिं परां प्राप्ताः

इमामेव ॥

यस्मादेषाम्—

वारुणी सा परा तनुः ।

अष्टमूर्तेर्महेशितुरियं द्वितीया मूर्तिर्जलाधिष्ठातृदेवतारूपा । धारणास्वरूपं प्राग्धारणादीक्षावसरे दर्शितम् ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भुवनं वरवर्णिनि ॥७९९॥

श्रीनिकेत इति ख्यातं पद्मगर्भ इति श्रुतम् ।

एतन्नामभ्यां प्रतीतमागमेष्वित्यर्थः ॥

तच्च—

विमानशतसंघातैर्निरन्तरमवस्थितैः ॥८००॥

शोभितं भुवनेशैश्च रुद्रै रुद्रगणैस्तथा ।

सरोभिर्मानसैर्दिव्यैर्दीर्घिकाभिश्च शोभितम् ॥८०१॥

रथचक्रप्रमाणैश्च मणिकाञ्जनमण्डितैः ।

वैदूर्यनालैः कमलैर्दिव्यगन्धसुगन्धिभिः ॥८०२॥

मृदुभिः कान्तिमद्भिश्च चन्द्रमण्डलसंनिभैः ।

संशोभितं विचित्रैस्तैर्विकचैर्वज्रकेसरैः ॥८०३॥

उद्यानैर्विविधैश्चापि नानाविहगकूजितैः ।

नानाकामप्रदैर्वृक्षैः समन्तात् समलंकृतम् ॥८०४॥

नानामणिमयैर्दिव्यैः क्रीडाशैलैश्च मानसैः ।

मानसीभिश्च नारीभिर्दिव्ययौवनकान्तिभिः ॥८०५॥

हावभावविलासाढ्यदिव्यस्त्रीभिरलंकृतम् ।

विचित्रैर्मणिपद्मैश्च सितपत्रैश्च सुव्रते ॥८०६॥

विभूषितं गजेन्द्रस्थैः स्तुतिमङ्गलवादिभिः ।

गायद्भिश्चाथ नृत्याद्भिर्दिव्यस्त्रैणैः समाकुलम् ॥८०७॥

मानसैरिति संकल्पमात्रसिद्धैः । स्वभावत एव पद्मानां मणिकाञ्चनमण्डितत्वं वैदूर्यनालता च । चन्द्रमण्डलसंनिभैरित्यनेन पद्मानां श्वेतता उक्ता । वज्रं हेरकम् । नानाकामप्रदैर्वृक्षैः कल्पवृक्षैरित्यर्थः । मानसीभिर्मनोनुकूलाभिः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् ॥८०७॥

तदीदृशे—

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये पद्मगर्भसमप्रभे ।
शरदिन्दुनिभं दिव्यं मण्डलं रश्मिसंकुलम् ॥८०८॥

मण्डलं प्रधानभुवनम् ॥८०८॥

तस्य मध्ये भगवती श्रीः स्वयं लोकभाविनी ।
चन्द्रकोटिसहस्राणां या कान्तिमतिवर्तते ॥८०९॥

लोकान् भावयति प्रोद्भूतविभूतिकान् संपादयति ॥८०९॥

सा च—

एकत्र युगपत्तेजस्तेजसां तु विराजते ।

सर्वतेजसां संबन्धि तेजः, एकत्र राशीभूतमिव भवति ॥

एवमपि च सौम्याकृतित्वात्—

निर्वाणमिव या शान्ता सर्वानन्दमनोहरा ॥८१०॥
रूपिणी

आकृतिमती ॥

वस्तुतस्तु

परमा देवी मूर्तिरव्यभिचारिणी ।

परैव द्योतमाना पारमेश्वरी मूर्तिरियमित्थं गृहीताकृतिरित्यर्थः । अनयव मोक्षश्रिया नित्यसंबद्धया परमेश्वरः श्रीकण्ठ उच्यते ॥

एषा च—

शतयोजनविस्तीर्णे उदितादित्यसप्रभे ॥८११॥
चन्द्रकान्तमये पद्मे वज्रकेसरकर्णिके ।
कोटिपत्रे महादिव्ये गन्धपुष्पगुणान्विते ॥८१२॥
पद्मासने भगवती पद्मगर्भसमप्रभा ।
उपविष्टात्र सा नित्यं विभूत्या परया युता ॥८१३॥
महारत्नैश्च स्रग्धाम प्रलम्बमुरसा शुभम् ।
वहन्ती सा तु शुशुभे ज्योत्स्नेव त्रिपथापथम् ॥८१४॥

त्रिपथापथमाकाशं गङ्गाप्रवाहात् ॥८१४॥

अपि च—

स्फुरन्मयूखचलने कपोलतलमण्डले ।
सर्यमण्डलसंकाशे धारयन्ती च कुण्डले ॥८१५॥

किं च—

स्फुरन्मयूखसंघातां रशनां सा तु बिभ्रती ।
हेमाभा पीतवसना महाहारविभूषिता ॥८१६॥
चन्द्राभेनातपत्रेण ध्रियमाणेन राजिता ।
उपगीता च गन्धर्वैर्मानसै रुद्रसंभवैः ॥८१७॥
परिवारिता भगवती सा तनुः पारमेश्वरी ।

मानसै रुद्रसंभवैरिति रुद्रैर्णैव भगवता तदाराधनार्थमेव सृष्टैः ॥

किं च—

या प्राप्ता तपसाराध्य विष्णुना प्रभविष्णुना ॥८१८॥

आराधनादेव चास्मै—

दत्ता प्रीतेन रुद्रेण विष्णोरुरसि वाहिनी ।

न च सार्वात्म्येन, अपि तु—

अर्धेन सा भगवती विष्णोरङ्के प्रतिष्ठिता ॥८१९॥
पादेनेन्द्रस्य देवस्य पादार्धेन दिवि स्थिता ।
तदर्धेन पुनर्देवि पार्थिवेषु व्यवस्थिता ॥८२०॥
तदर्धेन मनुष्येषु

दिवि तन्निवासिदेववक्त्र इत्यर्थः । पार्थिवेष्विति सर्वेषु चक्रवर्तिष्वंशांशिकायोगात् । मनुष्येष्वमात्यादिषु, सर्वेष्वित्थं विष्णोरंशांशिकया श्रीः स्थिता, साकल्येन तु भगवति श्रीकण्ठ एवेत्युक्तं भवति ॥

इत्थमेषा सर्वमेव जगत्—

या स्थिता व्याप्य मूर्तिभिः ।
स्वरूपा कामरूपा च द्विधा सा परिकीर्तिता ॥८२१॥

मूर्तिभिर्निजैरंशांशिकावतारैः । स्वं पारमार्थिकं परिपूर्णं रूपं यस्याः । कामेनेच्छामात्रेण तत्तद्विष्ण्विन्द्रादिमाहात्म्यप्रदं रूपं यस्याः सा कामरूपा ॥८२१॥

तत्र स्वरूपात्मा—

अचला सा तनुः सूक्ष्मा अक्षोभ्या तत्र तिष्ठति ।

सूक्ष्मा सर्वनिजावतारव्यापिका । अक्षोभ्या निरतिशया । तत्रेति प्रोक्ते स्वपुरेऽचला तिष्ठति ॥

यथैतच्छ्रीपुरमाप्स्यति, तथादिशति—

रुद्रक्रीडावतारेषु प्रयागादिषु सुव्रते ॥८२२॥
श्रीगिरौ च विशेषेण मृतस्तद्भुवनं व्रजेत् ।

रुद्रस्य क्रीडया, नत्वनुजिघृक्षयाऽवतारो येषु ते देवदारुवनप्रभृतयो रुद्रक्रीडावताराः ॥

अतश्च—

सत्स्वन्येष्वपि भोगेषु त्वियं सा गदिता गतिः ॥८२३॥

बुभुक्षूणां प्राप्यत्वेनेति शेषः ॥८२३॥

यस्माद् बुभुक्षवः श्रीगिर्यादौ मरणादेतदाराधनाद्वा—

प्राप्य तामीदृशीं देवीमैश्वर्यमणिमादिकम् ।

लभन्त इति शेषः, प्राप्य तामिति तद्भुवनमित्यर्थात् ॥

न केवलमेतत्, यावत्—

भूत्वा तु साष्टधा दिव्या देवेष्वपि च तिष्ठति ॥८२४॥

अष्टधेत्यणिमादिरूपतया ॥८२४॥

तथा जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिभिः—

सिद्धे ष्वपि च सा देवी उत्तमा सिद्धिरुच्यते ।

अपि च—

यदर्थं तारकाद्यै श्च संग्रामस्त्रिदशेश्वरैः ॥८२५॥

सह—

कृतो घोरस्त्वसंख्येयः

तथोक्तांशांशिकारूपाम्—

तां श्रियं प्राप्तुमिच्छुभिः ।

असंख्येयाश्च संग्रामाः कृता वै चक्रवर्तिभिः ॥८२६॥

तदित्थमुक्तैषा—

सा बन्ध एवमुक्तानामबुधानां परा स्मृता ।

एवमुक्तानां तारकादीनामबुधानां विनश्वरभोगाभिलाषेण संग्रामादि कुर्वतामेषा श्रीर्बन्ध एव, अथ च मुक्तानां प्रत्यभिज्ञातस्वरूपाणां जीवन्मुक्तिभाजां सा बन्ध एव, न ते तदर्थं प्रयतन्ते, अपि तु प्राप्तां तामर्थिभ्यो वितरन्ति । ये त्वबुधास्तेषामेव सा परा प्राप्यत्वेनाभिलषितेत्यावृत्त्याऽकारप्रश्लेषेण व्याख्येयमेतत् ॥

तदेतत्—

श्रीपुरं तु समाख्यातं यथावच्च वरानने ॥८२७॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भुवनं च निबोध मे ।
सारस्वतमिति ख्यातं गान्धर्वमिति च स्मृतम् ॥८२८॥

ऊर्ध्वमित्युपरिस्थितम् । सरस्वत्या इदं सारस्वतम् । सरस्वती च सर्वशास्त्र-स्फाररूपा गान्धर्वविद्यारूपा चेति गान्धर्वमित्यस्य पुरस्य नाम ॥८२८॥

तदेतत्—

पद्मगर्भपुरं चापि कोटिमात्रेण सुव्रते ।
योजनानां समाख्यातं प्रमाणेन समन्ततः ॥८२९॥

पद्मगर्भाकारं सुकुमारोज्ज्वलमित्यर्थः ॥

किं च—

सर्वरत्नमयं दिव्यं सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ।
विमानैर्विविधाकारैर्नानारत्नमयैः शुभैः ॥८३०॥
गान्धर्वैर्मानसैश्चापि गायद्भिश्चाप्यनेकधा ।
नृत्यद्भिश्च तथान्यैश्च गणैः पार्श्वगतैस्तथा ॥८३१॥
स्त्रीभिः सुरूपिणीभिश्च गन्धर्वैश्च समाकुलम् ।

गन्धर्वाणाममी गान्धर्वा विमानास्तैः । मानसैः संकल्पमात्रसिद्धैः । गणैः परमेश्वरानुचरैः ॥

तदीदृशस्य—

तस्य मध्ये तु देवेशि शरच्चन्द्रनिभं शुभम् ॥८३२॥
रश्मिमालाकुलं दिव्यं मण्डलं परिमण्डलम् ।
तस्य मध्ये भगवती स्थिता साक्षात् सरस्वती ॥८३३॥
शरच्चन्द्रसहस्रस्य या कान्तिमतिवर्तते ।
पीताम्बरधरा देवी पद्मपत्रायतेक्षणा ॥८३४॥
नीलोत्पलदलश्यामा दिव्याभरणभूषिता ।
हेमपट्टपरीधाना दिव्यकुण्डलधारिणी ॥८३५॥
उरसा तु महाहारमुद्वहन्ती शशिप्रभम् ।
स्फुरन्मयूखसंघातकुण्डलद्वयमण्डिता ॥८३६॥

मण्डलं प्रधानभुवनम् । कान्तिर्दीप्तिः, श्यामत्वं तु वर्णः । अम्बरमान्तरं वस्त्रम्, परीधानं तु बाह्यम् ॥८३६॥

समग्रगान्धर्वमयी अस्या मूर्तिरित्याह—

ग्रामत्रयवलीमध्या सप्तस्वरतनुः शुभा ।
तानमूर्धरुहा देवी मूर्च्छनाङ्गरुहोद्वहा ॥८३७॥
पदासना तालपादा गीतवर्णप्रभावती ।

षड्जमध्यमगान्धाराख्यं ग्रामत्रयमेव त्रिवलिलेखाशोभि मध्यं यस्याः सा। षड्जादिसप्तस्वरशरीरा, तथा तन्यन्ते विस्तार्यन्ते स्वरगुम्फनामय्यो मूर्च्छना यैस्ते ताना मूर्धरुहाः केशा यस्याः। मूर्च्छना एवाङ्करुहान् रोमाञ्चान् यद्वहति। पदानि छन्दोनिबद्धानि गीतकान्यासनं यस्याः। चञ्चुपुटादयस्ताला एव प्रसरणहेतुत्वात् पादौ चरणौ यस्याः। द्वित्रिश्रुत्यात्मकस्वरगीयमानाः पदैकदेशा गीतवर्णास्तैः प्रभा दीप्तिर्यस्याः॥

किं चास्याः—

अङ्गुल्यः सन्धयश्चैव लक्षणानि वरानने ॥८३८॥

सन्धयो मर्माणि। लक्षणानि—

'अलंकारगुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥' (१६।६)

इत्यादिलक्षणेन भरतमुनिना लक्षितानि भूषणाक्षरसंघातादीनि षट्त्रिंशत्। तदियमेवं भूत्वा स्वराद्यावद्धशरीरा सरस्वती इह पररूपेणाधिष्ठात्री देवतोक्ता, पूर्वं तु मेरुगतगान्धर्वपुर्याम्—

'आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषिता।
ग्रामत्रयपरीधाना............॥' (१०।१५२)

इत्याद्युक्त्या स्वराद्यलंकृतवाण्यात्मिकापररूपेणैतद्देवताधिष्ठेयरूपेति विशेषः ॥८३८॥

तदेषात्र—

आसने परमे दिव्ये वृता भूतगणेश्वरैः।
स्थिता स्थितिरिवाभाति सर्वस्य जगतः शुभा ॥८३९॥

'वाच्यर्था निहिताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्निबन्धनाः'

इति नीत्या जगद्व्यवस्थाहेतुरियमेव हि देवी॥

किं च—

मानसीभिश्च नारीभिर्गन्धर्वैर्मानसैर्वृता।

तथा च—

हाहा हूहूश्चित्ररथस्तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥८४०॥
विश्वावसुर्विश्वरथः

त एते—

दिव्यगीतविचक्षणाः।
संयोज्य मनसात्मानं त्यक्त्वा कर्मफलस्पृहाम् ॥८४१॥
ते वै सारस्वतं स्थानं प्राप्ता वै सुरपूजिते।

स्वरवैखरीभूम्यवस्थितिक्रमेण मध्यमापश्यन्तीपदप्रतिष्ठैकाग्रमनस्का इमामेव देवीमुपासीना एते गन्धर्वमुख्या एतत्पुरं प्राप्ताः ॥

न केवलमेते पुरमिदं प्राप्ताः, यावत्—

ये च वाग्धारणां ध्यात्वा प्राणान् मुञ्चन्ति देहिनः ॥८४२॥
ते वै सारस्वतं लोकं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ।

वाग्धारणा तत्त्वसिद्धिपटले द्वादशे वक्ष्यते ॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

एषा सरस्वती देवी मूर्तिर्वै पारमेश्वरी ॥८४३॥
या स्थितापरभावेन ब्रह्माण्डोदरवर्तिनाम् ।

कथमित्याह—

ब्रह्मलोके च सा देवी पादेनैकेन तिष्ठति ॥८४४॥
शाक्रे चापि तदर्धेन

शक्रलोकेऽष्टमांशेन ॥

गन्धर्वेषु तदर्धतः ।

षोडशांशेन ॥

सिद्धेषु च तदर्धेन

द्वात्रिंशांशेन ॥

किन्नरेषु तदर्धतः ॥८४५॥

चतुःषष्ट्यंशेन ॥८४५॥

तदर्धेन च नागेषु

अष्टाविंशत्यधिकशततमेनांशेन ॥

यक्षेष्वर्धेन वै पुनः ।

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमांशेन ॥

पिशाचेषु तदर्धेन

द्वादशाधिकपञ्चशततमांशेन ॥

तदित्थम्—

सा वै तिष्ठति भागशः ॥८४६॥

किं च—

पिशाचेभ्यः सहस्रांशान्मानुषेषु च तिष्ठति ।

न चैवमंशांशिकयैषावतीर्णा देवी, अपितु—

तैस्तु तप्त्वा तपो घोरमाराध्य च पिनाकिनम् ॥८४७॥
अवतारिता तु सा देवी रूपिणी स्वरभूषिता ।

रूपिणी आकृतिमती ।

तदेवं तपसा समाराधितस्य पिनाकिनस्तदादेशादेव प्रथमम्—

स्वरांस्तु स्मरतस्तस्य कल्पादौ ब्रह्मणः पुरा ॥८४८॥
स्वरेभ्यस्तु विनिष्क्रान्ता तेन सा तु सरस्वती ।

स्वरप्रत्यवमर्शवशोन्मिषन्नादामर्शानुप्रवेशाद् ब्रह्मणः स्वरेभ्य इवोद्भूताऽभिव्यक्तिमागता यस्मात्, अत एषाऽक्षरसारूप्यात् सरस्वतीत्युच्यते । यदा तु 'ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः' इति पाठः, तदाऽव्यक्ताद् वक्ष्यमाणात् प्रकृतितत्त्वाद् जन्म यस्य बुद्धितत्त्वगतस्य परस्य ब्रह्मणः पिनाकिप्रसादाद् व्यक्ति गतेति व्याख्येयम् ॥

तदित्थमवतीर्णैषा—

सा स्थिता सर्वशास्त्रेषु कवीनां काव्यमास्थिता ॥८४९॥

अधिष्ठाय स्थितेत्यर्थः ॥८४९॥

किं च—

या वाल्मीकौ स्थिता देवी व्यासे चैव निरन्तरम् ।
ऋषीणां चैव सर्वेषां मेधाबुद्धिविवर्धिनी ॥८५०॥

मेधा निर्विकल्पप्रतिभा, बुद्धिरध्यवसायिनी धीः ॥८५०॥

एषा हि—

सर्वज्ञानधरी सा तु सर्वज्ञा देवपूजिता ।

ब्रह्माण्डान्तरवतीर्णायाश्च क्रमेण—

मेरोर्वाय्व्यदिग्भागे पुरं तस्याः प्रकीर्तितम् ॥८५१॥

अपरम्—

इदं तु परमं देव्या मया ते परिकीर्तितम् ।

एतदुपसंहरति—

सारस्वतं तु भुवनं कीर्तितं

यत्र सरस्वती भगवती देवी ॥

परमा तनुः ॥८५२॥

परमेश्वरसंबन्धिनी परमा मूर्तिः स्थितेत्यर्थः ॥

अधुना—

अत्रैव त्वाप्यतत्त्वे त्वं शृणु वै भुवनोत्तमम् ।

प्रोक्तेभ्योऽपि भुवनेभ्य उत्तमं वक्ष्यमाणदशा भुवनाष्टकं शृणु ॥

तच्च भुवनेशद्वारेण दर्शयति—

अमरेशं प्रभासं च पुष्करं नैमिषं तथा ॥८५३॥
आषाढि डिण्डिमुण्डि च भारभूतिं च लाकुलम् ।

तदेतत्—

गुह्याष्टकमिति ख्यातं जलावरणगं प्रिये ॥८५४॥

गुह्यत्वमेषां शतरुद्रादिभ्योऽप्युत्कर्षणात् । एते च भुवनेश्वरा भुवनमध्ये-तन्नामकं नानादिग्गतस्वयंभूतीर्थादिरूपतयाऽनुग्रहार्थमवतीर्णाः प्रसिद्धाः । एवमन्येऽपि वक्ष्यमाणा ज्ञातव्याः ॥८५४॥

अथ—

तेजस्तत्त्वमतश्चोर्ध्वं कथयामि समासतः ।
अग्नेस्तु भुवनं तत्र कथयामि वरानने ॥८५५॥

तच्च—

अशोकस्तबकानां च सर्वतो दीप्तिमुद्वहत् ।
उत्फुल्लकिंशुकच्छायं जपाकुसुमसंनिभम् ॥८५६॥

अतिलोहितमित्यर्थः ॥८५६॥

भुवनस्यास्य मध्ये तु उदितार्कसमप्रभम् ।
परिमण्डलमाग्नेयं तेजोमण्डलमुच्यते ॥८५७॥

परितस्त्रिकोणाकारं मण्डलं परिमण्डलम् । तेजोमण्डलमिति तेजोमयं प्रधानभुवनम् ॥८५७॥

तस्य मध्ये तु भगवान् शिवाग्निः कारणं परम् ।

शिव एव परमेश्वरो गृहीताग्निमूर्तिः शिवाग्निः । परं कारणमिति ब्रह्माण्डवर्तिसर्वाग्निभेदानाम् ॥

यदाह—

योऽवतीर्याण्डमध्ये तु स्थितो नित्यं त्रिधा त्रिधा ॥८५८॥

भौमान्तरिक्षजाठराग्निरूपतया ॥८५८॥

किं च—

वक्त्रे तु दक्षिणे तस्य रुद्रस्य परमात्मनः ।
स्थितो जिह्वास्वरूपेण स्वयंभूर्नीललोहितः ॥८५९॥

तस्येति शिवाग्निरूपस्य रुद्रस्य । यो नीललोहितो ज्वालालिङ्गात्मा श्रीपर्वतादौ स्वयंभूः प्रसिद्धः, स दक्षिणे वक्त्रे जिह्वारूपस्तद्दक्षिणवक्त्राद् भुवनमनुग्रहायावतीर्ण इत्यर्थः ॥८५९॥

किं च—

स एव तु महादेवि कालाग्निः परमेश्वरः ।

यः कर्परिकापृष्ठे ब्रह्माण्डोर्ध्वे च प्रतिपादितः, स एवेति नीललोहितो यस्य दक्षिणजिह्वामात्रात्मा कालाग्निः, स निःसामान्यात्मेति यावत् ॥

एतस्य शिवाग्नेर्ध्यायिजनोपयोगि—

तस्य रूपं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये ॥८६०॥
रक्तपद्मदलच्छायः पद्मरागसमद्युतिः ।
रक्ताम्बरधरः श्रीमान् रक्तमाल्यानुलेपनः ॥८६१॥
अर्काभाभ्यां कुण्डलाभ्यामलंकृतशुभाननः ।
महाहारेण दीप्तेन उरःस्थेन विराजते ॥८६२॥

पद्मरागमयेनेत्यर्थात् ॥८६२॥

किं च—

किरीटी कुण्डली दीप्तो देवानामास्यमुच्यते ।

अस्यन्त्यनेन शिवाग्निरूपेण विश्वभक्षकेण हविरित्यास्यम् ॥

अयं चात्र भुवने—

सर्ववज्रमये पीठे उपविष्टः स्वयं प्रभुः ॥८६३॥
दावाग्निरिव शैलाग्रे वेणुघर्षात् समुत्थितः ।

किं च—

दशकोटिसहस्राणि आग्नेयास्तु गणेश्वराः ॥८६४॥
दक्षिणास्याद्विनिष्क्रान्ताः श्वसतोऽस्य स्वयंभुवः ।
हिताय सर्वलोकानां रुद्रा वै सूर्यवर्चसः ॥८६५॥
तेन तेऽग्निं महात्मानो नित्यशः पर्युपासते ।

गणानां स्वपरिवाराणामीश्वरा रुद्राः । हिताय सर्वभूतानामिति सूर्यमरीच्याद्यधिष्ठानद्वारेण संस्थिताग्न्यधिष्ठानेन च भोगमोक्षरूपमनुग्रहं संपादयितुम्, तथा च पुराणेषु—

'चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ।
रसातलगता ये च ये च तस्मात् परं गताः ॥
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ।
येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव वा ॥
असंख्येयगणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ।'

(वाम०स० २६।१५६-१६१)

इति स्तुतिवाक्यमस्ति ॥

किं च—

नार्यश्च विविधा दिव्या दिव्यगीतविचक्षणाः ॥८६६॥

गणा रुद्रा भूतगणाः किंकराश्च सहस्रशः ।

तं पर्युपासत इति संबन्धः ॥

किं च—

स वै शिवाग्निः पठितः सर्वहौमेश्वरः परः ॥८६७॥

पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु दीक्षात्मनि शिवयज्ञे ॥

किं चासौ—

अग्निकार्यविधानेषु हूयते तद्विदैः सदा ।

तत्र विदा ज्ञानं येषां ते तद्विदास्तैः ।

किं च—

तमग्निमैश्वरं यान्ति कृत्वाग्नेयीं तु धारणाम् ॥८६८॥

देहान्त इत्यर्थात् ॥८६८॥

अयं चास्य शिवाग्नेर्महिमा, यत्—

स एकधा स बहुधा व्याप्य सर्वं व्यवस्थितः ।

एकधेति शिवाग्नितया । बहुधेति वक्ष्यमाणपञ्चाशद्रूपतया ॥

किं च—

स तेजस्तेजसां योनिः

यतः—

तस्माज्जज्ञे दिवाकरः ॥८६९॥

जज्ञे जातः । उक्तं च—

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्याबित्यविग्रहा ।' (१०।४९९)

इति । शिवाग्नेरस्येहोद्भवो यत उक्तः ॥८६९॥

किं च—

बहुधा व्यज्यते चासौ कल्पमन्वन्तरादिषु ।

वक्ष्यमाणेषु कल्पादिषु बहुधा व्यज्यते नानाप्रकारतया ब्रह्माण्डान्तरंशांशिकयावतरति ॥

किं चायम्—

भिन्नश्च जन्मभेदैश्च पञ्चाशद्भिश्च भूतले ॥८७०॥

ते च वायुपुराणादौ[1] विद्युदरणिसूर्यकान्तोद्भूतानां पावकपावमानशुचिसंज्ञानां भेदेन तत्पुत्रपौत्रादिभेदेन च भरतवैश्वानराथर्वभृङ्गादिनानानादनिर्दिष्टेन

१. वैद्युताद्यग्नीनां लक्षणप्रतिपादकः ५३ तमोऽध्यायोऽत्र परीक्षणार्हः ।

पञ्चाशन्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्माधिकरणभूताः केचिद् लौकिकाः केचिच्च वैदिका निर्दिष्टाः। मोचकस्त्वेक एव शिवाग्निः परमेशमन्त्रसंस्कारसंस्कृतः साक्षादयमेवावतीर्णः स एकधेति योऽनन्तर निर्दिष्टः ॥८७०॥

उपसंहरति--

तदेवं कीर्तितं सम्यगाग्नेयं भुवनं महत्।

अत्रैव—

भुवनाधिपांश्च भुवने कथयामि त्वतः परम् ॥८७१॥
हरिश्चन्द्रं च श्रीशैलं जल्पमाम्रातकेश्वरम्।
महाकालं मध्यमं च केदार भैरवं तथा ॥८७२॥

तदभिधाने रुद्राष्टकं पूर्वोक्तादगुह्याष्टकात् सातिशयम्—

अतिगुह्यं समाख्यातं

अतिगुह्यं गुह्येभ्यः प्रकृष्टत्वात्। एवमुत्तरत्र ॥

कथमेतदत्र स्थितमित्याह—

पूर्वेशान्तमनुक्रमात्।

पूर्वदिग ईशानदिगन्तं स्थितं प्रधानभूतमेतद्रुद्राष्टकमित्यर्थः। एतच्चोक्तवक्ष्यमाणाष्टकान्तरेष्वप्येवमवस्थानं प्राधान्यं चोपलक्षयति ॥

अथोर्ध्वे वाय्वावरणं तत्रस्थो वायुरव्ययः ॥८७३॥
प्राणस्य भुवनं तत्र वायोस्तु वरवर्णिनि।
शङ्खगोक्षीरधवलं शरत्कुन्देन्दुसप्रभम् ॥८७४॥

प्राणाख्यस्य प्रधानस्य वायोः—

तस्मिस्तु भुवने दिव्ये दिव्याश्चर्यशतैर्युते।
मध्ये तु मण्डलं दिव्यं शरच्चन्द्रसमप्रभम् ॥८७५॥
रश्मिमालाकुलं दिव्यं द्योतयद् वै दिशो दश।

मण्डलं प्रधानपुरम् ॥

तस्य मध्ये तु देवेशि वायोस्तु परमा तनुः ॥८७६॥

वाय्वधिष्ठातृदेवः स्थित इत्यर्थः ॥८७६॥

स च—

किरीटी कुण्डली दीप्तो हारकेयूरभूषितः।
नानाभरणचित्राङ्गश्चित्रमाल्यानुलेपनः ॥८७७॥
चित्राम्बरधरः श्रीमान् महाहारविभूषितः।

तं च—

मारुता नाम वै देवाः शतकोट्यो महाबलाः ॥८७८॥
उपासते महात्मानं वायुमूर्ति महाद्युतिम् ।

कं तमित्याह —

यो व्यापयेच्छरीराणि एकधा पञ्चधा विभुः ॥८७९॥

एकधा सामान्यप्राणात्मना । प्राणापानसमानोदानव्यानानां भेदेन तु पञ्चधा । व्यापयेदिति व्याप्नुवतः स्वप्रपञ्चव्याप्तिरूपान् वायून् प्रयुञ्जीत ॥८७९॥

न केवलं सर्वाणि शरीराणि स्वप्रपञ्चव्याप्तिरूपैः सूक्ष्मवायुभिर्व्यापयेदिति, यावद्बहिरपि—

सप्तधा सप्तधा चैव तिर्यग्गो द्विगुणो विभुः ।

'आ मेघाद्भास्करात्' (१०।५१३) इत्याद्युक्तनीत्या ये सप्त, ते प्रत्येकं पौराणिकप्रसिद्ध्या सप्तधेत्येकोनपञ्चाशद्धा बहिस्तिर्यग्गो वायुः । द्विगुण इति शब्दस्पर्शाख्यगुणद्वययुक्तः ॥

एवंभेदभिन्नस्याधिष्ठातृदेवतात्मा —

स्वमण्डलस्य सा दिव्यैर्विभात्येका परा तनुः ॥८८०॥

किं च—

तमेतमेकं दशधा प्राणात्मानं तु योगिनः ।
ध्यात्वा त्यक्त्वा तु वै प्राणान् कृत्वा तस्मिंस्तु धारणाम् ॥
तं विशन्ति महात्मानो वायुभूताः खमूर्तयः ।

तमिति सामान्यप्राणरूपमेकम् । दशधेति प्राणादिभेदान्नागकूर्मादिभेदाच्च । तं विशन्तीति वाय्वावरणगतत्वाद्वायुदेवतासायुज्यं यान्ति ॥

उपसंहरति—

इति प्राणस्य भुवनमाख्यातं तव सुव्रते ॥८८२॥

अथ—

भुवनेशांस्तत्र रुद्रान् कथयाम्यनुपूर्वशः ।
गयां चैव कुरुक्षेत्रं नाकलं कनखलं तथा ॥८८३॥
विमलं चाट्टहासं च माहेन्द्रं भीममष्टमम् ।

पूर्ववद् भुवनमध्यवतीर्णम्—

गुह्याद्गुह्यतरं ह्येतद्वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥८८४॥

वेदितव्यमिति दीक्षायामुपस्थानादिपूर्वं शोध्यत्वेन ॥८८४॥

अथोपरि—

आकाशे तु यथाकाशं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ।

आकाश इति तदावरणे । यथाकाशमिति व्यापकम् । शुद्धेति स्वच्छम् । भुवनमित्यर्थात् ।।

तथाऽत्र—

सूक्ष्मरूपोऽव्ययो नित्यो मध्यदेशे व्यवस्थितः ।।८८५।।

आकाशाख्य एव परमेश्वरमूर्तिरूपो भुवनेश इत्यर्थात् ।।८८५।।

किं च—

आकाशधारणायुक्तो योगी युज्येत तत्पदे ।

देहान्तर एव ।।

अथ—

अत्राकाशे प्रवक्ष्यामि ये रुद्राः संव्यवस्थिताः ।।८८६।।

तान् ।।८८६।।

वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम् ।
गोकर्णं भद्रकर्णं च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टमम् ।।८८७।।
पवित्राष्टकमेतद्धि समासेन प्रकीर्तितम् ।

पवित्रस्य निरावरणपदनिविष्टत्वेन पूर्वेभ्योऽप्युत्कर्षात् ।।

अथ—

अस्य बाह्ये अहंकारः

अस्य आकाशावरणस्य बाह्ये सर्वतो व्यापकत्वेनावस्थितोऽहंकार इत्यन्तर्गर्भीकृततन्मात्रेन्द्रियात्मकस्वविकारषोडशकमहंकारावरणमित्यर्थः ।।

अतश्च—

तत्र रुद्रान्निबोध मे ।।८८८।।

छगलाण्डं दुरण्डं च माकोटं मण्डलेश्वरम् ।
कालञ्जरं शङ्कुकर्णं स्थूलेश्वरस्थलेश्वरौ ।।८८९।।
स्थाण्वष्टकं समाख्यातं

तिष्ठत्यस्मिन् तन्मात्रेन्द्रियाधिष्ठातृद्वारेण सर्वभोगसंपदिति स्थाणुशब्दाभिधेयमष्टकमेतत् ।।

पूर्ववदष्टकमेतत्—

पूर्वादीशानगोचरम् ।

स्थितमित्यर्थात् ।।

एतदष्टकाधिष्ठानादेव च—

मध्यदेशे स्थितो रुद्रस्त्वहंकारेश्वरः प्रभुः ॥८९०॥

अहंकाराधिष्ठातृदेवतात्मा एतत्तत्त्वाविभिन्नमूर्तिः । अत एव श्रीपूर्वादौ (५।२१-२२) प्रधानभूतस्याष्टकस्य शोध्यत्वमुक्तम्, न तु तदधिष्ठेयस्याहंकारेश्वरस्य ॥८९०॥

इदानीं जलतत्त्वाधिपतेर्गुह्याद्यष्टकपञ्चकस्य दीक्षायां ध्यानोपयोगि रूपमादिशति क्रमेण—

श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं स्फटिकसप्रभम् ।

तदित्थम्—

पञ्चाष्टकेषु ये वर्णाः समासात् कथितास्तव ॥८९१॥

शतरुद्राणामपि पूर्वादिदिक्क्रमेणैव वर्णविभागं निरूपयति—

सिता रक्तास्तथा कृष्णा नीलाः श्यामा बलाहकाः ।
पीताः शुक्लाश्च विज्ञेयाः

ऊर्ध्वं तु कपिशाः—

अधस्तु धूम्रवर्चसः ॥८९२॥

त एतद्वर्णाः—

शतरुद्राः समाख्यातास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
चन्द्रार्धमौलयः सर्वे रुद्राणीभिः समन्विताः ॥८९३॥

सर्व इति पञ्चाष्टकरुद्रा अपि त्रिनेत्रादिरूपाः ॥८९३॥

एवं देवानां रूपमुक्त्वा तद्भुवनानामप्याह—

पद्माकृतीनि ज्ञेयानि चित्ररत्नयुतानि च ।
शतरुद्रभुवनानि भोगैश्वर्ययुतानि च ॥८९४॥
पञ्चाष्टके पुराणि स्युः कूर्माकाराणि सर्वतः ।

एवमहंकारावरणे रुद्रानुक्त्वा तदन्तर्वर्तितन्मात्रादिषोडशकक्रमेण भुवनानि निरूपयितुमुपक्रमते—

आकाशावरणादूर्ध्वमहंकारादधः प्रिये ॥८९५॥
भुवनानि प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमनाः पुनः ।

तत्र—

आदौ तु गन्धतन्मात्रं विस्तीर्णं मण्डलं महत् ॥८९६॥
स्थितं वितानवद्देवि योजनानेककोटयः ।

मण्डलं भुवनं शतकोटिमानाद् ब्रह्माण्डात् क्रमेण दशगुणया वृद्ध्या कोटिगुणमहंकारावरणमिति तदन्तर्वर्तिनां तन्मात्राद्यावरणानामनन्तकोटित्वैव भवति ॥

तच्च—

शुक्लरक्तसितापीतहरितं स्फटिकप्रभम् ॥८९७॥
वितानमिव देवेशि सर्वतः परिमण्डलम् ।

यथा च भूलोके तथा भूतत्त्वकारणेऽपि ॥

शर्वो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ॥८९८॥

युक्तं चैतद्यतः—

तस्मात्तु जायते पृथ्वी शर्वेशेन प्रचोदिता ।

अन्यथा जडस्य तन्मात्रस्य कथं कारणता स्यात् । एवमन्यत्रापि ज्ञातव्यम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रसतन्मात्रमण्डलम् ॥८९९॥
हरितं मरकतश्यामं चाषपक्षनिभं प्रिये ।
भवो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ॥९००॥
तस्मादापो विनिष्क्रान्ता भवेशेन प्रचोदिताः ।

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रूपतन्मात्रमण्डलम् ॥९०१॥
स्फुरत्सूर्यांशुदीप्ताभं पद्मरागसमप्रभम् ।
रुद्रः पशुपतिस्तत्र एक एवावतिष्ठते ॥९०२॥
तस्मात्तेजो विनिष्क्रान्तं तद्वै पशुपतीच्छया ।
तत्तेजः सर्वलोकानां व्यापकं परमेश्वरि ॥९०३॥

पशुपत्याख्यो रुद्रः । लोकानां व्यापकमित्यन्तर्बहिश्च जाठरभौमरूपाद्यग्निरूपतया स्थितमित्यर्थः ॥९०३॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं स्पर्शतन्मात्रमण्डलम् ।
सन्ध्यारुणसमच्छायं वायव्यं मण्डलं प्रिये ॥९०४॥

संध्यायामरुणो गुणः किंचित्तमसा कर्बुरधूसराभो भवति ॥९०४॥

तच्चैतत्—

वितानाकारसदृशं समन्तात् परिमण्डलम् ।
तत्रैव मण्डले देवि त्वीशानः संव्यवस्थितः ॥९०५॥

अधिपतिः ॥९०५॥

अतश्च—

तस्माद्वायुर्विनिष्क्रान्त ईशेच्छाप्रेरितः प्रिये ।

यः पूर्वं वायुतत्त्वरूप उक्तः ।।

किं च—

तस्मात् प्राणादयः पञ्च

तस्मादिति वायोः ॥

ततोऽसौ—

वायोस्तद्व्यापकः परः ।।६०६।।

सप्तधा सप्तधा सोऽपि स एको बहुधा गतः ।

एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं शब्दतन्मात्रमण्डलम् ।।६०७।।
नीलोत्पलदलश्यामं स्वच्छोदकसमप्रभम् ।
वितानसदृशाकारं समन्तात् परिमण्डलम् ।।६०८।।
भीमस्तत्राधिपत्येन एक एवावतिष्ठते ।
तस्मान्नभो विनिष्क्रान्तं भीमेच्छाचोदितं महत् ।।६०६।।
व्यापकं सर्वलोकानां परापरगतं प्रिये ।

परं जलादितत्त्वस्थानम्, अपरं तु ब्रह्माण्डान्तर्गतम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं सूर्यमण्डलमुच्यते ।।६१०।।
सहस्रादित्यसंकाशं दीप्यमानं समन्ततः ।
वितानवद्रश्मिदीप्तं समन्तात् परिमण्डलम् ।।६११।।
रुद्रो ह्यधिपतिस्तत्र त्वेक एवावतिष्ठते ।
सूर्यास्तस्माद्विनिष्क्रान्ताः कल्पे कल्पे वरानने ।।६१२।।

ये ब्रह्माण्डान्तरधिकृताः । एवमुत्तरत्र ।।६१२।।

अथ—

तस्मात्त मण्डलादूर्ध्वं सोममण्डलमुच्यते ।
चन्द्रकोटिसहस्राणां तेजसा तुल्यमण्डलम् ।।६१३।।

तुल्यं च मण्डलं परिमण्डलमित्यर्थः ।।६१३।।

अत्र च—

अधिपतिस्तु महादेव एक एवावतिष्ठते ।
तस्माच्चन्द्रादिमे चन्द्रा महादेवेन चोदिताः ।।६१४।।
असंख्याताः सहस्राणि कल्पे कल्पे विनिर्गताः ।

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं वेदमण्डलमुच्यते ॥६१५॥

चन्द्रकोटिसमच्छायं समन्तात् परिमण्डलम् ।

वितानवत् स्थितं दिव्यमुग्रेशसमधिष्ठितम् ॥६१६॥

संरुद्धं वामया तत्तु

उग्राख्यस्य रुद्रस्य संबन्धिन्या वामाख्यशक्त्या तद्वेदमण्डलं संरुद्धमाच्छादितं पराद्वयस्वरूपमनधिष्ठितमित्यर्थः ।।

अतश्च वेदान्तप्रतिपाद्याद्वयात्मनः स्वरूपस्य वामशक्त्यावृतत्वात् कर्मानुष्ठानप्रधानानि भेदमयान्येव—

तस्माद्वै निर्गतानि तु ।

यजमानसहस्राणि कल्पे कल्पे स्थितानि हि ॥६१७॥

ब्रह्मणस्तपसोग्रेण उग्रेशेन प्रचोदितात् ।

तस्माद्वेदमण्डलरूपाद् ब्रह्मण उग्रेशेन प्रचोदितात्, न त्वीश्वरचोदनां विना, उग्रेण तपसा लक्षितानि तानि निर्गतानि ब्रह्माण्डं यज्ञानुष्ठानायावतीर्णानि ॥

तत्समकालमेव च—

वेदयज्ञाश्च विविधा ब्रह्मणोऽनन्तवर्त्मनः ॥६१८॥

तस्मादेते प्रवर्तन्ते यज्ञा यज्ञफलानि च ।।

तपोदानादिभिः सार्धं वामशक्त्या नियन्त्रिताः ॥६१९॥

वेदयज्ञा ज्योतिष्टोमादयः । यज्ञा इति स्वाध्यायजपयज्ञादयः । एतच्च—

'ब्रह्माण्डमेतदाख्यातं पाशजालावतारितम्' (१०।६६४)

इत्युक्तदृष्ट्या

'वामाधः प्रेरयत्यणुम्'

इति स्थित्या वामाशक्त्यधिष्ठानक्रमेणोग्रदेवेनैव संपाद्यते । ब्रह्मणोऽपि हि तन्निर्मातृत्वाभिमानस्तेनैव दत्तः ॥६१९॥

उपसंहरति—

इत्यष्टौ तनवस्त्वेताः परा वै संप्रकीर्तिताः ।

परमेश्वरस्येत्यर्थः ॥

यदपेक्षया परा एताः, ता अप्याह—

अपरा ब्रह्मणोऽण्डं वै व्याप्य सर्वं व्यवस्थिताः ॥६२०॥

बहिरन्तश्च स्थावरभूतरूपा इत्यर्थः । एवं चाभिदधत्सर्वमिदं परमेश्वरात्मकमित्यद्वयदृष्टिमेव प्रस्तुतां निर्वाहयति । एवं भूततन्मात्रात्मकदशविधकार्य-

तत्त्वगतो भुवनविभाग उक्तः, तत्प्रसङ्गेन च मूर्त्यष्टकाधिष्ठायकमूर्तीश्वराष्टकमुक्तम्। उक्तमूर्त्यष्टकाधिष्ठायकमध्ये याजमानी मूर्तिः सर्वोपरि प्रधानभूतोक्ता, यस्या मूर्तिपञ्चकं कार्यात्मकं भोग्यं सूर्यसोमात्मकं च मूर्तिद्वयं कारणतया वर्तते ॥६२०॥

एवं कार्यावरणमहंकारान्तर्गतं पञ्चविधमुक्त्वा करणावरणैकादशकं प्रकटयितुमाह—

एभ्यः परतरं चापि मण्डलं करणात्मकम्।

करणं शब्दोदीरणादिव्यापारतत्साधनकर्मेन्द्रियोदयस्थानम्। मण्डलं भुवनं वक्ष्यमाणदृष्ट्या वागादिकर्मेन्द्रियतत्त्वपञ्चात्मकतया विभक्तमित्यर्थः॥

तच्च क्रमेण—

शुक्लरक्तासितं पीतं हरितं चापि वर्णतः ॥६२१॥

तत्र च—

पञ्चाधिपास्तु तिष्ठन्ति मण्डले करणात्मके।

ते चाधारपटलनिरूपयिष्यमाणनीत्या वह्निशक्रविष्णुमित्रकश्यपाः॥

किं च—

कर्मदेवाः प्रवर्तन्ते तस्माद्वै सर्वदेहिनाम् ॥६२२॥

कर्मदेवा वचनादिस्वक्रियाद्योतकानि कर्मेन्द्रियाणि, तस्मात् करणमण्डलात्, प्रवर्तन्ते देहिनां प्रत्यणु पृथग्रूपाण्युद्भवन्ति ॥६२२॥

तानि च—

वाक्पाणिपादपायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमः।

अन्तःप्राणाश्रये त्यागादाने वागिन्द्रियकार्ये, बहिस्त्वादानं त्यागो द्वयं च पाणिपायुपादनिर्वर्त्यम्, समस्तत्यागादानक्षोभप्रशमनेनानन्दात्मकस्वरूपविश्रान्तिरुपस्यकार्यम्। न चैतद्व्यतिरिक्तः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीति पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि। तेषां च सर्वशरीरव्यापकत्वेऽपि पाण्याद्यधिष्ठानस्थानम्, तेन वक्त्रादिनापि यद्ग्रहणम्, तदपि पाणीन्द्रियकार्यमेव॥

बुद्धीन्द्रियाण्याह—

एभ्यः प्रकाशकं नाम परतः सूर्यसंनिभम् ॥६२३॥

'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' (सा० का० २८)

इति स्थित्या श्रोत्रादीनां शब्दादिप्रकाशकत्वात् तदुद्भवस्थानं प्रकाशकं मण्डलमित्युक्तम्, अत एव सूर्यसन्निमम् ॥६२३॥

एतच्च करणमण्डलात् पञ्चधैव। यदाह—

तस्माद्वै संप्रवर्तन्ते पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तु ।

प्रत्यणु भिन्नभिन्नरूपाणीत्यर्थः ॥

तानि च—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका च यथाक्रमम् ॥९२४॥

व्योमवाय्वादितत्त्वप्रसरणक्रमेणेत्यर्थः ॥

एषां च—

विषयालोचनं वृत्तिः

यतः—

तेजोमण्डलसंस्थिताः ।

स्वाक्याधिपतयो नित्यं तेष्वेव प्रतिचोदकाः ॥९२५॥

भाविनीत्या दिग्वायुसूर्यवरुणाश्व्याख्यस्वकाधिष्ठातृदेवताप्रेरिता बुद्धिदेवाश्चोदनानुसारं रूपाद्यालोचनेषु प्रवर्तन्ते, तेनैषां विषयालोचनं वृत्तिरित्यर्थः । एषां कर्मेन्द्रियाणां च प्रतिलोमक्रमेण भुवनसंशोधनं कार्यम् ॥९२५॥

अथ—

एभ्यः परतरं चास्ति चन्द्रमण्डलसन्निभम् ।
विस्तारात् परिणाहाच्च सर्वतो रश्मिमण्डलम् ॥९२६॥
तस्माद्वै संप्रवर्तन्ते पञ्चार्थाः सर्वदेहिनाम् ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ॥९२७॥

भोग्यभूताः प्रतिपुरुषं विचित्रभोगसम्पादका रूपादयः सर्वे तस्मादुद्यन्ति । अत एव समस्तामृतमयचन्द्रोल्लासकत्वात्तस्य चन्द्रमण्डलसन्निभत्वं परिमाणतो रूपतश्चोक्तम् । यतश्चैतद्रश्मिमण्डलमत एवैतद्भूता विषया एतद्रश्मिरूपाः प्रकाशमानतया स्वप्रकाशस्वभावाः । यदुक्तं **श्रीमदुच्छुष्मभैरवे**—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेद्यं वेदकमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥'

इति । यद्यपि पृथिव्यादयो रूपादिगुणा एवोत्पन्नास्तथाप्येते प्रतिपुरुषं विचित्रभोगसम्पादका अन्य एव रूपादयो निर्गताः ॥९२७॥

किं च—

एभ्यः परतरं चापि सौम्यं सोमस्य मण्डलम् ।

एभ्य इति करणप्रकाशरश्मिमण्डलेभ्यः ॥

तस्मान्मनो विनिष्क्रान्तं रश्मिभिर्दशपञ्चभिः ॥९२८॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियविषयाख्यस्य ग्रहणग्राह्यरूपस्य रश्मिपञ्चदशकस्यानुसन्धातृरूपमिति कृत्वा तैरेव तद्युक्तमुक्तम् ॥९२८॥

तच्च—

चित्तं चेतो मनश्चेति

इत्थमुच्यमानं सत्—

शब्दाद्यक्षप्रवर्तकम् ।

यतश्चायं प्रवर्त्यमानैतद्रश्मिपञ्चदशककलापूरिततनुः स्वामृतकलया सह षोडशकलोऽत एव—

तस्याधिपो महातेजाश्चन्द्रमाः सौम्यतेजसा ॥६२९॥

महातेजा नित्यमक्षीणकलाषोडशकादिपरिपूर्णमूर्तित्वात्, अतश्च चेतनस्य पुरुषस्य विकारषोडशकादियुक्ततया स्वावसरनिर्णेष्यमाणस्यावरोहक्रमेण प्रतिनिधिकल्पत्वात्—

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्'

इत्युद्घोष्यते ॥६२९॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं परतो मण्डलं महत् ।
जपाकुसुमसंकाशमरुणादित्यसंनिभम् ॥६३०॥
पूर्ववच्च प्रमाणेन समन्तात् परिमण्डलम् ।

पूर्ववदिति पूर्वोक्तचन्द्रमण्डलपरिमाणमित्यर्थः ॥

किं च—

तस्मात्तु मण्डलाद्देवि सन्ध्यारुणसमद्युतिः ॥६३१॥
सधूमोऽग्निरिवासौ वै अहंकारः प्रवर्तते ।

सर्वप्रमातृगता अहंकारा उद्यन्तीत्यर्थः । अहंकार इति जातावेकवचनम् । मनःपर्यन्तसमस्तविषयेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्तत्कल्पनस्वभावत्वाच्च तैजसभूतादिरूपस्यास्य सधूमाग्नितुल्यत्वमुक्तम् । एवं चाहंकारमनोविषयबुद्धीन्द्रियकारणभूतानि सूर्यसोमरश्मिप्रकाशकरणमण्डलानि पञ्च, तथा तन्मात्रमण्डलानि पञ्च व्याप्य अहंकारतत्त्वं स्थितमिति मनःप्रभृति षोडशकमाहंकारिकमुच्यते । अत एव कारणस्कन्धदृष्ट्या बहिस्तत्त्वान्येकरूपाणि, करणस्कन्धदृष्ट्या तु प्रतिपुरुषं भिन्नभिन्नस्वभावानीति न करणस्कन्धरूपादहंकारात् षोडशकोत्पत्तिरपि तु सूर्यसन्निभान्मण्डलात् कारणस्कन्धरूपात् करणस्कन्धरूपाणां प्रतिप्रमातृभिन्नानामहंकाराणामुत्पत्तिस्तथा मनःप्रभृतेः षोडशकस्येति मन्तव्यम् ॥

यश्चायं करणस्कन्धात्मा अहंकार-, सः—

अन्तःकरणमात्मस्थं

आत्मनोऽन्तरङ्गमेतत् सकलवसुधादिप्रतीतिसाधनं कारणमित्यर्थः ॥

किं च—

येनेदं रंजितं जगत् ॥६३२॥

जगत् स्थावरजङ्गमात्मकं तत्तत्समुचिताभिमानादिवेशनेन येनोपरक्तं कृतमित्यर्थः ॥६३२॥

अयं च—

मत्तद्विप इवान्धस्तु दावाग्निरुपसर्पति।

यथा मत्तो द्विपो दावाग्निश्च तत्तत्तरुप्राण्यादिविनाशायोपसर्पति, तथाऽयमन्धोऽविचारितयुक्तायुक्तास्तदभिमानादानक्रमेण सर्वजगन्नाशकः ॥

किमयमस्य परोपतापकारी स्वभावः स्वत एवोद्भूतः, नेत्याह—

तस्याधिदेवो रुद्रो वै येनायं प्रेर्यते सदा ॥६३३॥

रुद्र इति यः पूर्वम्—

'मध्यदेशे स्थितो रुद्रस्त्वहंकारेश्वरः प्रभुः' (१०।८६०)

इत्युक्तः। प्रेर्यते संसाररक्षार्थमभिमानात्मनि स्वकार्ये प्रवर्त्यते ॥६३३॥

एतं ये परिवृत्य स्थिताः, तेऽपि—

छगलाण्डादयो देवि पूर्वं ते कथिता मया।

गतमेतत् ॥

अहंकारादथोर्ध्वं तु बुद्ध्यावरणमुच्यते ॥६३४॥
सूर्यकोटिसहस्राणां तेजसा तुल्यवर्चसम्।

वर्चो दीप्तिः ॥

किं च—

अष्टानां देवयोनीनामत्रैव भुवनं शृणु ॥६३५॥

प्राग् ब्रह्माण्डरूपेणोक्तानां पैशाचादिब्रह्मपर्यन्तानामष्टानां देवयोनीनां सात्त्विकादिवृत्तिवैचित्र्येण स्थितानां परत्वेनात्रैव बुद्धितत्त्वे धर्मादिगुणाष्टकयुक्ते भुवनाष्टकमस्तीत्येवकाराशयः ॥६३५॥

तत्र—

ककुभं नाम भुवनं सन्ध्यारुणसमप्रभम्।
मानसीभिस्तु तत्स्त्रीभिर्मुदिताभिः समाकुलम् ॥६३६॥

मानस्यो मनोनुकूलाः ॥६३६॥

किं च—

स्थितास्तत्र पिशाचास्तु सन्ध्यारुणसमप्रभाः।
दशकोटिसहस्राणि

कि च—

तेषां तत्र निवासिनाम् ॥६३७॥

मध्ये—

स्वनन्दो नाम विक्रान्तः

स च तेष्वेव—

पिशाचेष्वीश्वरो महान् ।
सन्ध्यारुणसमच्छायो बन्धूककुसुमाकृतिः ॥६३८॥
कुण्डलाभरणोपेतो हारकेयूरभूषितः ।
किरीटी चाङ्गदी मौली हेमचीनाम्बरः शुभः ॥६३९॥
परिवृतो भूतगणैः प्रभूतैः पार्श्वगैस्तथा ।
नानारूपधरैर्दिव्यैर्दिव्याभरणभूषितैः ॥६४०॥
दिव्यमाल्यानुलेपैस्तु दिव्यैश्वर्यसमन्वितैः ।

मौलिः शिखामणिः । दिव्यमैश्वर्यं पिशाचोचितमेवाणिमाद्यष्टविधम्, एवमुत्तरत्रापि स्वोचितमेव दिव्यत्वं मन्तव्यम् ॥

स चैतैः—

परिवृतो महातेजा गणैरिव महागणः ॥६४१॥

महान्तो गणा यस्य स महागणो महादेवः ॥

अथ—

अतः परं प्रवक्ष्यामि राक्षसं भुवनं महत् ।
कोकिलाकण्ठसदृशं नीलजीमूतसंनिभम् ॥६४२॥
तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये दिव्यैश्वर्यसमन्विते ।
करालो राक्षसेशो वै जात्यञ्जननिभो महान् ॥६४३॥
किरीटी कुण्डली दीप्तः शोभते तु महाद्युतिः ।
जात्यञ्जननिभः श्रीमान् दावाग्निरिव पर्वते ॥६४४॥

श्रीर्दीप्तिर्विद्यते यस्य, अत एव धूमबहुलेन दावाग्निनोपमितः ॥६४४॥

अस्य च परिवारः—

दशकोटिसहस्राणि मुदिता नाम राक्षसाः ।
भृङ्गजीमूतवर्णाभा वसन्त्यत्र महाप्रभाः ॥६४५॥

अथ—

अतः परं प्रवक्ष्यामि याक्षं वै भुवनं महत् ।
जाम्बूनदमयं सर्वं दिव्यरत्नसमुज्ज्वलम् ॥६४६॥

भोगैश्वर्यसमुत्पन्नं समन्तात् परिमण्डलम् ।
तस्मिंस्तु भुवने भद्रे सुभद्रो नाम यक्षराट् ॥६४७॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभो मुकुटादिविभूषितः ।
शतकोटिसहस्रैस्तु यक्षैरमितविक्रमैः ॥६४८॥
तैर्वृतो भ्राजते सर्वैः शर्वः सर्वगणैरिव ।

अथ—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गान्धर्वं भुवनं महत् ॥६४९॥
पीतकौशीतकीप्रख्यं चम्पकैस्तु समच्छवि ।

कौशीतकी पुष्पविशेषः ॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये सुरूपो नाम वै प्रिये ॥६५०॥
गन्धर्वदेवाधिपतिर्गन्धमादनसन्निभः ।

अप्रकम्प्यत्वात् ॥

तथा—

तप्तजाम्बूनदनिभस्तरुणादित्यसप्रभः ॥६५१॥
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ।
दशकोटिसहस्रैस्तु गन्धर्वैः परिवारितः ॥६५२॥
मनःशिलाभङ्गनिभैर्हरितालनिभैस्तथा ।
स्वकान्ता नाम गन्धर्वाश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ॥६५३॥
चित्राम्बरधराः सर्वे चित्राभरणभूषिताः ।

अथ—

तस्मात् परतरं वक्ष्ये स्थानमैन्द्रं च पार्वति ॥६५४॥
बृहद्भोगमिति ख्यातं तदूर्ध्वं सर्वकामदम् ।
शङ्खगोक्षीरधवलं शरत्कुन्देन्दुसन्निभम् ॥६५५॥

बृहद्भोगमिति यथार्थनाम । ऊर्ध्वमित्युत्कृष्टम् ॥६५५॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये दिव्याश्चर्यशतैर्युते ।
विभूतिर्नाम भगवान् महेन्द्रो भुवनेश्वरः ॥६५६॥
चन्द्रमण्डलसङ्काशो मुक्ताहारविभूषितः ।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् छुक्लमाल्यानुलेपनः ॥६५७॥
ज्वलत्किरीटो दीप्ताभ्यां कुण्डलाभ्यामलंकृतः ।
हारकेयूरवान् छ्वेतः श्वेतोष्णीषविभूषितः ॥६५८॥
भूतिजा नाम वै देवा विभूत्या परया युताः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो दिव्यमाल्यविभूषिताः ॥६५९॥

दशकोटिसहस्राणि देवाश्चेन्द्राः प्रकीर्तिताः ।
तैरावृतो महातेजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ॥६६०॥

भूत्या सह जातत्वाद्भूतिजा इत्युक्ताः ॥६६०॥

अतः परं तु—

मनोजं नाम भुवनं शरच्चन्द्रनिभं शुभम् ।
शुक्लाभ्रकनिभं दीप्तं मुक्ताहारसुवर्चसम् ॥६६१॥
अमृतो नाम वै तत्र चन्द्रमाः परमः स्थितः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशः श्रीमान् शुक्लाम्बरोद्वहः ॥६६२॥
कुण्डलैर्दीप्तिसंकाशैर्भूषितस्तु विराजते ।
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ॥६६३॥
तत्र वै रश्मयो नाम्ना रश्मिव्यूहसमप्रभाः ।

देवाः ॥

दिव्याः सौम्यास्तु ते ज्ञेयाः सोमतेजःसमुद्भवाः ॥६६४॥
दशकोटिसहस्राणि तेषां वै सौम्यतेजसाम् ।

अथ—

अत ऊर्ध्वं तु देवेशि प्राजेशं भुवनं महत् ॥६६५॥
तस्मिस्तु भुवने दिव्ये प्रजेशस्त्वमितद्युतिः ।
विश्वरूपो विश्ववर्णो विश्वालंकारभूषितः ॥६६६॥
विश्वरूपपरैर्देवैर्विश्वात्मा परिवारितः ।

अमितद्युतिरित्येतन्नामा ॥

तेषां च—

दशकोटिसहस्राणि विश्वानां भूरितेजसाम् ॥६६७॥
परिवार्य महात्मानं शोभने पर्युपासते ।

विश्वानामित्येतत्संज्ञानाम्, अत एवासर्वनामत्वात् सुडभावः । शोभन इति भुवनविशेषणम् ॥

अथ—

ब्राह्मं चैवमतो ज्ञेयं शङ्खगोक्षीरसन्निभम् ॥६६८॥
पितामहो यत्र देवः शुक्लपद्मस्थसौम्यदृक् ।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥६६९॥
शुक्लयज्ञोपवीती च महाहारविभूषितः ।
दशकोटिसहस्रैस्तु चन्द्रबिम्बसमप्रभैः ॥६७०॥
ब्राह्मै र्देवैः परिवृतः शारदाभ्रैरिवांशुमान् ।

तदित्थम्—

पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ॥९७१॥
सौम्यं तथैव प्राजेशं ब्राह्मं वै भुवनं प्रिये ।

साधिष्ठातृदैवतमुक्तमित्यर्थः ॥

एतानि सुरयोनीनां स्थानान्येव पुराणि तु ॥९७२॥

एतानि पुराणि देवयोनीनां स्थानान्येव मुख्यान्येवावस्थितिधामानि ॥९७२॥

एभ्यश्च स्थानेभ्यः—

अवतीर्यात्मजन्मानं ध्यायन्तः संभवन्ति हि ।
परमेशनियोगाच्च चोद्यमानाश्च मायया ॥९७३॥
नियमिता नियत्या च ब्रह्मणो व्यक्तजन्मनः ।
व्यज्यन्ते ते च सर्गादौ नामरूपैरनेकधा ॥९७४॥
अंशेनैव वरारोहे

व्यक्तं प्रभूतात्मदेहमयं स्थूलं जन्म यस्य ब्रह्मणो ब्रह्माण्डान्तसत्यलोकाधिपतेस्तस्य सम्बन्धिनि प्रत्यहं कार्ये सर्गादौ सृष्टिप्रारम्भे व्यज्यन्ते तत्पदोचिताकृतिभाज आत्मजन्मानं बुद्धितत्त्वगतं ब्रह्माणं ध्यायन्तः परमेश्वरनियोगान्मायादिमाहात्म्याद्ब्रह्माण्डान्तर्जायन्ते । ते चांशमात्रेणैव व्यज्यन्ते ॥

सर्वात्मना पुनरेते—

न त्यजन्ति निकेतनम् ।

निकेतनं बुद्धिगतं निजं स्थानम् ॥

एवं बुद्धितत्त्वगतं देवयोन्यष्टकमात्रमुक्त्वा प्रस्तुतभुवनदीक्षायां प्रकृतं मा विस्मार्षीदित्याशयेनाह—

पुर्यष्टकेन्द्रियैः सार्धमात्मा मन्त्रैर्विशोधयेत् ॥९७५॥

बुद्धिपर्यन्तगते भुवनजाते शोधिते सति तन्मात्रमनोहंकारबुद्धिरूपेण पुर्यष्टकेनेन्द्रियैश्च बाह्यैः करणैः सार्धं यः स्थित आत्मा, अर्थात्तमेव मन्त्रैरिति प्राग्विभक्तस्थित्या प्रतिष्ठायां यथाकर्मविभागं विनिर्मुक्तैर्मूलवामदेवादिभिर्विशोधयेत् । विशोध्यत इति तु स्पष्टः पाठः ॥९७५॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

पञ्चाष्टकं मूर्तयोऽष्टौ बुद्धितत्त्वमनुक्रमात् ।
विशोध्यैवं प्रयत्नेन क्रोधाष्टकमतः परम ॥९७६॥

विशोधयेदिति संबध्यते । अनुक्रमादित्युक्तेरयमाशयः—गुह्याद्यष्टकचतुष्टयं जलादिव्योमतत्त्वान्तगं शोधयित्वा तन्मात्रपञ्चकसोमसूर्यवेद्यमण्डलगताः

शर्वादिमूर्तयोऽष्टौ विशोध्याः, ततः कर्मबुद्धीन्द्रियपराधिष्ठातृ नग्न्यादिसोमान्तानेकादश शोधयित्वाऽहंकारगतं पञ्चमं स्थाण्वष्टकं ततोऽपि बुद्धिगतं देवयोन्यष्टकं विशोधयेत् । प्रयत्नेनेति प्रागुक्तेनाध्वसन्धानादिना भुवनेश्वरवागीश्वरीविसर्जनपर्यन्तेन समस्तेन कर्मविस्तारादिना, न तु हेलामात्रेण । उक्तं चान्यत्र[1]—

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति'

इति ॥९७६॥

एवमियदन्तं शोधयित्वा बुद्धितत्त्वगतमेव क्रोधेश्वराष्टकं यच्छोध्यम्, तदुद्दिशति—

संवर्तस्त्वेकवीरश्च कृतान्तो जननाशकः ।
मृत्युहन्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः ॥९७७॥

महाक्रोधनाम्ना क्रोधाधिष्ठायिना रुद्रेणोपलक्षितमेतत्क्रोधाष्टकमुच्यते । एते च रुरुसंग्रहे—

'क्रोधेशश्चण्डसंवर्तौ ज्योतिःपिङ्गलसूरकौ ।
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखी देशहितेश्वराः ॥' (४।१७)

इति नामान्तरेणापि पठिताः ॥९७७॥

नीलोत्पलदलाभानि तेषां वै भुवनानि तु ।
एकैकस्य परीवारः कोटिर्दशसहस्रकम् ॥९७८॥

अथात्रैव तत्त्वे—

क्रोधेश्वराष्टकादूर्ध्वं स्थितं तेजोष्टकं महत् ।
बलाध्यक्षो गणाध्यक्षस्त्रिदशस्त्रिपुरान्तकः ॥९७९॥
सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषोन्मेष एव च ।

निमेषसहित उन्मेष इत्यर्थः ॥

एषां च—

सहस्रैः पञ्चदशभिः परिवारोऽभिधीयते ॥९८०॥

तेजोष्टकसमाख्याया निमित्तमाह—

अग्निरुद्राः स्मृता ह्येते तेजसा कृष्णवर्णकाः ।

अग्निवद्दीप्तत्वादग्निरुद्राः तेजसा ज्ञानदीप्तिमयेनोपलक्षिताः, अत एव बुद्धिगतदीप्तात्मकतेजोष्टकाधिष्ठातृत्वादप्येतत्तेजोष्टकमुच्यते ॥

---

१. तन्त्रालोके (२३।२९) सिद्धातन्त्रवचनमेतत् स्मर्यते ।

कूर्माकाराणि चित्राणि तेषां वै भुवनानि तु ॥९८१॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं समाख्यातं योगाष्टकमनुत्तमम् ।

संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगस्थितानां योगिनामधिष्ठातृत्वाद्योगाष्टकम्, अत एवाधस्तनाष्टकापेक्षयोत्कृष्टत्वादनुत्तमम् ॥

तच्च—

अकृतं च कृतं चैव रैभवं ब्राह्ममेव च ॥९८२॥

वैष्णवं त्वथ कौमारमौमं श्रैकण्ठमेव च ।

रिभूणां देवानामिदं रैभवम्, एवं ब्राह्मं भुवनमित्यादि योज्यम् । तेन राधनं तत्र भवमित्यादिव्याख्यानमसत् । एतच्च योगाष्टकं प्रधानतत्त्वाश्रयमिति **श्रीमालिनीविजये** (५।२४-२५) सगुणयोगनिष्ठानां च शुद्धसत्त्वगुणा धीः प्रधानं वा प्राप्तिपदमिति न वस्तुभेदः कश्चित् ॥

अतश्च—

क्रीडन्ति योगिनस्तत्र भुवनैः स्फटिकप्रभैः ॥९८३॥

तत्र नैष्कर्म्ययोगनिष्ठा अकृतपदे, कर्मयोगनिष्ठाः कृतपदे, निर्माणयोगगता रिभुपदे, पुरुषाद्वययोगसेविनो ब्रह्मपदे, वैष्णवशास्त्रोक्तयोगसेविनो वैष्णवपदे, निष्पन्नब्रह्मचर्ययोगाः कुमारपदे स्फटिकप्रभैः स्वच्छैर्भुवनैरुपलक्षिताः क्रीडन्ति । तदूर्ध्वं त्वौमं श्रैकण्ठं च धाम शैवसिद्धान्तोपदिष्टशक्तिशक्तिमदाराधनपुरःसरचित्तवृत्तिनिरोधात्मकनिष्पन्नानां प्राप्तिपदम् ॥९८३॥

तत्र शिवयोगिन्या भगवत्या उमाया देव्या योगाष्टकस्योपरि परेण रूपेण स्थिताया भुवनमाह—

ततः साक्षाद्भगवती जगन्माता व्यवस्थिता ।

उमा त्वमेया विश्वस्य विश्वयोनिः स्वयम्भवा ॥९८४॥

साक्षादित्युक्त्या योगाष्टकमध्ये भगवत्या अंशावतरणमित्याह, एवं वक्ष्यमाणश्रीकण्ठभट्टारकविषयेऽपि मन्तव्यम् । स्वयम्भवेति स्वातन्त्र्यात् परानुग्रहाय तत्र स्थिता, नान्ययोगिवद्योगवशादेतत्पदं प्राप्ता ॥९८४॥

सा च—

तप्तजाम्बूनदनिभा ह्युद्यदादित्यसप्रभा ।

महापीठे मणिमये सिंहाष्टकयुते शुभे ॥९८५॥

शतयोजनविस्तीर्णे दिव्यस्रग्धामलालिते ।

स्थितेति शेषः ॥

किं च—

दिव्यकुण्डलिनी देवी महाहारविभूषिता ॥९८६॥

किं च—

विजयाग्रे महाभागा श्रीरिवोत्तमरूपिणी ।
जया च पद्मगर्भाभा सर्वालंकारभूषिता ॥९८७॥
नन्दा च पद्मपत्राक्षी हारकेयूरभूषिता ।
सर्वाभरणचित्राङ्गी सुनन्दा च मनोहरा ॥९८८॥
परिवार्य प्रतीहार्यः सर्वतः समुपस्थिताः ।

श्रीरिवेति पूर्वोक्तश्रीरूपेत्यर्थः । सर्वत इति चतुर्दिक्कम् ॥

किं च—

त्रिंशत्कोटिसहस्राणि त्रिंशत्कोटिशतानि च ॥९८९॥
मानस्यो दिव्यनार्यस्तास्तां सदा पर्युपासते ।

ता इति लोकोत्तराः । त्रिशत्कोटीति पाठे वर्णव्यत्ययश्छान्दसः ॥

किं च—

विमानकोटिरेका च रुद्राणां भूरितेजसाम् ॥९९०॥

तत्रास्ति ॥९९०॥

ते च विमानस्था रुद्रास्तदाराधनपरा एवेति कृत्वा—

औमा इति समाख्याताः

किं च—

वैमाना इति तेऽन्यथा ।

विगतो मानः शरीरेन्द्रियादिविषयोऽभिमानो यस्याः सा विमाना भगवती, तस्या अमी वैमानाः ॥

एते हि—

उपासते तु तां देवीं मातरं तनया इव ॥९९१॥

न च तत्रासौ केवलमनुग्रहपरा स्थिता, यावत् ।

सावतीर्याण्डमध्ये तु मया सार्धं वरानने ।
अनुग्रहार्थं लोकानां प्रादुर्भूता सनातनी ॥९९२॥

सनातनी नित्यं पुंसामनुग्रहार्थं प्रपञ्चव्याप्त्या नानानामाकृतिरूपा प्रादुर्भूता व्यक्तिं गतेत्यर्थः । मया सार्धमिति वक्ष्यमाणश्रीकण्ठावतारेण कैलासवासिना मया सहेत्यर्थः ॥९९२॥

प्रतिकल्पं नानानामभेदेन देव्यवतीर्णेत्याह—

कल्पे पूर्वे जगन्माता जगद्योनिर्द्वितीयके ।
तृतीये शाम्भवी नाम चतुर्थे विश्वरूपिणी ॥९९३॥
पञ्चमे नन्दिनी नाम षष्ठे चैव गणाम्बिका ।
विभूतिः सप्तमे कल्पे सुभूतिश्चाष्टमे तथा ॥९९४॥
आनन्दा नवमे कल्पे दशमे वामलोचना ।
एकादशे वरारोहा द्वादशे च सुमङ्गला ॥९९५॥
कल्पे त्रयोदशे देवि महातनुरुदाहृता ।
कल्पे चतुर्दशे चैव अनन्ता नाम कीर्तिता ॥९९६॥
भूतमाता पञ्चदशे षोडशे चोत्तमा स्मृता ।
सहस्रधारा सप्तदशे सती चाष्टादशे पुरा ॥९९७॥

कल्पो भाविमानेन चतुर्दशमन्वतरं ब्राह्मं दिनं यदन्ते कालाग्निर्जगद्दहति । तत्र प्रथमद्वितीयादिकल्पक्रमेग त्वेतन्नामरूपभेदेन लोकानुग्रहार्थमवतीर्णा ॥९९७॥

आस्तां वा निःसंख्यपुराकल्पगततत्तदवतारकीर्तनेनापरिसंख्येन, केवलमस्मिन् वर्तमाने—

चाक्षुषस्य मनोः कल्पे दक्षस्य दुहिता शुभा ।

ब्रह्मणा स्वचक्षुषा निर्मितत्वाच्चाक्षुषो यो मनुप्रजापतिस्तस्य कल्प इति तदीय एतत्कल्पसम्बन्धिनि प्रथमे मन्वन्तरात्मनि त्वं लोकानुग्रहार्थं दक्षप्रजापति-दुहितृरूपेणावतीर्णाऽभव इत्यर्थः ।

अवतीर्य च—

अवमानाच्च दक्षस्य स्वां तनुं त्वजहाः पुराः ॥९९८॥

एतत्पुराणेषु प्रसिद्धमेव ॥९९८॥

ततः सैव—

अमां कलां तु चन्द्रस्य पुनरापूर्य संस्थिता ।

महेश्वरानुरागात्तच्छिरःस्थाममाख्यां विश्वाप्यायिकां चन्द्रकलामापूर्येति । एवमपि जगदनुग्रहप्रयोजनैव देवी ॥

अथ परमेश्वरी अनुजिघृक्षाप्रेरितेन—

पुनर्हिमवताराध्य दुहिता त्वात्मनः कृता ॥९९९॥
त्वं देवि सा

तथारूपतां गृहीत्वा—

अद्भुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ।
मां भर्तारं पुनः प्राप्य जातास्यङ्गरुहा प्रिये ॥१०००॥

मामिति परमहेश्वरमेव स्वातन्त्र्याद्गृहीतकैलासवासिमूर्तिम् । अङ्गे रुहतीत्यङ्गरुहा वामार्धभागगता ॥१०००॥

तदित्थम्—

कैलासनिलयश्चाहं त्वया सार्धं वरानने ।

भक्तदृशा च मम—

त्वं तनुर्वामभागस्य

अतश्च तत्त्वदृष्टाविवाकृतिदशायामपि—

मत्तो नैव वियुज्यसे ॥१००१॥

न केवलमस्मिन्नेव कल्पेऽद्यत्वे मच्छरीरार्धगतत्वेन स्थितासि, यावत्—

दक्षाध्वरे पुनर्जाता भद्रकालीति नामतः ।

पुनरित्यन्यस्मिन् दक्षयज्ञे दक्षप्रजापतिकृताराधनप्रकर्षात्तदनुग्रहाय भद्रकालीत्वेनावतीर्णा त्वमभव इत्यर्थः ॥

तदित्थं पररूपैव त्वम्—

एकानंशापरा मूर्तिः सतीशानाद्विनिःसृता ॥१००२॥

एकानंशाऽविभक्ताऽद्वितीयरूपा सती इत्यपरा मूर्तिरीशानाद्विनिःसृतेत्युक्तप्रकारनानाविधापरामूर्तिरूपा त्वमीशानादिति परमेश्वरस्वातन्त्र्यादेव जगदनुजिघृक्षयेत्थमास्थितेत्यर्थः, अथ चैकानंशाख्यदेवतात्वेनाप्यवतीर्णेत्यर्थः ॥१००२॥

किं च—

इदं चतुर्युगं प्राप्य द्वापरे विष्णुना सह ।
महिषस्य वधार्थाय उत्पन्ना कृष्णपिङ्गला ॥१००३॥

वर्तमानचतुर्युगगते द्वापरे श्रीभद्रकालीपुरनिरूपितनीत्या विष्णुना आराधिता सती तेनैव भ्रातृभूतेन सह महिषासुरवधायावतीर्णा ॥१००३॥

किं च—

कात्यायनीति दुर्गेति विविधैर्नामपर्ययैः ।
मनुष्याणां तु भक्तानां वरदा भक्तवत्सला ॥१००४॥
पूर्वमेवावतीर्णासि विन्ध्यपर्वतमूर्धनि ।

विविधैर्नामपर्ययैरिति विन्ध्यवासिनीभ्रमरवासिनीत्यादिनामभेदैः । कतस्य वृष्णिमध्यवर्तिनोऽपत्यं कात्यः, तस्य कृष्णावताराद्यपुरुषस्यापत्यं विष्णोर्भगिनी कात्यायनी । दुःखेन गम्यते जपयज्ञदानतपोभिरपि मुनिभिरपि न प्राप्यते, किन्तु भक्तिशालिभिरेवासाद्यत इति दुर्गा । सा च विन्ध्यस्य मूर्धनि पूर्वमेवावतीर्णेत्येतत्कल्पप्रारम्भ एवोक्तजम्बूद्वीपगतविन्ध्यपर्वतशिरसि भक्तानुग्रहार्थमवतीर्णाऽसि ॥

अथेदानीम्—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भुवनं वरवर्णिनि ॥१००५॥
सुचार्विति तु विख्यातं सहस्रादित्यकान्तिमत् ।
कैलासशिखराकारं शुद्धस्फटिकसप्रभम् ॥१००६॥
महाविमानकोटीभिरावृतं चक्रवर्तिनाम् ।

चक्रवर्तिनो मन्त्रेश्वरा अनुग्रहार्थमेवाकृतिपरिग्रहेणात्रावतीर्णा ॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये सूर्यकोटिसमद्युतिः ॥१००७॥
सहस्रबाहुचरणः सहस्रवदनेक्षणः ।
उमापतिर्जगन्नाथः सर्वानुग्रहकृद्वरः ॥१००८॥

तस्य च भगवतो विश्वभोक्तुः—

भोगस्थानं समस्तं वै तत्रस्थं वामभागतः ।

वामभागतो वामं देहार्धमाश्रित्य तत्रैव स्थितं समस्तं भोगस्थानमशेषभोग्योपभोगात्मतया वाममर्धम्, दक्षिणं तु भोक्तृरूपमेव । एवं च भोक्तृभोगात्मकविश्वशरीरोऽयं भगवानत एव सहस्रबाहुचरणादिरूपः ॥

किं चायम्—

शतयोजनविस्तीर्णे नानारत्नविभूषिते ॥१००९॥
दिव्यास्तरणसंछन्ने आदित्यशतसन्निभे ।
आसने परमे दिव्ये रत्नपद्मविचित्रिते ॥१०१०॥
उपविष्टो महातेजा वृषभैरष्टभिर्वृतः ।
हेमचीनाम्बरधरो हारकेयूरभूषितः ॥१०११॥
धारयन् सुप्रदीप्ते च सूर्यमण्डलसन्निभे ।
स्फुरन्मयूखसंघाते कुण्डले रश्मिसंकुले ॥१०१२॥

मयूखाः सूक्ष्माः प्रभाः, रश्मयस्तु स्थूलाः ॥

किं च—

धारयन् मुकुटं मूर्ध्नि दिव्यरत्नविचित्रितम् ।
देदीप्यमानमत्युग्रं कैलासशिखरोपमम् ॥१०१३॥
प्रलम्बोऽस्य महाहारः प्रभवद्रश्मिसंकुलः ।
गाङ्गो हिमवतः शृङ्गात् पतितो निर्झरो यथा ॥१०१४॥

किं च—

त्रिंशत्कोटिसहस्रैस्तु त्रिंशत्कोटिशतैस्तथा ।
शूलिभिर्जटिभिस्त्र्यक्षैर्दिव्याभरणभूषितैः ॥१०१५॥

नानारूपधरै रुद्रैर्वृतो भूतगणैस्तथा ।
दिव्याभिर्मानसीभिश्च नारीभिः परिवारितः ॥१०१६॥
विमानशतकोटीभिरावृतः सर्व एव तु ।

अन्यच्च—

मातरः सप्त रूपिण्यो नानालंकारभूषिता ॥१०१७॥
परिवार्य महात्मानं समन्तात् पर्यवस्थिताः ।

ता दिग्विभागेनाह—

ब्राह्मी कमलपत्राभा दिव्याभरणभूषिता ॥१०१८॥
आग्नेय्यां दिशि देवेशि स्थिता वै श्रीरिवापरा ।
शङ्खगोक्षीरसंकाशा त्वैशान्यां तु वरानने ॥१०१९॥
माहेश्वरी महातेजास्तिष्ठते सुरपूजिता ।
कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ॥१०२०॥
दिश्युत्तरस्यां देवेशि कामिनीपर्युपासिता ।
स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डलमण्डिता ॥१०२१॥
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ।
वैष्णवीति च विख्याता शिवेन परमात्मना ॥१०२२॥

शिवेनैवाधिष्ठिता सती इयं ख्याता, न तु विष्णुना । प्रत्युतं तस्यैतच्छक्त्यं-शाधिष्ठितत्वादेव विष्णुत्वम् ॥१०२२॥

नीलजीमूतसंकाशा सर्वाभरणभूषिता ।
वारुण्यां दिशि देवेशि वाराही पर्युपस्थिता ॥१०२३॥
शङ्खकुन्देन्दुधवला हारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्रयां दिशि च सा देवी इन्द्राणी पर्युपस्थिता ॥१०२४॥
करालवदना दीप्ता सर्वाभरणभूषिता ।
नैर्ऋत्यां दिशि चामुण्डा उपास्ते परमेश्वरम् ॥१०२५॥

एताः सप्त परिवारभूताः, उमा तु देवी भगवतः शरीरार्धस्थाऽष्टमी । सैक योगेश्वरी यस्या एताः प्रपञ्चः । यद्वक्ष्यति—

'उमैव सप्तधा भूत्वा' (१०।१०२६)

इति । अत एव पूर्वम्—

'मातृकाभैरवं देवमवर्गेण प्रपूजयेत् ।
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूजयेत् । (११३४)

इति । एतद्व्याख्यानावसरे इहत्यदेवगृहानुसारेण योजना दर्शिता ॥१०२५॥

एताश्च देव्यः—

न त्यजन्ति हि ता देवं सर्वभावसमन्वितम् ।

सर्वभावेन सर्वसर्वक्रियान्तर्बहिश्च समन्वितमभेदव्याप्त्याऽधिष्ठातृभूतम् ॥

तदित्थं सततं परमेश्वरानुगता अप्येताः—

अंशेन मानुषं लोकं ब्रह्मणा चावतारिताः ॥१०२६॥
असुराणां वधार्थाय मनुष्याणां हिताय च ।

हितमनुग्रहः । चशब्दस्तुशब्दार्थे ॥

कथमवतारितेत्याह—

तपस्तप्त्वा महाघोरं ब्रह्मणा लोकधारिणा ॥१०२७॥

प्रजाहितकारिणा ॥१०२७॥

किं च—

रुरोश्चैव वधार्थाय मयापि त्ववतारिताः ।

मयापीति प्रभुणा सता, न तु ब्रह्मवत्तपस्तप्त्वा, इत्यपिशब्दार्थः ॥

न चैतदाकृतिमदेवासां तात्त्विकं रूपम्, अपि त्वेताः—

स्वच्छन्दास्तु पराश्चान्याः परव्योम्नि व्यवस्थिताः ॥१०२८॥
स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागतः ।

नित्यं स्थिता इति शेषः । परं स्वच्छन्दं चिद्भैरवं परेण तदविभिन्नेन रूपेण, अपरं तदुमापतिरूपम् । अनेनैवमुक्तेन विभागेनैव चायमुमापतिः परभैरवस्फारसार एवेति । अनेनैवाशयेनाप्यादिसूत्रे परभैरवपदमस्माभिर्युक्तमेव व्याकारि, परभैरवसत्तासारत्वादुमापतिर्भैरव इत्युक्त इति ॥

एताश्च मातरः परशक्तिप्रपञ्चव्याप्तिरूपा इत्याह—

उमैव सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः ॥१०२९॥
एवं स भगवान् देवो मातृभिः परिवारितः ।
आस्ते परमया लक्ष्म्या तत्रस्थो द्योतयञ्जगत् ॥१०३०॥

परा लक्ष्मीर्ज्ञानदीप्तिमयी उमा देवी, तया सह । अतश्च उमैव सप्तधा स्थिता सती उमापतेर्देहाविभिन्नेत्यष्टशक्तिर्महेश्वरः ॥१०३०॥

अत एवैतद्व्याप्तिसारा एव—

अस्योपरि तथा चाष्टौ मूर्तयस्तस्य धीमतः ।

अस्य सुचारुणो भुवनस्योपरि तस्य धीमत इत्येतदुमापत्यभिन्नस्य वक्ष्यमाणगुणतत्त्वनिष्ठस्य श्रीश्रीकण्ठस्य सम्बन्धिन्योऽष्टौ मूर्तयो मूर्तीश्वराः । तथा चेति तेनैव श्रीकण्ठाभिन्नेन प्रकारेण स्थिताः ॥

ता आह—

शर्वो भवश्च भगवान् रुद्रः पशुपतिस्तथा ॥१०३१॥
ईशानश्चैव भीमश्च महादेवोग्र एव च ।

वक्ष्यमाणदृष्ट्यनुसारमीशानादनन्तरं रुद्रः पठनीयः । महादेवेन सहित उग्र इति समासः ॥

एवंनामनिर्दिष्टाभिः—

एताभिः कुरुते शर्वो मूर्तिभिः सृष्टिमुत्तमाम् ॥१०३२॥

भगवानुमापतिरेताभिरष्टभिः, मूर्तिभिरित्यनेन मूर्तीश्वराष्टकेन परापरादिभेदेन सर्वमूर्ध्वाधरपदमधितिष्ठतो भगवतो निजशक्तिचक्रात्मना सृष्टिमिति स्थूलसूक्ष्मप्रभावभूततन्मात्रादिरूपवक्ष्यमाणकलादिरूपां सृष्टिम्, उत्तमामित्युक्तसूक्ष्मस्थूलसृष्टिमुद्गतामूर्ध्वं स्थितां भगवानुमापतिरेव वक्ष्यमाणदृष्ट्या परापरभेदेन तत्र तत्रावस्थितः करोति ॥१०३२॥

का सा सृष्टिरित्याह—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशं सूर्य एव च ।
सोमश्च यजमानश्चेत्यष्टौ सृष्टिरियं स्मृता ॥१०३३॥

एतदष्टकं स्थूलसूक्ष्मपरभेदेन तत्र तत्रावस्थितं मन्तव्यम् । तेषां च मध्यादुद्धातदीक्षायां बिन्द्वादिपदैः पृथिव्यादिस्वरूपं पूर्वं दर्शितम्, सूर्यसोमावपि करणशक्तिरूपौ, तदाश्रयत्वेन च यजमानः प्रमातेति सर्वाध्वनि स्थितमेवैतत् ।

एवमेते मूर्तीश्वराः—

सर्वात्मना तु ते तस्मिन्नन्यत्रैकांशत स्थिताः ।

तस्मिन्निति बुद्धितत्त्वगते मूर्तीशावरणे । अन्यत्रेति तन्मात्रावरणे ब्रह्माण्डान्तरे च ॥

उपसंहारभङ्ग्या भगवत उमापतेर्यावती प्रपञ्चव्याप्तिस्तां दर्शयति—

एवमस्मिन् स्थितो देवो ब्रह्मलोकोर्ध्वतस्तथा ॥१०३४॥
मेरोश्च मूर्ध्नीशानो योगाष्टकमथेष्यते ।
श्रीकण्ठ इति नाम्ना च कैलासनिलयस्तथा ॥१०३५॥
शर्वाद्याभिश्च तनुभिरष्टाभिर्व्याप्य तिष्ठति ।

अस्मिन्निति सुचारुभुवने, ब्रह्मलोकोर्ध्वत इति रुद्रलोके, मेरोर्मूर्ध्नि ज्योतिष्कशिखरे, अथानन्तरमेष इव भगवान् योगाष्टकमिष्यते, न तु तदन्यत्किंचित् । तथा श्रीकण्ठ इति नाम्नायमेव कैलासनिलयश्चोमापतिरयमेव शर्वाद्याभिश्च मूर्तीश्वरमूर्तिभिस्तत्र तत्र तत्तत्स्थूलसूक्ष्मादि विश्वं व्याप्य

तदैकात्म्येनावस्थिताभिरयमेव स्थित इति प्रपञ्चव्याप्तिरियं सर्वदैकस्यैव परमेश्वरस्येति यावत् । एतच्चैकादशे सुतरां स्फुटीभविष्यति ॥

एषामेतदुमापतिभुवनमुत्पत्तिस्थानमित्याह—

ये तु माहेश्वरं योगं सगुणं पर्युपासते ॥१०३६॥
भक्त्या च ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ।
दृष्ट्वा देहस्थमात्मानं तेऽत्र यान्ति मनीषिणः ॥१०३७॥

ये तु माहेश्वरशास्त्रनिरूपितं सत्त्ववृत्तिनिष्ठत्वात् सगुणं न तु ज्ञानक्रियादिशक्तिस्फारसमावेशरूपं परयोगं परितो दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैरुपासते सेवन्ते, ते देहस्थं न त्वनवच्छिन्नरूपमात्मानं ज्ञात्वा कर्तृरूपं स्वं स्वभावं साक्षात्कृत्यात्र यान्तीत्युमापतिपदं सायुज्यादिना प्राप्नुवन्ति । अत्र च भक्तिर्मुख्यं कारणं सत्यब्रह्मचर्यदमेषु प्रधानभूतम् । दम इन्द्रियजयः । इत्थं चास्य योगस्य सगुणत्वमेव व्यक्तीकृतम् ॥१०३७॥

न च सगुणशाम्भवयोगप्राप्यमेतत्पदम्, यावत्—

दृष्ट्वा च मण्डलं तस्य भक्त्या च परया भृशम् ।
मुक्तद्वैता यतात्मानस्तत्र यान्ति मनीषिणः ॥१०३८॥

तस्येत्युमापतेर्मण्डलमिति तदधिकरणं यागं दृष्ट्वा तद्दर्शनात्समयदीक्षां प्राप्य तद्भक्त्या च मुक्तद्वैता इत्युमापतिरेवैका पारमार्थिकी देवतेति निश्चित्य तत्सेवार्थं प्रयतचित्ताः पूर्ववत् सायुज्यादिनैतत्पदं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः परमेश्वरशास्त्राश्वस्तबुद्धयः ॥१०३८॥

अथ—

तेषां चैवोपरिष्टात्तु सुशिवा द्वादश स्थिताः ।

सुष्ठु शिवा आकृतिमत्त्वेऽपि शिवैक्यप्राप्त्या पूर्णसार्वज्ञ्यादिरूपाः ।

ते च—

वामो भीमस्तथेशश्च शिवः शर्वस्तथैव च ॥१०३९॥
विद्यानामधिपश्चैव एकवीरः प्रचण्डधृत् ।
ईशानश्चाप्युमाभर्ता अजेशोऽनन्त एव च ॥१०४०॥
तथा एकशिवश्चापि सुशिवा द्वादश स्मृताः ।

एषां ध्यानाय—

सर्वे कुङ्कुमसंकाशाः सूर्यकोटिसमप्रभाः ॥१०४१॥
भुवनेषु विचित्रेषु शङ्खाकारेषु संस्थिताः ।

मूर्तीश्वराणां त्वधिष्ठेयपृथिव्याद्युचितमेव रूपमिति कृत्वेह नोक्तम् ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं वीरभद्रो मण्डलाधिपतिः प्रभुः ॥१०४२॥

वक्ष्यमाणस्य महादेवादिमण्डलेश्वराष्टकस्याधिपतिः। अस्यैव चासौ परा मूर्तिर्यः पूर्वं श्वेतादिमध्ये तदुपरि चोक्तः, अत एवायं प्रभुरिति ॥१०४२॥

अथैतद्ध्यानादिपरिनिष्ठितो यः, सः—

तत्सायुज्यमनुप्राप्य तेनैव सह मोदते।

अथ—

अत ऊर्ध्वं महादेवि महादेवाष्टकं विदुः ॥१०४३॥
महादेवो महातेजा वामदेवभवोद्भवौ।
एकपिङ्गेक्षणेशानौ भुवनेशपुरःसराः ॥१०४४॥
अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टके शिवाः।

एते च—

मायाञ्जनविनिर्मुक्ताः परमेशानसंमताः ॥१०४५॥

परमेशानस्य संमता इति तन्त्रावतारपटलदर्शितनीत्या पारम्पर्येणानन्तभट्टारकमूर्तिना परमेश्वरेणानुगृहीताः, अतश्च प्राप्तप्रबोधप्रकर्षत्वान्मायागर्भाधिकारित्वेऽपि मायाञ्जनविनिर्मुक्ता इत्युक्तम्। एते चापरेण रूपेणेहोक्ता मण्डलेश्वराः, परेण रूपेण तु कालतत्त्वे भविष्यन्ति। ते तु श्रीपूर्वशास्त्रे—

'महातेजःप्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकाः।
मायातत्त्वे स्थितिः⋯॥' (५।२८)

इत्युक्ता इति प्रक्रियाभेदाः ॥१०४५॥

उपसंहरति—

बुद्धितत्त्वे समासेन भुवनेशा मयोदिताः।

देवयोनिक्रोधतेजोयोगमूर्त्यष्टकानि पञ्चेति चत्वारिंशत्, योगाष्टकोपरि पुनरीमं श्रीकण्ठं च भुवनम्, ततः सुशिवद्वादशकमहादेवाष्टकं चेति द्वाषष्टिरत्र भुवनान्युक्तानीति विततायामिह भुवनदीक्षायां सर्वाणि शोध्यानि। संक्षिप्तायां तु यः शोधनप्रकारः, स पञ्चमे पटले निर्णीतः॥

अथोर्ध्वं गुणतत्त्वं तु

गुणसाम्यात्मनः प्रकृतितत्त्वात् सत्त्वगुणगुणोत्कर्षात्म अत्यन्तविलक्षणमत एव बुद्धिरिति विलक्षणव्यपदेश्यं बीजादिवाङ्कुररूपं कथं कार्यं जायते यावदुच्छूनताप्रायं किंचिद्वैषम्यात्म मध्ये गुणतत्त्वं प्रकृतितत्त्वादनतिभिन्न-

व्यपदेशं न जायते, इत्याशयेनेह गुणतत्त्वं तत्त्वान्तरतया दर्शितम् । **श्रीमालिनीविजयादौ** तु किंचिद्वैषम्यावस्थायामित उच्छूनतायामिव बीजाभिधानवद्गुणव्यपदेशस्यानिवृत्तेर्गुणतत्त्वं प्रकृतितत्त्वाभेदेनैवोक्तं संक्षिप्तभुवनदीक्षाप्रतिपादनाशयेन । इह तु विततया भौवनविधिप्रतिपादनस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकृतितत्त्वाद्भेदेन गुणतत्त्वं दर्शितमिति नागमविसंवादः शङ्कनीयः ।।

यच्चैतद्गुणतत्त्वम्—

तस्मिंश्चैव व्यवस्थितम् ।।१०४६।।
गुरुपंक्तित्रयं दिव्यं

दिव्यमिति प्रभावातिशययोगात् ।।

तच्च—

गुणैरन्तरितं स्थितम् ।

सत्त्वादिभूमिकामुपविष्टमित्यर्थः

तत्र—

प्रथमा तमसः पंक्तिरुपरिष्टाद्व्यवस्थिता ।।१०४७।।

तमोगुणोर्ध्वमधिरूढेत्यर्थः ।।१०४७।।

तदत्र—

तेषां नामानि कथ्यन्ते यथावदनुपूर्वशः ।

तेषामिति पंक्तिनिष्ठानां गुरूणाम् ।।

शिवः प्रभुर्वामदेवश्चण्डश्चैव प्रतापवान् ।।१०४८।।
प्रह्लादश्चोत्तमो भीमः करालः पिङ्गलस्तथा ।
महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रतोदो दक्ष एव च ।।१०४९।।
कलेवरश्च विख्यातस्तथा चैव कटङ्कटः ।
अम्बुहर्ता च नारीशः श्वेत ऋग्वेद एव च ।।१०५०।।
यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वा सुशिवस्तथा ।
विरूपाक्षस्तथा ज्येष्ठो विप्रो नारायणस्तथा ।।१०५१।।
गण्डो नरो यमो माली गहनेशश्च पीडनः ।
प्रथमा पंक्तिरुद्दिष्टा रुद्रैर्द्वात्रिंशता स्मृता ।।१०५२।।

अथ—

रजसश्चोपरिष्टात्तु द्वितीया पंक्तिरुच्यते ।
शुक्लो दासः सुदासश्च लोकाक्षः सूर्य एव च ।।१०५३।।
सुहोत्र एकपादश्च गृद्ध्रश्चैव शिवेश्वरः ।
गौतमश्चैव योगीशो दधिबाहुस्तथापरः ।।१०५४।।

ऋषभश्चैव गोकर्णो देवश्चैव महेश्वरः ।
गुह्येशानः शिखण्डी च जटी माली तथोग्रकः ॥१०५५॥
भृगुः शिखी तथा शूली सुगतिश्च सुपालनः ।
अट्टहासो दारुकश्च लाङ्गलिश्चातिदण्डकः ॥१०५६॥
भवनश्च तथा भव्यो लकुलेशस्तथैव च ।
त्रिंशद्रुद्राः समाख्याता द्वितीया पंक्तिरुत्तमा ॥१०५७॥

अथ—

सत्वस्य चोपरिष्टात्तु तृतीया पंक्तिरुच्यते ।
देवोऽरुणो दीर्घबाहुरतिभूतिश्च स्थाणुकः ॥१०५८॥
सद्योजातस्तथा झिण्ठी षण्मुखश्चतुराननः ।
चक्रपाणिश्च कूर्माख्यस्त्वर्धनारीश्वरस्तथा ॥१०५९॥
कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
वौषट्कारस्तथा स्वाहा स्वधा च परिकीर्तितः ॥१०६०॥
संवर्तकश्च भस्मेशः कामनाशन एव च ।
एकविंशतिरुद्रास्तु पंक्तिरेषा तृतीयका ॥१०६१॥

एवमेते त्र्यशीतिर्गुरवो महेश्वरेण गुणतत्त्वभोगप्राप्तिकामानां तदुचितज्ञानयोगप्रदाः परमेश्वरा ज्ञेयास्तथा कंचित्कालं नियोजितास्तत्र क्रीडन्ति । तदाह—

ज्ञानयोगबलोपेताः क्रीडन्ते दैशिकोत्तमाः ।

उत्तमपदेन गुणतत्त्वावस्थितत्वेऽपि नैषां तदुपरक्तत्वमित्याह । अत एव क्रीडन्ति, नत्वितरवद्गुणैर्बद्धा ॥

यतः—

संसारपाशनिर्मुक्ताः

आणव-कार्म-मायीयमलनिर्मुक्ता जीवन्मुक्ता इत्यर्थः ॥

किं च—

महामोहविवर्जिताः ॥१०६२॥

महामोहोऽत्राख्यातिरूपा माया, तद्वियुक्ताः, अत एव शुद्धाः ॥१०६२॥

शुद्धविद्योदयादेते —

त्रिनेत्रा गुरवः सर्वे शुद्धस्फटिकनिर्मलाः ।
सर्वज्ञाः सर्वगाश्चैव लोकानुग्रहकारकाः ॥१०६३॥

सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञानयोगसिद्धत्वमेषाम् । सत्त्वगुणतत्त्वास्पदभ्रमाद्यत् साङ्ख्यपातञ्जलदृष्ट्यैतत् केश्चित् योजितम्, तदसदेव । केवलमेषां तावद्भोगलिप्सुजनाशयेन तावत्पदप्रापकाणां परमेश्वरयोगात्तत्रावस्थानम् ॥१०६३॥

अतश्चैषाम्—

गजाकाराणि दिव्यानि सर्वेषां भुवनानि तु ।

पूर्वम्—

'वीरभद्रनिकेतश्च भद्रकाल्यालयस्तथा ।

त्रयोदशभिः........................ ॥' (१०।७५९)

इति ग्रन्थेन श्वेतादिभुवनान्येकादश भद्रकालीवीरभद्रभुवनाभ्यां सह त्रयोदश संकलितानि । यत्पुनः—

'.........**अन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम् ।'** (१०।७५९)

इत्युक्तम्, तत्रान्यानि भुवनानि वीरभद्रभुवनोर्ध्वगतानि ॥

अथाण्डवर्तिनोऽङ्गुष्ठमात्रप्रमाणरुद्रभुवनात् प्रभृति गुणतत्त्वान्तमसंकलितान् रुद्रान् संकलयितुमाह—

बुद्धेः प्रकृतिपर्यन्ते ये रुद्रास्तान्निबोध मे ॥१०६४॥

बुद्धेरिति बुद्धेः पूर्वं ये संकलयितुमवशिष्टास्तान्निबोध । किमवधीत्याह— प्रकृतिपर्यन्ते प्रकृतिः पर्यन्ते यत्र स प्रकृतिपर्यन्तो गुणतत्त्वम्, तत्र तदवधीत्यर्थः ॥१०६४॥

तान् रुद्रान् भुवनसंकलनया संकलयति—

शतद्वयं सप्तकं च भुवनानां वरानने ।

तत्र जलावरणेशस्याङ्गुष्ठमात्रस्य पृथ्व्या अब्धेः श्रियः सरस्वत्या गुह्याष्टकस्येति त्रयोदश भुवनानि, ततः शिवाग्नेरतिगुह्याष्टकस्य वाय्वीशस्य गुह्यातिगुह्याष्टकस्य आकाशेशस्य पवित्राद्यष्टकस्य, ततः शर्वादिमूर्तीशाधिष्ठितानि तन्मात्रसूर्यसोमवेदमण्डलान्यष्टौ, ततोऽपि करणप्रकाशरश्मिसूर्यसोममण्डलानि पञ्च ततोऽहंकारेशस्य, ततः स्थाण्वष्टकस्याष्टाविंतीयदन्तं द्वाषष्टिर्भुवनानि, बुद्धावपि पूर्वोक्तनीत्या द्वाषष्टिः, गुणतत्त्वे त्र्यशीतिरित्येतच्छतद्वयं सप्ताधिकं भवति ॥

किं चात्रैव—

अन्तर्भूताः स्थिताश्चान्ये ये ते नोक्ता वरानने ॥१०६५॥

विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्यादिभुवनेश्वरा ये बृहत्तन्त्रेषु रुद्रा उक्ताः, तेऽत्रैवान्तर्भूतत्वात् पृथगिह नोक्ताः ।'१०६५॥

अथ—

गुणानामुपरिष्टात्तु प्रधानं परिकीर्तितम् ।

प्रधीयतेऽत्र गुणान्तं विश्वमिति प्रधानम् ॥

तत्र ये संस्थिता रुद्राः

तान्—

कथयामि समासतः ॥१०६६॥

क्रोधेश्वरश्च संवर्तो ज्योतिः पिंगलक्रूरदृक् ।
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखेदसहितेश्वराः ॥१०६७॥

शिखेदसहिता अष्टौ एते प्रधानतत्त्वगता ईश्वरा इत्यर्थः ॥१०६७॥

त एते—

तत्त्वे तु प्राकृते रुद्रा महावीर्याः प्रकीर्तिताः ।

दुरतिक्रमा इत्यर्थः ॥

अस्य प्रधानतत्त्वस्य किं स्वरूपमित्याह—

गुणानां या परा काष्ठा तत्प्रधानमिहोच्यते ॥१०६८॥

पराकाष्ठाऽविभागावस्था ॥१०६८॥

अथ—

अतः पुरुषतत्त्वे तु भुवनानि निबोध मे ।

अत इति प्रकृतेरूर्ध्वम्, पारमेशस्वरूपगोपनावशाद्यत् संकुचितचिदाभासरूपं पुरुषतत्त्वम्, तत्र संकोचांशाश्रयाणि भुवनानि तु चिन्मात्राश्रयाणि तस्य निर्विकारत्वात् ॥

तत्र तावत्—

अम्बा च सलिला ओघा वृष्टिः सार्धं च तारया ॥१०६९॥
सुतारा च सुनेत्रा च कुमारी च ततः परम् ।
उत्तमाम्भसिका चैव तुष्टयो नव कीर्तिताः ॥१०७०॥

तथा—

तारा चैव सुतारा च तारयन्ती प्रमोदिका ।
प्रमोदिता मोदमाना रम्यका च ततः परम् ॥१०७१॥
सदाप्रमुदिका चैव सिद्ध्यष्टकमुदाहृतम् ।

सांख्यशास्त्रे तुष्टिनवकं सिद्ध्यष्टकं च यत् प्रत्ययसेव्यं बुद्धिधर्मतया गणितम्, तदिह संकुचितचित्स्वभावस्य कलादिकञ्चुकाविवेकिनः पुरुषस्य भोक्तुरावारकम्, न तु पुंसि दृशिमात्रस्वभावेऽभोक्तरि बुद्ध्यादिवशोत्थितस्य भोगस्य कथंचिदपि सम्भवः । नहि हिमान्यन्तर्देवदत्ते प्रतिबिम्बिते सति शीतानुभवलक्षणो भोगो गौण्यापि वृत्त्या संभवति । अतः सर्वोऽयं भोग उक्तरूप-

पुंसि पारमार्थिके भोक्तरि सति घटत इति तत्रैव तुष्ट्यादिप्रत्ययसद्भावो युक्त इत्येवमुक्तम् । तत्र—

'आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
पञ्च विषयोपरमतोऽर्जनरक्षासङ्गसंक्षयविघातैः ॥' (सा०का० ५०)

इति, तथा—

'ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातत्रयं सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ················—······॥' (सा०का० ५१)

इति याः सांख्यैः,

'अतत्त्वे तत्त्वबुद्ध्या यः संतोषस्तुष्टिरत्र सा ।
हेयेऽप्यादेयधीः सिद्धिः···················॥'

इति गुरुभिर्लक्षितास्तुष्टयः सिद्धयश्चोक्ताः, तासामम्बादिकास्ताराद्याश्चाधिदेवता एतन्नामसु भुवनेषु स्थिता इह निरूपिताः ॥

किं च, पारमेशमतयोगक्रमसाध्यं यदणिमाद्यष्टकरूपमैश्वर्यम्, तदप्येतन्नामकदेवताष्टकाधिष्ठितमत्रैव पुंस्तत्त्वे प्रोक्तनीत्याऽऽवारकतया स्थितमित्याह—

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ॥१०७२॥
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं यदुदाहृतम् ।
यत्रकामावसायित्वमणिमाद्यष्टकं स्मृतम् ॥१०७३॥

अणिमा शरीरस्य सूक्ष्मताकरणे सामर्थ्यम्, लघिमा तूलवल्लाघवोत्पादनशक्तत्वम्, महिमा महत्त्वोत्पादनशक्तता, प्राप्तिः संकल्पमात्रात्तत्तद्देशावाप्तिः, प्राकाम्यमेकस्यैव युगपन्नानाशरीरकरणे शक्तता, ईशित्वमैश्वर्यम्, वशित्वं भूतवशीकारः, यत्रकामावसायित्वं संकल्पमात्राद्देशकालस्वभावव्यवहितवस्तुनिश्चयः । भोग्यसामान्यगुणत्रयभोक्तृत्वात् पुंसोऽपि तद्गुणत्रयच्छायायोगाद्गुणवत्त्वम् ॥१०७३॥

अथोर्ध्वं गुरुशिष्याणां पंक्तित्रयमतः शृणु ।

अत इति प्रोक्ताणिमाद्यष्टकादूर्ध्वम् ॥

तत्र—

मस्करी पूरणः कृत्स्नः कपिलः काश एव च ॥१०७४॥
सनत्कुमारगौतमवसिष्ठाद्यांशकास्तथा ।
कश्यपो नासिकेतुश्च गालवो भौतिकस्तथा ॥१०७५॥
शाकल्यश्च समाख्यातो दुर्वासाः परमस्त्वृषिः ।
वाल्मीकिश्च गुरुश्रेष्ठः सपराशरगालवः ॥१०७६॥
पिप्पलादश्च सौमित्रिर्वायुपुत्रो भदन्तकः ।

गालवावत्र द्वावुक्तौ ।।

एते हि—

मस्कर्यादिभदन्तान्ता दृष्टादृष्टस्य वादिनः ।।१०७७।।
द्वाविंशतिर्गुरवः प्रथमा पंक्तिरिष्यते ।

एते च पूर्ववदनुग्राह्याणामेव तत्पदप्राप्तिहेतुत्वेनेश्वरेच्छयैतत्पदावस्थितिजुषः कृताः । यदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

'मयाप्येतत्पुरा प्रोक्तं कपिलाय महात्मने' (१६।२४)

इति । दृष्टमेतत्पदप्राप्त्युचितोपासादिकम् अदृष्टं चैतत्पदावाप्त्यात्मकं वदन्ति । एते च द्वाविंशतिर्गुरव एव ।।

एतदूर्ध्वं तु रजःसंस्पर्शप्रधानायां पंक्तौ शिष्यरूपर्षीन् प्रतिपादयितुमाह—

जह्नुश्च तृणबिन्दुश्च मुनिस्तार्क्ष्यस्तथैव च ।।१०७८।।
ध्यानाश्रयोऽथ दीर्घश्च होता जागर एव च ।
अगस्त्यो वसुभौमश्च उपाध्यायश्च कीर्तितः ।।१०७९।।
शुक्रो भृग्वंगिरा रामो जमदग्निसुतोऽध्वगः ।
स्थूलशिरा बालखिल्यो मनुश्चेति प्रकीर्तितः ।।१०८०।।
वज्रात्रेयो विशुद्धश्च शिवश्चारुरथानुगः ।

वसुना सहितो भौम इत्येतौ द्वावेव, भृगुणा सहितोऽङ्गिरा इत्येतावपि द्वौ, रामो जमदग्निसुत एक एव, उपाध्याय इत्येतन्नामेति । एते उपाध्याया इति त्वसद्वक्ष्यमाणसंख्याविघातापत्तेः ।।

तदित्थम्—

जह्न्वादिचारुपर्यन्ता द्वितीया पंक्तिरिष्यते ।।१०८१।।

अथ सत्त्वसंस्पर्शवत्यामपि भूमावाह—

हरो भिण्ठी प्रतोदश्च अमरेशश्चतुर्थकः ।
कृष्णापिङ्गेशरुद्रश्च इन्द्रजिद्वृषकः शिवः ।।१०८२।।
यमः क्रूरश्च विख्यातो गङ्गाधर उमापतिः ।
भूतेश्वरः कपालीशः शङ्करश्च तथैव च ।।१०८३।।
अर्धनारीश्वरश्चैव पिङ्गलश्च तथापरः ।
महाकालश्च संवर्तो मण्डली त्वेकवीरकः ।।१०८४।।
तथा चान्यश्च विख्यातो भारभूतेश्वरो ध्रुवः ।

कृष्णपिङ्गेशरुद्र एक एव । वृषकः शिवः श्रेयोरूप इत्यप्येक एव । यम इत्यस्य विशेषणं क्रूरो विख्यात इति क्रूरतया प्रसिद्ध इत्यर्थः । उमापतेर्विशेषणं गङ्गाधर इति । कपालीशस्य विशेषणं भूतेश्वर इति । अन्यो विख्यात इति विख्यातनामाऽन्य इत्यर्थः ।।

तदित्थम्—

जह्न्वादिचारुपर्यन्ता ऋषयः पञ्चविंशति ॥१०८५॥

तृतीयपंक्तिनिष्ठा इत्यर्थः। इह गुरुवाचोयुक्तिमकुर्वत ऋषयः शिष्या एव पुंस्तत्त्वोपासादिप्रकर्षादिमां भूमिमाप्ता इत्यादिशति। १०८५॥

प्रथमपंक्तिगता इव तृतीयपंक्तिगता अपि गुरव एव। यदाह—

हरादयो ध्रुवान्ताश्च गुरवो विंशतिः स्मृताः।

एते च सर्वेऽत्रस्थिता अप्यंशेन ब्रह्माण्डान्तरवतीर्य तत्र स्वोचितमधिकारमतिवाह्य तदेव पदमाविशन्तीति मन्तव्यम् ॥

उपसंहरति—

पंक्तित्रयं समाख्यातमृषीणां गुरुशिष्ययोः ॥१०८६॥

प्रोक्तनीत्या गुरुशिष्यरूपमृषिपंक्तित्रयमेतदित्यर्थः ॥१०८६॥

अथ—

नाडीविद्याष्टकं देवि कथयामि त्वतः परम्।

पुर्यष्टकसम्बद्धा या वक्ष्यमाणनाड्यस्तासामष्टकं बन्धनविवर्धनं कथयामि ॥

ताश्च—

इडा च चन्द्रिणी गौरी शान्तिः शान्तिकरी तथा ॥१०८७॥

माला च मालिनी चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा।

अस्य नाड्यष्टकस्य—

अथोपरिष्टाद्देवेशि विग्रहाष्टकमुच्यते ॥१०८८॥

विग्रहस्य सूक्ष्मशरीरस्योत्थापकमष्टकं वक्ष्यमाणाभिमानदेवतारूपपुंस्तत्त्वावरणप्रयोजनम् ॥१०८८॥

तच्च—

कार्यं च करणं चैव सुखदुःखकरं तथा।

ज्ञानं साध्यं च विख्यातं साधनं कारणं तथा ॥१०८९॥

कार्यं कार्यात्मसूक्ष्मदेहारम्भितन्मात्रोत्थापकम्। करणमिति सूक्ष्मदेहावस्थितानभिव्यक्तप्रायबाह्येन्द्रियदशकोत्थापकम्, तन्नामैव देवतादशकम्। सुखदुःखकरमिति सुखदुःखोपभोगसम्पादकं देवताद्वयम्। ज्ञानं साध्यं चेत्यनभिव्यक्तेन बुद्धीन्द्रियपञ्चकेन कर्मेन्द्रियपञ्चकेन च सम्पाद्यं ज्ञानमात्रं व्यापारमात्रे च विख्यातं प्रतीतं यत्तदधिष्ठातृदेवतारूपमिहैवोक्तम्, साधनमित्यन्तःकरणे व्यापकं देवतात्रयमित्यर्थः। कारणमिति कारणरूपस्य प्रधानतत्त्वस्योत्थापकं देवतारूपमित्यर्थः। यद्यपि च प्राग्रश्मिकरणतेजोमण्डलाद्युक्तिप्रसंगे कार्यकरणादीनामुत्पत्तौ

कारणमुक्तम्, तथापि तदेवेह देवतारूपं पुंस्तत्त्वेऽपि सूक्ष्मरूपतया स्थितं तत्रैव बन्धनात्मनस्तत्प्रयोजनस्य पर्यवसानात्। मायायां त्वेतत्सर्वमेव पाशजालं पररूपेणावस्थितमिति वक्ष्यति ॥१०८९॥

अथ—

देहपाशानतो वक्ष्ये

स्थूलदेहारम्भकानधिष्ठातृदेवताविशेषरूपानित्यर्थः ॥

तत्र—

धर्मं च दशधोदितम् ।

च एवार्थे। धर्ममेव मुख्यं बन्धनमादौ दशविधं वच्मि ॥

स च—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥१०९०॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।
एवं दशविधो धर्मो येनोक्तो धर्मकृन्नरः ॥१०९१॥

अकल्कता—

'स्वच्छता समता प्रीतिर्नापकारशतैरपि ।
कालुष्यमुत्सहेत् सोढुं सेयमुक्तेत्यकल्कता ॥' (वि० १७।३६)

इति श्रीमतङ्गपारमेश्वरे इत्थं लक्षिता ॥१०९१॥

एवं धर्माख्यं प्रधानं देहपाशमुक्त्वा गौणमाह—

विकारान् षोडशाख्यास्ये परभावेन संस्थितान् ।

प्रागुक्तस्थूलरूपापेक्षया परभावेन सूक्ष्मेण रूपेण स्थितानित्यर्थः, पररूपतया तु मायायां भविष्यन्ति ॥

तानाह—

रसो गन्धश्च रूपं च स्पर्शः शब्दस्तथैव च ॥१०९२॥
तन्मात्रपञ्चकं ख्यातमिन्द्रियाणि निबोध मे ।
वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थः कर्मसंज्ञकम् ॥१०९३॥

इन्द्रियपञ्चकमित्यर्थः ॥१०९३॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका पञ्चमी स्मृता ।

एतानि—

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि

तथा—

मनः षोडशकं स्मृतम् ॥१०९४॥

त एते—

देहपाशाः समाख्याताः

किं च—

अतो बुद्धिगुणान् विदुः ।

पुंसि सूक्ष्मरूपतया पाशकत्वेनावस्थितान् विदुरित्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येण तत्त्वविदो जनाः ॥

ते च—

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च ततः परम् ॥१०६५॥
अधर्मश्च तथाज्ञानमवैराग्यमनीशिता ।

प्रागुक्तादहिंसादेर्धर्मादयमन्यो धर्म इष्टापूर्तलक्षणः ॥

किं च—

अहंकारं च त्रिविधं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥१०६६॥
वैकारिकं तैजसं च भूतादि च यथाक्रमम् ।

राजसं सात्त्विकं तामसं चेत्यर्थः ॥

एवमेतानि तन्मात्रबहिष्करणान्तःकरणानि सूक्ष्मरूपतया पुंस्तत्त्वावस्थितानि बन्धकानीह यान्युक्तानि, एतान्येवात्र भूचरी-दिक्चरी-गोचरी-चक्राण्यान्तराणि प्रतिपादितानि । तदनुसारेणैव चेह पररूपाणीत्युपक्रम एवोक्तिः कृता, खेचरीचक्रं त्वान्तरं कञ्चुकदेवतारूपं भविष्यति ॥

प्रातिलोम्यक्रमेण दीक्षाविधिमुपक्रान्तमेव स्मारयति—

दीक्षाकाले यथा शुद्धिस्तथा चैषां निबोध मे ॥१०६७॥

एषां पुंस्तत्त्वगतानां तैजसाद्यहंकारपाशानामित्यर्थः । यथा येन क्रमेणेत्यर्थ ॥१०६७॥

तमेव क्रममाह—

तमो रजस्तथा सत्त्वं शोधयेदनुपूर्वशः ।

एतच्चोपलक्षणपरम्, सर्वान् पाशान् प्रातिलोम्येन शोधयेदित्यर्थः ॥

किं च—

शब्दस्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ॥१०६८॥
विषयाश्च समाख्याताः शोधनीयाः प्रयत्नतः ।

विशेषेण सिन्वन्तीति विषया भोक्तरि पुंसि सूक्ष्मरूपतया भोग्यात्मानः स्थिताः, न तु पूर्वोक्ततन्मात्रात्मान इत्यर्थः। प्रयत्नतः शोधनीया इत्युक्तेरयमाशयः—न संक्षिप्तभुवनादिदीक्षावत्—

'सूक्ष्मानन्तर्विभावयेत्' (४।१५८)

इत्युक्तनीत्याऽन्तर्भाव एषां चिन्तनीयः, अपि तु पृथक् पृथगेते सर्व एवात्र विततायां भुवनदीक्षायां शोध्याः। एवमन्यत्र ॥

किं च—

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहः पैशुन्यमेव च ॥१०९९॥
जन्ममृत्युजराव्याधिक्षुत्तृट्तृष्णास्तथैव च ।
विषादश्च भयं चैव मदो हर्षणमेव च ॥११००॥
रागो द्वेषश्च वैचित्त्यं कुपितानृतद्रोहिता ।
माया मात्सर्यधर्मश्च अधर्मश्चास्वतन्त्रता ॥११०१॥

तृष्णा स्पृहा, कुपितानृतद्रोहिणां भावः कुपितानृतद्रोहिता, क्रोधः पूर्वापर-विमर्शशून्यः सप्रकर्षः कोपः, मदो दर्पः, मात्सर्यधर्मः परगुणासहिष्णुतात्मा स्वभावः। एते च [1]श्रीमतङ्गपारमेश्वरे वितत्य व्याख्याताः ॥११०१॥

त इमे सप्तविंशतिसंख्याः पाशाः—

आगन्तुकाश्च बोद्धव्याः

प्रागुक्तेभ्यः सहजेभ्योऽन्ये आगच्छन्ति तच्छीला देहप्राप्त्युत्तरकालमत एव प्रस्तुतत्वात् पुंसामभिव्यक्तिमायान्तीत्यागन्तुका अत एव सहजाश्च वैराग्यादयः। अन्यः स्थूलः आगन्तुको रागः शोधनीयः प्रयत्नत इत्यनुषङ्गः। एवमुत्तरत्र ॥

किञ्च—

गणपाशान्निबोध मे ।

ते च—

देवी नन्दिमहाकालौ गणेशो वृषभस्तथा ॥११०२॥
भृङ्गी चण्डीश्वरश्चैव कार्तिकेयोऽष्टमः स्मृतः ।

एते पराद्वयात्मकपारमेश्वरस्वरूपमात्मानमावृण्वानाः पाशा उच्यन्ते । यदुक्तमस्मत्प्रभुणा तन्त्रालोके—

'यत्किञ्चित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत् पाश उच्यते ॥
तदेवं पुंस्त्वमापन्ने पूर्णेऽपि परमेश्वरे ।
तत्स्वरूपापरिज्ञानचित्रा हि पुरुषाः स्थिताः ॥' (८।२९२-२९३)

इति ॥

---

१. विद्यापादेऽष्टमे पटले ३२-५१ श्लोकेषु ।

किञ्च—

अनन्तस्त्रितनुः सूक्ष्मः श्रीकण्ठश्च शिवोत्तमः ॥११०३॥
शिखण्डी चैकनेत्रश्च एकरुद्रस्तथापरः ।
विद्येश्वरात्मकान् पाशान् दीक्षाकाले विशोधयेत् ॥११०४॥

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः'

[1]इत्याम्नायान्तरोक्तनीत्याऽशुद्धाध्वकारणं त्रितत्त्वादिपरिवृतो योऽनन्तभट्टारकस्तस्य पुंस्तत्त्वावारकत्वे सत्यशुद्धाध्वस्रष्टृत्वं फलतीति तत्र सूक्ष्मरूपेणावस्थितः इति भविष्यति। तदेवं तुष्टिनवकम्, सिद्ध्यष्टकम्, अणिमाद्यष्टकम्, पङ्क्तित्रयनिविष्टा द्वाविंशतिः पञ्चविंशतिर्विंशतिश्चेति सप्तषष्टिर्गुरुशिष्याः, नाड्यष्टकम्, विग्रहाष्टकमहिंसादयो दश, षोडश विकाराः, अष्टौ बुद्धिधर्मास्त्रिविधोऽहङ्कारः, शब्दादिविषयपञ्चकमित्यहिंसादिविषयपञ्चकान्ता द्वाचत्वारिंशत्सहजा देहपाशाः कामादयः, अस्वतन्त्रतन्त्राः सप्तत्रिंशतिरागन्तुकाः पाशाः, अष्टौ च गणेशाः, अष्टौ विद्येशाः पाशा इति त्रिनवत्यधिकं शतं पाशभुवनानां पुंस्तत्त्वे शोधनीयमुक्तम् ॥११०४॥

किं च—

उक्तानुक्ताश्च ये चात्र अन्यतन्त्रोक्तलक्षणाः ।
पौरुषेये तु शोध्यास्ते ततो मुच्येत पुद्गलः ॥११०५॥

ये त्रिनवत्यधिकशतसङ्ख्या इह पाशा उक्ताः, ये चान्ये रतिहासशोकोत्साहादयो निर्वेदग्लान्यादयश्च इहानुक्ता अन्यतन्त्रे [2]भरतादिषूक्तस्वरूपास्ते सर्वे पौरुषे तत्त्वे शोधनीयाः। एवं सति ततः पाशेभ्यः पुद्गलो मुच्यते, पुथा अन्तःशङ्कातङ्कसंस्कारोत्थापनात्मना हिंसया गिलनं भोग्यलक्षणं यस्य स पुद्गलो मायाप्रमाता ॥११०५॥

गतमेतत्—

अर्थोर्ध्वे नियतिर्ज्ञेया तस्यां रुद्रान्निबोध मे ।

तानाह—

वामदेवस्तथा शर्वस्तथा चैव भवोद्भवौ ॥११०६॥
वज्रदेहः प्रभुश्चैव धाता च क्रमविक्रमौ ।
सुप्रभेदश्च दशमो नियत्यां शङ्कराः स्मृताः ॥११०७॥

---

१. शतरत्नसंग्रहे (पृ० २५, ५०) किरणागमवचनत्वेनोद्धृतमेतत् ।
२. नाट्यशास्त्रे सप्तमाध्याये वर्णिताः ।

दशदिक्कमवस्थिता इत्यर्थः ॥११०७॥

एतन्नियतितत्त्वनियमितः पुरुषो बुद्धिप्रमातृभूमिकां गृहीत्वाऽहङ्कारमयः शरीरे हृत्पद्मेऽवस्थित इति प्रतिपादयितुमाह—

यत्तद्धृदि स्थितं पद्ममात्मा तत्र व्यवस्थितः ।

'साक्षं कृत्स्नमिमं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति ।

तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इति स्थित्या हृत्पद्ममात्मनो विश्रान्तिपदम्, अत एवात्रस्थोऽयं पद्मासनस्वभावतयोक्तक्रमेण तत्तद्विषयावभासनादिसृष्टिं करोति ॥

तच्च पद्मम्—

नियतिदलमहङ्कारकेसरं बुद्धिकर्णिकम् ॥११०८॥

नियतिवशोद्भूतानि मनोबुद्धिकर्माक्षविषयरूपाणि दलानि सञ्चारपदानि यस्येति व्याख्येयम्, न तु नियतिरेव दलानि यस्येति, नियतेरहङ्कारकेसराद्यो-व्याप्त्यभावात् । अहङ्कार एव रञ्जकत्वात् केसररूपो यत्र, बुद्धिस्त्वध्यवसाय-पर्यन्तविषयभोगसाधकत्वादुपरिवर्तिकर्णिकारूपा । अत्र चास्यात्मनः—

'प्रधानाशयमापन्नं गुणत्रयविसर्पितम्' (२।४१)

इति पूर्वोक्तस्वरूपं स्मर्तव्यमन्यथा बुद्धिप्रमातृत्वायोगात् ॥११०८॥

एतच्च नियतिनियमितत्वं कालकलितस्यैव घटते, न तु कालोत्तरस्वभावस्य । अतो यदेतत्कलनाकारणम्, तत्र—

कालतत्त्वे शिवा ज्ञेया

शोध्यत्वेनेति शेषः ॥

तांश्च—

कथयामि समासतः ।

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धश्च प्रशान्तः परमाक्षरः ॥११०९॥

शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवश्चाक्षरशम्भुराट् ।

दशैते तु शिवा ज्ञेयाः कालतत्त्वे वरानने ॥१११०॥

अक्षरराट् शम्भुराडिति द्वौ ॥१११०॥

तत्र—

हेमाभाः शङ्कराः प्रोक्ताः शिवाः स्फटिकसन्निभाः ।

शङ्करा नियतिस्थाः, शिवास्तु कालस्थाः ॥

किं च—

एकैकस्य विनिर्दिष्टा परिवारो यशस्विनि ॥११११॥

कोटिरेका तथान्यानि सहस्राणि तु षोडश ।

तेषां च—

कूर्माकाराणि सर्वेषां प्रोक्तानि भुवनानि तु ।।१११२।।

अथ—

अत ऊर्ध्वं हरिहरौ रागतत्त्वे निबोध मे ।

काल्यकलनं वेद्यसम्बन्धं विना न युज्यते बोधरूपस्य पुंस इति किञ्चिन्मे स्यादिति वेद्यसामान्याभिलाषात्मना, अत एव स्त्र्यादिविषयबुद्धिधर्मस्थूलराग-विलक्षणेन रागतत्त्वेनावश्यमयमुपरक्तः। अतः पुंरञ्जके रागतत्त्वे हरिहरौ मुख्यौ भुवनेशौ ।

अन्यानप्याह—

सुहृष्टः सुप्रहृष्टश्च सुरूपो रूपवर्धनः ।।१११३।।
मनोन्मनो महाधीरः

एते पूर्वाभ्यां सहाष्टौ—

वीरेशाः परिकीर्तिताः ।

यथा नियतिकालगता रुद्राः शङ्कराः शिवाश्चोक्ताः, तथा एते वीरेशा उच्यन्ते दुष्परिहरत्वाच्चैवमुक्ताः ।।

किं चान्यानपि—

रागतत्त्वे प्रवक्ष्यामि येऽन्ये रुद्रा व्यवस्थिताः ।।१११४।।

तानिति शेषः ।।१११४।।

कल्याणः पिङ्गलो बभ्रुर्वीरश्च प्रभवस्तथा ।
मेधातिथिश्छन्दकश्च दाहकः शास्त्रकारिणः ।।१११५।।

शास्त्रकारिण इति शास्त्रकारिनाम्न एकस्यैव गुरुत्वाद्बहुवचनं कृतमत्र पञ्च गुरव इति प्रदर्शनाय ।।१११५।।

यदाह—

पञ्च शिष्यास्तथाचार्या दशैते संव्यवस्थिताः ।

आद्याः शिष्याः, अन्त्या आचार्याः ।।

सामान्यवेद्याभिव्यङ्गात्मकं रागतत्त्वं वेद्यप्रकाशेनोपपद्यते । तत्प्रकाशनाय किञ्चिज्ज्ञत्वप्रदं विद्यातत्त्वमस्य सम्बद्धमित्याह—

विद्यातत्त्वमतश्चोर्ध्वं तस्मिन् वै भुवनं शृणु ।।१११६।।

भुवनमिति भुवनानीत्यर्थः ।।१११६।।

तानि तदीशद्वारेण प्रतिपादयति—

वामो ज्येष्ठश्च रौद्रश्च कलो विकरणस्तथा ।
बलविकरणश्चैव बलप्रमथनस्तथा ॥१११७॥
सर्वभूतदमनश्च तथा चैव मनोन्मनः ।

कलो विकरण इति कलविकरण। क्वचिदेते वामादयः स्त्रीलिङ्गपाठेन दृश्यन्ते ॥

किञ्चिज्ज्ञत्वरूपविद्यासम्बन्धोऽपि नाकर्तुरुपपद्यत इति मायानिगूहितपूर्णज्ञानक्रियास्फारस्यास्य किञ्चित्कर्तृत्वोन्मीलनात् कलातत्त्वमस्ति । ततस्तत्र—

कलातत्त्वे महादेवि महादेवत्रयं स्थितम् ॥१११८॥
महादेवो महातेजा महाज्योतिः प्रतापवान् ।

महच्छब्दोपलक्षितं देवत्रयं महादेवत्रयम् । प्रतापवानित्यतिदीप्तः ॥

तदित्थम्—

कलातत्त्वं समाख्यातं समासेन वरानने ॥१११९॥

समासेनेत्युक्तेरयमाशयो यदन्येऽप्यत्र वामदेवभवोद्भवैकपिङ्गेक्षणभुवनेशाङ्गुष्ठमात्राख्याः सन्ति । एते ह्यष्टौ मङ्गलेश्वराः पूर्वं बुद्धितत्त्वेऽपररूपेणोक्ताः, इह तु पररूपेण । तत्र च त्रय एव प्राधान्यादुक्तास्तदेवं नियतिकालरागविद्याकलाख्यं यदेतत्तत्त्वपञ्चकमुक्तम्, तत्प्रोक्तभौवनसन्निवेशाश्रयतया बहिः साधारणमेव । ततस्तु प्रतिपुरुषमेतन्नामकमेव तत्त्वपञ्चकं कञ्चुकशब्दवाच्यं भिन्नभिन्नमेवाद्भुतमन्तःकरणादिवत् । एतच्च तण्डुलस्य कम्बुकमिव पुंसः परमावरणम्, प्रकृत्यादितन्मात्रान्तं तु सूक्ष्मशरीरारम्भकं तुषवत् सूक्ष्मम्, भूतपञ्चकं तु स्थूलशरीरारम्भकं किंशारुकवत् स्थूलमेवेति सर्वमेतत्प्रातिलोम्येन प्रोक्तभुवनविभागेन शोधनीयम् ॥१११९॥

प्रोक्तनामानः सर्व एव—

एते रुद्रा महादेवि त्रिनेत्राश्चन्द्रशेखराः ।

असामान्येन महेश्वराभिज्ञानेनालङ्कृताः ॥

येषां च प्राक् परिवारो न सङ्ख्यातः, तेऽपि—

रुद्रकोटिसहस्रैस्तु समन्तात् परिवारिताः ॥११२०॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशाः

सर्व एव तु—

योगैश्वर्यबलान्विताः ।

विशेषमेषामाह—

रागे रक्तास्तु विज्ञेया ज्ञानयोगबलोत्कटाः ॥११२१॥
छत्राकारास्तु तेषां वै गृहा रत्नविचित्रिताः ।

अन्येषां तु कूर्माकारा उक्ताः ॥

गतमेतत् । अथैषाम्—

उपरिष्टाद्भवेन्माया

तां च ते—

कथयामि समासतः ॥११२२॥

व्याप्य या वै त्वधोध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता ।

व्याप्यातिमात्रमाप्य, आकलादिक्षित्यन्तं सर्वमिति व्युत्पत्त्या, न च भेदेनात्र व्याप्यव्यापकभावः, अपित्वभेदेनेत्याशयेन व्याप्य विश्वं स्थितेत्युक्तम् । समासत इति सङ्क्षिप्तभुवनेशप्रतिपादनाशयेन ॥

तदाह—

तत्र रुद्रा महाभागा द्वादशैव महाबलाः ॥११२३॥

प्रधानभूताः स्थिताः । महाबला इति परमेशज्ञानं विना दुष्परिहराः ॥११२३॥

तानेतान् पुटविभागेन दर्शयति—

गहनश्च असाध्यश्च तथा हरिहरः प्रभुः ।
दशेशानश्च देवेशि त्रिगलो गोपतिस्तथा ॥११२४॥
अधःपुटे तु विज्ञेया मायातत्त्वे वरानने ।

एते षडित्यर्थः ॥

क्षेमेशो ब्रह्मणः स्वामी विद्येशानस्तथैव च ॥११२५॥
विद्येशश्च शिवश्चैव अनन्तः षष्ठ उच्यते ।
ऊर्ध्वमायापुटस्थास्तु रुद्रा एते प्रकीर्तिताः ॥११२६॥
एषां मध्ये तु भगवाननन्तेशो जगत्पतिः ।

श्रीमतङ्गशास्त्रे पुनर्मध्यपुटेऽपि—

'यत्रासौ विग्रहेशानः स्थितः परमदुर्जयः' (१।८।८३)

इत्युपक्रम्य,

'यत्र शर्वो भवश्चैव उग्रो भीमश्च वीर्यवान् ।
भस्मान्तको दुन्दुभिश्च श्रीवत्सश्च महाबलः ॥' (१।८।८५)

इति ग्रन्थेनाष्टकमुक्तम् । श्रीपूर्वशास्त्रे (५।२८-२९) तु महादेवाद्यङ्गुष्ठमात्र-मण्डलेश्वराष्टकमेव मायायामुक्तमिति तन्त्रप्रक्रियाभेदः ।

एष चानन्तनाथः—

उद्भवं भावयित्वा तु स्वेच्छया कुरुते प्रभुः ॥११२७॥

यस्य स्वकर्मपरिपाकाद्यादृगुद्भवः स्थावराद्यात्मक उचितस्तं तस्य भावयित्वा विचार्य स्वेच्छया परमेशेच्छाचेष्टितस्वेच्छामात्रेण, न तु कुम्भकारवत् सहकार्याद्यपेक्ष्य कुरुते, यतोऽसौ प्रभुरियत्यध्वनि प्रभवनशीलः ॥११२७॥

किं चायम्—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च निग्रहानुग्रहे रतः ।

कलादिक्षित्यन्तं सर्वं जानाति करोति च, तत्रैव आयातशक्तिपातानामितरेषां चानुग्रहं निग्रहं च करोति ॥

तदित्थम्—

प्रथमेन तु भेदेन रुद्रा द्वादश कीर्तिताः ॥११२८॥

इह—

'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी' (१०।११३८)

इति वक्ष्यमाणदृष्ट्या पारमेश्वरी शक्तिर्माया । सा तत्त्वरूपतया ग्रन्थिरूपतया च द्विधा स्फुरिता । तत्र तत्त्वरूपया—

'माया तु कोटिधा व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम्' (१०।६७१)

इति तथा—

'व्याप्य या वै त्वधोध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता' (१०।११२३)

इति या उक्ता, तस्यामूर्ध्वाधरपुटात्मककाण्डरूपत्वमस्ति । तत्र पुटद्वये मायायाः प्रथमेन तत्त्वात्मना भेदेन द्वादश रुद्राः प्रकीर्तिता विभागेनावस्थिता उक्ताः ॥११२८॥

यस्त्वस्या निःसंख्यावान्तरभेदभिन्नकलादिक्षित्यन्ततत्त्वसन्ततिस्रोतोभेद-प्रसूतिहेतुः शक्तेः किञ्चिदुच्छूनतेवाम्नातो ग्रन्थ्यात्मा स्थूलस्वभावः, असौ सुसूक्ष्मतमसत्त्वरजस्तमोरूपतयोर्ध्वमध्याधरग्रन्थिभेदेन तालुग्रन्थिसमानरूपेण त्रिधाऽवस्थितः । यथोक्तं प्राक्—

'अधश्छादनमूर्ध्वं च सितरक्तं विनिर्दिशेत् ।
मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ॥' (२।६६)

इति । तत्र त्रिभेदे ग्रन्थ्यात्मनि रूपे रुद्राणां विभागेन स्थितिमाह—

अस्मिंस्तु ये यथा रुद्रा मायातत्त्वे व्यवस्थिताः ।
तथाहं कथयिष्यामि भेदत्रयविभागशः ॥११२९॥

अस्मिन्निति प्रोक्तकलादितत्त्वस्रोतःसन्तानप्रसूतिहेतौ ग्रन्थ्यात्मनि मायीये रूपे ये गोपत्याद्या अनन्ताद्या यथा येन क्रमेण स्थिताः, तथा भेदत्रयविभागश इति सत्त्वादिग्रन्थिरूपेण भेदेन वर्णयिष्यामि ॥११२९॥

तत्र—

गोपतिश्च ततो देवि अधोग्रन्थौ व्यवस्थितः ।

तत इति कलातत्त्वप्रतिपादितमहादेवादिरुद्रभुवनोर्ध्वं यो मायीयोऽधोग्रन्थिस्तत्र प्रागुक्त एव गोपतिः पररूपेण स्थितः ॥

तथा—

ग्रन्थ्यूर्ध्वे संस्थितो विश्वस्त्रिकलः क्षेम एव च ॥११३०॥
ब्रह्मणोऽधिपतिश्चैव शिवश्चेति स पञ्चमः ।

ग्रन्थ्यूर्ध्वं इति ऊर्ध्वग्रन्थावित्यर्थः । स इति प्रागुक्त एव । अपररूपेणेहायं विश्वाभिधो रुद्रः स्थितः, न त्वन्य इत्यर्थः ॥

किं च—

अध ऊर्ध्वमनन्तस्तु

अध इत्यधोग्रन्थेरूर्ध्वं यो ग्रन्थिस्तत्रानन्तः स्थित इत्यर्थः । एतच्च ग्रन्थितत्त्वात्मतया द्वित्वं मायायाः **श्रीशिवतनौ**—

'मायाबिलमिदमुक्तं परतस्तु गुहा जगद्योनिः ।
उत्पत्त्या तेष्वस्याः पतिशक्तिक्षोभमनुविधीयमानेषु ॥
योनिविवरेषु नानाकामसमृद्धेषु भगसंज्ञा ।'

इत्यादिग्रन्थेन गुरुभिर्दर्शितमिति । एतं व्याख्याक्रमं त्यक्त्वा यत्तु **श्रीभुल्लकेन** व्याख्यातं यथा परमेश्वरो **लकुलेशाय** ज्ञानं भेदेन प्रकाशितवानिति **श्रीलकुलस्वच्छन्दप्रदर्शितस्थित्या** द्विस्कन्धं पारमेश्वरज्ञानमिति द्विधा मायायां भुवनेशविभाग इह दर्शित इति, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसो जानन्ति ॥

यश्चायमनन्तभट्टारकाश्रयो मध्यमो ग्रन्थिरुक्तः—

पाशाश्चैवात्र संस्थिताः ॥११३१॥

ते च—

पूर्वं वै कथिता देवि

वैशब्द एवार्थे । पूर्वमेव पुरुषतत्त्वनिरूपणावसरे—

'अम्बा च सलिला ओघा' (१०।१०६६)

इत्यादिना तुष्टिसिद्ध्याद्या विद्येशपाशान्ता ये पाशा उक्ताः, त इह पररूपेणा-वस्थिता इत्यर्थः । माया हि सर्वेषां पाशानामुत्पत्तिभूः । तैस्त्वनन्तप्रयुक्तैर्विशिष्ट-देवतात्मभिः सूक्ष्मरूपैर्वामशक्त्याधिष्ठिता अणवो बध्यन्ते । बुद्धितत्त्वे तु तुष्टिसिद्ध्यादयः केचित्पाशाः स्थूलरूपाः स्थिताः, तदेषां विभवस्थान मित्युक्तप्रायम् ॥

किं च—

अतो ऋषिकुलं भवेत् ।

यत्पूर्वं पाशमध्ये गुरुशिष्यात्मकपङ्क्तित्रयेण ऋषिकुलमुक्तम्, तदिह पाशानामुपरि स्थितम् ॥

किं चात्र—

योनिर्वागीश्वरी चैव यस्यां जातो न जायते ॥११३२॥

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'[1]

इति स्थित्या योनिर्विश्वकारणं वागीश्वरी, अत्र सूक्ष्मेण रूपेण स्थिता, परेण शुद्धविद्यायां प्रतिपादयिष्यमाणत्वादपरेण सारस्वतभुवने प्रोक्तत्वात् । सर्वं हि स्थूलसूक्ष्मपररूपतया त्रिविभक्तं परमेश्वरशक्त्यात्मकं तत्र तत्र तथा तथावस्थितमेकादशे वक्ष्यति । कीदृशी वागीश्वरीत्याह—यत्र यस्यां प्राङ्निर्णीत-स्थित्या स्थूलसूक्ष्मपररूपायां जातो मन्त्रसंस्कृतिसम्पादितगर्भाधानादिसंस्कारेणो-त्पन्नस्तत्र तत्र तत्त्वे प्रागर्जिततत्तत्कर्मफलोपभोगाय नानायोनिभेदेन सृष्टो न जायत इति पाशशुद्धेर्योजनिकायाश्च संपन्नत्वात् परशिवैक्यप्राप्त्या मुच्यत इत्यर्थः ॥११३२॥

किं चात्र मायायाम्—

ओङ्कारसाध्यधातारो दमनेशस्ततः परम् ।
ध्यानं भस्मेशमेवाहुः

ओङ्काराभिधान् साध्यादीन् पञ्च रुद्रानाहुः, **अन्ये** तु ऋषिकुलं यदनन्तर-मुक्तम्, तदेवोङ्कारसाध्यादिनामषट्केन विभक्तमिति **व्याख्यातवन्तः** ॥

किं च—

प्रमाणानि तदूर्ध्वतः ॥११३३॥

हेयोपादेयाशेषप्रमासाधकत्वात् **प्रमाणशब्दाभिधेया अष्टौ रुद्राः प्रणवाख्य-रुद्रपञ्चकावरणस्योपरि** स्थिताः ॥११३३॥

---

१. वाक्यपदीये स्वोपज्ञटीकायां शब्दस्य परिणामोऽयमिति श्लोकव्याख्यानावसरे समुद्धृतेयमृक् सम्पूर्णा ।

तानि **प्रमाणान्युद्दिशति**—

पञ्चार्थं गुह्यमेवाहू रुद्राङ्कुशमतः परम ।
हृदयं लक्षणं चैव व्यूहमाकर्षमेव च ॥११३४॥
आदर्शं च तथैवेह अष्टमं परिकीर्तितम् ।

एते रुद्रा एतन्नामकपाशुपतशास्त्रावतारकाः। तत्र च हृदयाख्यं यत्प्रमाण-मुक्तम्, तस्यान्तर्भूतानि यानि **पुरकल्पकनकशालानिरुत्तरविश्वप्रपञ्चाख्यानि षट्क्रियाप्रधानानि** प्रमाणानि **प्रोक्तज्ञानप्रधानप्रमाणाष्टकविलक्षणानि** हृद-याख्यात् प्रमाणाल्लकुशशिष्येण **मुसुलेन्द्रेणोद्धृत्य** आरुरुक्षूणां प्रथमं प्रदर्शितानि, न तानीहपृथग्गणितानि । एवम्—

'लाकुलं मौसुलं चैव द्विधा तन्त्रं प्रकीर्तितम्' (११।७१)

पाशुपतं यत्, तदत्र मायान्तरपरतया स्थितम्, परं पदं त्वेषामीश्वरतत्त्वमिति वक्ष्यति ।

अत एव—

'सर्वाध्वनो विनिर्मुक्तं शैवानां तु परं पदम्' (११।७४)

इति वक्ष्यमाणस्थित्यैव **पाशुपतेभ्यः शैवानां** महदन्तरमित्युक्तम् ॥

ये प्रणवप्रमाणाभिधा रुद्राः उक्ताः—

एते परिवृता देवि रुद्रकोटिसहस्रकैः ॥११३५॥
नानावर्णविचित्राश्च नानाभरणभूषिताः ।
नानानारीसहस्रैस्तु रमन्ते पत्युरिच्छया ॥११३६॥

पत्युरनन्तस्य । अतश्च स एव लकुलेशादीनां गुरुः ॥११३६॥

किं च—

त्रिनेत्राः शूलिनः सर्वे जटाचन्द्रकिरीटिनः ।
अलुप्तशक्तिविभवा मायातत्त्वाधिकारिणः ॥११३८॥
भुवनेषु विचित्रेषु योन्याकारेषु संस्थिताः ।

एवं चैतदाराधका एतत्पदप्राप्तिभाज एषामधिकारसमाप्तौ सह मुच्यन्त इत्यर्थलभ्यम् ॥

एवं मायायास्तत्त्वरूपतां ग्रन्थिरूपतां च निर्णीय शक्तिरूपतामप्याख्यातु-माह—

अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी ॥११३८॥

सर्वान् जन्तून् जायमानान् सृज्यमानान् मोहयति स्वस्वरूपाख्यातिसतत्त्वा-णवमलभाजः करोति । एव चाभिदधन्मलस्यावास्तवतेत्याह, तच्चास्माभिः पूर्वमेव निर्णीतम् ॥११३८॥

किं चान्यत्—

निर्वैरपरिपन्थिन्या तया भ्रमितबुद्धयः ।
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ॥११३९॥

विवदन्ते परस्परविरुद्धं जल्पन्ति, अत एव वादिनो वादमात्रे पर्यवसिताः, न तु तत्त्वज्ञाने । विमतावात्मनेपदिनो वदेः परस्मैपदं व्यत्ययात् ॥

अतश्च एतानसौ—

सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम् ।

सत्पथः पारमेश्वरशास्त्राणि, इतरदसत्पथः ॥

एतदेव व्यनक्ति—

गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ॥११४०॥
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ।
भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ॥११४१॥

असद्युक्तिः पारमेशपराद्वयागमबाह्यस्तर्कः । अमोक्षः परमाद्वैतचिदानन्दघनपरमेश्वरैक्यव्याप्तेरन्यत् सर्वमेव ॥११४१॥

कथमियं परिहार्या स्यादित्याह—

शिवदीक्षासिना च्छिन्ना न प्ररोहेत्तु सा पुनः ।

शिवेन स्वच्छस्वतन्त्रचिदानन्दघनेन शङ्करेण प्रोक्ता या ज्ञानयोगक्रियाप्रधाना नानाप्रकारा दीक्षा,

'दीयते ज्ञानसद्भावः'

इति[1] प्राङ् निरूपितरूपा, सैव पाशच्छेदकत्वादसिरिव, तेन यस्य च्छिन्नेति स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मपरस्वरूपप्रत्यभिज्ञानेनोन्मूलिता, तं प्रति न कदाचित् प्ररोहतीत्यर्थः ।

एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम् । तत्र तत्त्वात्मकमशेषविश्वव्यापकाण्डरूपसन्निभम्, ग्रन्थ्यात्मकं त्रिविधम्, शाक्तं तु स्वातन्त्र्यशक्तिसारमेव । तथात्वेनापरिज्ञायमानत्वान्मोहितान् प्रति मायेत्युच्यते । तदेवमियमीश्वरप्रयुक्ता निगूहितस्वस्वरूपान् पुंसः ज्ञातृकर्तृरूपान् स्वैः कलादिनियत्यन्तैस्तत्त्वैः किञ्चित्कर्तृत्वकिञ्चिज्ज्ञातृत्वाभिलाषकलननियमनैर्मितभोग्योपभोगभाजः प्रोक्तपाशशतपाशितान् विधाय किञ्चिदंशात्मभोग्यसामान्यरूपे प्रधानाशये तथा निक्षिपति, येन तत्कार्यगुणादिक्षित्यन्तस्थूलपाशपाशिता

१. पूर्वं (५।८८) दीक्षासंबन्धिसौगतमतखण्डनावसरे ।

योनेर्योन्यन्तरमेवैतेऽनुसरन्ति। अतः पारमेशदीक्षायां समुच्छेद्यैव। इयं चेयद्विश्वव्यापिकापि मायाऽख्यातिरूपापि पारमेश्वरप्रकाशभित्तावेव प्रकाशत इति। एतन्मुखेन या विश्वप्रकाशिका पारमेश्वरप्रकाशभित्तिः, सा शुद्धविद्योच्यते। ततस्तां निरूपयति—

अथोपरि महाविद्या सर्वविद्याभवोद्भवा ॥११४२॥
जगतः प्रलयोत्पत्तिविभूतिनिधिरव्यया ।

'दशकोटिगुणा विद्या मायां व्याप्य व्यवस्थिता' (१०।६७१)

इत्युक्तत्वादशुद्धविद्यावैलक्षण्यतो महत्यशेषवेदनरूपत्वाद्विद्या सर्वासां विद्याराज्ञीप्रभृतीनां दिव्यानां भवानां च प्रणवोपलक्षितानां सर्वमन्त्राणामुद्भव उल्लासो यस्याः सा तथा। अत एव मन्त्रात्मकाशेषाधिष्ठातृनिर्माणादिद्वारेण तदधिष्ठेयं मायादितत्त्वतत्तत्प्रमातृभुवनादिरूपस्य जगतः प्रलयोत्पत्त्योर्विभूतौ च —

'विद्यामण्डलराजानां मण्डलानां विभूतयः ।
न शक्याः परिसङ्ख्यातुं मन्त्राणां च तथात्मनाम् ॥'

इति स्थित्याऽऽत्मभोगसम्पत्तौ निधिराश्रयः, विश्वसर्गस्थितिसंहारकारिणीत्यर्थः, स्वयं तु प्रकाशरूपतयाऽव्यथा। यत्त्वेकादशेऽत्रापि संहारादि वक्ष्यते, तत्संकोचापेक्षया ॥

किं च—

सा एव परमा देवी वागीशीति निगद्यते ॥११४३॥

परमेति मायाया उक्ताया भेदप्रथोत्थापिकाया इयमन्याऽभेदप्रथोन्मीलनप्रथमसोपानकल्पा वागीशस्य परपरामर्शात्मनो महेश्वरस्येयं वागीशीति निरुच्यते ॥११४३॥

अत एव—

अष्टवर्गविभिन्ना च विद्या सा मातृकैव तु ।

अ-क-च-ट-त-प-य-शैरष्टाभिर्वर्गैर्भिन्ना न त्वभिन्नाऽनाहतपरामर्शमयत्वेन भिन्नाशेषविश्वावभासभाजो मन्त्रानुन्मीलयेत्, अत एव चेयं मातृका वाच्यवाचकाशेषविश्वहेतुत्वेऽपि पशुभिस्तथात्वेनापरिज्ञाता माता ॥

अथात्र—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥११४४॥

तत्र—

वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली विकरणी तथा ।
बलविकरणी चैव बलप्रमथनी तथा ॥११४५॥

दमनी सर्वभूतानां तथा चैव मनोन्मनी ।

एताश्च **श्रीमदानन्दभैरवे**—

'वामया विसृजेत् सर्वं ज्येष्ठया पालयेत् पुनः ।
रौद्र्या लोकोपसंहारं कुरुते स्वेच्छया प्रभुः ॥
काल्या कलति भूतानि विकरण्या किरेत् कलाः ।
बलमप्यन्यया सर्वं बलं मथ्नाति चान्यया ॥
दमन्या दमयित्वा तु मनः सङ्कल्परूपकम् ।
नयते परमं स्थानमुन्मन्या तु महेश्वरः ॥"

इति निरुक्ताः विकरण्येति कलविकरण्या कलाः शक्तीर्विकिरेत् सर्वं स्वशक्त्यधिष्ठितं करोति। अन्यया बलविकरण्या सर्वत्र बलं स्वव्यापारकरणसामर्थ्यं विकिरेत् । अन्यया बलप्रमथन्या सर्वेषां रुद्रक्षेत्रज्ञानां बलं प्रमथ्नाति । दमयित्वेति समनान्तां भूमिमाविश्येत्येवमत्र सङ्गतिः । ये तु पूर्वमशुद्धविद्याया वामादयो नव देवाः स्त्रीलिङ्गपाठाद्वामाद्या वा नव शक्तय उक्ताः (१०।११७-१८), त एतदंशावताररूपाः स्थूला बोद्धव्याः ॥

एताश्च—

तप्तचामीकराकाराः पञ्चवक्त्रास्त्रिलोचनाः ॥११४६॥
अमोघवीर्याः सर्वज्ञाः सर्वतः सर्वदा स्थिताः ।
सर्वज्ञानुगताः सर्वाः सर्वाभरणभूषिताः ॥११४७॥
सर्वलक्षणसम्पन्नाः सर्वैश्वर्यसमन्विताः ।

तप्तचामीकराकारा अतिदीप्ताः । लक्षणानि विज्ञानयोगरूपाणि । सर्वतः सर्वत्र सर्वकालं स्थिता एतदनधिष्ठितं न किमप्यस्तीत्यर्थः । ईदृश्योऽपि सर्वज्ञं महेश्वरमनुगतास्तेन शक्तिमताऽधिष्ठिताः । सर्वमेवाभरणं तेन भूषिता ।

प्रधानाः सप्त कोट्यस्तु मन्त्राणां या व्यवस्थिताः ॥११४८॥

तासां मध्यात्—

एकैकस्य परीवारो लक्षायुतसहस्रशः ।

एकैकस्येति मन्त्रस्य ॥

किं च—

पद्माकारेषु दिव्येषु क्रीडन्ति भुवनेषु ते ॥११४९॥

त इत्येकशेषाद्वामाद्याः शक्तयो मन्त्राश्च ॥

अत्रैव—

त्रिगुणी ब्रह्मवेताली स्थाणुमत्यम्बिका परा ।
रूपिणी मर्दिनी ज्वाला सप्तसङ्ख्यास्तदीश्वराः ॥११५०॥

विद्याराज्ञ्यः समाख्याताः

तेषां मन्त्राणां विद्यानां चेश्वराः प्रभवः, अत एव विद्यानां मन्त्राणां राज्ञ्य इत्युक्ताः ॥

अत एवैताः—

दीक्षाकाले विशोधयेत् ।

एतच्छुद्धावेतदधिष्ठितसप्तकोटिसङ्ख्याकमन्त्रशुद्धिसम्पत्ते ॥

एवं मायान्ताशेषविश्वभेदसर्वज्ञमन्त्राश्रयभूता योक्ता शुद्धविद्या, सापि स्वाङ्गकल्पतयाऽहमिदं सर्वमिति स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्याभासात्मनीश्वरतत्त्वे भित्तिभूते सति भाति, नहि भेदाभेदप्रकाशं भित्तिभेदं विना भेदसर्वज्ञतापि घटते । तत ईश्वरतत्त्वं दर्शयितुमाह—

बाह्ये तस्यैश्वरं तत्त्वं

तस्येति विद्यातत्त्वस्य । बाह्य इति तदेव व्याप्त्या परिवृत्य स्थितमित्यर्थः ॥ अतश्च—

भुवनान्यत्र मे शृणु ॥११५१॥

तत्र मुख्यभुवनावस्थितस्येश्वरस्य तावत् स्वरूपमाह—

अष्टविद्येश्वरैर्युक्तो वीतमायो निरञ्जनः ।
स्थितिसंहारकर्ता वै मोक्षैश्वर्यप्रदायकः ॥११५२॥

युक्तो वक्ष्यमाणक्रमेण परिवृतः । वीता माया यस्मात्, यतोऽयं भिन्नवेद्यप्रथात्मनोऽञ्जनाद् मायाख्यान्मलान्निष्क्रान्तः । नहि मन्त्रवदसम्भेदेन सर्वं जानाति, अपि तु भेदाभेदरूपतया । अत एव भेदांशस्पर्शाद्विद्येश्वरपरिवृतत्वं भुवनादिव्यवस्था चास्योच्यमाना नायुक्ता । एवं शिवतत्त्वपर्यन्ते सूक्ष्मतयाऽऽसूत्रितकल्पस्य भेदस्य भावाद् भुवनादिव्यवस्थापि शोध्यतया वक्ष्यमाणोपपन्नैव । स्थितिसंहाराभ्यां सृष्टिरप्युपलक्षिता । तच्चैतत्सृष्ट्यादित्रयम्—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता'

इति नीत्या मन्त्रमण्डलादिशुद्धाध्वविषयमेवास्येति मन्तव्यम् । तथा च **श्रीमालिनीविजये**—

**'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥'** (१।१९)

तथा

'मन्त्राणामसृजत्तद्वत् सप्त कोटीः समण्डलाः ।' (१।२१)

इति मोक्षमैश्वर्यं च लोकोत्तरभोगरूपं न केवलं मन्त्रेभ्यो ददाति, यावन्मन्त्रादिप्रयुक्त्याऽऽयातशक्तिपातेभ्यो मायागर्भगतेभ्योऽपि । एतदप्युपलक्षणपरम्, तेन

दम्भेन देवगुर्वादिसेविमायीयजनेभ्यो विलयमपि ददाति । एवं हि पञ्चविध-कृत्यकारित्वमस्योक्तं भवति ॥११५२॥

अस्यासनवर्णनं ध्यानोपयोग्युपदिशति—

तस्यासनं तु विस्तीर्णं सहस्रदलसम्मितम् ।

असङ्ख्यातदलमित्यर्थः ॥

यतोऽत्र—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च मन्त्रास्तस्यासने स्थिताः ॥११५३॥

यद्यपि सप्त कोट्यो मन्त्राणाम्, तथापि—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यपि ।
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ॥
अनुगृह्याणुसङ्घातं याताः पदमनामयम् ।' (११४०-४१)

इति **श्रीमालिनीविजयोक्त**नीत्या सार्धास्तिस्रः कोट्योऽनुग्रहाधिकारायावस्थिता इत्येवमुक्तम् ॥११५३॥

तदित्थमयं विनियोज्यमन्त्रपद्मासनाधिरूढः—

तत्रस्थ ईश्वरो देवो वरदः सर्वतोमुखः ।

देवो द्योतनादिपरमार्थः । सर्वतो मुखं प्रधानरूपं यस्य ॥

आकारतोऽपि—

पञ्चवक्त्रः सुतेजस्को दशबाहुस्त्रिलोचनः ॥११५४॥
गोक्षीरधवलः सौम्यो नागयज्ञोपवीतवान् ।
दिव्याम्बरधरो देवो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥११५५॥
सर्वलक्षणसंपूर्णः सर्वाभरणभूषितः ।
त्रिशूलपाणीन्दुमौलिर्जटामुकुटमण्डितः ॥११५६॥
प्रसन्नवदनः कान्तो योगैश्वर्यप्रदायकः ।
वरदाभयहस्तश्च ध्येयोऽसावीशयोगिभिः ॥११५७॥

पञ्चवक्त्राद्याकृतौ प्रागुक्तं सतत्त्वं मन्तव्यम् । वरदाभयपाणिश्चेति चकारात् खड्गखेटकादेः परिग्रहः । सौम्य इति पारमेश्वरक्रियाशक्तिप्राधान्येन सृष्टिप्राधान्यात्, अत एव द्वादशपटलवक्ष्यमाणस्थित्या ध्यातः सन् योगैश्वर्य-प्रदायक ईश्वरयोगिनाम् ॥११५७॥

यथा च परमेश्वरो रुद्रक्षेत्रज्ञानां ध्यानार्चनादिनाऽनुग्रहीतुं गृहीतेश्वराकारः, तथा तत्समवायिनी शक्तिरपि तथैवाऽऽश्रिताकृतिरित्याह—

तस्योत्सङ्गगता विद्या सर्वविद्यासमाश्रिता ।
दिव्यवस्त्रपरीधाना दिव्यमाल्यानुलेपना ॥११५८॥
दिव्यस्रग्दाममालाभिर्मुक्ताहारैर्विभूषिता ।
मुक्ताफलप्रतीकाशा पञ्चवक्त्रा त्रिलोचना ॥११५९॥

विद्येति मायीयवर्णभट्टारकरूपा मातृका, एवमपि प्रागुक्तयुक्त्या अंशेन भेदस्यानिवृत्तेरुत्सङ्गगतेत्युक्तम्, एवमुत्तरत्र। सर्वाभिर्विद्याभिः सर्वैर्मन्त्रविद्यागणैरुत्पत्तिक्षेत्रत्वात् सम्यगभेदेनाश्रिताऽवष्टब्धा। मुक्ताफलप्रतीकाशेति, अनुग्रहप्रवणत्वात् सौम्येत्यर्थः ॥११५९॥

एषा च—

आराधिता विधानेन वेदयेज्ज्ञानिनः सदा ।

विधानेनान्तरभेदप्रत्यवमर्शबलेनाऽऽराधिता प्रसादं प्रापिता सती ज्ञानशालिनो वेदयेत् प्रकाशितस्वस्वरूपान् संपादयेत् ॥

किं च—

प्रहसन्तीव सा भाति महेशवदनेक्षणात् ॥११६०॥

वदनमाकृत्यपेक्षया वक्त्रं स्वरूपापेक्षया तु परा शक्तिः। ईक्षणं दृष्टिर्ज्ञानं च ॥११६०॥

अतो भगवतः परिवाररूपान्—

विद्येश्वरानतो वक्ष्ये पूर्वादीशान्तगान् क्रमात् ।

ते च विद्यातत्त्वगता अप्यत्र परेण रूपेण स्थिताः ॥

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथा चैव शिवोत्तमः ॥११६१॥
एकनेत्रैकरुद्रौ च त्रिनेत्रश्च प्रकीर्तितः ।
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च ज्ञेया विद्येश्वराः क्रमात् ॥११६२॥

एते चानन्ताद्या गुरुभिः शिवतनावितथमुक्ताः—

'भगबिलशतकलितगुहामूर्धासनगोऽष्टशक्तियुग्देवः ।
गहनाद्यं निरयान्तं सृजति च रुद्रांश्च विनियुङ्क्ते ॥
उद्धरति मनोन्मन्या पुंसस्तेष्वेव भवति मध्यस्थः ।
ते तेनोदस्तचितः परतत्त्वालोचनेऽभिनिविशन्ते ॥
स पुनरधःपथवर्तिष्वधिकृत एवाणुषु शिवेन ।
अवसितपतिविनियोगः सार्धमनेकात्ममन्त्रकोटीभिः ॥
निर्वात्यनन्तनाथस्तद्धामाविशति सूक्ष्मरुद्रस्तु ।
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ॥

इत्यष्टौ परिपाट्या यावद्धामानि यान्ति गुरुरेकः ।
तावदसङ्ख्याकानां जन्तूनां निर्वृतिं कुरुते ॥
तेऽष्टावपि शक्त्यष्टकयोगामलजलरुहासीनाः ।
आलोचयन्ति देवं हृदयस्थं कारणं परमम् ॥
ते भगवन्तमनन्तं ध्यायन्तः स्वहृदि कारणं शान्तम् ।
सप्तानुध्यायन्त्यपि मन्त्राणां कोटयः शुद्धाः ।'

इति । गुहा माया, तस्या मूर्धा शुद्धविद्या, तदेवासनम् । शक्त्यष्टकेन वामादिना योगो यत्र तादृशेऽमलजलरुह आसीनाः । परममनन्तमिति प्राप्तेश्वररूपम् ॥११६२॥

अत्रैव चेश्वरतत्त्वे भुवनान्तराण्याह—

अतो रूपमवस्थानं

विद्येशावरणोर्ध्वं रूपावरणं नाम भुवनमित्यर्थः । एवमुत्तरत्र ॥

तत्र रुद्रान्निबोध मे ।

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुर्थकम् ॥११६३॥

यद्वशाद्विद्येश्वराणामधस्तनाध्वाधारवत्त्वमशेषज्ञत्वम्, पूर्णतया नैराकाङ्क्षयम्, महाविभवप्रदत्वम् । त एते धर्माद्या रुद्रा ईश्वरस्य परिवाराः ॥११६३॥

अत्रैव चेश्वरतत्त्वे—

सूक्ष्मावरणमूर्ध्वेऽतः

अतो रूपावरणादूर्ध्वे ॥

तत्र शक्तित्रयं विदुः ।

ताश्च—

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च शक्तयः समुदाहृताः ॥११६४॥

प्रधानभूताः ॥११६४॥

आसामेव हि काल्यादयः प्रागुक्ताः प्रपञ्चः ॥

अत एवाह—

परिवारस्तु तासां वै कोट्योऽनेकास्तु सङ्ख्या ।

आसामेवाशेषशक्तिप्रपञ्चात्मकत्वात् ॥

ये चासां परिवारत्वेन स्थिताः, ते—

सर्वे सर्वगता मन्त्राः सर्वज्ञाः सर्वकामदाः ॥११६५॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
सर्वलक्षणसंपन्नाः सर्वाभरणभूषिताः ॥११६६॥

सर्वैश्वर्यसुसम्पूर्णाश्चारुचन्द्रार्धशेखराः ।

किं च—

शतपत्राकब्जभाकारैः शुद्धहारेन्दुरश्मिभिः ॥११६७॥
नानारत्नोज्ज्वलैश्चित्रैः प्राकारैस्तोरणाकुलैः ।
ईश्वरानुगताः सर्वे तिष्ठन्ति भुवनेषु ते ॥११६८॥

शतपत्राब्जानां भा दीप्तिरिवाकारो येषां तादृशैः, तथाऽन्यैर्हारैः सुदीप्तिभिः प्राकारैरुपलक्षितेषु भुवनेष्वीश्वरभट्टारकमन्त्रानुगताः क्रीडन्तीति सम्बन्धः ॥११६८॥

अत एवाराधकैरेते—

तमाराधयितुं देवं पूज्यन्ते सर्वकर्मसु ।

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ० गी० ९।२७)

इति न्यायेन कर्मविषये तमीश्वरमाराधयितुमेते परिवाररूपा मन्त्राः पूज्यन्ते, एतत्पूजकानामेवंव्याप्तिविदामेतन्मुखेन ईश्वरावाप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

किं च—

व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ॥११६९॥
भस्मनिष्ठा जपध्यानास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।

भस्मनिष्ठा स्नानमयक्लृप्तिरूपा येषाम् ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

तत्रेश्वरस्तु भगवान् देवदेवो निरञ्जनः ॥११७०॥
अधिकारं प्रकुरुते शिवेच्छाविधिचोदितः ।

तत्रेश्वरतत्त्वे देवानामनन्तादीनां देवः । अधिकारं तेषामेवानुग्रहादौ विनियोजनम् । शिवेच्छैव विधत्ते सर्वमिति विधिः, तत्प्रचोदितः । परमशिव एव हीच्छाज्ञानक्रियाप्रधानः शिवसदाशिवेश्वरभूमिका भासयति । यदुक्तं **श्रीमतङ्गपारमेश्वरे—**

'लयाधिकारभोगाह्वत्रितत्त्वोक्तिविमर्शनात् ।
पदार्थः पतिनामासौ प्रथमः परिकीर्तितः ॥' (१।२।१४)

इति ।

अत्र चोक्तवक्ष्यमाणरूपाणि—

दश पञ्च च शोध्यानि भुवनानीश्वरे क्रमात् ॥११७१॥

तत्रेश्वरभुवनं (१) विद्येशाष्टकावरणभुवनं (२) धर्मादिचतुष्टयाश्रयरूपावरणभुवनं (३) वामादिशक्तित्रयाश्रयसूक्ष्मावरणभुवनमिति चत्वारि तावदुक्तानि, वक्ष्यमाणानि तु शुद्धावरण-विद्यावरण-प्रमाणावरण-नामावरण-शुद्धशिवावरण-मोक्षावरणाख्यानि सप्तावरणानि, ततो ध्रुवभुवनम्, ततो वामादिशक्तित्रयाश्रयेच्छाशक्तिभुवनम्, ततः प्रबुद्धावरणम्, ततः समयावरणमित्येकादश चतुर्भिः सह पञ्चदश भवन्ति ॥११७१॥

एतानि पञ्चदशापि भुवनान्यान्तरेण क्रमेण—

तालुकोर्ध्वे विजानीयाद्दीक्षाकाले वरानने।

मायातत्त्वात्मकतालुग्रन्थ्यूर्ध्वस्थशुद्धविद्यापद्मकर्णिकोर्ध्वे यदीश्वरतत्त्वं तालुकोर्ध्वगतम्, तत्र जानीयात् तद्विश्रान्तिपुरःसरं पूर्वोक्तमन्त्रक्रमेण शोधयेदित्यर्थः। एतच्चोपलक्षणम्, तेन ब्रह्माण्डगतानि भुवनानि हृद्विश्रान्त्या, जलादिप्रकृत्यन्तगतानि कण्ठविश्रान्त्या, प्रकृत्यादिमायान्तगतानि तालुविश्रान्त्या, तदूर्ध्वपदविश्रान्त्या शुद्धविद्यातत्त्वगतानि भुवनानि शोधनीयानि। एवं ललाट-ब्रह्मरन्ध्र-व्यापिनीपदविश्रान्त्या सदाशिवशक्तिशिवतत्त्वगतानि वक्ष्यमाणानि भुवनानि शोधनीयानि ॥

अथ शुद्धावरणादिभुवनैकादशकं क्रमेण दर्शयति—

शुद्धावरणमूर्ध्वं तु तस्मिन् छक्तिद्वयं स्मृतम् ॥११७२॥
ज्ञानं क्रिया च विख्यातं

ज्ञानक्रियाशक्तिभुवनद्वितयरूपेण तद्भुवनमित्यर्थः, एवमुत्तरत्र ॥

अथ—

द्वे विद्ये चाप्यतः परम्।
भावसंज्ञाप्यभावाख्या तस्मिन् शक्तिद्वये स्मृते ॥११७३॥

तस्मिन् ज्ञानक्रियाख्ये प्रोक्ते शक्तिद्वये विषयतया द्वे भावाभावाख्ये वेदनपरमार्थत्वाद्विद्ये स्थिते। तत्र पूर्वोक्तयुक्त्या स्फुटेदन्तात्मकभाववेदनशक्तिरेका, इदन्तोत्थानभित्तिभूताख्यात्यात्माभाववेदनशक्तिर्द्वितीयेत्येतद्भुवनद्वितयरूपं विद्यावरणमेतदित्यर्थः ॥११७३॥

अतश्च—

तेजेशश्च ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम्।
प्रमाणावरणे चोर्ध्वे

पूर्वोक्तानां मायातत्त्वाश्रितानां पञ्चार्थादिप्रमाणानां परमिदं पदं प्राप्तिस्थानं तेजेशश्च ध्रुवेशश्च विद्यावरणादूर्ध्वे प्रमाणावरणे स्थिते इत्येतत्प्रमाणावरणमपि भुवनद्वितययोगि ॥

अथ—

कथयामि च मानतः ॥११७४॥

मानतो माने प्रमाणावरणोर्ध्वगते माननाम्न्यावरणे रुद्रान् कथयामि ॥११७४॥

ते च—

ब्रह्मा रुद्रः प्रतोदश्च अनन्तश्च चतुर्थकः ।

तेनैतद्रुद्रभुवनचतुष्टयभुवनपरिष्कृतमेतन्मायावरणभुवनमित्यर्थः ॥

अथ—

सुशुद्धावरणं चोर्ध्वे तत्र रुद्रत्रयं विदुः ॥११७५॥
एकाक्षः पिङ्गलो हंसः कथितं तु समासतः ।

परिवार एषामसङ्ख्य इति वक्ष्यति ।

अथ—

शिवावरणमूर्ध्वं तु तत्रैको ध्रुवसंज्ञकः ॥११७६॥
संस्थितो रुद्रराजस्य

अथ—

मोक्षावरणमूर्ध्वतः ।

तत्र च—

एकादशैव रुद्रांश्च कथयामि समासतः ॥११७७॥

तानाह—

ब्रह्मदन्किदिण्डिमुण्डाः सौरभश्च तथैव च ।
जन्ममृत्युहरश्चैव प्रणीतः सुखदुःखदः ॥११७८॥
विजृम्भितः

जन्महरो मृत्युहरः । सुखं द्यति खण्डयतीति सुखदः, एवं दुःखदः ॥

त एते एकादश—

समाख्यातास्तालूर्ध्वे तु व्यवस्थिताः ।

तालूर्ध्वे इति प्रागुक्तमेवैश्वरं तत्त्वमेषामाश्रय इति स्मारयति ॥

अथ—

पुनरूर्ध्वे ध्रुवं ज्ञेयं निरञ्जनपदं शुभम् ॥११७९॥

प्रमाणावरणे शिवावरणे ध्रुवावरणे चैक एव स्थूलसूक्ष्मपरभेदेन ध्रुवाख्यो रुद्रस्त्रिरत्रोक्त इति पुनःशब्दार्थः ॥११७९॥

अथास्य ध्रुवावरणस्य—

ईशशक्तित्रयं मूर्ध्नि

स्थितम् ॥

तच्च—

कथितं चानुपूर्वशः ।

वामा ज्येष्ठा रौद्री चेति यत्सूक्ष्मावरणे प्राक् शक्तित्रयमुक्तम्, तदेवेह पररूपेण स्थितमित्यर्थः ॥

किं चात्रैव प्रधानभूतायाः—

इच्छाशक्त्यभिधानायाः

शक्तेः पुरम् ॥

ताश्च वामाद्या एतस्याः—

अन्तर्भूताः प्रकीर्तिताः ॥११८०॥

तेन वामादिभुवनत्रयपरिवृतमेतदिच्छाभुवनमत्रेत्यर्थः ॥११८०॥

अथ—

प्रबुद्धावरणं चोर्ध्वे

तत्र च रुद्रान्—

कथयामि समासतः ।

प्रीतः प्रमुदितश्चैव प्रमोदश्च प्रलम्बकः ॥११८१॥

विष्णुर्मदन एवाथ गहनः प्रथितस्तथा ।

तदेतदत्र—

रुद्राष्टकं समाख्यातं विज्ञेयं प्राग्दिशः क्रमात् ॥११८२॥

ततोऽपि—

समयावरणं चोर्ध्वे

अत्र रुद्रान्—

कथयामि समासतः ।

प्रभवः समयः क्षुद्रो विमलश्च शिवस्तथा ॥११८३॥

ततो घनः समाख्यातो निरञ्जनस्ततः परम् ।

रुद्रोङ्कारस्तु पञ्चैते

प्रभवाख्यस्य समयस्य विशेषणं क्षुद्र इति । विमल शिव इति विमलशिवाख्यः ॥

एतांश्च—

तालूर्ध्वे तु विजानतः ॥११८४॥

विजानतेति बहुवचनमुपदेश्यशिष्यप्रशिष्यादिभेदेन, एवमन्यत्र । तालूर्ध्वं इति एतावदन्तमीश्वरतत्त्वाश्रयमिति स्मरणाय ॥११८४॥

तदत्र भुवनपञ्चदशकान्तर्वर्तिभुवनान्तरसङ्ख्यापूर्वमेतदुपसंहरति—

एकोनषष्टिर्भुवनं ज्ञानशक्त्यादितः क्रमात् ।
रुद्रोङ्कारान्तमित्येतद्दीक्षाकाले विशोधयेत ॥११८५॥

ज्ञानशक्तेरादीनीश्वरविद्येश्वररूपसूक्ष्मावरणगतानि यानि भुवनानि, ततः प्रभृति रुद्रोङ्कारान्तमेकोनषष्टिरीश्वरतत्त्वेऽवान्तरभुवनानि । तत्रेश्वरस्यैकम्, विद्येशानामष्टौ, रूपावरणे चत्वारि, सूक्ष्मावृतौ त्रीणि, शुद्धावृतौ द्वे, विद्यावृतौ द्वे, प्रमाणावृतौ द्वे, नामावृतौ चत्वारि, सुशुद्धावृतौ त्रीणि, शिवावृतावेकम्, मोक्षावृतावेकादश, ध्रुवावृतावेकम्, इच्छाशक्तिभुवनं वामादिशक्तित्रयेण सह चत्वारि, प्रबुद्धावृतावष्टौ, समयावृतौ पञ्चेत्येवमेकोनषष्ट्याऽवान्तरभुवनैर्युक्तमेतदीश्वरतत्त्वं सङ्क्षेपेण, न तु विस्तरतः शोधयेत् ॥११८५॥

अस्य च—

एकैकस्य परीवारः कोट्योऽनेकाः सहस्रशः ।

ते च—

त्रिनेत्रा वरदाः सर्वे शुद्धसामर्थ्यविग्रहाः ॥११८६॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशा दशबाह्विन्दुशेखराः ।
त्रिशूलपाणयः सर्वे जटामुकुटमण्डिताः ॥११८७॥
सर्वे सर्वगुणोपेताः सर्वज्ञाः सर्वदेश्वराः ।
सर्वलक्षणसंपूर्णाः सर्वाभरणभूषिताः ॥११८८॥
रुद्रकन्यासमाकीर्णा दिव्यै रूपैर्मनोहरैः ।
संक्रीडन्ते पुरवरैः शिवेच्छाविधिचोदिताः ॥११८९॥

शुद्धं मायामलेनाकलुषं यत्सामर्थ्यं ज्ञानक्रियाविषयम्, तदेव विग्रहः स्वरूपं येषाम् । यद्यपि सर्वेऽहमिदं सर्वमिति स्वाङ्गकल्पाशेषविश्वप्रकाशात्मानः, तथापीश्वरेच्छातो नानारूपा अपि । एवमुत्तरत्रापि ॥११८९॥

अथ—

ईश्वरस्य तथोर्ध्वे तु अधश्चैव सदाशिवात् ।
सुशिवावरणं चोर्ध्वे तस्मिन् ज्ञेयः सदाशिवः ॥११९०॥

यदेतत सर्वविषयस्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यावभासादेकमीश्वरतत्त्वमुक्तम्, तदन्तरा स्फुटेदन्ताच्छादकाहन्तावभासात्मकसदाशिवतत्त्वं विना नोपपद्यते । नह्यान्तराभासं विना बाह्याभासस्योदयो भवतीत्येतदीश्वरतत्त्व-

भित्तिभूतेन सदाशिवतत्त्वेन भवितव्यमित्याशयेनेश्वरस्योपरि सदाशिवतत्त्ववर्ति-वक्ष्यमाणप्रधानसदाशिवभुवनस्याधः सदाशिवतत्त्वाश्रितसुशिवावरणमस्तीत्युक्तम्। सुशिवश्चेह सदाशिवभट्टारक एव। यदाह तस्मिन् ज्ञेयः सदाशिवः वक्ष्यमाणपर-रूपात् सदाशिवादन्योऽयमपररूप इत्यर्थः ॥११६०॥

स च—

त्रिपञ्चनयनो देवश्चन्द्रार्धकृतशेखरः।
वक्त्रपञ्चकसंयुक्तो दशबाहुर्महाबलः ॥११६१॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशः स्फुरन् वै दीप्ततेजसा।
सिंहासनोपविष्टस्तु

तदुपरि च—

श्वेतपद्मासनस्थितः ॥११६२॥
पञ्चब्रह्माङ्गसहितः सकलाद्यैः समन्वितः।
दशभिश्च शिवैर्युक्तो रुद्राष्टादशकान्वितः ॥११६३॥

पञ्च ब्रह्माणि सद्योजातादीनि। अङ्गानि हृदयादीनि ॥११६३॥

सकलादीन् विभजति—

सकलो निष्कलः शून्यः कलाढ्य खमलङ्कृतः।
क्षपणश्च क्षयान्तस्थः कण्ठ्यौष्ठ्यश्चाष्टमः स्मृतः ॥११६४॥

अस्यान्तरक्रमेण स्थानमाह—

भ्रुवोर्मध्ये तु विज्ञेयो देवदेवः सदाशिवः।
सकलाद्यैर्वृतो देवः

देव इति द्योतमानः ॥

किं च—

ओंकारेशादिभिः क्रमात् ॥११६५॥

वृत इति वर्तते ॥११६५॥

ओंकारेशादीन् दश शिवानाह—

ओंकारेशः शिवो दीप्तः कारणेशो दशेशकः।
सुशिवश्चैव कालेशः सूक्ष्मरूपः सुतेजसः ॥११६६॥
शर्वश्च दशमः प्रोक्तः

त एते प्राग्दिश आरभ्य—

उर्ध्वान्तं संव्यवस्थिताः।

सदाशिवस्य ब्रह्मावरणसकलाद्यावरणाभ्यां बहिः ॥

एषामपि—

रुद्राश्चाष्टादश बहिः

संव्यवस्थिता इत्येव ॥

तेषां नामानि वै शृणु ॥११९७॥

विजयस्त्वथ निःश्वासः स्वयम्भूश्चाग्निवीरराट् ।

रौरवो मुकुटो विसरश्चन्द्रो बिम्बः प्रगीतवान् ॥११९८॥

ललितः सिद्धरुद्रश्च सन्तानः शर्व एव च ।

परश्च किरणश्चैव पारमेश्वर एव च ॥११९९॥

अग्निसहितो वीरराडित द्वौ । एते चैतन्नामकस्य मुक्त्यवताराः शास्त्रावतारैर्विश्वमनुगृह्णानाः स्थिताः, अत एव दशाष्टादशभेदेन चैतदुच्यते ॥११९९॥

तदेवं ब्रह्माङ्गसकलादिशिवरुद्रावरणैश्चतुर्भिः परिवृतः—

सादाख्यस्तु समाख्यातः सकलो मन्त्रविग्रहः ।

सर्वकारणमध्यक्षः सृष्टिसंहारकारकः ॥१२००॥

भुक्तिमुक्तिप्रदाता च साधकानां क्रियावताम् ।

भवनामतः प्रभृति सदिति व्यपदेशप्रवृत्तेः सदाख्ये सदाशिवतत्त्वे भवो देवः सादाख्यः स च सकलो मन्त्रमूर्तिरिति । वक्ष्यमाणनिष्कलमूर्त्यपेक्षयाऽध्यक्षः सर्वेषामधिष्ठाता सर्वदर्शी च । सर्वकारणत्वं सुस्पष्टयति—**सृष्टीति**। सृष्टिसंहारौ स्थितिविलयावप्युपलक्षयतः । साधकानामित्याराधकानां मुमुक्षूणां मुक्ति सिषाधयिषूणां मुक्तिम्, भुक्तिपूर्वां मुक्ति तु क्रियावतामनुष्ठानपराणां संपादयति ॥

किं च—

कोटयः सप्त मन्त्राणामासने तस्य संस्थिताः ॥१२०१॥

निवृत्ताधिकाराश्चार्धचतस्रः प्रवृत्ताधिकाराश्चार्धचतस्र इति याः सप्त मन्त्रकोटयः, ता सर्वा अनेनाधिष्ठिता इत्यर्थः । ईश्वरभट्टारकेण त्वधिकारे प्रवृत्ता अर्धचतस्र एवाधिष्ठितास्तस्य स्थूलभोगत्वादिति शेषः । अत एव प्रागीश्वरस्यासनपद्मं सहस्रदलमुक्तम् ॥१२०१॥

अस्यासनं तु ततोऽपि विशिष्टमित्याह—

आसनं लक्षपत्राढ्यं चन्द्रकोट्ययुतप्रभम् ।

ईश्वरपद्मादप्यधिकदलमित्यर्थः ॥

तच्च पद्मम्—

वामाद्यैर्विभुपूर्वैश्च पञ्चवक्त्रैस्त्रिलोचनैः ॥१२०२॥

तारा‌द्यैः शक्तिभेदैश्च प्राग्दिशः परिवारितम् ।

वामाद्याः प्रागुक्ता एवेह परेण रूपेण स्थिताः, विभूपूर्वोक्तास्तु—

'विभुर्ज्ञानी क्रिया चेच्छा वागीशी ज्वालिनी तथा ।

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च सर्वाः कालानलप्रभा ॥' (८।६६)

इति श्रीपूर्वे निर्दिष्टाः । ताराद्यास्तु शक्तयः प्रागुक्ताष्टात्रिंशत्कलारूपाः । तत्र वामाद्याः प्रागादिदिक्क्रमेण दलेषु मध्यान्ताः । विद्याद्यास्तु तत्प्रातिलोम्येन मध्यादिप्राग्दलान्ताः । तदुक्तं श्रीपूर्वे—

'वामा ज्येष्ठा' (८।६३)

इत्युपक्रम्य,

'भानुमार्गेण विन्यसेत् ।

विश्वादिनवकं चान्यद्विलोमात् परिकल्पयेत् ।।' (८।६५)

इति । ताराद्यास्तु प्रागादिक्रमेणैव न्यस्ता भावनीयाः ॥

अस्य च देवस्य—

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्वामे दक्षिणतः स्थिते ॥१२०३॥

पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायाद् ज्ञानशक्तिर्दक्षिणे क्रियाशक्तिर्वाम इति ज्ञेयम् ॥

किं च—

इच्छाशक्तिः परा देवि यया सर्वमधिष्ठितम् ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारांस्तिरोभावमनुग्रहम् ॥१२०४॥

यया करोति देवेशः सर्वदा सर्वमध्वनि ।

तस्योत्सङ्गगता सा तु नित्यं चैवात्मवर्तिनी ॥१२०५॥

परेति ज्ञानक्रियापेक्षया । अधिष्ठितं व्याप्तम् । सर्वमिति सृष्ट्यादिपञ्चकविशेषणम् । सर्वदेति

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।

भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥' (१।६।७)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या देहाद्याविष्टश्चिदात्मा महेश्वरस्तदर्थावभास-तत्स्थिति-तच्चर्वण-तत्संस्कारावस्थापन-तत्प्रकाशमयत्वापादनैर्हि प्रतिक्षणं जगतः पञ्च कृत्यानि करोति । उत्सङ्गगतेति । आकृतिमत्त्वे आत्मशिवस्य ॥१२०५॥

तत्कथं सदाशिवस्योक्तमिति तत्संख्यामाह—

सा चेच्छा देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः ।

स एवापररूपेण पञ्चमन्त्रमहातनुः ॥१२०६॥

इच्छारूपधरः श्रीमान् देवदेवः सदाशिवः ।

यतः शिव एवापररूपेण सदाशिवः, अत इच्छाऽस्य शक्तिरुक्तेत्यर्थः । पञ्चभिरीशानादिब्रह्मभिर्मन्त्रैर्महती विश्वव्यापिका महामाहात्म्या च तनुर्यस्य । शिवस्यानुग्रहार्थमेतदपररूपग्रहणं स्वस्वातन्त्र्यादित्याह—**इच्छारूपधर** इति । अत एवायं सदेत्याकृतिपरिग्रहापरिग्रहयोः शिव इवेति कृत्वा सदाशिव उच्यते । श्रीमान् ज्ञानदीप्त्यतिशययुक्तः ॥

अत्र च—

शक्तयस्तस्य याः प्रोक्ताः

वामाद्याः ॥

तथा वै मन्त्रनायकाः ॥१२०७॥

आवरणचतुष्टयस्थाः ॥१२०७॥

एते सर्वे—

एकैकं परितो देवि पद्मैरर्बुदकोटिभिः ।
तथा खर्वनिखर्वैश्च प्रतिरूपैर्महाबलैः ॥१२०८॥
विद्यारूपैः स्वरूपाढ्यैरप्रमेयगुणान्वितैः ।
सर्वलक्षणसंपन्नैः सर्वाभरणभूषितैः ॥१२०९॥
हास्यलास्याविलासाढ्यैर्भ्रूक्षेपोन्मदविभ्रमैः ।
चन्द्रकोटिशतप्रख्यैः प्रस्रवद्भिरिवामृतम् ॥१२१०॥

परिवृता इत्यर्थः । एकैकमिति क्रियाविशेषणम् । पद्मार्बुदादयो वक्ष्यमाण-सङ्ख्याविशेषरूपाः । प्रतिरूपैरिति मुख्यसदृशैः । बलं ज्ञानक्रियासामर्थ्यम् । रूपमाकृतिसौन्दर्यं स्वरूपं च । गुणाः सर्वज्ञत्वादयः । लक्षणानि ज्ञानयोगैश्वर्याणि । सर्वेण आभरणेन भूषितैः । अशेषविश्वात्मभिः परानुग्रहप्रवणतया नित्यप्रमुदितत्वेन हास्यलास्यादियुक्तत्वम् । अत एव हेलामात्रेण परानुग्रहसंपत्तेर्भ्रूक्षेपेणोद्गतो मदो येषु तादृशा विभ्रमा विलासा येषां तैर्विद्यावृन्दैः परिवृता इति सङ्गतिः ॥१२१०॥

अतश्चात्र—

ताभिः सार्धं सदा रुद्राः प्रक्रीडन्तीच्छया प्रभोः ।
पुरवरैः सर्वतोभद्रैश्चन्द्रकोटिसमप्रभैः ॥१२११॥

ताभिर्विद्याभिः क्रीडन्ति परानुग्रहायैव विहरन्ति पुरवरैरुपलक्षिताः ॥१२११॥

त एते सर्वे—

मायाधर्मविनिर्मुक्ता निर्मला विगतज्वराः ।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वज्ञामोघशक्तयः ॥१२१२॥

मायाया धर्मश्चित्स्वरूपावरणम्, तेन विनिर्मुक्ताः। यद्यपि परमशिवापेक्षयैषां सङ्कुचितत्वं महामायाकार्यं पाशेनास्ति, तथापि मायाप्रमातृवत् सङ्कोचमया न भवन्ति। अत एव च निर्मला मायानावृताः। सङ्कोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्। अत एवैते विगतज्वराः सर्वसन्तापरहिताः। एवमपि चानुग्राह्यानुग्रहाय शिवेन नियतिकालाधिकारवशानुबद्धाः स्थापिताः। सर्वज्ञाश्च ते, अमोघशक्तयश्च त इति समासः॥

किं च—

अधिकारक्षये शान्ता जायन्ते सर्वगाः शिवाः।

शान्ता निवृत्तमहामायाकृततावन्मन्त्राख्याः, तथा व्यापकशिवैकीरूपा भवन्तीत्यर्थः॥

इत्थं च—

परप्रेर्याः पुनर्भूयो न भवन्ति कदाचन॥१२१३॥

महासंसारतः सदाशिवान्ते विश्वत्र शून्यातिशून्यपदमाप्ते येऽविदिततत्त्वास्ते महासृष्टौ भूयः सृज्यन्ते, यथैकादशे दर्शयिष्यते। एते तु भगवन्तो मुच्यन्त एवेति पुनःशब्दस्यार्थः॥

उपसंहरति—

सुशिवावरणं ख्यातं मन्त्रगर्भं वरानने।

मन्त्रा आसनगता आवरणगताश्च गर्भे यस्य तदेतत् सुशिवस्य सदाशिवभट्टारकस्य संबन्धि आवरणं भुवनमित्यर्थः। अथ च परिपूर्णज्ञानशालिव्यतिरेकेणान्येषां परपदावारकत्वादेव तान्यावरणानीत्युच्यन्ते॥

अथ—

बिन्द्वावरणमूर्ध्वेऽतश्चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥१२१४॥

बिन्दुतत्त्वस्थानव्याप्तिरूपमावरणं बिन्द्वावरणम् ॥१२१४॥

तत्र पद्मं महादीप्तं दशकोटिसमन्वितम्।
तत्र पद्मे स्थितो देवः शान्त्यतीतो महाद्युतिः॥१२१५॥
पञ्चवक्त्रो विशालाक्षो दशबाहुस्त्रिलोचनः।
तडित्सहस्रपुञ्जाभः स्फुरन्माणिक्यमण्डितः॥१२१६॥

अशेषं यद्विश्वम्, तदिह प्राप्तमहाविकासदीप्तियोगोत्कृष्टत्वान्माणिक्यम् ॥१२१६॥

किं च—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥१२१७॥

प्रागुक्तं कलाचतुष्टयमेवाशेषविश्वाध्वगर्भं परशक्तिरूपतया स्थितमस्य देवस्य परिवारः ॥

किं च—

तस्य वामे तु दिग्भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ।

एताश्च—

पञ्चवक्त्रा स्मृताः सर्वा दशबाह्विन्दुशेखराः ॥१२१८॥

तदेवम्—

बिन्दुतत्त्वं समाख्यातं पुरकोट्यर्बुदैर्वृतम् ।

मन्त्रमन्त्रेशतदीशपरिवारसंबन्धिभिः । एव च शान्त्यतीत ईश्वरभट्टारक-परव्याप्तिरूपः । यद्वक्ष्यति ।

'आभिः कलाभिः संयुक्तो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः' (१२।१५७)

इति । योजनिकाग्रन्थेऽप्युक्तम्—

'बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' (४।२६४)

इति अस्मिन् ह्यध्वनि स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन मन्त्रदेवतादीनां स्थितिरित्युक्त-प्रायम् ॥

एतद्बिन्द्वावरणमुक्त्वाऽर्धचन्द्राद्यावरणमप्याह—

अर्धचन्द्रस्तदूर्ध्वे तु तदूर्ध्वे तु निरोधिका ॥१२१९॥

अत्र भुवनान्याह—

एते द्वे तु महास्थाने पञ्चपञ्चकलान्विते ।

कला देवताः—

तत्र—

ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ॥१२२०॥
अर्धचन्द्रे स्थिता ह्येता निरोधिन्यां शृणु प्रिये ।
रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ॥१२२१॥

विमलाया विशेषणं शिवेति । अर्धचन्द्रपदस्य प्रकाशाह्लादप्रकर्षात्तच्छक्तीनां तथोचितनामानि । निरोधिनीपदस्यापि निरोधहेतुत्वाद्रुन्धनी रोधनी रौद्रीति तिस्रः शक्तयः । प्रबुद्धानां तु निरोधनिवृत्तौ ज्ञानबोधा तमोपहेति शक्तिद्वय-मूर्ध्वप्रवेशदातृत्वादेवमभिधानम् ॥१२२१॥

अत्र पूर्वोक्तं मात्राविभागं स्मारयति—

अर्धमात्रः स्मृतो बिन्दुः खरूपश्च चतुष्कलः ।
तस्याप्यर्धमर्धचन्द्रस्त्वष्टांशश्च निरोधिका ॥१२२२॥

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं' (६।४)

इत्येतद्ग्रन्थनिर्णयावसर एवैतन्निर्णीतं यथा यावद्यावन्मन्त्रोच्चार ऊर्ध्वोर्ध्वं पदमाश्रयति, तावत्तावद्वाच्यवाचकगता स्थूलरूपता निवर्तते, सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिरूपता चाभिव्यज्यमाना विश्रान्तिप्रकर्षं ददाति यावदुन्मनापरतत्त्वात्मनि पर्यन्ते सर्वोपाधिप्रशान्त्या चिदानन्दघनस्वच्छन्दभैरवरूपावेशो भवतीति । तदेवेह परमेश्वरेण स्मारितं यथा भुवनशुद्ध्यवसरे सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमादिरूपा मान्त्री व्याप्तिरनुसरणीया गुरुभिः । एवमुत्तरत्रापि स्वयमनुसर्तव्यम् ॥१२२२॥

निरोधिन्याः स्वरूपं निर्वक्ति—

निरोधयति देवान् सा ब्रह्माद्यांस्तु वरानने ।

का तु कथा सामान्यजन्तूनाम् ॥

यत् एवम्, तेनैषा—

निरोधिनीति विख्याता

अतश्च पूर्वोक्तकरणबन्धव्याप्त्यनुसरणपुरःसरमन्त्रोच्चारयुक्त्या—

तां भित्त्वा तु वरानने ॥१२२३॥

सादाख्यपरभावेन पञ्चमन्त्रमहातनुः ।

लभ्यत इति शेषः । सादाख्यदेव इत्यर्थः । परभावेनेति प्रागुक्तो यः, स एवानेन सूक्ष्मेण रूपेणेत्यर्थः ॥

तस्य स्थानं रूपं च निरूपयति—

तस्योर्ध्वे तु स्मृतो नादः स किञ्जल्करजःप्रभः ॥१२२४॥
महद्भिः पुरुषैर्व्याप्तः सूर्यकोट्ययुतप्रभैः ।

तस्येति निरोधिकावरणस्य । नाद इति समस्तवाचकाभेदमयपरामर्शसतत्त्वः श्रीसदाशिव एव पररूपः । किंजल्करजःप्रभ इति दीप्त्यतिशययुक्तः । महद्भिः पुरुषैरिति मन्त्रमहेश्वरभूमेः प्रभृत्युत्तरोत्तरं तारतम्येन स्थितैः ॥

किं चात्र—

तेषां वै नायिका वक्ष्ये भुवने पञ्चसङ्ख्यया ॥१२२५॥

तेषां महतां पुरुषाणां मध्ये नायिकाः प्रधानभूता देवताः । भुवन इत्यस्मिन् नादावरणं गते भुवनपञ्चक इत्यर्थः ॥१२२५॥

ता आह—

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगा तु समाख्याता कला त्वेषा तु पञ्चमी ॥१२२६॥

दीप्त्यतिशयादासमीदृशि नामानि। पञ्चमीत्येनासां मध्ये प्रधानभूता ॥१२२६॥

किं च—

तस्मिन् पद्मं सुविस्तीर्णं

तस्मिन्नित्यूर्ध्वगशक्तिधाम्नि । सुविस्तीर्णमिति प्रकृतापेक्षया ॥

तत्र च—

ऊर्ध्वगेशः स्थितः प्रभुः ।

ऊर्ध्वगाख्याया नादान्तात्मनः शक्तेरीशोऽधिष्ठाता ॥

स च—

चन्द्रार्बुदप्रतीकाशः पञ्चवक्त्रस्त्रिलोचनः ॥१२२७॥
चन्द्रार्धशेखरः शान्तो दशबाहुर्महातनुः ।
इन्धिकादिवृतो देवः शूलपाणिर्जटाधरः ॥१२२८॥

शान्त इति नादपर्यन्तविश्वोपशमात् । जटाधरत्वादिकं प्राग्वत् ॥१२२८॥

किं च—

ऊर्ध्वगा तु कला तस्य नित्यमुत्सङ्गगामिनी ।

इयदन्ता सदाशिवतत्त्वस्य व्याप्तिः । एवमत्र सादाशिवे तत्त्वे सुशिव-बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिकानादनादान्तरूपाणि पञ्चावरणानि । तत्र सुशिवावरणे सदाशिवः, वक्त्राङ्गकादशिका, सकलाद्यष्टकम्, ओङ्कारादिशिवदशकम्, विजयादिरुद्राष्टादशकमिति श्रीसदाशिवेन सहावरणदेवता अष्टचत्वारिंशत् । आसनपद्मगतास्तु वामाद्या नव, विश्वाद्या नव, ताराद्या अष्टात्रिंशदिति षट्पञ्चाशत्, ज्ञानक्रिये पार्श्वगते, इच्छा उत्सङ्गस्थेति सप्तोत्तरशतमत्र देवतानाम् । बिन्द्वावरणे शान्त्यतीतेशः, शान्त्यतीता, निवृत्याद्याश्चतस्र इति षड् देवताः । अर्धचन्द्रावरणे तु ज्योत्स्नादिशक्तिपञ्चकम् । निरोधिन्यां रुन्धन्यादिशक्तिपञ्चकम् । ततो नादभट्टारकः । ततो नादान्तपदे इन्धिका-द्याश्चतस्र ऊर्ध्वगेश्वर ऊर्ध्वगा चेति षट् । एवमत्र सदाशिवतत्त्वे सत्रिंशच्छतं देवतानाम् ॥

अथ शक्तितत्त्वे भुवनेशानादिशति —

ततः सुषुम्णाभुवनं सुषुम्णा तत्र संस्थिता ॥१२२९॥

सुषुम्णाख्या देवता, यदधिष्ठानान्मध्यनाडी सुषुम्णेत्युच्यते ॥१२२९॥

न चासावेव स्थिता, अपि तु तत्प्रभुः—

सुषुम्णेशः स्थितस्तत्र चन्द्रकोट्ययुतप्रभः ।
दशबाहुस्त्रिनेत्रश्च श्वेतपद्मोपरिस्थितः ॥१२३०॥
शशाङ्कशेखरः श्रीमान् पञ्चवक्त्रो महातनुः ।

किं च—

इडा च पिङ्गला चैव वामदक्षिणतः स्थिते ॥१२३१॥
सुषुम्णा तु वरारोहे तुषारकणधूसरा ।
श्वेतपद्मकरा देवी पद्ममालाविभूषिता ॥१२३२॥
पञ्चवक्त्रा सुशोभाढ्या त्रिनेत्रा शूलधारिणी ।
तस्योत्सङ्गगता देवी ध्यातव्या साधकादिभिः ॥१२३३॥

तुषारधूसरा त्विति तुशब्दाद् इडापिङ्गले श्यामलोहिते इति तन्त्रान्तराज्ज्ञातव्यम ॥१२३३॥

एषा सुषुम्णा विश्वव्यापिनीत्याह—

ग्रथितस्तु तया सर्वस्त्वध्वायमधऊर्ध्वगः ।

ग्रथित उम्भितो व्याप्तः, अधः अनन्तान्तः, ऊर्ध्वं शिवतत्त्वान्तः । सर्वोऽध्वेति शारीरो बाह्यश्च ॥

अतश्च विश्वव्यापकसुषुम्णादिशक्तिभित्तिमाश्रितो नादस्तदधःप्रसरणमार्गेणाधस्तनं सर्वमध्वानमधिष्ठितं मूलभूत ऊर्ध्वप्रसरणेन विभिद्य, नादान्तभूमिमारुह्य, ब्रह्मबिलात्मनि शक्तितत्त्वे लीयते इत्याह —

नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत् ॥१२३४॥
अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्रह्माणमूर्ध्वतः ।
नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ॥१२३५॥
नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।

नाडिः सुषुम्णा आधारो यस्य । भित्त्वेत्यत्र करणमध इत्युदयस्थानादुत्थिता क्रमेणारोहन्ती शक्तिः । ऊर्ध्वत इत्यूर्ध्वशक्त्या पूर्वोक्तप्रयोगतः स्पष्टीभूतया, ब्रह्मबिलान्तं निर्गत्य तत्रैव तया नाड्या सह लीनः श्लिष्टो भवति । सापि हि नाडी तदन्तेति तत्रैव श्लिष्टा शक्तिद्वययोगाच्च नादस्यानच्कस्य द्विकुब्जरूपत्वात् । स च नादः—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कात्रो० १।५)

इत्याम्नायान्तरोक्तनीत्या सर्वभूतेष्वव्यक्तध्वनिरूपः, अत एवाक्षरोऽविचलत्स्वरूपो नदन् वक्ष्यमाणघोषादिपरामर्शमयत्वेन स्थितः । यद्यपि ब्रह्मबिललीन इत्युक्तस्तथापि लयोऽस्य सूक्ष्मतररूपेण शक्तिस्फुरत्तात्मनाऽवस्थानमत एव शिवशक्त्या त्वधिष्ठित इत्युक्तम्, न त्वत्यन्त नाश इत्यक्षर इत्युचितैवोक्तिः ॥

यत एवंविधा नादस्य व्याप्तिरतः—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे शोधयेत्तं शिवाध्वरे ॥१२३६॥
ततो ब्रह्मबिलं ज्ञेयं रुद्रकोट्यर्बुदान्वितम् ।
तत्र ब्रह्मा परो ज्ञेयः शशाङ्कशतसप्रभः ॥१२३७॥
दशबाहुस्त्रिनेत्रश्च पञ्चवक्त्रेन्दुशेखरः ।
त्रिशूलपाणिर्भगवान् जटामुकुटमण्डितः ॥१२३८॥

ब्रह्मबिलं नामावरणमन्तरिव बहिर्भुवनाश्रयत्वेनापि स्थितम् । यद्यपि सार्धास्तिस्रः कोट्यो मन्त्राणामुक्तास्तथापि तत्परिवारस्यासङ्ख्यत्वादत्रापि च तेषां सूक्ष्मतमेन रूपेणावस्थितत्वाद्रुद्रकोट्यर्बुदान्वितमित्युक्तम् । पर इति प्रागुक्ताद्ब्रह्माण्डगतात् स्थूलाद्बुद्धितत्त्वगताच्च सूक्ष्मादुत्कृष्टः, अत एव शाक्तत्वादयं सितो दशबाह्वादिरूपश्च ॥१२३८॥

किं च—

ब्रह्माणी तु परा शक्तिर्या सा मोक्षपथे स्थिता ।
द्वारं या मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ॥१२३९॥
मोक्षमार्गप्रदात्री च ब्रह्मोत्सङ्गे च संस्थिता ।

परेत्यर्थात् । मोक्षपथे—

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (वि० भै० २०)

इति स्थित्योर्ध्वोन्मुखशक्तिमार्गे । अतश्चाज्ञानिनः प्रति तदेव शक्तिपथात्मकं मोक्षद्वारमीश्वरेच्छया रुन्धाना स्थिता, ज्ञानिनः प्रति मोक्षमार्गं प्रददाति तच्छीला ॥

यतो ब्रह्माणी एवंविधा, अतः प्रोक्तमन्त्रोच्चारक्रमेण—

तां भित्त्वात्र वरारोहे गन्तव्यमूर्ध्वतः प्रिये ॥१२४०॥

अत्रेति शक्तितत्त्वे यदूर्ध्वं शक्तिव्यापिनीसमनाधाम, तत्रेत्यर्थः ॥१२४०॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं स्थिता शक्तिः प्रसुप्तभुजगाकृतिः ।
आधारो भुवनानां सा तां प्रवक्ष्यामि सुव्रते ॥१२४१॥

शक्तिरिति शक्तितत्त्वगतशक्त्यावरणम् । सा च प्रसुप्तभुजगस्येव आकृतिर्यस्या इत्यनेन ब्रह्मबिलान्तमशेषमान्तरमुन्मिषितरूपत्वाद्विषमूर्छितमिव कृत्वा निःस्पन्दरूपकुण्डलाकारतया स्थिता । सा चान्तरेण क्रमेण ब्रह्मरन्ध्रोपरि त्वग्भूमिकां निविष्टा । आधार इयमेवाध ऊर्ध्वं च व्याप्य विश्वं धारयन्ती आधारशक्तिरित्यर्थः । तां प्रवक्ष्यामीति तत्रस्थानि भुवनान्यधिष्ठातृदेवताद्वारेण वच्मीत्यर्थः ॥१२४१॥

तत्र—

सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चान्यामृतामिता ।

शक्तिभूमेः सूक्ष्मत्वाह्लादकत्वापरिच्छिन्नत्वयोगात्तद्देवतानां तादृश्येव नामानि ॥

एतासां च—

व्यापिनी मध्यतो ज्ञेया

एता एव तु—

शेषाः पूर्वादितः क्रमात् ॥१२४२॥

सर्वाश्च एताः—

पञ्चवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च सुतेजस्का महाबलाः ।

तदित्थम्—

शक्तितत्त्वं समाख्यातं

अत्र च सौषुम्णावरणे सुषुम्णा, तदीश्वरः, इडापिङ्गले चतस्रो देवताः, ब्रह्मबिलावरणे ब्रह्मा ब्रह्माणीति द्वे, शक्त्यावरणे सूक्ष्मादिदेवतापञ्चकमित्येकादश शक्तितत्त्वे देवताः ॥

यच्च प्रागस्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्याभासात् सदाशिवतत्त्वं ज्ञानशक्तिप्रधानमुक्तम्, तत् तदासूत्रकेच्छाशक्तिप्रधानं शक्तितत्त्वं विना न घटते । नहि किञ्चिदुच्छूनतारूपान्तरासूत्रणां विना कस्याप्युदय इति सदाशिवतत्त्वस्य भित्तिभूतं शक्तितत्त्वमुक्तम् । तदपि शक्तिरूपत्वात् स्वाश्रयमपेक्षत इति इयतः शक्तितत्त्वान्तस्य विश्वस्य यदाश्रयस्तच्छिवतत्त्वमुक्तम् । तच्च शक्त्यन्ताध्वोत्तीर्णम्, तदारोहक्रमेणैव प्राप्यमित्थं चोपलभ्यतां नातिक्रामतीति तत्राप्यतिसुसूक्ष्मतया भुवनस्थितिं वक्तुमाह—

शिवतत्त्वं शृणु प्रिये ॥१२४३॥

पुरश्रेष्ठैरनेकैस्तु समन्तात् परिवारितम् ।
हेमप्राकाररचितं रत्नमाणिक्यमण्डितम् ॥१२४४॥
अशेषभोगसम्पन्नं सर्वकामगुणोदयम् ।

धाराधिरूढेऽत्रापि शिवतत्त्वे हेमप्राकारादिव्यवस्थेत्यहो बताख्यातेर्महिमा । एवं चाभिदधदियत्पर्यन्तातिसुसूक्ष्मस्थितया पृथिव्यादीनां व्याप्तिरिति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यमेव शक्तिपञ्चकं गुणप्रधानताद्याभासनवैचित्र्येण सप्तपञ्चकतत्त्वाभासरूपतया यथोत्तरमाश्यानीभावप्रकर्षाद्भूतपञ्चकान्तेन रूपेण स्फुरति । भूतपञ्चकमपि यथोर्ध्वं सूक्ष्मसूक्ष्मतराद्याभासवैचित्र्येण प्रोक्तशक्तिपञ्च-

कात्मकेन गलिताश्यानीभावात्मना पूर्णेन रूपेण विकसतीति पञ्चशक्तिसामरस्यमयं परमशिवतत्त्वमेव इत्थम्—

'**स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण तदेकं संव्यवस्थितम्**' (४।२६५)

इत्युक्तयुक्त्या विश्वात्मनाऽवस्थितम् । अतस्तत्र तत्र पदे शिवरूपतया विश्वावभासवत्त्वेऽपि तथानवभासात्मकाज्ञानबन्धविनिवर्तनं दीक्षाज्ञानक्रमेण क्रियत इति शिक्षयति परमेश्वरः । सर्वकामगुणोदयमिति सर्वेषामत्युत्तमभोगरूपाणां कामानां गुणानां च सर्वज्ञत्वादीनामुदयो यत्र यतश्चेति योज्यम् ॥

किं च—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि तत्रैव संस्थितानि तु ॥१२४५॥

तानि चाधिष्ठातृमुखेनाह—

व्यापकं व्योमरूपं च अनन्तानाथनाश्रितम् ।
कारणानां पञ्चकं च शिवतत्त्वे व्यवस्थितम् ॥१२४६॥

अनन्तेति त्रयस्य समाहारः ॥१२४६॥

किं च—

तत्र पद्मं सुविस्तीर्णमनन्तानन्तसम्भवम् ।

सुविस्तीर्णं प्रोक्तसर्वपद्मापेक्षया । समनन्तरप्रोक्तानन्तादित्येतदावरणात् प्रभृत्यनन्तस्याशेषविश्वस्यानन्तमध्यानन्तान्तस्य सम्भवो यतः । अत एव प्राग्(१।३८)अनन्तासनमित्यनन्ताद्यनन्तमध्यानन्तान्तमासनमनन्तासनमित्यस्माभिर्व्याकारीति युक्तमुत्पश्यामः ॥

तस्य पद्मस्य मध्यस्थो देवश्चायमनाश्रितः ॥१२४७॥

देवो द्योतनादिरूपः, न किञ्चिद्भुवनाध्ववर्ति समाश्रितोऽपि तु सर्वैर्भुवनेशैराश्रितः ॥

स च—

पञ्चवक्त्रधरः शान्तः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
दशबाहुर्महादीप्तः सृष्टिसंहारकारकः ॥१२४८॥
सर्वानुग्रहकर्ता च प्रणतार्तिविनाशनः ।
भुक्तिमुक्तिप्रदाता च सूर्यकोट्यर्बुदप्रभः ॥१२४९॥
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यः समन्तादुपशोभितः ।
दिव्याम्बरधरो देवो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥१२५०॥
पद्मासनोन्नतोरस्कः शशाङ्ककृतशेखरः ।
आबद्धमणिपर्यङ्कश्चामरोत्क्षेपवीजितः ॥१२५१॥

रुद्रकोट्यर्बुदानीकैः समन्तादुपशोभितः ।

शान्त इति शक्त्यावरणपर्यन्तगतस्य भेदसंस्कारस्यापि प्रशमात् । पञ्चवक्त्रादित्वं प्राग्वत् । सृष्टिसंहारौ स्थितिविलयावप्युपलक्षयतः । सर्वेति यस्य यस्यानुग्रह आयाति, तत एव प्रणतार्तिविनाशन इति । एतत् प्राग्वत् साधकाभिप्रायेण । एतदेव भुक्तिमुक्तीत्युक्त्या व्यक्तीकृतम् । उन्नतोरस्को महोत्साहः ॥

किं चात्र—

व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ॥१२५२॥
पञ्चवक्त्रा महावीर्या दशबाह्विन्दुशेखराः ।
त्रिनेत्राः शूलहस्ताश्च कारणैश्च समन्विताः ॥१२५३॥
पूर्वाद्युत्तरपर्यन्ता एताश्चैव व्यवस्थिताः ।

कारणैरित्येतैरेव व्यापिनीप्रभृतिभिः सम्यगन्वितास्तदभिन्ना इत्यर्थः । एता इत्यनाथान्ताश्चतस्रः ॥

पञ्चम्याः स्थितिमाह—

अनाश्रितो मध्यगस्तु संस्थितः प्रभुरव्ययः ॥१२५४॥
अनाश्रितकला देवी तस्योत्सङ्गे च संस्थिता ।

एवमाचक्षाणस्यायमाशयो यच्छक्तिसम्बन्धादेव सर्वे शक्तिमन्तस्तत्तत्स्वकार्यं संपादयन्ति, अतश्च परमशिवपदमपि प्रस्फुरच्छक्तिस्फाररसमेवेहोपेयम्, न तु शान्ताशेषशक्तिकम् । यस्तु शान्तव्यपदेशोऽत्र, स भेदप्रशमादिति ॥

उपसंहरति—

एवं वै शिवतत्त्वं तु कथितं तव सुन्दरि ॥१२५५॥

तदेतत्—

शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता ।
समना नाम सा ज्ञेया

ततः शिवतत्त्वादूर्ध्वं त्यक्तशेषस्थव्यापिनीपदावस्थितानाश्रितभट्टारकापेक्षया तत्पदविश्रान्त्या ज्ञातव्या । एषा च सह मनसा सुसूक्ष्मतमेन संवेदनेन वर्तते, न तु संविदि त्रिभूमिकामाप्तेति कृत्वा समना । यदुक्तं प्राक्—

'समनं क्रमविज्ञान' (४।३९४)

इति ॥

अत ऊर्ध्वं मननव्यापारो नास्तीत्याह—

मनश्चोर्ध्वं न जायते ॥१२५६॥

एषा च समना—

परिपाट्या स्थितानां तु पृथिव्यादिशिवावधौ ।
सर्वेषां कारणानां च कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥१२५७॥

सर्वेषामित्यनन्ताद्यनाश्रितान्तानाम् ॥१२५७॥

अतश्चेयम्—

विभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठिता ।

'पृथग्द्वयमसङ्ख्यातमेकमेकं पृथग्द्वयम्' (२।५०)

इति श्रीमालिनीविजयोक्तनीत्या ब्रह्माण्डप्रकृत्यण्डात्मकमण्डद्वयमसङ्ख्यातम्, मायाण्डशक्त्यण्डद्वयं त्वेकैकरूपमिति कृत्वैषा शक्तिरनेकान्यण्डान्यन्तःकृत्वा स्थितेति तच्छास्त्रप्रक्रियाप्यत्रोररीकृतैव ॥

शक्तित्वादेव चैषा शिवेन सम्यगभेदव्याप्त्याऽधिष्ठितेति यदुक्तम्, तत् स्फुटयति भाविपटलार्थैकीकारयुक्त्या—

तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ॥१२५८॥
सृष्टिस्थितिसमाहारं तिरोभावमनुग्रहम् ।

आरूढ इत्यशेषविश्वभावासूत्रणेन भित्तिकल्पमननमात्रात्मकैतच्छक्तिभूमिकां स्वामुल्लास्येत्यर्थः परमकारणमिति परमशिवः ॥

स हि—

हेतुकर्ता महेशानः सर्वकारणकारणम् ॥१२५९॥

सर्वेषां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां पृथिव्यादिबीजान्तानामपि तेनैव तत्तद्भूमिकाग्रहणात् तथावभासितानां कारणानां कारणं स्वातन्त्र्यात् स्वभित्तावुल्लासक इत्यर्थः। तथा महानीश्वरस्तेषां तत्तदुचितविभवप्रदत्वेन सर्वातिशायी । कर्तेति स्वतन्त्रः। हेतुरिति तेषामेव स्वे स्वे कर्मणि योजनप्रवर्तकं निमित्तम् ॥१२५९॥

किं च—

समना नाम या शक्तिः सा तस्य करणं स्मृतम् ।

स्वशक्त्यैव विश्वमाभासयतीत्यर्थः ॥

यतः—

तयाधितिष्ठेद्देवेशो ह्यधःकारणपञ्चकम् ॥१२६०॥

तया स्वमननशक्त्याऽनाश्रितादिव्याप्यन्तं सदाशिवाद्यशेषकारणत्वात् कारणपञ्चकमधितिष्ठेत् तदनुप्राणनतया स्वकार्यसामर्थ्ययुक्तं कुर्यात् । तथा च शिव एव पररूपोऽनाश्रितादिरूपतां गृह्णाति । तथा तदीया परा शक्तिरप्यनाश्रितादिशक्तिरूपतया स्फुरति ॥१२६०॥

तत्र तत्कारणपञ्चकमध्यात् प्रधानभूतस्य—

अनाश्रितस्य देवस्य कारणं सेयमाश्रिता ।

परमेश्वरेण स्वशक्त्याऽऽभास्यमानोऽनाश्रितभट्टारकादिः परिग्रहवर्तिस्वस्वशक्तिसहित एव ग्राभास्यते । अतस्ता एव देव्योऽनाश्रितादीनां स्वकार्यकारणतां भजन्ते ॥

तच्चैतच्छक्तियुक्तः—

स वै प्रेरयते भूयस्त्वनाथं तु जगत्पतिम् ॥१२६१॥

भूय इत्यस्येदमाकूतं यत्परमशिव एव गृहीतानाश्रितभूमिको द्वितीयामिमां प्रेरणां करोति ॥१२६१॥

इत्थमेव च—

अनाथश्चाप्यनन्तेशमनन्तो व्योमरूपिणम् ।
व्योमव्यापी महादेवो व्यापिनं बोधयेत् प्रभुम् ॥१२६२॥

एते च प्रोक्तस्वशक्तिसहिता एव प्रेरकाः प्रेर्याश्च ॥१२६२॥

किं च—

व्यापिनी करणं तस्य कर्ता वै व्याप्यसौ प्रभुः ।

कर्तृत्वमेतदीयं कर्मप्रदर्शनेनाभिव्यनक्ति—

कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली ॥१२६३॥

पूर्वोक्तकुण्डलाकारतयाऽशेषविश्वगर्भा शक्तिः शक्तिकुण्डलिनी, मायेत्यशेषासूत्रणादेतदन्तोत्थापनभित्तिभूतत्वान्महामायारूपा, कुण्डलीति च्छान्दसत्वात्, यद् यस्माद् एतदीयक्रियाशक्तिव्यापकत्वात् कर्मरूपा स्थिता तेषां भगवानेतदाभासकत्वेन कर्ता सन कर्मीभूतः । यथोक्तं **प्रत्यभिज्ञायाम्**—

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् पृथक्स्थिति ।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता ।' (१।५।१५)

इति । तथा—

'कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः' (२।४।२)

इति । स्पन्देऽपि—

'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्' (१।१४)

इति ॥१२६३॥

न केवलमसौ महामायात्मा शक्तिस्तस्य कर्मतया स्थिता, यावत् तदन्तर्गतं तदुल्लास्यं च—

नादबिन्द्वात्मकं कार्यम्

एतच्चानन्तरपटले क्रमेण व्यक्तीकरिष्यति ॥

अतश्चास्माद् व्यापिभट्टारकाद् परमशिवाधिष्ठितात्—

इत्यादिजगदुद्भवः ।

महामायादिभूम्यन्तपरसूक्ष्मस्थूलवाच्यवाचकात्मकाशेषविश्वोद्भवः । एष एव भगवांस्तदाभासात्मना स्फुरतीत्यर्थः ।

यत एवं समनाभूमिमाश्रित्य परमेश्वरः परसूक्ष्मस्थूलरूपं विश्वमाभासयति, अत एवाभास्यमानम्—

यत सदाशिवपर्यन्तं पार्थिवाद्यं च सुव्रते ॥१२६४॥
तत्सर्वं प्राकृतं ज्ञेयं विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ।

सदाशिवोऽत्र पररूपोऽनाश्रितभट्टारकः । सूक्ष्मदृष्ट्या प्रकृतेर्विश्वकारणात् समनात आयातं प्राकृतम्, स्थूलदृष्ट्या तु सदाशिवतत्त्वात् प्रभृति क्षित्यन्ता चतुस्त्रिंशत् सङ्ख्या तत्त्वप्रसृतिः । प्रकृतेः शक्तितत्त्वात् शिवतत्त्वाभेदभाज आयातीति । अत्र द्विविधो व्याख्याक्रमः प्रसिद्धः । तत्र आद्य एव ज्यायान्, भाविपटलेऽनाश्रितस्यापि सृष्टिसंहाराद्यातत्वाभिधानात् । एतच्च विनाशोत्पत्तिमज्ज्ञेयं न पुनरत्राधारपदे विश्रमितव्यम्, अथ च ज्ञेयं ज्ञेयमानतयैव ज्ञानोपारोहपरज्ञानैकात्म्यापत्तियुक्त्या विलाप्यमित्यर्थः । उत्पत्तिविनाशेति वक्तव्ये विपर्ययपाठः सृष्टिसंहारपरम्पराया अनादित्वप्रतिपादनपरः ॥

एवं समनान्तमध्वानमुक्त्वा पूर्वोपक्रान्तं दीक्षाविधिमेव स्मारयति—

या सा शक्तिः पुरा प्रोक्ता समना त्वध्वमूर्धनि ॥१२६५॥
स्फुरत्सूर्यसहस्राभकिरणानन्तभास्वरा ।
ध्यात्वा चैतां समावाह्य स्थापयेत्तु विधानवित् ॥१२६६॥
उपचारं ततः कृत्वा वागीश्यावाहनं तथा ।
स्थापनं पूजनं चैव पशोर्यागं तथैव च ॥१२६७॥
गर्भधारित्वजनने अधिकारं तथैव च ।
योगं भोगं लयं चैव निष्कृतिं तदनन्तरम् ॥१२६८॥
भुवनाधिपहोमं च भुवनाधिपवासिनाम् ।
भुवनानां यथायोगं होमं कृत्वा वरानने ॥१२६९॥
त्रितत्त्वं शोधयेच्चातोऽवयवांश्च यथाक्रमम् ।

स्फुरदित्यादिनैतदाह—यथा विश्वमत्रासूत्रितकल्पं प्रभामात्ररूपमव्यतिरिक्तशक्त्यात्मकमिति । या सेत्यत्र मायेति केचित् पठन्ति । एतामिति शिवतत्त्वाधिष्ठातृशिवभट्टारकात्मिकाम् । आवाहनादिः पूर्वोक्तक्रमात् । उपचारः

पूजा। वागीश्या आवाहनमत्र परस्वरूपायाः। वागीशीस्थापनपूजनानन्तरं शिष्यप्रोक्षण-ताडन-तद्धृत्प्रवेश-तच्चैतन्याकर्ष-तद्ग्रहणादिपूर्वं वागीशीगर्भे तच्चैतन्यस्य योगः। गर्भधारित्वमेतत्पदोचितमहामन्त्रमयतौचित्येन। भुवनानां ये भुवनाधिपाः प्रधानभूतास्तेषां होमं कृत्वा, येऽन्ये तत्प्रधानभुवनापेक्षया भुवनान्तरवासिनस्तत्तत्त्वगतावान्तरभुवननिष्ठा रुद्रास्तेषामपि। यथायोगमिति संक्षिप्तदीक्षायामन्तर्भावभावनयुक्त्या, अन्यत्र तु पृथग् होमं कृत्वा श्रावणादि कार्यम्। यद्यपि समनान्तर्गतव्यापिनीपदे व्याप्यादिपञ्चकातिरिक्तानि भुवनेशान्तराणि न सन्ति, तथाप्यस्य विधेः सर्वशेषत्वादेवमुक्तम्। पश्चादात्म-विद्याशिवाख्यं तत्त्वत्रयं शोधयेदिति शारीरवाचिकमानसशुद्ध्यर्थं पूर्वोक्तहोमक्रमेण शुद्धं सम्पादयेत्। एवं ह्याचार्योऽस्मिन् छिवयागे शरीरादिव्यापारात्त्रिष्टशुद्धतरवस्य एव भवतीति दर्शयति। अवयवांश्चेत्येतत्तत्त्वत्रयान्तर्वर्तित्वाद् मायान्तसदाशिवान्तानि तत्त्वान्येवावयवानेतदन्तर्भावयुक्त्यैव होमकर्मणा शोधयेत्। यथोक्तं पुरस्तात्—

'आत्मतत्त्वविभागेन धाम्ना वै जुहुयाच्छतम् ॥
सशब्दोच्चारयोगेन आत्मतत्त्वे तु होमयेत्।
मायातत्त्वावधि ज्ञेयं दैशिकेन शिवाध्वरे ॥
विधिकैवल्यकर्मार्थं प्रायश्चित्तविशुद्धये।' (४।२१०-२१२)

इत्यादि ॥

अत्र च मध्ये निष्कृत्यनन्तरम्—

विश्लेषपाशच्छेदौ च कृत्वा पूर्णां तु पातयेत् ॥१२७०॥

तदुक्तं प्राक्—

'विश्लेषो निष्कृतेर्भोगात्' (४।१२६)

इत्यादि। अत्र च पाशच्छेदानन्तरं तद्धोमचैतन्यैकभावनापूर्वं शिवेन पूर्णाहुतिः ॥१२७०॥

ततस्तच्चैतन्यस्योद्धारात्मस्थीकार-तत्स्थीकारान् कृत्वा व्याप्यादिभुवनेश्वराह्वान-तत्पूजन-पुर्यष्टकांशार्पण-श्रावणा-विसर्जनादिः कृत्वा प्रायश्चित्तहोमस्त्रितत्त्वयुक्त्या कर्तव्य इति। ईदृशं क्रमं लेशतः स्मारयति—

प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा

ततः किं कर्तव्यमित्याह—

कर्तरीमभिमन्त्रयेत्।

तया च—

शिखां छित्त्वा

पूर्वोक्तभावनामन्त्रादिक्रमेण—

समर्प्यैतां

कस्यचिद्धस्ते—

शिशुं संस्नापयेद्गुरुः ॥१२७१॥

स्नानाय आदिशेत् । एवमिहापि शिखाच्छेदविधेर्विशेषाचोदनाद् यत् टीकाकारैर्निर्बीजदीक्षाविषयत्वं प्राग्व्याख्यातम् तदसदेव मन्तव्यम् ॥१२७१॥

अथ—

आचार्यः प्रयतो भूत्वा सकलीकरणादिकम् ।

कृत्वा ॥

स्रुचोऽग्रे तु शिखां कृत्वा हुत्वा स्नायादनन्तरम् ॥१२७२॥

ततोऽपि—

सकलीकरणं कृत्वा आचार्यस्तु वरानने ।
शिशोरपि विधिं कृत्वा

प्राग्वन्मन्त्रन्यासादिरूपम् ॥

शिवकुम्भ समर्चयेत् ॥१२७३॥

तथा—

भैरवं मध्यदेशस्थं

यागस्येत्यर्थात् ॥

किं च—

भैरवाग्नि समर्चयेत् ।

आचार्यः पूजयेत् ॥

ततो भगवन्तं विज्ञाप्य, पूर्वोक्तयुक्त्या योजनिकार्थम्—

पूर्णां सम्पूर्य विधिवद्वाममन्त्रमनुस्मरन् ॥१२७४॥
पूर्वोक्तलक्षणेनैव प्रोच्चरेत्तं प्रयत्नतः ।

पूर्वोक्तं लक्षणं योजनिकोक्तसमस्तप्रमेयानुसन्धिपूर्वपूर्णाहुतिप्रयोगरूपम् । तं मन्त्रम् ॥

तदत्र मन्त्रोच्चारावसरे—

हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेत्तं वरानने ॥१२७५॥
यावत् सा समना शक्तिः

समनान्तस्य पाशत्वाद्धेयाध्वत्वम् । रेचयेदित्यूर्ध्वेन, इत्यर्थात् ॥

अथोपादेयाध्वप्रवेशप्रमुखां परतत्त्वविश्रान्तिरूपां योजनिकामाह—

तदूर्ध्वे चोन्मना स्मृता ।

मनो मननमात्ररूपमपि तत्र न क्रमते न सम्भवति, अपि तु मन्त्ररूपैवेयं दशेत्यर्थः । अत एवात्र प्राक्—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥' (४।४३७)

इत्युक्तम् ॥

यतश्चात्र मननं न क्रमते, अत एव—

नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः ॥१२७६॥

कालः क्षणादिपरार्धान्तः । कला निवृत्त्यादिशान्त्यतीतान्ताः । चारः प्राणवाहः । तत्त्वं तस्य भाव इति व्युत्पत्त्या तत्तद्भुवनावभासप्रमात्राद्यनुगत-तत्तत्सामान्याभासरूपम् । देवता ब्रह्माद्यनाश्रितान्ताः ॥१२७६॥

किं तर्हीदम्—

सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते ।

गुरोः परमशिवस्य वक्त्रं प्राप्त्युपायः । यदुक्तं **त्रिशिरोभैरवे**—

'गुरोर्गुरुतरा शक्तिः' इति ॥

अतश्च—

तदतीतं वरारोहे परं तत्त्वमनामयम् ॥१२७७॥

तामप्यतीतं तदीयपार्यन्तिकविश्रान्तिरूपम्, न पुनरसौ समनावदति-क्रमणीया भवति, सुनिर्वाणमित्यभिधानात् । वरारोहे इति प्राग्वत् । परं विश्वोत्तीर्णं विश्वमयत्वात् पूर्णं च । तस्य क्षित्यादेरुन्मनान्तस्य सर्वस्य भावश्चित्प्रकाशमयः स्वभाव इति व्युत्पत्त्या तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, न तु पृथ्वीतत्त्वादिवत् काठिन्यादिवेद्याभासरूपम् । अनामयमिति न विद्यत आमयोऽख्यातिर्यत्र तत् । उक्तं च **त्रिकसारे**—

'बिन्दुनादात्मकैर्देहैः शान्तैश्च शिवसम्भवैः ।
अतीतस्तु भवेद्देवो निरञ्जनः परः शिवः ॥'

इति ॥१२७७॥

यत एवमतः—

गुरुवक्त्रप्रयोगेण तस्मिन् योज्येत शाश्वते ।
निष्कम्पे कारणातीते विरजे निर्मले शुभे ॥१२७८॥
सर्वज्ञे परमे तत्त्वे व्योमातीते ह्यतीन्द्रिये ।

गुरुवक्त्रे उन्मनायां यः प्रकृष्टयोगः ऐकात्म्यं तेन—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत्' (४।४३७)

इत्युक्तरूपेण तदनुप्रवेशतदवष्टम्भात्मना । योज्येतेति स्वात्मना सह शिष्यात्मा तत्सामरस्यमाप्येत । यथोक्तम्—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेन्नित्यमविभागेन सर्वशः ॥' (४।४०२)

इति । शाश्वते नित्योदिते, अत एव निष्कम्पे सर्वदा व्यवहारदशास्वपि विमलचिद्घनैकरूपे । कारणानि ब्रह्माद्यनाश्रितान्तातीते तदनुभवविलक्षणेऽशेषविश्वाभासमय इत्यर्थः । अशेषविश्वप्रकाशमपि चैतन्न तेन विश्वेन मनागप्युपहितम्, तस्य विश्वस्य तत्प्रकाशैकरूपत्वादित्यतो विरजस्कत्वान्निर्मले । अतश्च शुभे परश्रेयःस्वभावे । सर्वं च तद् ज्ञं च तदिति सर्वज्ञं तस्मिन् विश्वाद्वयप्रकाशरूपे परमे तत्त्वे । व्योम्निः शून्यातिशून्यपदस्याप्यतीतमत्ययः प्रशमो यत्र तस्मिन् । अतीन्द्रिय इति सदा सर्वस्य सर्वत्र च स्वप्रकाशैकपरमार्थे ॥

उपसंहरति—

इत्यध्वा चैष वै प्रोक्तः समासेन यानघे ॥१२७९॥

चकारात् तच्छुद्धिपरिकर्मापि । एष इत्यध्वान्तरव्याप्तो भुवनाध्वा ॥१२७९॥

न चायं दीक्षायां शोधनार्थमेवेत्थमुक्तः, अपि त्वेतावत् समस्तप्रमेयकरणे परप्रमात्रावेशमपि ज्ञानशालिनामुन्मीलयतीत्याह—

ज्ञात्वा चैवं महादेवि प्रयाति परमं पदम् ।

एवमुक्तरूपमिमध्वानं यः कश्चित् प्रमेयतया परिच्छिनत्ति, स परां प्रमातृतामाविशति ॥

आचार्य पुनः—

देहे देवे च शिष्ये च कलशे ह्यग्निमध्यतः ॥११८०॥
एवं ज्ञात्वा वरारोहे मुच्यते मोचयत्यपि ।

साक्षात् स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणाम्' (मा०वि० ९।४९)

इत्युक्त्वाद् आदौ देहे वास्तवीं सर्वाध्वमयतां जानीयात्, येन तावदशेषाध्वशरीरः परभैरवाविष्टो भवति । ततो देवादावधिकरणचतुष्टये स्वाहम्भावाभेदप्रथां तथैव जानन् मुच्यते सर्वात्मकपरभैरवतामेति, तथाविधस्वात्माभेदेन चानुग्राह्यानपि पश्यन् मोचयति—

'मत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधीयते' (मा०वि० ९।५३)

इति स्थित्या परभैरवरूपानेव संपादयतीति शिवम् ॥१२८०॥

ग्रन्थग्रन्थिविभेदनं प्रतिपदं पूर्वापरालोचनं
तात्त्वी युक्तिरभङ्गुरान्तरबहिस्तत्त्वैक्यसन्दर्शनम् ।
सम्यक्सङ्कलनाः पुरेशविषयाः पूर्णाद्वयामर्शनं
स्वाच्छन्दे भुवनाध्वनीह तदियत्किञ्चिन्मया द्योतितम् ॥

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते भुवनाध्वदीक्षाविधिर्नाम
दशमः पटलः ॥ १० ॥

———

एकादशः पटलः

स्वस्वरूपात्मशक्त्यैव स्वाभिन्नं संसृजन् जगत् ।
संहरंश्च जगत्येकः स्वच्छन्दो बोधभैरवः ॥

यदुक्तम्—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टि································॥' (१०।१२५८)

इत्यादि, तन्निर्णाययिषुः पटलसंगतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

अध्वायं तु मया ज्ञातस्त्वत्प्रसादात् सुराधिप ।
जगत्सृष्टिस्त्वया देव सूचिता न तु वर्णिता ॥१॥

अयमिति भुवनात्मा । जगदिति देहगतबाह्यगततत्त्वाध्वरूपमेव । सूचितेति—

'नादबिन्द्वादिकं कार्यमित्यादिजगदुद्भवः' (१०।१२६४)

इति ॥

अतश्च त्वम्—

अध्वसृष्टिं महादेव कथय स्व प्रसादतः ।

हे महादेव अशेषविश्वप्रभो द्योतनादिसतत्त्व, स्व आत्मन्, प्रसादतोऽन्तर्नैर्मल्यगमनात् तात्त्विकार्थानिगूहनेनाध्वनः सृष्टिमुत्पत्तिं कथय । सृष्टिमित्युपलक्षणपरम्, स्थितिसंहारयोरप्यभिधास्यमानत्वात् ॥

एतन्निर्णयाय **श्रीभैरव उवाच**—

योऽसौ सूक्ष्मः परो देवः कारणं सर्वगः शिवः ॥२॥
निमित्तकारणं सोऽत्र कथितस्तव सुव्रते ।

योऽसाविति प्रतिपादितनिःसामान्यचिदानन्दघनः, परः सूक्ष्म इत्यन्तःकरणस्याप्यगोचरः, देवो द्योतनादिसतत्त्वः, कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽनेन कार्यमिति कारणं कर्ता विशेषानुपादानात् सर्वत्र, तथा कार्यतेऽनेन कार्यम्, कार्यतेऽस्मिन्निति च कारणं तेन स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'स्वतेजसा वरारोहे' (११।४)

इत्यादि । यच्च तदाभासयति, न तद् व्यतिरिक्तमित्याह—**सर्वग** इति । सर्वं गच्छति प्राप्नोति सर्वात्मतां गृह्णाति, अय च तद्गच्छति, आभासयति,

अधितिष्ठति च तावदशेषव्यापकतदनाच्छादितस्वप्रकाशतया । स्वप्रकाशस्यास्य सिद्धौ न वराकं प्रमाणमुपयुक्तम्, प्रत्युत एतदायत्ता प्रमाणादिवस्तुसिद्धिः। अतश्च शिव उन्मीलननिमीलनाद्यवस्थास्वपि श्रेयःस्वभाव एव इत्येवंभूतो यः, सोऽत्र जगति कर्तव्ये निमित्तकारणं तव सुव्रते तदद्वयसमापत्तिकारणभूते कथितः, न तु व्यापकत्वनित्यत्वमात्रेण दिक्कालादिसाधारणेन, नाप्युपादानाद्यपेक्षकार्यजनकत्वेन कुम्भकारादिसाधारणेन रूपेण यथा अन्येषामद्वैतोपदेशायोग्यानामुक्तः। एवमीश्वरस्यानीश्वरत्वमेवोपेतम् । यथोक्तमन्यैः—

[1]'ये त्वीश्वरं व्यपदिशन्ति निमित्तहेतुं
दत्तस्तिलाञ्जलिरमीभिरिहेशितायै ।
अन्याङ्गतोपगमनेन वशीकृतस्य
कामीश्वरस्थितिममी वत संगिरन्ते ॥'

इति । तस्माद्यथोक्तमेव साधु ॥

ननु निष्प्रयोजना न प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तिरस्ति, न चास्येयज्जन्तुचक्रायासदायां सृष्टौ किमपि प्रयोजनमुत्पश्याम इत्याशङ्कां शमयितुमाह—

अकामात् संसृजेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥३॥
स्वतेजसा वरारोहे व्योम संक्षोभ्य लीलया ।

अकामात् परिपूर्णत्वेन फलानभिलाषात्, लीलया स्वतन्त्रक्रीडयैव, सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत् जीवात्मकं निर्मिमीते; न तु जीवा नाम नित्याः केचित् संभवन्ति । एवं ह्यनादिमति संसारे जीवानामानन्त्येऽपि प्रतियुगमेकैकमुक्तौ संसारोच्छेद एव स्यात् । तेन परमेश्वर एव स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मात्रमूर्तिः—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति शिवसूत्रोक्तस्थित्या स्वरूपगोपनासतत्त्ववेद्यवेदकप्रपञ्चरूपं जगद् दर्पणनगरवदनतिरिक्तमप्यतिरिक्तमिवाभासयति । एवं च न कश्चिद्व्यतिरिक्तो जीवपदार्थोऽपि यदायासकत्वेन भगवतोऽप्रेक्षापूर्वकारिता स्यात् । ईदृशं च जगदसौ न व्यतिरिक्तेन कारणेन केनचित् प्रकाशयति, अपि तु स्वतेजसा—

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥'

इति **श्रीकालिकाकुलोक्त**स्थित्या व्योम उन्मनावरणं स्वस्वरूपमेव संक्षोभ्य—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्' (१०।१२५८)

---

१. स्पन्दप्रदीपिकायामागमरहस्यश्लोकत्वेनायमुद्धृतः ।

इत्युक्तदृशा व्यापिनीशक्तिसदाशिवादिभावाभावात्मकस्वशक्तिभित्तिभूतसमनाशक्तिभूमिकामाश्रित्य समनात्मकस्वशक्तिभित्तौ स्वशक्त्यैव परमेश्वरेण जगद् भास्यत इति तात्पर्यम् ॥

अतश्च यत्प्राक् कारणशब्दस्यार्थत्रयं व्याख्यातम्, तदेवेह स्फुटीभूतम्, अत एवात्र न व्यतिरिक्तमुपादानं किमपि, अपि तु तदेव व्योमेत्याह—

उपादानं तु तत्प्रोक्तं संक्षुब्धं समवायतः ॥४॥

तदेव व्यापकावरणस्वस्वरूपं व्योम समवायतो नित्याविभिन्नविमर्शमयपराशक्तिसंबन्धात् संक्षुब्धं भावितसंक्षोभं योग्यस्पर्शभूमिकाप्रदर्शनेन किञ्चिच्चलमिवेदन्ताभासोल्लासभित्तिभूतत्वावभासनेनोच्छलदिव। वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैवपरविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूपगोपनक्रीडा सदाशिवानाश्रितपदात्मकसर्वभावाभाससूत्रणभित्तिकल्पसमानरूपतया स्फुरति। इत्थं च करणाधिकरणोपादानरूपमशेषं विश्वकर्तुः परमेश्वरादभिन्नमेवेति प्रतिपादितं भवति ॥४॥

यथा च भगवता प्रकाशमानतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तमिव जगदाभास्यते, तथा तन्मध्यनियतपौर्वापर्यावभासात्मा महामायाशक्तिभूमौ मायापदे च विचित्रः कार्यकारणभावोऽपि प्रदर्श्यते यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः॥' (२।१।५)

इति ॥४॥

तदेतदुपपादयितुमाह—

तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात् स्पर्शसमुद्भवः।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्तव ॥५॥

तस्मात् समनाशक्तिरूपाद्व्योम्नः शून्यमनाश्रितभट्टारकान्ताशेषविश्वावभासप्रशमाभावावभासात्मकव्यापिनीपदमुत्पन्नम्। ततोऽपि प्रतिपादितरूपप्रसुप्तभुजगाकारशक्तितत्त्वात्मा स्पर्शः। इत्थमेकैव परमेशेच्छाशक्तिः परसूक्ष्मस्थूलरूपतया मेयाभाससूत्रणामयी समना व्यापिनी शक्तिरिति चोच्यते, एकस्यापीच्छायाः सूक्ष्मरूपज्ञानक्रियाशक्तिसंभेदेन त्रित्वात्। तस्मादपि शक्त्यात्मनः स्पर्शात् शून्यरूपवाच्यवाचकोभयात्मकस्य जगतो मध्यात् प्रथमं समस्तवाचकाविभागमयो नाद उत्पन्नः। संशब्देन उत्पाद्यमानस्य सर्वस्य कार्यस्य शक्त्यात्मककारणभित्तिसंलग्नतोच्यते। पूर्वमिति नादावरणरूपणाद्यवसरे ॥५॥

यश्चायं नाद उक्तः—

अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः।

स्वयमव्यक्तध्वनिरूपोऽपि वक्ष्यमाणैर्भेदैरष्टधा व्यक्तरूपतां प्राप्तः ॥

तद्यथा—

घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥६॥
झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ।

एते च धर्मशिवाचार्येण स्वपद्धतौ—

'एतेषां लक्षणं वच्मो गुरुपारम्परागतम्'

इत्युपक्रम्य इत्थं व्याख्याताः—

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः संप्रवर्तते ।
दीप्तवह्निस्वनाभासः स शब्दो घोष उच्यते ॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिणः ।
भिन्नकांस्यनिभो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः ॥
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत् ।
स नादः स्वन इत्युक्तस्तत्परः कथितो ह्यसौ ॥
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः ।
आत्मानं रावयन्नादः खे यथा भ्रमरीरवः ॥
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः ।
स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्तृभिस्ततः ॥
ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः ।
विपञ्च्याः पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः ॥
यथा व्यज्यत आकाशे सह षष्ठो ध्वनिसंज्ञितः ।
सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामिव साधुः यः ॥
मृदुस्तब्धं निनदति झाङ्कारः सप्तमस्त्वसौ ।
घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद्व्यज्यतेऽन्यथा ॥
तुङ्गमेघध्वनिनिभः सोऽष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः ।'

एषामष्टानामपि—

नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः ॥७॥
नदत्यसौ सदा यस्मात् सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

'शक्तिमध्यगतो नादो वंशनादान्तसंनिभः ।'

इति यो नादः प्रतिपादितः, स महाशब्दः सर्वेष्वन्तःसंज्ञबहिःसंज्ञेषु स्थावरादि-देवयोन्यन्तेषु भूतेष्ववस्थितः । अत एव हि—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कालो० १।५)

इत्याद्युक्तिप्रतिपादितया नादाख्यया विमर्शसत्तया सर्वेषां सत्त्वम् ॥

यत एवमतः—

तस्मात् सदाशिवो देवो व्यक्तो वै दृक्क्रियात्मकः ॥८॥

स एव नादो ज्ञानक्रियारूपसदाशिवभट्टारकाभिव्यक्तिसतत्त्व इत्यर्थः ॥८॥

अथास्मात्—

नादाद्बिन्दुः समुत्पन्नः सूर्यकोटिसमप्रभः ।

अन्तःकृतज्ञानशक्तिप्रधाननादपरामर्शः समस्तवेद्याविभक्तः क्रियाशक्त्यात्मा प्रकाशो बिन्दुः समस्तवेद्याविभिन्नप्रथत्वादेव सूर्यकोटिसमप्रभः ।'

स चैव दशधा ज्ञेयो दशतत्त्वफलप्रदः ॥९॥

दशधा वर्णरूपेण दशदैवतसंयुतः ।

क्रियाशक्तिप्रधानो बिन्दुरन्तर्गतेच्छाज्ञानशक्तिद्वयः, एकैकस्याश्च शक्तेः सर्वशक्तिसभेद इति नव शक्तयः, एतत्सामरस्यात्मा मुख्यो दशमः स्वभाव इति दशधात्वमस्य । तच्च—

'सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।
नीलं विचित्रवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम् ।' (१२।१५४)

इति द्वादशपटलवक्ष्यमाणवर्णस्वरूपभेदेन दशधा । तत्रैव —

'कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ।
पूर्वाननमभिध्यायेद्वायुभक्षस्य यत्फलम् ॥
तत्पुण्यफलमाप्नोति...................।' (१२।१२५-१२६)

इत्यादितत्पुरुषादिदेवतापञ्चकध्यानं तत्फलपञ्चकं च प्रतिपादयिष्यति । तथा तत्रैवान्तर्गतनादानुद्भिन्नाकारबिन्दुप्रकाशापेक्षया—

'घण्टानादस्य वा ध्यानात् सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत् ।
ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ॥
लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात् पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत् ससूक्ष्मलिङ्गं तनूपरि ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।
सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते ॥' (१२।१३८-१४०)

इत्यन्तर्गतनादाविभक्तप्रकाशबिद्वात्मषष्ठदेवताध्यानं तत्फलं च प्रतिपादयिष्यति ॥ तथा—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
कलाचतुष्टयोपेतो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः ॥' (१२।१५७)

इत्याद्यभिधास्यति । इत्थं दशदैवतसंयुतो निवृत्त्यादिकलाभिश्च सह दशतत्त्वफलप्रद इति व्याख्येयम् । टीकाकारैस्त्वेवमेतत्पूर्वापरमपरामृश्य—

'स चैव दशधा' (११।६)

इत्यादिर्विद्यातत्त्वविषयो ग्रन्थः, तत्र च षण्ठवर्णान् बिन्दुविसर्गौ च वर्जयित्वा-ऽकारादिवर्णदशकयुक्तत्वं तत्संभिन्नैकैककादिव्यञ्जनदेवतायोगाद्दशदैवतत्वम्, एतद्वर्णदशकाभिव्यक्तत्वात् सर्ववाङ्मयरूपं फलं दशधाऽत्रेति यत् स्वकल्पनया व्याकारि, तदुपेक्ष्यम् । विद्यातत्त्वविषयस्तु ग्रन्थः—

'तस्माद्विद्या ततो माया' (११।५४)

इत्यग्रे भविष्यति । एतदपि तैर्न परामृष्टम्, इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन ॥

अथ तस्मात्—

बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः सोऽष्टभेदाङ्गसंयुतः ॥१०॥
पञ्चब्रह्मकलाभिश्च विद्याङ्गैः शक्तिभिर्युतः ।
पञ्चभिश्च महाज्ञानैर्मूर्तिभिश्च समन्वितः ॥११॥

स सदाशिव इति यः पूर्वं भौवनेऽध्वनि बिन्द्वावरणादधः स्थूलरूप उक्तः, तस्यैव हि सकलाद्यष्टभेदैरङ्गैः परिवारैः पञ्चभिरीशानादिब्रह्मभिः सर्वज्ञत्वादि-रूपैर्वेदनप्रधानैः षड्भिरङ्गैर्वामाद्याभिर्विद्याद्याभिश्च शक्तिभिस्ताराद्यष्टात्रिंश-त्कलाभिः पञ्चवक्त्रोद्भूतस्रोतःपञ्चकरूपैर्महद्भिर्ज्ञानिशास्त्रैः ओंकारादिभिर्दश-भिर्विजयादिभिरष्टादशभिश्च मूर्तिभिर्व्यक्तत्वं पूर्वमभिहितम् । अतो यदन्यैर्बिन्दुः सदाशिव इति पठित्वा घोषाद्यष्टकाङ्गयुक्तनादाख्यसदाशिवरूपो बिन्दुरिति सामानाधिकरण्येन व्याख्यातम्, तदसत् ॥

किं च—

स एवापररूपेण परमात्मा शिवोऽव्ययः ।

यः पूर्वं परमकारणरूपोऽव्ययः शिव उक्तः, स एवापररूपेण सदाशिव-भट्टारकः, त्वसौ व्यतिरिक्त इत्यर्थः ॥

अतः—

द्विधावस्थः स च ज्ञेयः सोच्चारोच्चारवर्जितः ॥१२॥
मुद्रामन्त्रस्वरूपेण स एव च पुनर्द्विधा ।
क्रियाज्ञानस्वरूपेण इच्छारूपस्वरूपतः ॥१३॥

यः शिवोऽव्यय उक्तः, स द्विधा व्यापकत्वेनावस्थितो ज्ञेयो ज्ञातव्यः कथमित्याह—सहोच्चारेण ऊर्ध्वोच्चारणरूपेण बिन्दुनादादिपरामर्शात्मना रूपेण वर्तते, उच्चारवर्जितस्त्वशेषविश्वव्यापिपरमशिवात्मा स्वभावः, एतत्स्वरूप-प्राप्त्युपायात्मनापि मुद्रामन्त्रस्वरूपेण द्विधा । मुद्रा हि परतत्त्वप्रतिबिम्बभूता-ऽन्तःसंविद्द्रविणमुद्रणाद् मुदं रान्ती पाशमोचनभेदद्रावणकारिणी तत्तत्संनिवेश-रूपतया परस्फारमनुकुर्वती, तथा मन्त्रोऽप्यन्तर्गुप्तभाषणात्मकपरपरामर्शसतत्त्वेन

मननत्राणधर्मा परतत्त्वप्राप्त्युपायः परमेशात्मैव । परमेश्वर एव ह्युपेयपदवदुपायरूपतया स्फुरितः । किं च, क्रियाशक्तिप्रधानेनेश्वरभट्टारकात्मना ज्ञानशक्तिप्रधानेन च सदाशिवभट्टारकात्मना स एव स्फुरितः, तथेच्छाशक्त्यात्मनाऽनाश्रितरूपेण स्वरूपेण च शक्तिमद्रूपपरमशिवात्मना ॥१३॥

न केवलमित्थमुपेयात्मनोपायात्मतया शक्तिवैचित्र्येण भगवानेवं भाति, यावत् समस्तशास्त्रीयलौकिकव्यवहारगतसर्ववाचकात्मतया तद्वाच्यवस्त्वात्मतया चेत्याह—

शब्दावबोधरूपेण वस्तुरूपस्वरूपतः ।

शब्दरूपेण तदवबोधरूपेण तथा शब्दवाच्यवस्तुरूपेण स्वरूपेण च पूर्णचिदात्मनेत्यर्थः । स्वरूपेणेत्युक्तेरिदमाकूतं यदशेषशब्दार्थचिन्तारूपतया स्फुरन्नपि परमेश्वरोऽपरिम्लानचिदानन्दघन एवेति सर्वमिदं परभैरवाद्वैतरूपमेव । तदुक्तं **मयैव**—

हेयं केचन मन्वते जगदिदं बाह्यं तनुस्थं परे
नैश्वर्यान्तनिवेशकेऽप्यथ परे देहे परस्मिन् स्थितौ ।(?)
भिन्नं भाति न जातु यत्पुनरिदं चिद्भानुभासस्ततो
भाभिर्भामि निजाभिराभिरभितो विश्वात्मभिर्भैरवः ॥

इति । येषां तु परमेशमायाशक्त्यावृतत्वादेतत्प्रथायोग्यता नास्ति, तदभिप्रायेण—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४३२)

इत्याद्युक्तमिति न पूर्वापरवैषम्यं किंचित् ॥

तदित्थम्—

स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः ॥१४॥
व्योमरूपस्वरूपेण समनोन्मन एव च ।
उन्मनातीतो देवेशि शिवो ज्ञेयः शिवागमे ॥१५॥

योऽसावुन्मनाक्रमं जानामीत्युक्तामुन्मनाशक्तिमतिशयेनेतः प्राप्तस्तद्द्वाराधिरूढः शक्तिमदात्मा शिवागमे शिवः श्रेयःस्वभाव उच्यते, स्थूलो भूम्यादिप्रकृत्यन्तेन रूपेण, सूक्ष्मः पुमादिमायान्तेन, परः शुद्धविद्यादिशक्तितत्त्वान्तेन स्फुरितस्तथा व्योमरूपेणानाश्रितात्मना स्वरूपेण, किं च, समनोन्मने शक्ती विद्येते यस्यासौ समनोन्मनस्तद्रूपीत्यर्थः, अशेषविश्वात्मना परमेश एव स्फुरतीति यावत् ॥

एवं स्थूलाद्युन्मनान्तं विश्वं परमेशमयमेवेत्युसंहारदृष्ट्योक्त्वा प्रसरक्रमेणापि तत्तत्कारणात्मना स एव स्फुरतीत्यादिशति—

उन्मनासमनास्थानं शिवेन समधिष्ठितम् ।
पञ्चकारणरूपेण तदधः पुनरेव सः ॥१६॥

तिष्ठत्यस्मिन् विश्वमिति स्थानमुन्मनारूपं स्वातन्त्र्यशक्तिरूपम्, तत्स्वातन्त्र्यावभासितं च यद् भावाभावरूपाशेषसूत्रणात्म समनारूपं स्थानं तत् शिवेन सम्यगधिष्ठितं स्वभित्तौ स्वाभेदेनावभासितमित्यर्थः। तस्याः समनाया अध इति व्याप्यात्मनि शून्यातिशून्ये पदे चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकप्रधानेनानाश्रितादिव्याप्यन्तपञ्चकारणरूपेण स एव शिवः पुनरपि स्थितः, न पुनरनाश्रितादयस्तद्व्यतिरिक्ताः केचित् ॥१६॥

किं चैतत्—

कारणं पञ्चकं देवि अधिष्ठाय त्वधस्ततः।

ततोऽनाश्रितादिपञ्चकारणात्मनो रूपादधः शक्तिब्रह्मबिलसुषुम्नानादनादान्तबिन्दुपदान्यधिष्ठायाभेदेन तद्भूमीराभास्यैतत्कारणपञ्चकं स्थितमित्यनुषङ्गः॥

एतद्विभजति—

व्यापकः शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारमनाश्रितः॥१७॥
अनन्तश्च सुषुम्नेशस्त्वनाथश्चोर्ध्वगस्तथा।
व्योमरूपी महादेवि बिन्द्वीशः परिकीर्तितः॥१८॥

व्यापक इति व्यापिभट्टारकः प्रपञ्चव्याप्त्या, शक्तिमूर्धस्थ इति शक्त्यावरणरूपो यो मूर्धा तत्स्थ इति तद्गतः

'स्थूल सूक्ष्मः' (११।१४)

इत्युक्तकारणपञ्चकात्मतया स्फुरितः, तथानाश्रितभट्टारको बिलद्वारमिति तदधिष्ठातृब्रह्मरूपः, एवमनन्तः सुषुम्नावरणाधिष्ठातृसुषुम्नेषरूपः, अनाथ ऊर्ध्वग इति नादान्ताधिष्ठात्रूर्ध्वगेशरूपः, व्योमभट्टारकोऽपि बिन्द्वावरणगतशान्त्यतीताख्यबिन्द्वीशमूर्तिः। ननु चानाहतानाथानन्तव्योमव्यापिनो ये पूर्वमुद्दिष्टास्ते यद्युत्तरा भूमीरानुलोम्येन भजन्ते, तदनाश्रितः। शक्तिमूर्धस्थ इत्याद्युक्त्या भवितव्यम्। अथ प्रातिलोम्येन तथा—

'व्यापी तु शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारं खरूपकः'

इत्यादि दर्शनीयम्, तत्कोऽत्र क्रमः। एक एव पञ्चशक्तिसामरस्यात् परमेश्वरो यथास्वातन्त्र्यमनाश्रितादिव्याप्यन्तकारणपञ्चकरूपतां प्रपञ्चव्याप्त्या श्रित्वा शक्त्यादिबिन्द्वावरणगततत्तदीशमूर्तिरूपतयापि स्फुरितः, न त्वत्रानुलोम्यं वा किंचित्, अपि त्वक्रम एवात्र क्रमो वास्तवेन वृत्तेन सर्वेषां भगवदेकमयत्वादित्याशयेनायमीदृशः क्रमोऽत्र प्रदर्शितः। एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यम्। तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥' (१।७।१)

इति ॥१८॥

इमामेवाभेदसारां प्रपञ्चव्याप्तिं सार्धश्लोकेन प्रदर्शयति—

अनाश्रितः स्वयं ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थितः ।
अनाथो विष्णुरित्युक्तस्त्वनन्तो रुद्र एव च ॥१९॥
व्योमरूपीश्वरः प्रोक्तो व्यापी चैव सदाशिवः ।

अनाश्रितभट्टारक एव स्वयं साक्षाद्ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थित इति भूरादिब्रह्मलोकान्तमित्यर्थात् ॥

किं च—

व्यापकश्च पुनर्देवि हाटकः परमेश्वरः ॥२०॥
विद्यामन्त्रगणैर्युक्तः सप्तपातालनायकः ।
अनन्तश्चैव देवेशि रुद्रः कालाग्निविग्रहः ॥२१॥
अनाथोऽनन्तरूपेण स्थितश्चाध्वनि धारकः ।
अनाश्रितो महादेवि स्थितो वै हूहुकः प्रभुः ॥२२॥

अनन्तरूपेणेति कर्परिकाधोगतानन्तभट्टारकात्मना, अध्वनीति कर्परिका-पर्यन्ते । हूहुक इति पूर्वोक्तानन्तभुवनान्तवर्ती । तदेवं स्थूलेन हूहुकादिना सूक्ष्मेण ब्रह्मादिना च पञ्चकेनैक एव परमेश्वरः पूर्वोक्तपञ्चशक्त्यात्मा स्वच्छन्दनाथः प्रपञ्चव्याप्त्या स्फुरित इत्यनेनापि आशयेन—

'स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः' (११।१४)

इति श्लोकार्धं संगमयितव्यम् । अनाश्रितादिपञ्चकस्यैवं प्रपञ्चव्याप्तिं तथा सर्वादेरनाश्रितनाथस्य सर्वान्तहूहुकनाथरूपतां प्रदर्शयन् सर्वमिदं निरञ्जन-सतत्त्वमेवेति शिक्षयति, वस्तुनोऽनाश्रितभट्टारकस्य निरञ्जनपरभैरवस्वरूपा-व्यतिरेकात् ॥२२॥

यदाह—

स्वशक्त्याश्रितः स भगवांस्तेन गीतस्त्वनाश्रितः ।

स्वा विशेषानुपादानाद् विश्वस्य प्रभवभूता या पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य-शक्तिस्तामाश्रितः साक्षात्तद्वित्तौ तदविभिन्नस्फारतया स्फुरति । परमेश्वरा हीच्छाशक्त्यात्मनाऽनाश्रितभट्टारकः स्वरूपकल्प एव । यदाह **श्रीप्रत्यभिज्ञा-कारः**—

'**सा द्वितीयैव शिवता**' इति ॥

अतश्च—

तस्याश्रितं जगत्सर्वमुन्मन्यन्तं वरानने ॥२३॥

उन्मनी शक्तिरन्ते यस्य समनावधेर्जगतः, तत् तस्य आश्रितमनाश्रित-भट्टारकरूपशिवतत्त्वाश्रितमित्यर्थः ॥२३॥

यथा च पारमेशीं परां विश्वधारिकां स्वातन्त्र्यशक्तिभित्तिमाश्रित्या-नाश्रितनाथः, तथा च परमूर्तिर्हूहुकभट्टारकोऽपि तामेवाश्रित्य स्थित इत्याह—

संस्थितश्चाम्भसो मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः ।

शक्त्याधार इत्यपरशक्त्याश्रयः । अम्भसो मूर्ध्नीत्यनेनास्य देशनिर्देशः । यत् श्रीमुल्लकः शक्त्याधार इति ब्रह्माण्डकर्परिकारूपाधारशक्त्याश्रय इतीहापि व्याकर्षीत्, तदस्य विस्मृतवस्तुसमर्थनचरमेवेत्युपेक्ष्यम् ॥

किं च—

अप्तत्त्वं चैव तदध आग्नेयं तदनन्तरम् ॥॥२४॥
वायव्यं नाभसं चैव मन्मात्राणीन्द्रियाणि च । त
विषयाश्च मनश्चैव अहङ्कारस्त्वनुक्रमात् ॥२५॥
बौद्धं गौणं च देवेशि प्राकृतं पौरुषं तथा ।
नियतिः कालरागौ च विद्या चैव कला तथा ॥२६॥
मायातत्त्वं तथा विद्या ईश्वरश्च सदाशिवः ।
बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधी च नादो नाडी त्वतः परम् ॥२७॥
अधो ब्रह्मबिलं देवि शक्तितत्त्वं ततः परम् ।
पञ्चकारणसंयुक्ता व्यापिनी च ततः परम् ॥२८॥
समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये ।

विषया इति ये पूर्वं रश्म्यावरणगता उक्तास्त इह विषयाकारतया स्थिताः । ततश्च यदाह श्रीभुल्लको विषया महाभूतस्वरूपा एवेहेन्द्रियग्राह्या इन्द्रियोक्त्यनुषङ्गेण प्रसङ्गादुक्ता इति, तदसत् । बौद्धमित्यादौ तत्त्वमिति योजनीयम् । नाडीति सुषुम्नावरणगता च सुषुम्नैव । अधो ब्रह्मबिलमित्यपास्य ऊर्ध्वं ब्रह्मबिलमिति टीकाकारपाठो न साधुः ऊर्ध्ववदधोऽपि सुषुम्नान्तस्याध्वनो ब्रह्मबिलव्याप्तत्वात् पृथिव्यादितत्त्वानामुत्तरोत्तरमन्तर्बहिर्व्याप्त्यवस्थित्या प्रतिपादितत्वात् । उन्मनाया विशेषणं प्रक्रियाण्डैर्युतेति प्रोक्तया प्रक्रियया स्थिता अण्डा ब्रह्माण्डप्रकृत्यण्डमायाण्डशक्त्यण्डास्तैर्युता संबद्धा । ते हि सर्वे तदेकाश्रयाः ॥

एतत् संकलयति—

एवं वै प्रक्रियाण्डं तु अधोर्ध्वं संव्यवस्थितम् ॥२९॥

प्रोक्तप्रक्रिया स्थितं यदण्डमित्येकवचनाद् मायाण्डं शक्त्यण्डं चैकरूपम्, तदध ऊर्ध्वं चान्तर्वर्तिततत्तत्त्वगर्भीकारेण सम्यक् सबाह्याभ्यन्तरव्याप्त्या विशेषेणावस्थितम् ॥

किं शक्त्यण्डमायाण्डद्वयमेवान्तर्वर्तितत्तत्त्वोर्ध्वाधरादिव्याप्त्या स्थितम्, नेत्याह—

एवंविधान्यधोऽधो वै ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः ।

एवंविधानीति बहुवचनेन मायाण्डान्तर्गतप्रकृत्यण्डब्रह्माण्डपरामर्शस्तेषां बहुत्वात् । तदुक्तं **श्रीमालिनीविजये**—

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकमेकं पृथग् द्वयम्' (२।५०)

इति । एवंविधानीत्युक्तिः 'अधोऽध ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः' इत्यनेन व्याख्याता ॥

बहुवचनसूचितमनेकत्वं स्फुटयति—

यथा आत्माणवो देवि असंख्याता व्यवस्थिताः ॥३०॥
एवं वै प्रक्रियाण्डानि त्वसंख्येयान्यनेकशः ।

व्यवस्थिता इति ऐश्वर्या मायाशक्त्या तथा संकुचितत्वेन आभासनादित्यर्थः । प्रकृत्यण्डानीति बहुवचनात् प्रकृत्यण्डब्रह्माण्डरूपाणीत्युक्तमेव ॥

तर्हि तान्यपि विभागेन किं न वर्ण्यन्ते ।

यतः—

एकेन वर्णितेनेह सर्वोऽध्वा वर्णितः प्रिये ॥३१॥
यथा ह्येकं तथा सर्वं प्रक्रियाण्डं स्थितं प्रिये ।
सर्वेषां प्रक्रियाण्डानां स्वस्वरूपेण सुव्रते ॥३२॥
व्यापकस्तु शिवः सूक्ष्मः सबाह्याभ्यन्तरं स्थितः ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तः सर्वकारणवर्जितः ॥३३॥
सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः प्रपञ्चातीतगोचरः ।

स्वेनापायिचित्प्रकाशात्मना स्वरूपेण सर्वेषां सूक्ष्मः शिव इति परमशिवभट्टारको बहिरन्तश्च व्यापकः स्थितश्चित्प्रकाशात्मकपरमशिवरूपतां विना कस्यापि सत्तासिद्धेः शिवमयमेव विश्वमित्यर्थः । शिवसदाशिवेश्वरादीनामधराधरापेक्षया यथोत्थानमतिशयोऽस्ति । परमशिवस्तु चित्प्रकाशमात्रात्मतया महासत्तात्मा महासामान्यरूप इत्येतदन्यस्यातिशयावधेरभावात् सर्वातिशयैर्निर्मुक्तः सर्वकारणं सर्वकारणवर्जितश्च नित्योदितचिदेकमूर्तिरिति तन्त्रेण व्याख्येयम् यतः सृष्टिसंहाराभ्यां निर्मुक्तः । सर्वस्य हि जगत एष एव भगवान् स्वच्छस्वच्छन्दचिदेकमूर्तिः स्रष्टा संहर्ता च, न त्वस्याप्यन्यस्तस्य कल्प्यमानस्यापि एतत्प्रकाशात्मतां विनाऽनुपपत्तेः । किं चायं प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतः स्वचित्प्रकाशैकमयत्वेनैव प्रकाशमानो गोचरो जगदात्मा सर्वो विषयो यस्य । तदुक्तं **श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्** —

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु' (२।१।७)
इति ॥

किं चायम्—

निर्मलो विमलः शान्तस्त्वध ऊर्ध्वं व्यवस्थितः ॥३४॥

निर्गता आणवाद्या मला यस्मात् तथाभूतोऽसौ, विमलः चित्प्रकाशैकमूर्तिः, अतश्च समस्तभेदोपशमात् शान्तः, तथापि च स एवाध इति मायादिक्षित्यन्ततया, ऊर्ध्वं च शुद्धविद्यादिशिवान्ततया, विविधेन रूपेणावस्थितः, नहि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ताऽस्तीत्युक्तत्वात् ॥३४॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति—

आकाशस्य यथा नोर्ध्वं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
एवं सर्वगतो देवः शिवः परमकारणम् ॥३५॥
व्याप्य देवि जगत्सर्वं व्योमसु व्योमवत् स्थितः ।

व्योमसु गृहघटाद्यवच्छिन्नेष्वाकाशप्रदेशेषु यथा व्योमाभेदमयमेव स्थितम्, तथा जगत्सर्वं प्रकाशमानत्वात् प्रकाशमयं चित्प्रकाशात्मा शिवोऽभेदेन व्याप्य स्थितः । अत एवास्य देशकालादिकृत ऊर्ध्वमध्याधरभेदो न कश्चित् ॥

एतदेवाद्वयज्ञानं परमोपादेयमित्याह—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे न भूयो जन्मभाग् भवेत् ॥३६॥

एवं शिवभट्टारकस्यैव स्वप्रकाशमयसमस्तजगदभेदव्याप्तिं प्रदर्श्य, तत्प्रपञ्चरूपाणां ब्रह्मादीनां यावती व्याप्तिस्तामपि दर्शयति—

कारणानां पुनर्व्याप्तिं कथयामि समासतः ।

पूर्वमनाश्रितादेः परमकारणपञ्चकस्य हृद्दकान्तं व्याप्यव्यापकभावो दर्शितः, इदानीं तु तस्यैवापररूपतया ब्रह्मादिपञ्चकरूपस्य तत्त्वाद्यधिष्ठानद्वारिका व्याप्तिः प्रदर्श्यते—

तत्त्वे तु पार्थिवे ब्रह्मा अधिष्ठाता व्यवस्थितः ॥३७॥
अप्तत्त्वे तु स्थितो विष्णू रुद्रस्तेजसि संस्थितः ।
ईश्वरो वायुतत्त्वे तु आकाशे तु सदाशिवः ॥३८॥

व्यवस्थितः पूर्वम्—

'कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि' (५।१३)

इत्युक्तत्वात् प्रतिष्ठादिकलाव्याप्ततत्त्वानुसा(य्)यप्तत्त्वादितत्त्वस्वरूपं मन्तव्यम् ॥३८॥

आदित्यश्च स्मृतो ब्रह्मा सोमो विष्णुश्च सुव्रते ।
ग्रहाणामधिपो रुद्रो नक्षत्राणां तथेश्वरः ॥३९॥

यजमानस्तु देवेशि स्वयं देवः सदाशिवः।

इह पृथिव्यादिपञ्चकं सूर्यः सोमो यजमानश्चेति याऽष्टौ महेश्वरस्य मूर्तयः, ततः कलाव्याप्तिसतत्त्वं मेयरूपं पृथिव्यादिमूर्तिपञ्चकं ब्रह्मादिकारणै-रधिष्ठितमित्युक्तम। यत्तु करणपक्षे निविष्टा च याजमानी मूर्तिः पञ्चमीति, तत्रापि ब्रह्माद्यधिष्ठितत्वमुक्तम्। आदित्य इति प्राणो दक्षिणस्रोतश्च। सोमोऽपानो वामस्रोतश्च। ग्रहनक्षत्राधिपौ बाह्यौ सोमसूर्यौ प्रमेयप्रकाशेनोप-युक्तौ। सदाशिवस्य यजमानत्वमशेषप्रमेयप्रमाणाधिष्ठातृपरप्रमातृमयत्वात्॥

समस्तमहेश्वरमूर्त्यधिष्ठातारो ये ब्रह्मादयस्तेऽपि सद्यआदिभगवन्मन्त्रमया एवेतीत्थमपि परमेश्वराद्वयमयमेव जगदित्यादिशति—

सद्योजातस्तु वै ब्रह्मा वामो विष्णुः प्रकीर्तितः॥४०॥
अघोरो रुद्र इत्युक्तस्तथा पुरुष ईश्वरः।
ईशानस्तु वरारोहे स्वयं देवः सदाशिवः॥४१॥

यच्चैतद् ब्रह्माद्यधिष्ठातृ भगवच्छक्तिरूपं सद्यआदिमन्त्रपञ्चकम्, तदेव वेदादिसमस्तशास्त्रप्रपञ्चरूपमित्याह—

सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुः स्मृतः।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते॥४२॥
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः।

ऋगादिवेदाः प्रत्येकं कर्मदेवताज्ञानकाण्डात्मका मन्तव्याः। सर्वविद्यात्मक इत्युक्त्या प्रोक्तोऽपि प्रविभागोऽस्यैव भगवतः प्रपञ्च इति शास्त्रक्रमेणापि भगवदद्वयमयमेव जगत्॥

ज्ञानक्रमेणाप्यद्वैतमित्याह—

लौकिकं देवि विज्ञानं सद्योजाताद्विनिर्गतम्॥४३॥
वैदिकं वामदेवात्तु आध्यात्मिकमघोरतः।
पुरुषाच्चातिमार्गाख्यं निर्गतं तु वरानने॥४४॥
मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम्।

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यायुर्वेदधनुर्वेदनाट्यवेदादिप्रतिपाद्यकृषिनयानय-चिकित्सादिविज्ञानम्। वैदिकं नित्यनैमित्तिककाम्ययज्ञादिस्वरूपम्। आध्यात्मिकं सांख्ययोगादिप्रतिपादितप्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानसर्ववृत्तिनिरोधज्ञानादिकम्। आतिमार्गिकं वेदसांख्ययोगाद्युक्तोपासात्मकप्रसिद्धमार्गातिक्रान्तं सामान्येन पारमेशशास्त्रप्रतिपादितविविधमुद्रामण्डलक्रियाद्युपायरूपं विज्ञानमिहाभिप्रेतम्, नतु विशिष्टं चतुष्टयात्। मन्त्राख्यमिति तत्रैव पारमेशेषु शास्त्रेषु पञ्चप्रणवा-धिकारप्रतिपादितनीत्या मन्त्रेषु आ समन्तात् ख्यानं यस्य तथाभूतं यन्महाज्ञानं

मन्त्रवीर्यं ज्ञानपादप्रोक्तक्रियादितन्त्रात्मकविज्ञानाद्वैलक्षण्येनानुभवसारतां मन्त्राणां प्रथयति ॥

पञ्चतत्त्वाधिष्ठानद्वारेण विश्वाधिष्ठातृत्वं ब्रह्मादिकारणपञ्चकस्योक्तम्, वितत्य तु प्रतिपादयितुमाह—

तथा तत्त्वविभागेन पुनश्च शृणु सुव्रते ॥४५॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि ब्रह्मा व्याप्य व्यवस्थितः ।
प्रधानान्तं तु देवेशि

गुणतत्त्वस्य पृथगविवक्षितत्वात् चतुर्विंशतितत्त्वानि व्याप्येति प्राग्वदभेदेनाधिष्ठाय, अत एव प्रतिपादितहृदयविषयाऽऽलोचनादिसृष्टिकारिणी ब्राह्मी व्याप्तिरस्तीति तत्र तत्रोच्यते ॥

पौरुषं तु जनार्दनः ॥४६॥
नियतेरथ मायान्तं रुद्रो व्याप्य व्यवस्थितः ।
विद्या तथैश्वरं तत्त्वं व्याप्तं चैवेश्वरेण तु ॥४७॥
ऊर्ध्वं सदाशिवो देवः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।

ऊर्ध्वमिति सदाशिवशक्तिशिवाख्यं तत्त्वत्रयम् । सदाशिव इत्यनाश्रितपरव्याप्त्येत्यर्थः ॥

आत्मविद्याशिवाख्यतत्त्वत्रयविभागेन च कारणानां विश्वाधिष्ठितत्वमाह—

तत्त्वत्रयविभागेन पुनर्वक्ष्यामि सुव्रते ॥४८॥

कारणव्याप्तिमिति शेषः ॥४८॥

तत्र—

आत्मतत्त्वे तु वै ब्रह्मा मायान्ते च व्यवस्थितः ।
विद्यातत्त्वे तथा विष्णुर्यावत् सादाख्यगोचरम् ॥४९॥
शिवतत्त्वे तथा रुद्रो विज्ञेयस्तु वरानने ।
सादाख्यमूर्ध्वमध्वानं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ॥५०॥

सादाख्यगोचरमिति सदाशिवतत्त्वम् । सर्वमिति शिवतत्त्वान्त एव ब्रह्मविष्णुरुद्रान्ता ब्रह्मणो व्याप्तिः, ईश्वरसदाशिवान्ता विष्णोः, शिवरूपा रुद्रस्येति कारणपञ्चकस्याप्यनया भङ्ग्याऽभेद एव दर्शितः ॥५०॥

न केवलं कारणपञ्चकमेतावत्कारणत्रयव्याप्तिसतत्त्वम्, यावत्कारणत्रयमपि पारमेशरौद्र्यादिशक्तित्रयपरमार्थमित्याह—

रौद्र्या अधिष्ठितात्मा वै स रुद्रः परिकीर्तितः ।
व्याप्तश्च वामया विष्णुर्ज्येष्ठया च पितामहः ॥५१॥

समस्तरुग्द्रावणाद् विश्ववमनादभेदप्राधान्यप्राशस्त्यप्रकर्षाच्च रौद्रीवामाज्येष्ठाख्या याः शक्तयस्तासामधिष्ठाने क्रमव्यतिक्रमः परमार्थाद्वयक्रमवस्तुतत्त्वप्रदर्शनाय ॥५१॥

किं च—

ज्ञानशक्तिः स्मृतो ब्रह्मा क्रियाशक्तिर्जनार्दनः ।
इच्छाशक्तिः परो रुद्रः

परशब्दस्त्रिष्वपि संबध्यते । अत्रापि क्रमान्यथात्वे प्रोक्त एवाशयः ॥

यश्चायं परो रुद्रः—

स शिवः परिगीयते ॥५२॥
विष्णुः सदाशिवो देवो ब्रह्मा चैवेश्वरस्तथा ।

एवं शक्तित्रयेणापरं कारणत्रयमिव तद्व्यापकं परमपि कारणत्रयमधिष्ठितमित्युक्तं भवति ॥

तदित्थमुपायोपेयाद्यैकात्म्योक्त्या कारणगताधिष्ठात्रधिष्ठेयमुखेन समस्ताध्वव्याप्त्या मूर्त्यष्टकाधिष्ठितयुक्त्या वाचकमुखेन तज्ज्ञानदृष्ट्या तद्वाच्यषट्त्रिंशत्पञ्चत्रिंशत्तत्त्वभेदोक्तिद्वारेण शक्तित्रयाधिष्ठाननिरूपणक्रमेण च परभैरवाद्वयमयं जगदिति व्याप्यव्यापकसतत्त्वप्रदर्शनेन परमौपनिषदिकमर्थं प्रपञ्चप्रक्रान्तजगत्सृष्ट्यपेक्षं कार्यकारणविभागवैचित्र्यमेवानुबध्नाति—

सदाशिवः शिवाद्देवि उत्पन्नः प्रभुरीश्वरः ॥५३॥

यद्यपि—

'बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः' (११।१०)

इति प्रागुपक्षिप्तम्, तथापि प्रतिपादितव्याप्यव्यापकभावपरमार्थदृशा बिन्दुपर्यन्ते प्रसृत्य शिवभट्टारक एव प्रपञ्चव्याप्त्या सदाशिव ईश्वरश्च प्रभुः संपन्न इत्यत्र तात्पर्यम् ॥५३॥

तस्माद्विद्या ततो माया

तत इति विद्यातत्त्वात् । एषां च तत्त्वानामुत्पत्तिक्रमे युक्तिः पूर्वमेव दर्शिता ॥

किं च—

विद्यायाः पुनरीश्वरः ।
ज्ञानशक्तिकराग्रेण स्वेच्छया परमेश्वरः ॥५४॥
सप्त कोटीस्तु मन्त्राणां सृजेज्ज्ञानक्रियात्मिकाः ।
'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका परा' (१०।११४४)

इति पूर्वमुक्तस्वरूपाया विद्यायाः सकाशात् परमेश्वर इति परमशिवस्वरूप ईश्वरभट्टारकः स्वेच्छामात्रेणानुग्रहाख्यकृत्यप्रपञ्चनार्थं ज्ञानशक्तिरेव कराग्रं तेन सप्त कोटीर्मन्त्राणां मननत्राणसतत्त्वानां सृजति। ज्ञानशक्तिकरणत्वात् सृज्यमानत्वाच्चैताः कारणानुगुण्येन ज्ञानक्रियात्मिका इति पूर्णज्ञानक्रियासतत्त्वा भोगमोक्षप्रदाः ॥

परमेश्वर इति विशेषणेनेश्वरस्य परमशिवरूपत्वमुक्तं यतस्तत एव तत्सृष्टानां मन्त्राणामणुशक्तिशंभुपक्षतया सर्वत्रैवानुग्रहार्थमवस्थितत्वमस्तीत्याह—

ते च सादाख्यपर्यन्ते पार्थिवाद्ये तु सुव्रते ॥५५॥
अनुग्रहं प्रकुर्वन्ति देहिनां भुवने स्थिताः।

पृथ्व्याद्यनाश्रितान्ते यानि भुवनानि, तेषु स्थिताः सन्तो देहिनां भोगमोक्षरूपमनुग्रहं प्रकर्षेणानवरतं कुर्वन्ति ॥

एते च—

शिवशक्तिसमाविष्टास्त्रिनेत्राश्चन्द्रमौलयः ॥५६॥

शिवशक्तिसमाविष्टत्वादेवैषामनुग्रहकर्तृत्वम् ॥५६॥

युक्तं चैतद्यतः—

रुद्रमूर्तिभिरेकोऽसौ शिवः परमकारणम्।
जगद्व्याप्य स्थितो मायी शूलपाणिरनेकधा ॥५७॥

रुद्राः सर्वरुग्द्राविणो मन्त्राः। एकोऽप्यनेकधा रुद्रमूर्तिभिर्जगद्व्याप्य स्थित इत्यत्र विशेषणद्वारको हेतुर्मायीति। स्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या ह्यसावनुग्रहाख्यकृत्यनिर्वाहाय नानारुद्रमूर्तिभिः स्फुरितः। मायाशक्त्यैव वक्ष्यमाणजगद्रूपतया परमेश्वरः स्वाभासस्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरः स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् स्वानधिकेनाप्यधिकेनेव केन नाम रूपेण न भवतीत्युक्तमसकृत्, अतो यत् श्रीसद्योज्योतिषा उक्तम्—

'एकः शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ योग्यौ।
बहुधा स्थातुं यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥' (त०सं० ४५)

इति, तत् प्रोक्तश्रुतियुक्तिभ्यां बाधितत्वादपर्यालोचिताद्वयवादसतत्त्वमित्युपेक्ष्यमेव ॥५७॥

किं चायमाश्रितानन्तभट्टारकमूर्तिः—

ज्ञानशक्त्या पुनश्चैव समालोक्य वरानने।
इच्छाशक्त्या समाविष्टः क्रियाशक्त्या तु सुव्रते ॥५८॥
मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभुतयाव्ययम्।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ॥५९॥

जगतः कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य यद्बीजं कारणं मायातत्त्वं नित्यमिति तच्छक्तेरनिदंप्रथमिकतया प्रवृत्तत्वात्, अत एव चाव्ययम्, न तु तत्त्वात्मतया तन्नित्यमविनाशि च भवति, 'ततो माया' इत्युक्तत्वात्, तत्संहारस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्; एवंभूतं यद् मायातत्त्वं तत्स्थमिति तद्वशाद्गोपितज्ञानक्रियारूपमात्मवर्गं कृत्वेति स्वभित्तावाभास्य, पुनश्च तं तथाविधं ज्ञानशक्त्या समालोक्य युगपदक्रममेव क्षोभयेदिति सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वनैराकांक्ष्याकालकलितत्वसार्वात्म्यरूपाद्धर्माद् अपरामर्शनमयकिञ्चित्कर्तृत्वकिंचिज्ज्ञत्वसाकांक्षत्वकालकलितत्वनियतोत्थापककलाविद्यारागकालनियत्यात्मककञ्चुककलनापुरःसरं प्रधानकारणकार्यपरवशं संपादयति परमेश्वरः। कीदृगसावित्याह—इच्छाशक्त्या क्रियाशक्त्या च समाविष्टः,

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते॥' (३।८)

इति **श्रीमालिनीविजय**निर्दिष्टनीत्येच्छामात्रानन्तरमेव क्रियाशक्त्याऽऽभासयतीत्यर्थः॥५९॥

युगपत्क्षोभयेदित्युक्तिं दृष्टान्तेन परिघटयति—

हेलादण्डाहतायाश्च बदर्या वा फलानि तु।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च निर्गच्छन्ति समासतः॥६०॥

वाशब्द इवार्थे। बदर्या इव फलानि मायाया आत्मानः समनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यगूर्ध्वाधरभूमीर्गच्छन्ति॥६०॥

तत्र—

मुक्तेस्तु भाजनं येऽत्र अनुध्याताः शिवेन तु।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते सर्वे शिवं परमनिर्मलम्॥६१॥

अनुध्याता इति कृतशक्तिपाताः। यदुक्तं **श्रीश्रीकण्ठ्याम्**—

'यया विना न सर्वज्ञः शिवः सा शक्तिरैश्वरी।
या सा शिवप्रयुक्ता तु पशूनां मोक्षयेत्ततः॥
पतेद्दीक्षानुसन्धाने दीक्षा ज्ञानादिलक्षणा।'

इति। ऊर्ध्वमिति शिवैक्यप्राप्तिरेवैषामूर्ध्वगतिरित्यर्थः॥६१॥

तथा—

विद्याया भाजनं तिर्यङ्मन्त्ररूपा भवन्ति वै।

तदुक्तमन्यत्र—

'विद्याविद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः·········।' (त०सं० ५१)

इति॥

किं च—

संसारभाजनं ये तु मलकर्मकलान्विताः ॥६२॥
अधस्तात्ते व्रजन्त्यत्र घोरेऽध्वन्यतिदारुणे ।

मलोऽख्यात्यात्मक आणवः, शुभादिवासनात्मकं कर्म, कलादिकं तु मायीयम् । घोरे भेदमये । अतिदारुणे दुःखबहुले ॥६२॥

एवं प्रसङ्गाद् मन्त्राणां बद्धमुक्तानां च स्वरूपं प्रतिपाद्य प्रकृतामेव तात्त्वीं सृष्टिं दर्शयति—

तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्या रागस्तथैव च ॥६३॥
कालो नियतितत्त्वं च पुंस्तत्त्वं प्रकृतिस्तथा ।

केवलमेतदुच्यते कञ्चुकपञ्चकवलिताः पुमांसो भोक्तारः, भोग्यसामान्यरूपा च प्रकृतिर्युगपदेव मायातः संभूताः, भोक्तृभोग्ययोः परस्परापेक्षित्वात्, अतोऽत्र कलादीनां युगपदेव तस्मादिति मायातत्त्वादुद्भव उक्तः । **श्रीमालिनीविजये** तु कलातो विद्यादिचतुष्टयं प्रकृतिश्च, **श्रीरौरवादौ** तु कला रागविद्ये प्रसूय, अव्यक्तं जनितवतीत्यादिरागमेषु यः क्रम उक्तः, तथा क्वचित् कञ्चुकानां चतुष्टयं क्वचित्त्रयमिति संख्यान्यथाभावोऽपि दृश्यते, न तत्र भ्रमितव्यम् ।

'कदलीगर्भदलवन्मोदकादिरसादिवत् ।
कदम्बगोलवच्चित्राः कञ्चुकाश्चित्रसंविदः ॥'

इति **श्रीत्रिकसार**निरूपितनीत्या कश्चिद्रज्यन्वेत्ति कश्चिच्च विदन्रज्यतीत्यादिः पुंसां विचित्रप्रतीतिक्रमानुसारी कञ्चुकक्रमोऽन्यथाऽन्यथा च संभाव्यते, प्रतिपुं कलादितत्त्वक्रमस्योक्तत्वादिति तदनुसारं तत्तच्छास्त्रावतारकैस्तथा तथा क्रमभेदमात्रप्रतिपादनमेतत् कृतम्, अन्तर्भावानन्तर्भावाच्च संख्याभेदोऽपि दर्शितः । वस्तुतश्च किंचित्करोमीत्यादिप्रतीतिपञ्चकाक्षिप्ततत्त्वपञ्चककञ्चुकवलिताः पुमांसो भोक्तारः, किञ्चिदंशात्मा भोग्यसामान्यरूपा प्रकृतिर्मायातो युगपदेव उद्भूता इति एतत्तन्त्रोक्तमेव ज्यायः प्रतिभाति ॥

अथ—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्रकृतेस्तु गुणास्त्रयः ॥६४॥

त्रिरूपं गुणतत्त्वं जातमित्यर्थः ॥६४॥

एतद् व्यापारभेदेन विभजति—

सत्त्वं प्रकाशजनकं प्रवृत्तिजनकं रजः ।
तमोऽवष्टम्भकं प्रोक्तं विज्ञेयं तु गुणत्रयम् ॥६५॥

अवष्टम्भकमावारकम् । अत्र सर्वत्रोपपत्तिः प्रागेव (२।६६) दर्शिता ॥६५॥

गुणत्रयेऽधिष्ठातृदेवता आह—

सत्त्वं ब्रह्मा रजो विष्णुस्तमो रुद्रः प्रकीर्तितः ।

सामानाधिकरण्योक्त्याऽधिष्ठात्रतृभेद एवादिष्टः । अधिष्ठातारोऽपि व्यापारभेदात् त्रयः, वस्तुतस्त्वेक एव परमेश्वरस्तत्तद्व्यापार इति ॥

पूर्वोपक्रान्तमेवार्थं भावप्रत्ययभङ्ग्या प्रथयति—

ब्रह्मत्वे सृजते लोकान् विष्णुत्वे स्थितिकारकः ॥६६॥
रुद्रत्वे संहरेत् सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।

एतदनुसारतश्च—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च तिस्रोऽवस्थाश्च तद्गताः ॥६७॥

तद्गता इति सत्त्वादिगुणवशोत्थिता इत्यर्थः ॥

अथ—

गुणेभ्यो धिषणा जाता

धिषणा बुद्धिः ॥

सा च—

भावभेदैः समन्विता ।

भावा धर्मादयः, भेदाश्च अहङ्कारेन्द्रियादयो वक्ष्यमाणाः ॥

किं च—

ब्रह्मा तत्राधिपत्येन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ॥६८॥
सर्वज्ञं च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ।

तमेव ब्रह्माणं सर्वज्ञम्, न तु सर्वकर्तारं बौद्धानां परमं पदं मोक्षधाम आगमिकाः कथयन्ति । सर्व एव तदेवाहुरिति पाठः सर्व एवागमिका बुद्धितत्त्वं बौद्धानां परमं पदमाहुरिति व्याकार्यः ॥

एवमुत्पत्तिप्रतिपादनप्रसङ्गेन बुद्धिवृत्त्यात्मकहर्षविषादादिरूपक्षणिकज्ञान-सन्ततिभावनानिष्ठानां बौद्धानां बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेव मोक्ष इति प्रतिपाद्य, वाद्यन्तराभिमतप्राप्यपदरूपान् मोक्षाभासान् प्रदर्श्य शैवानां सर्वोत्तमसत्यमोक्ष-भाजनत्वमिति स्फुटयति । यदुक्तं पुरस्तात्—

'इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् ॥
त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये वादिनां भ्रान्तचेतसाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानामुन्मीलनकृदुत्तमम् ॥' (१०।६८०-६८१)

इत्यादि । तत्र—

गुणेष्वारहतानां च

परमं पदमिति संबन्धः, एवमुत्तरत्र। आर्हता हि लोकपञ्जरस्थानीयशोकमोहाद्यावरणस्य तप्तशिलारोहादितपोवशात् प्रशमे सुखसंविदात्मकपुद्गलोन्मज्जनान्मुक्तिमाहुः, सुखं च सत्त्वगुणरूपमिति गुणेषु स्थिताः ॥

प्रधानं वेदवादिनाम् ॥६९॥

ते हि—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥'
(श्वे० ४।५)

इत्यादि वदन्तः प्रायः प्रकृतिमेव परं पदमित्याहुः। तदुक्तं गीतासु—

'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (भ०गी० २।४५)

इति ॥६९॥

पौरुषं चैव सांख्यानां सुखदुःखादिवर्जितम् ।

तेषां हि सुखदुःखाद्यात्मकप्रकृतिविविक्तचितिशक्तिमात्ररूपस्वरूपावाप्तिर्मोक्षः ॥

षड्विंशकं च देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ॥७०॥

षड्विंशमेव षड्विंशकम् यद्यपि—

'तदा: द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो०सू० १।३)

इत्युक्त्या विविक्तपुंरूपतावाप्तिर्योगस्थैर्मोक्ष उक्तः, तथापि—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो०सू०१।२४)

इत्येतत्सूत्रभाष्ये भगवता व्यासमुनिना प्राग्बन्धकोटिवद्यभो मुक्तपुरुषेभ्योऽपीश्वरस्यनित्यनिर्मुक्तत्वनित्यैश्वर्ययोगरूपो विशेषो दर्शित इति पञ्चविंशसंख्यकमुपेक्ष्य, तदनुग्रहकारि षड्विंशकमीश्वररूपं परमं पदं योगशास्त्रे दर्शितम् ॥७०॥

व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम् ।

'लाकुलं मौसुलं चैव द्विधा तन्त्रं प्रकीर्तितम् ।'

इति द्विधा यत्पाशुपतं, ततो मौसुलस्य निर्णेष्यमाणत्वाद् लकुलेशप्रतिपादितमेवेह पाशुपतव्रतमुच्यते। तत्र चेश्वरतत्त्वावाप्तिरेव परमं पदम्। पूर्वमेव—

'व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ।
भस्मनिष्ठा जपध्यानास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ॥' (१०।११७०)

इत्युक्तम् ॥

पाशुपतभेद एव तु क्रियाप्रधाने—

मौसुले कारुके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम् ॥७१॥

श्रीलकुलेशशिष्येण मुसुलेन्द्रेण कारोहणस्थानावतीर्णेन चापरेण मायातत्त्व-**गतक्षेमेशब्रह्मस्वामिप्राप्तिहेतुक्रियाबहुलाः** स्वे स्वे शास्त्रे व्रतविशेषा उक्ता इति मायातत्त्वमेव तत्र परमं पदम् ॥७१॥

तथा च मायातत्त्वनिविष्टः—

क्षेमेशो ब्रह्मणः स्वामी तेषां तत्परमं पदम् ।

यथासंख्येन ॥

येऽपि **वैमलाख्याः पाशुपतभेदाः**, तथा **पञ्चार्थप्रमाणाष्टकोक्तोपासापराः परे**, तेषामीश्वरतत्त्वगत**तेजेशध्रुवेशौ** परं पदमित्याह—

तेजेशो वैमलानां च प्रमाणे च ध्रुवं पदम् ॥७२॥

वैमलप्रमाणशास्त्रनिष्ठो हि—

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्तं याव चर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ॥७३॥

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मेतिपदेन प्रोक्तक्रियाप्रधानव्रतमात्रनिष्ठमौसुलकारुकेभ्यो-ऽत्र विशेषो दर्शितः । स्वं स्वं प्रोक्ततेजेशध्रुवेशरूपम् । यदुक्तं पुरस्तात्—

'तेजेशश्च ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम्' (१०।११७४)

इति ॥७३॥

ये तु कपालाद्यस्थिव्रतधारिणः पूर्वोक्तलाकुलाम्नायात्—

'भस्मनि शयीत' (१।३)

इत्यादिपाशुपतशास्त्रचोदनातः

जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।

अत्र मध्ये **मौसुलादिविषयां** मायातत्त्वावस्थितिमुल्लङ्घ्य—

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम्' (११।७१)

इति यद् व्युत्क्रमेणोक्तम्, तन्मौसुलादीनां पाशुपतभेदप्रदर्शनाय ॥

तदेवमा बौद्धेभ्यो लाकुलान्तास्तत्त्वाध्वभोगभाजः न तु मुक्ताः । ये तु **षट्स्रोतोभेदभिन्नं शैवशास्त्रमास्थिताः**, तेषाम्—

सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ॥७४॥

उक्तं चान्यत्र—

'वेदादिभ्यः परं शैवं.............।'

इति । यत्तु—

'.........शैवाद्वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात्परतः कौलं कौलात्परतरं नहि ॥'

इत्युच्यते, तत् शिवप्रोक्तशास्त्राणामवान्तरवैचित्र्यप्रतिपादनाभिप्रायेणैव । शैवाद्वाममित्यत्र हि शैवशब्देनानुत्तीर्णशिवपदप्रापकं करणादि सिद्धान्तशास्त्रमुच्यते ॥७४॥

तदेवं प्रासङ्गिकमेतन्निर्णीय प्रकृतमाह—

बुद्धितत्त्वादहङ्कारः पुनर्जातस्त्रिधा प्रिये ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च प्रकीर्तितः ॥७५॥

पारिभाषिकसंज्ञाभेदस्तु प्रातिलोम्यक्रमेण—

भूतादिर्वैकृतश्चैव तैजसश्च त्रिधा स्थितः ।

तत्र—

तन्मात्राण्यथ भूतादेस्तेभ्यो भूतान्यजीजनत् ॥७६॥

परमेश्वर इति शेषः । भूतानां स्थूलसूक्ष्माणामादिः कारणमिति व्युत्पत्तितोऽपि भूतादिः ॥

तन्मात्राण्याह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एतानि पञ्च ख्यातानि तन्मात्राणि

एषां मध्ये—

क्रमेण तु ॥७७॥

शब्दाद्व्योम समुत्पन्नं स्पर्शाद्वायुस्तथा पुनः ।
रूपात्तेजः समुत्पन्नमापो जाता रसात् पुनः ॥७८॥
गन्धात्तु पृथिवी जाता

स्पर्शादयो यथोत्तरं पूर्वपूर्वतन्त्रमात्रसहितवाय्वादीनां द्व्यादिगुणानां कारणमिति समानतन्त्रादनुसर्तव्यम् ॥

तदेतत् तन्मात्रभूतजन्म—

समासात् कथितं एव ।

किं च—

कर्मेन्द्रियाणि जातानि तस्माद्वैकारिकादथ ॥७९॥

विकारोऽन्यान्यरूपतात्मकं चाञ्चल्यं प्रयोजनं यस्य तद्वैकारिकं राजसमिह विवक्षितम् । अथेति पादपूरणाय ॥७९॥

कानि तानीत्याह—

वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमम् ।

तथा—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव तैजसात्तु भवन्त्यथ ॥८०॥

अथेति प्राग्वत् । तेजः प्रकाशः प्रयोजनं यस्य, तत् तैजसं सात्त्विकमिहाभिप्रेतम् ॥

तान्याह—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

चाञ्चल्यात् सर्वविषयप्रकाशकत्वाच्च—

उभयात्म मनः प्रोक्तं व्याप्तृ सर्वेन्द्रियाणि तु ॥८१॥

व्याप्तृ इति तृन्प्रत्ययः, अत एव सर्वेन्द्रियाणीत्यत्र षष्ट्यभावः । **श्रीपूर्वशास्त्रे** तु—

'......तैजसात्तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत ।

वैकारिकात्ततोऽक्षाणि..................॥' (१।३१)

इति प्रक्रियाभेदमात्रमस्ति ॥८१॥

तदेवं प्रतिपादितोत्पादक्रमाणि सर्वाण्येतानि तत्त्वानि—

आत्मोपकारकाण्येव कथितानि यथार्थतः ।

वक्ष्यमाणविभागस्यात्मनो लौकिकालौकिकभोगतत्साधनतदाश्रयादिदानेन यथार्थेन निजनिजानुरूपप्रयोजनसंपादनेनैतान्युपकारकाण्येव ॥

अतश्चैतत्कृतविचित्रोपस्कार आत्मा विचित्ररूप इत्याह—

आत्मा चैवान्तरात्मा च बाह्यात्मा चैव सुन्दरि ॥८२॥

निरात्मा परमात्मैतान् कथयामि समासतः ।

यथा—

अबुधश्च बुधश्चैव बुध्यमानस्तथैव च ॥८३॥

प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च पुनश्च कथयामि ते ।

एतानित्येव ॥

तत्र—

प्रधानसाम्यमाश्रित्य सुखदुःखविवर्जितः ॥८४॥

यदा तस्मिन् स्थितो देवि तदात्मा तु स उच्यते ।

प्रधानस्य प्रकृतिरूपस्य यत् साम्यं गुणानामन्योन्याभिभवाद्यभावात् सामरस्येनावस्थानम्, तदाश्रित्य । तस्मिन्निति प्रधान एव । सुखादिरहितः प्रकृतिलीनत्वाद्व्यामूढः । यद्वक्ष्यति—

'गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।
तस्मिन् जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति ॥' (११।२८७)

इति । एवमेष कञ्चुकमात्रशरीरः प्रकृतिलीन आत्मेत्युक्तः ॥

अयमेव च—

पुर्यष्टकसमायोगात् पर्यटेत् सर्वयोनिषु ॥८५॥
अन्तरात्मा स विज्ञेयो निबद्धस्तु शुभाशुभैः ।

आन्तरसूक्ष्मशरीरात्मकपुर्यारम्भकतन्त्रमात्रपञ्चकमनोबुद्ध्यहंकारात्मकं **पुर्यष्टकम्**, तत्संबन्धाद्वासनारूपैः शुभाशुभैर्निबद्धः सन् योनेर्योन्यन्तरं प्रसरन्नात्मबाह्यात्मनोरन्तर्मध्येऽवस्थितत्वादन्तरात्मा ज्ञेयः ॥

एष एव तु—

बुद्धिकर्मेन्द्रियैर्युक्तो महाभूतैः समावृतः ॥८६॥
बाह्यात्मा तु तदा देवि भुङ्क्तेऽसौ विषयान् सदा ।

स्थूलदेहवानिति यावत् ॥

यदा त्वयम्—

भूतभावविनिर्मुक्तस्तत्त्वधर्मकलोज्झितः ॥८७॥
मलधर्मैकयुक्तात्मा मायाधर्मतिरस्कृतः ।
निरात्मा तु तदा ज्ञेयः

भूतैः स्थूलसूक्ष्मैः, भावैश्च बुद्धिधर्मैर्विनिर्मुक्तः, तत्त्वधर्मेण पुंस्तत्त्वात्मना रूपेण कालोपलक्षितेन च कञ्चुकेनोज्झितः, केवलं मलधर्मेणैवैकेनापूर्णंमन्यतात्मकाणवमलस्वभावेन युक्तः संकुचितस्वभावः, यतो मायायाः पूर्वोक्तशक्तिरूपायाः, न तु तत्त्वात्मनः, धर्मेण अख्यात्यात्मना रूपेण, तिरस्कृतः संकुचिताभासीकृतः, एवंभूतो निरात्मा, आत्मनः पूर्वोक्तपाशशतवलितात् पुंस्तत्त्वलक्षणात् स्वभावाद् निष्क्रान्तः परमेशशास्त्रदशाऽभ्यस्तमायापुंस्तत्त्वविवेकज्ञानो विज्ञानाकल इत्यर्थः । यदुक्तं **श्रीपूर्वे**—

'......तत्र विज्ञानकेवलः ।
मलैकयुक्तः.............॥' (१।२३)

इति । मलकर्मैकयुक्तात्मेत्यपपाठः ॥

यदा तीव्रतमानुग्रहात् पूर्णतया स्फुरत्ययम्, तदा—

परमात्माथ कथ्यते ॥८८॥

न तु पूर्ववत् पशुरूपः ॥८८॥

यतः—

मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मुक्तश्च यदा प्रिये ।
सर्वाध्वसमतीतश्च मायामोहोज्झितश्च यः ॥८९॥
निर्मलत्वं यदा याति पदं परममव्ययम् ।
परमात्मा तदा देवि प्रोच्यते प्रभुरव्ययः ॥९०॥

यत एवाणवादिमलत्रयेण निःशेषेण संसारपर्यन्तेन रूपेण मुक्तः, अत एव सर्वं समनान्तमध्वानं सम्यक् तेषां विलापनयुक्त्याऽप्यतीतो न क्वाप्यध्वनि गृहीतात्माभिमानः, अतश्च मायामोहेनेति—

'कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली' (१०।१२६३)

इति पूर्वमुक्ता या माया, तत्कृतेन मोहेन सुसूक्ष्मेणापि महामायासंकोचेन, उज्झितो रहितः इत्थंभूतः सन् यदा परमं पदं परमशिवैक्यरूपं निर्मलत्वमायाति, तदा असावव्ययोऽविनाशी प्रभुः सर्वत्र स्वामी पारमात्मेत्युच्यते ॥

अथाबुधादिभेदान् व्याकर्तुमुपक्रमते—

अबुधं च पुनर्देवि कथयामि समासतः ।

तथा च—

तत्त्वभूतात्मसंहारे कलाक्षित्यन्तगोचरे ॥९१॥
मायासाम्यनिशायां वै संहृत्य परमेश्वरः ।
निर्व्यापारो भवेत्तावद्यावद्वै नोदय पुनः ॥९२॥

'अबुधस्तिष्ठते तत्र' (११।९५)

इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कलादिक्षित्यन्तं यानि तत्त्वानि त्रिंशत्, तेषां तदाश्रयाणां च स्थावरादिब्रह्मान्तानां चतुर्दशानां भूतानां य आत्मा स्वभावः, तस्य संहारे प्रवृत्तः परमेश्वरो मायायाः साम्यं समस्तविकृतिप्रशमात्मकं तदेव विश्वप्रस्वापाद् निशा तस्यां मायीयमशेषमध्वप्रपञ्चमनन्तभट्टारकमुखं संहृत्य निर्व्यापारो भेदसृष्ट्यनुन्मुखस्तावद्भवति, यावद् वक्ष्यमाणमायानिशाकाल-प्रशमात्मा नोदय इति, यावन्नायं सुखप्रवृत्तः । तत्प्रवृत्तौ हि स पुनरन्तर्मुखेन जगत् सृजन् सव्यापार एव भवति ॥९२॥

अस्मिंश्च समये—

सुखदुःखाद्यभावश्च ह्यात्मवर्गस्य कर्मणः ।

कर्मणः कार्यस्य, कलादिक्षित्यन्तदेहयोगेनोल्लास्यस्यात्मवर्गस्य सर्वस्य जीवजातस्य सुखदुःखशरीराद्यभावो भवति, गाढमूढत्वं संपद्यत इत्यर्थः ॥

तदा ह्यसावात्मवर्गः—

मलनिद्राविमूढात्मा रुद्धचैतन्यदृक्क्रियः ॥९३॥

न विजानाति शब्दादीनात्मानं च वरानने।
कारणं न विजानाति न च स्थानं स्वकं प्रिये ॥९४॥
सर्वमेतन्न जानाति यतो लुप्ताक्षदृक्क्रियः।
अबुधस्तिष्ठते तत्र यावन्मायाअहर्मुखम् ॥९५॥

मलेनाख्यात्यात्मना जनितया निद्रया स्वापेन विशेषेण मूढो जाड्यं प्रापित आत्मा, यतश्च रुद्धे चैतन्यात्मिके पूर्णे दृक्क्रिये यस्य, यतश्च संहारवशाद् लुप्ते अक्षसंबन्धिन्यौ दृक्क्रिये यस्य तथाभूतोऽयम् अत एव न विजानाति शब्दादीन् आत्मानं च ग्राहकस्वरूपम्, ईदृगहमित्यन्तःकरणेनापि निश्चिनुते न। कारणं च परमेशमीदृशव्यामोहादिदशोत्थापकं स्वं च मायात्मकं स्थानमाश्रयं न जानाति। एतत्सर्वं यतो न जानाति ततोऽयमबुध्यमानत्वादबुधः। तत्रेति मायायां तावदास्ते यावन्मायीयमहर्मुखम्। मायाअहर्मुखमिति सन्ध्यभावश्छान्दसः। यतःशब्दोपेक्षं तत इत्यध्याहार्यम्। तदयमित्थं मायालीनः प्रलयाकलोऽबुध इत्युक्तः। यस्तु पूर्वम्—

'प्रधानसाम्यमाश्रित्य' (११।८४)

इति ग्रन्थेनात्मा उक्तः, स प्रकृतिलीन इति विशेषः ॥९५॥

तदित्थम्—

अबुधस्तु समाख्यातः

अथ—

बुधं चैव निबोध मे।

तत्र—

परिपाकगते कर्मणीश्वरेच्छाकरोद्धृते ॥९६॥
प्रकाशं नायनं यद्वदनुगृह्णाति भास्करः।
करणान्यनुगृह्णाति तद्वदीश्वर आत्मनाम् ॥९७॥

आत्मनामनेककर्ममध्यात् कस्मिंश्चित् कर्मणि, उद्रेकवशात् परिपाकगते फलदानयोग्ये, अस्याणोरस्मात् कर्मण ईदृक् फलमस्तु, इतीदृगीशस्यानन्तमूर्तेर्भगवतो या इच्छा, सैव करस्तेन उद्धृतेऽनन्तकर्मसन्ततिमध्याद् निष्कृष्य तं तमात्मानं प्रति भोगाय योजिते सति, तेषामेवात्मनां कलादीनि करणानि, अनुगृह्णाति उन्मीलयति, येन ते आत्मानः किंचित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाजो जायन्ते। अत्र दृष्टान्तो यथा नायनं प्रकाशं भास्करोऽनुगृह्णाति। यथा तदनुग्रहं विना नासौ भावान् प्रकाशयति, एवमीश्वरानुन्मीलिताः कलादयो न किंचित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाज आत्मनः संपादयन्तीति सर्वत्र ईश्वरेच्छैव भगवती भवति ॥९७॥

तदनुग्रहादेव ह्यात्मा—

कलोन्मीलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ।

एतत् पूर्वमेव व्याकृतम् ॥

किं च—

रागोऽस्य रञ्जकत्वेन विषयानन्दलक्षणः ॥९८॥

सामान्यविषयाभिष्वङ्गात्मा रागोऽस्य पुंसो रञ्जकत्वेन स्थितः ॥९८॥

तथा—

कालो वै कलयत्येनं तुट्यादिप्रलयावधिः ।
नियतिर्निश्चितं नित्यं योजयेच्च शुभाशुभे ॥९९॥

एतदपि प्रागेव निर्णीतम् ॥९९॥

संयोज्य च तत्फलमस्य—

परमाणुसहस्रांशान्न च न्यूनं च चाधिकम् ।

तदित्थं कलादिपञ्चकवेष्टितोऽयम्—

पुंभावं समनुप्राप्य तत्त्वे च पुरुषाह्वये ॥१००॥

वर्तते इति शेषः ।

'आख्याह्वयश्च विज्ञेयौ नामपर्यायनामनी ।'

इत्युक्तेः संज्ञायां रूढ आह्वयशब्दः । पुरुष इत्याह्वयो यस्य तत् पुरुषाह्वयम् ॥१००॥

पुरुषशब्दमक्षरसाम्येन निर्वक्ति—

पुरं प्रधानमित्युक्तं प्रपञ्चानेकसंकुलम् ।
तत्पुरं पोषयेद्यस्मात्तस्माद्वै पुरुषः स्मृतः ॥१०१॥

बुद्ध्यादिक्षित्यन्तेनानेकेन प्रपञ्चेन परिणामभूयस्त्वेन संकुलं व्याप्तं प्रधानं यस्मात् पोषयेद् आत्मप्रकाशाभिनिवेशनेन चेतनायमानं संपादयेत्, तस्मादयं पुरुष इत्युक्त इत्यर्थः । प्रपञ्चानेकेति पूर्वनिपातव्यत्ययश्छान्दसः ॥१०१॥

तदित्थं प्रधानाशयमापन्नमिमम्—

यतः श्रीकण्ठनाथस्तु नियत्या कर्मतः पशुम् ।
प्रधानपाशजालेव वेष्टयेदसमञ्जसम् ॥१०२॥

पशुमाणवपाशपाशितं कलादिकञ्चुकवलितं च पुरुषं प्रधानाशयमापन्नं प्रधानान्तेऽध्वन्यधिकृतः श्रीकण्ठनाथः प्रधानसंबन्धिना पाशजालेन नियतिवशोत्थितकर्मानुसारमसमञ्जसम्, अनात्मन्यभिनिवेशनायाननुरूपमेव वेष्टयेत् ॥१०२॥

प्राधानिकपाशवेष्टनं स्पष्टयति—

बद्धस्त्रिगुणबन्धेन बुद्ध्या वैकारिकेण तु।
तन्मात्रेन्द्रियबन्धेन दृढं भूतैश्च वेष्टितः ॥१०३॥

पूर्वं सत्त्वादिगुणैर्वलितः, ततस्तत्परिणामक्रमादध्यवसायात्मना बुद्ध्या, ततोऽभिमानात्मकदुरतिक्रमणीयविकारप्रयोजनेन वैकारिकादिरूपेणाहंकारेण। वैकारिकेणेत्युपलक्षणपरम्। ततोऽप्याहङ्कारिकेण तन्मात्रेन्द्रियवर्गेण, ततोऽपि तन्मात्रकार्यैराहारादिवशोत्थशुक्रशोणितक्रमप्रसृतैः स्थूलैर्भूतैर्दृढं गाढं कृत्वाऽयं वेष्टितो बद्धः ॥१०३॥

कीदृशोऽयम्—

बद्धः संचरति ह्येवं मायाद्यवनिगोचरे।

एवं बद्धो मायादिभूम्यन्ते संचरति योनेर्योन्यन्तरं श्रयति॥

अतश्च—

संसारी प्रोच्यते तस्मात् संसरेद्यत् पुनः पुनः ॥१०४॥

एवमित्थंनिरुक्तस्य पुरुषस्य संसारिणः—

शब्दादिविषया यस्माद्विद्यन्ते विषयी ततः।

एष एवेत्यर्थः॥

अतश्चायम्—

विषयाः परमित्याह

स्त्र्यादयो ये विषयाः तदेव परं प्रकृष्टं वस्त्विति ब्रूते॥

कीदृशा विषयाः—

नानाभेदैर्विसर्पिताः ॥१०५॥

नानाकर्मविपाकैश्च

नानाभेदैरित्युपलक्षिताः। विसर्पिता उपसंप्राप्ताः। नानाकर्मविपाकैः सुखदुःखादिभेदैः सहेत्यर्थः॥

तदेतान् विषयानयं

भुङ्क्ते तद्भावभावितः।

तेषां विषयाणां भावेन सत्तया भावितो वासितान्तःकरणः॥

एवं भुङ्क्ते तु वै यस्मात्तस्माद्भोक्ता स उच्यते ॥१०६॥

स इति विषयी ॥१०६॥

किं चायम्—

तस्मिंस्तज्ज्ञो वरारोहे क्षेत्रे वै कार्षको यथा ।

तस्मिन्निति भूतपर्यन्ते क्षेत्रे । तज्ज्ञ इति क्षेत्रज्ञ उच्यते । कार्षको यथेति दृष्टान्तपक्षे क्षेत्रं केदारः ॥

दृष्टान्तं श्लेषच्छायया स्फुटयति—

महाभिलाषमालोक्य कृषेद्वै लोभलाङ्गलैः ॥१०७॥

यथा कार्षकः कलुषजलरजोविश्रान्तिर्मा स्यादितीदृशमहाभिलाषमालोक्य विचार्य तत् क्षेत्रं लाङ्गलैर्हलैः कृषत्युल्लिखति, तथा

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्व० ४।१०५)

इत्युक्तस्थित्या मलरूपमभिलाषं विमृश्य देहात्मकक्षेत्रं बहुलोभेन कृषति कर्मबीजवापयोग्यं करोतीति रूपकश्लेषच्छायया उक्तिः ॥

अथ च—

वपेच्च मोहभावेन मनोवाक्कायिकं सदा ।
धर्माधर्ममयं बीजं प्रविकीर्य समन्ततः ॥१०८॥

मोहभावेनेति महायासदाय्येतदिव्यविचारेण । वपेदिति क्षेत्रपरिनिष्ठितं संपादयेत् ॥

तदुत्तरकालं च—

तस्माद्वै अङ्कुरोत्पत्तिः

तस्मादेव बीजाद् नानाशरीरेन्द्रियात्मनोऽङ्कुरस्योत्पत्तिर्भवात ॥

कीदृशीत्याह—

सुखदुःखफलोदया ।

सुखरूपस्य दुःखफलस्योदयो यत्र ॥

सा चाङ्कुरोत्पत्तिः—

वर्धते कामक्रोधेन सिक्ता रागाम्बुना भृशम् ॥१०९॥

अतश्च—

यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च ।
उप्तं शुभाशुभं कर्म तत्काले लभते फलम् ॥११०॥

तत्काल इति भाविजन्मगततारुण्यादिसमये इत्यर्थः ॥११०॥

लब्ध्वा च तत्—

भुङ्क्ते तु विविधाकारं पूर्वकर्मवशाद्बुधः ।

बुध इति यो निर्णेतुमुपक्रान्तः ॥

तदेवमयमीदृशं क्षेत्रम्—

यस्मादेवं विजानाति तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥१११॥

तदित्थम्—

विषयान् बुध्यते यस्माद्बुधस्तस्मात् प्रकीर्तितः ।

इत्थमयं बुधः पुरुषः संसारी विषयी भोक्ता क्षेत्रज्ञ इति च तत्तदर्थानुगताभिः संज्ञाभिरुच्यते ॥

बुध्यमानं लक्षयति—

तदेवानिष्टरूपेण यदा भावयते पुमान् ॥११२॥
बुध्यमानस्तु स तदा

तदेवेति विषयभोगादि ॥

एतदेव विभजति—

अधुना कथयामि ते ।

तथा—

यदा जुगुप्सते भोगान् शुभांश्चैवाशुभांस्तथा ॥११३॥
कृत्रिमानेव मन्येत परं वैराग्यमाश्रितः ।
मायाद्यवनिपर्यन्तमिन्द्रजालं तु बुध्यते ॥११४॥

मायेत्यादिना तत्तत्तत्त्वभुवनभोगेष्वपि भेदमयेष्वस्य विरक्तिर्दर्शिता ॥

किं च—

पुत्रमित्रकलत्राणि सुहृत्स्वजनबान्धवाः ।
यदर्जितं मया द्रव्यं शुभेनाप्यशुभेन वा ॥११५॥
तद्भोक्ष्यन्ते त्विमे सर्वे निरातङ्का निराकुलाः ।
एकाकी चाहमेवैष यास्यामि यमसादनम् ॥११६॥
तस्माच्च न शुभा ह्येते वैरिणोऽनर्थकारिणः ।

मित्रं परस्परोपकारवशात् स्निग्धम्, सुहृत्त्वकारणमेव शोभनहृदयः । स्वजनो दासादिः । सदनमेव सादनम् ।

न केवलं पुत्रादिभ्य एव जुगुप्सते, यावत्—

स्वात्मीयमप्ययं देहं नित्यमेव जुगुप्सते ॥११७॥
शुक्रशोणितसंभूतं विषयोरगदूषितम् ।
नानाव्याधिसमाकीर्णं जरामृत्युभयाकुलम् ॥११८॥

अतश्च—

सोऽहमस्मि मलाकीर्णे कथमत्र रमाम्यहम् ।

सोऽहमस्मीत्यागमाद्यवगतसत्यात्मस्वरूपो भवामि । मलमशुचिद्रव्यम् ॥

तदित्थमयमाविर्भूतवैराग्यः—

नित्यमुद्विग्नचित्तस्तु चिन्तयेद्वै पुनः पुनः ॥११९॥

कथं मुक्तिर्भवेदस्मात् संसाराद्दुरतिक्रमात् ।
एवं प्रबुद्धो देवेशि तल्लयस्तत्परायणः ॥१२०॥
सर्वारम्भविनिर्मुक्तः प्रमुक्तः प्रोच्यते तदा ।
प्रबुद्धस्तु समाख्यातः सुप्रबुद्धं तु मे शृणु ॥१२१॥
दीक्षाज्ञानेन योगेन चर्ययाप्यथ सुव्रते ।
यदा प्राप्तः परं स्थानमध्वातीतं निरामयम् ॥१२२॥
विरजो विमलं शान्तं प्रपञ्चातीतगोचरम् ।
निष्कम्पं कारणातीतं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम् ॥१२३॥
सुतृप्तानादिसंबुद्धं स्वतन्त्रं नित्यमेव हि ।
अलुप्तशक्तिविभवं सुप्रबुद्धं सनातनम् ॥१२४॥
तस्मिन् युक्तस्तदात्मा वै तद्गुणैस्तु समन्वितः ।
सुप्रबुद्धः स एवोक्तो भैरवस्य वचो यथा ॥१२५॥
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे ।

इह आत्माऽन्तरात्मा चोक्तः, विज्ञानाकलो निरात्मेति, प्रलयाकलोऽप्यबुध इति, सकल एव च बाह्यविषयावबोधाद् बुद्ध इति, आयातशक्तिपातो बुद्धयमानः, शिवयज्ञदीक्षितः प्राप्तज्ञानः प्रबुद्धः, स्वभ्यस्तज्ञानस्तु प्राप्तशिवैकात्म्यो निश्चलप्रतिपत्तिर्जीवन्मुक्तः सुप्रबुद्ध इति शुद्धात्मा बुद्धयमानः प्रबुद्धः सुप्रबुद्धः परात्मेति चतुर्विध उक्तः ॥

एवमात्मोपयोगितत्त्वसर्गनिरूपणानन्तरं ज्ञानियोगि..: प्रत्युपयोगिनो हेयोपादेयताप्रदर्शनायात्मनोऽवस्थाविशेषान् निरूप्य—

'गुणेभ्यो धिषणा जाता भावभेदैः समन्विता' (११।६८)

इत्युपक्रान्तान् भावभेदान्निरूपयितुमाह—

अधुना कथयिष्यामि भावभेदान् वरानने ॥१२६॥

भावयन्ति वासयन्त्यन्तःकरणमिति भावा धर्मादयोऽष्टौ ॥१२६॥

तत्रादौ भेदानाह—

कारणानि दश त्रीणि कार्यं च दशधा प्रिये ।

भावानप्याह—

एकादशेन्द्रियवधा अहङ्कारस्तु वै त्रिधा ॥१२७॥
बुद्धिरष्टविधा चैव पञ्चधा तु विपर्ययः ।

अत्राहङ्कारस्त्रिविधो भेदमध्ये गणनीयः ॥

अथ—

नामान्येषां विभागेन कथयामि यथाक्रमम् ॥१२८॥

तत्र कार्यविषयाणि कारणानि, कार्याणि च स्थूलानि सूक्ष्मप्रतीतिहेतुभूतानीत्याशयेनोद्देशवैपरीत्येन नामान्याह—

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥१२९॥
गन्धो रसश्च तन्मात्रे रूपतन्मात्रमेव च।
स्पर्शः शब्दश्च पञ्चैव तन्मात्राणीरितानि तु ॥१३०॥

इरितान्युदीरितानि ॥१३०॥

एतत्ते दशधा कार्यं कीर्तितं नामसंख्यया।

अथ—

वाक्पाणिपादं पायुं च उपस्थं च तथा विदुः ॥१३१॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति कीर्तितम्।
बहिष्करणकं देवि दशधा संव्यवस्थितम् ॥१३२॥
मनोऽहङ्कारबुद्ध्याख्यं त्रिधान्तःकरणं स्मृतम्।

एवं त्रयोविंशतिधा कार्यकारणान्युक्त्वा, इन्द्रियासामर्थ्यरूपानिन्द्रियवधाख्यान् भावान् यथाक्रमं व्यनक्ति—

मूकता कौण्यपङ्गुत्वं तथानुत्सर्गतापि च ॥१३३॥
निरानन्दश्च विज्ञेयो बधिरत्वं तथैव च।
शीर्णता चैव गात्रस्य तथा चान्धत्वमेव च ॥१३४॥
अनास्वादस्त्वगन्धश्च अनवस्था मनस्यथ।
इतीन्द्रियवधाः ख्याता एकादश तु तत्क्रमात् ॥१३५॥

तत्क्रमादिति प्रोक्तवाक्पाण्यादिक्रमात् ॥

प्रागेव च—

तैजसो वैकृताख्यश्च भूतादिश्च तृतीयकः।
अहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो मया ते वरवर्णिनि ॥१३६॥

अथ—

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुर्थकम्।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥१३७॥
अष्टावेते समाख्याता बुद्धेर्धर्मादयो गुणाः।

किं च—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्यो विपर्ययः ॥१३८॥
अन्धतामिस्रमित्याहुरेवं पञ्च विपर्ययाः।

गुणबुद्ध्यहङ्कृत्तन्मात्रात्मनि सूक्ष्मशरीरे इन्द्रियभूतात्मके स्थूलदेहे दृष्टानुश्रविकैः स्पृहणीये शब्दादिविषयपञ्चके य आत्माभिमानः, स क्रमेण तमो मोहो

महामोह इत्युच्यते। यस्तु शरीरबाह्यविषयापकारिणि द्वेषः, स तामिस्रः। तद्वियोगभयात् त्रासोऽन्धतामिस्रः॥

तदेवम्—

भावभेदाः समाख्याताः पञ्चाशत्ते यथाक्रमम् ॥१३९॥

अथ धर्मादीनां प्रभेदान् प्रतिपादयन् सांख्योक्तांस्तुष्टिसिद्ध्यादीन् दर्शयितुं प्रक्रमते—

पुनश्चाष्टौ तु ये बुद्धेर्भेदा धर्मादयः स्थिताः।
तेषां भेदा यथा भिन्नास्तथाहं कथयामि ते ॥१४०॥

पुनःशब्दः कथयामीत्येतदनन्तरं योज्यः॥

धर्माद्यष्टकरूपा या बुद्धिः, सा ज्ञानाख्यभेदवर्जम्—

बध्नाति सप्तधा सा तु पुंसः संसारवर्त्मनि।

अष्टमेन तु—

मोचयेज्ज्ञानभावेन सांख्यज्ञानरतान्नरान् ॥१४१॥

सांख्येत्याद्युक्तेः सांख्यदृष्टावेव ते मुक्ताः, न त्विहेत्याशयोऽग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥१४१॥

एषां धर्मादीनां मध्यात्—

ज्ञानं च सात्त्विकं प्रोक्तं त्रयोऽन्ये राजसाः स्मृताः।
तामसाश्चाप्यधर्माद्याश्चत्वारो वै वरानने ॥१४२॥

त्रय इत्यैश्वर्यवैराग्यधर्माः ॥१४२॥

किं च—

धर्मश्च दशधा प्रोक्तो ज्ञानं चैवाष्टधा स्मृतम्।
वैराग्यं नवधा चैवमैश्वर्यं चाष्टधा विदुः ॥१४३॥
एत एव विपर्यस्ता अधर्माद्याः प्रकीर्तिताः।

एत एव ते धर्मादयो यथाप्रोक्तसंख्याप्रभेदा इत्यर्थः॥

तत्र धर्मं दशविधं तावदाह—

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ॥१४४॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
एवं दशविधो धर्मः कथितस्तु वरानने ॥१४५॥

अकल्कताऽपापचित्तता ॥१४५॥

ज्ञानभेदानाह—

तारं सुतारं तरणं तारकं च प्रमोदकम्
प्रमुदितं रम्यकं च सदाप्रमुदितं तथा ॥१४६॥

एतज्ज्ञानं समाख्यातं समासात् परमेश्वरि ।

यत् पूर्वं पुंस्तत्त्वभुवननिर्णयावसरे—

'तारा चैव सुतारा च' (१०।१०७१)

इत्यादि सिद्धयपेक्षया स्त्रीपाठेनोक्तम्, तत् सांख्योक्तोहादिरूपसिद्धयष्टकं ज्ञानविशेषमित्याशयेन । इह ज्ञानसमानाधिकरण्येन नपुंसकनिर्देशेनोक्तौ केवलं पूर्वं मोदमानेति यत्पठितम्, तत्स्थान इह तरणमिति पाठमात्रभेदः न तु वस्तुभेदः कश्चित् ॥

पूर्वोक्तं तुष्टिनवकमपि वैराग्यप्रभेदरूपमित्याह—

अम्भा च सलिला ओघा वृष्टिसंज्ञा तथापरा ॥१४७॥
सुतारा च सुपारा च सुनेत्रा च परा स्मृता ।
अष्टमी च कुमारी स्यादुत्तमाम्भसिका तथा ॥१४८॥

तदित्थम्—

वैराग्यं नवधा चैव कथितं तु मया तव ।

तदेतत्सिद्धितुष्टिसप्तदशकमिह तारादिदेवताधिष्ठितत्वादेवमभिहितमिति प्रागेवोक्तम् ॥

अथैश्वर्यं विभागशो दर्शयति—

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ॥१४९॥
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथा परम् ।
यत्रकामावसायित्वमष्टमं परिकीर्तितम् ॥१५०॥
ऐश्वर्यमष्टधा चैव कथितं तु वरानने ।

अथाक्रोधादिविपरीतान् क्रोधादीनधर्मभेदानाह—

क्रोधश्चागुरुशुश्रूषा अशौचं च ततः परम् ॥१५१॥
असन्तोषोऽनार्जवं च हिंसा चासत्यमेव च ।
स्तेयमब्रह्मचर्यं च तथा चैव सकल्कता ॥१५२॥
एवमेष समाख्यातो दशधाऽधर्मसंग्रहः ।

अज्ञानभेदानाह—

अतारमसुतारं च अतारणमथापि च ॥१५३॥
अतारकं च देवेशि चतुर्थं परिकीर्तितम् ।
अप्रमोदोऽप्रमुदितमरम्यकमथापि च ॥१५४॥
असदाप्रमुदितं तदज्ञानं चैवमष्टधा ।

एता एव सांख्यैरूहादिसिद्धिविपरीता अष्टौ बुद्धेरशक्तय उक्ताः ॥

अवैराग्यभेदानाह—

अनम्भा असलिला च अनोघावृष्टिरेव च ॥१५५॥
असुतारमसुपारमसुनेत्रमतः परम् ।
अकुमारी च विज्ञेयानुत्तमाम्भसिका तथा ॥१५६॥

तदित्थम्—

अनणिमालघिमा चैवामहिमा महेश्वरि ।
अप्राप्तिरप्राकाम्यं चानीशित्वं च तथैव च ॥१५७॥
अवशित्व तथा चैवायत्रकामावसायिता ।

तदित्थम्—

अनैश्वर्यं च देवेशि अष्टधा परिकीर्तितम् ।

एवं तत्त्वसर्गान्तरितो यो भावसर्गोऽभिहितः, स यथा यत्र स्थितस्तत्प्रतिपादयितुमाह—

अनैश्वर्यादिभिश्चैते पैशाचाद्या अधिष्ठिताः ॥१५८॥

अधिष्ठिता व्याप्ताः ॥१५८॥

अतश्च—

यथाक्रमेण तेष्वष्टौ संस्थितान् कथयामि ते ।

तेषु पैशाचादिषु । अष्टावनैवनैश्वर्यादीन् ॥

तत्र—

अनैश्वर्यं हि पैशाचे अवैराग्यं च राक्षसे ॥१५९॥
याक्षे चैव तदज्ञानं गान्धर्वेऽधर्म एव च ।
धर्मं चैव तथैन्द्रे तु ज्ञानं सौम्ये प्रतिष्ठितम् ॥१६०॥
प्राजापत्ये तु वैराग्यमैश्वर्यं ब्रह्मणि स्थितम् ।

प्रधानतयेति शेषः ॥

यच्चैतदैश्वर्यमुक्तम्—

चतुष्षष्टिगुणं चैतत् पदे ब्राह्मे व्यवस्थितम् ॥१६१॥
षट्पञ्चाशद्गुणं तच्च प्राजापत्ये व्यवस्थितम् ।
अष्टचत्वारिंशद्गुणं सौम्ये वै परिकीर्तितम् ॥१६२॥
चत्वारिंशद्गुणं चैव माहेन्द्रैश्वर्यमुच्यते ।
द्वात्रिंशदगुणितं देवि गान्धर्वैश्वर्यमुच्यते ॥१६३॥
चतुर्विंशगुणं याक्षं षोडशं राक्षसं स्मृतम् ।
ऐश्वर्यमष्टगुणितं पैशाचं परिकीर्तितम् ॥१६४॥

एवं स्थितं तदैश्वर्यं देवयोनिषु सुव्रते ।

देवयोनिष्वित्यर्थलब्धमभिदधतोऽयमाशयः—यादृक् सार्वभौमस्य नरपतेरैश्वर्यम्, ततोऽष्टगुणं पैशाचम्, ततोऽप्युत्तरोत्तरमष्टगुणं राक्षसादिषु, अन्यथाऽवधेरभावे किमपेक्षमष्टगुणत्वादि स्यात् । एवं ब्राह्मैश्वर्यापेक्षं पिशाचानामनैश्वर्यमेवोल्बणम्, चक्रवर्त्यपेक्षया त्वष्टगुणमैश्वर्यमुच्यते ॥

एवंविधैश्वर्यव्यतिरिक्तास्तु ये धर्मादयः, ते—

अन्ये सप्तस्वरूपेण संस्थिता देवयोनिषु ॥१६५॥

यद्यपि सर्वे बुद्धिधर्माः सन्तिः, तथापि पैशाचादिक्रमेणानैश्वर्यादेरेकैकस्य प्रकर्षः, अन्येषां त्वपकर्ष इत्युक्तम् ॥१६५॥

न केवलमित्थमेते देवयोनिषु गुणप्रधानभावेन स्थिताः, यावत्—

एत एव सुसंकीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः ।

सुष्ठु संकीर्णा अलक्ष्यमाणविवेकाः, अत एव मानुष्यमेकरूपम् ॥

तिर्यग्भेदे का वार्ता इत्याह—

प्रधानगुणभावेन स्थावरान्तं व्यवस्थिताः ॥१६६॥

पश्वादयस्तामसत्वाद् अधर्मादिचतुष्टयमयाः । तत्रापि च यथोत्तरमधर्मादयः प्रकृष्यन्ते ॥१६६॥

अत्रात्रैव यथाविभक्तविषये भावभेदे—

गुणत्रयस्य व्याप्तिं वै कथयामि यथास्थिताम् ।

तत्र—

सत्त्वेनाधिष्ठिता देवा ब्रह्माद्या मघवान्तकाः ॥१६७॥

ब्रह्माद्या मघवदन्ताश्चत्वारः सत्त्वप्रधानाः ॥

गन्धर्वयक्षमनुजा दैत्याश्चैव तु राजसाः ।
यातुधानाः पिशाचाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ॥१६८॥

दैत्या यक्षप्राया एव ॥१६८॥

रजःसत्त्वोत्कटा ज्ञेया ऋषयः संशितव्रताः ।

संशितं सुतीक्ष्णं व्रतं ज्ञानविज्ञानोपायानुष्ठाननियमो येषां ते देवमानुषान्तरालप्रायत्वाद् रजःसत्त्वाभ्यामुत्कटाः ॥

ये चैते देवाद्या ऋषिपर्यन्तयोनिभेदाः—

अन्योन्याभिभवास्ते च पृथिव्यां संव्यवस्थिताः ॥१६९॥

यातुधानप्रभृतिभिर्देवर्षिप्रभृतयो दुर्वृत्तेन भूर्लोकेऽभिभूयन्ते, तैरपि ते शौर्यतपोमन्त्रादिप्रभावात्, न तु गुणा अन्योन्याभिभवाः पृथिव्यामिति व्याख्येयं

तेषामन्योन्याभिभवादिरूपताया: सर्वत्राविशेषात् पृथिव्यामिति विशेषचोदनाया अनुपपत्तेः ॥१६६॥

किं च—

अत्यन्ततमसाविष्टाः स्थावराश्च सरीसृपाः ।

वृक्षादयः सर्पाद्याश्च गाढतामसा मोहक्रोधमयत्वात् ॥

किं च—

पादपादविहीनाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ॥१७०॥
सरीसृपाद्या विज्ञेयाः

सरीसृपा आदौ येषां प्रातिलोम्यक्रमेण पक्ष्यादीनां ते सरीसृपाद्याः पश्वन्ताः सर्व एव तामसाः, किन्तु पादपादविहीना इति सरीसृपेभ्यः पक्षिणां पादेन हीनं तामसत्वम्, तेभ्योऽपि मृगाणां, तेभ्योऽपि पशूनाम् । तदीदृशी गुणव्याप्तिरिह भगवता विभज्य दर्शिता, सांख्यैस्तु—

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥' (सा०का० ५४)

इत्यविशेषेण देवयोनिपश्वादिमनुष्याणां सत्त्वतमोरजोमयत्वं दर्शितम् ॥

तदित्थं गुणवैचित्र्येण दर्शिता ये—

स्थावरान्तास्तु सुव्रते ।

चतुर्दश योनिभेदाः ॥

एषामन्तर्गताश्चान्या अनन्ता एव योनयः ॥१७१॥
मानुषेषु तथानन्ता भेदानन्त्यव्यवस्थया ।
न शक्या गदितुं ता वै कर्मानन्त्यप्रभेदतः ॥१७२॥

मानुषेष्विति पुनर्विशेषोक्त्या दिग्देशकालसमाचारादिवैचित्र्येण तेषामनन्तशाखत्वं कथयति । कर्मसंबन्धिनोऽनन्ताद् प्रभेदादिति योन्यानन्त्यहेतुः ॥१७२॥

किं च—

गुणास्तु मानुषे लोके धर्माद्या इव संस्थिताः ।

यथा—

'एत एव सुसंकीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः' (११।१६६)

इति धर्माद्याः सुसंकीर्णा मनुष्यामुक्ताः तथा गुणा अप्यलक्ष्यमाणविशेषा इत्यर्थः ॥

अधर्मादिभिर्गुणैश्च ये संकीर्णा मानुषाः तदुपदेष्टॄणि—

धर्माद्येषु निबद्धानि यानि ज्ञानानि सुव्रते ॥१७३॥

अधर्माद्येषु यानि स्युस्तानि ते कथयाम्यहम् ।

धर्माद्येष्विति तद्विषये तद्वाचके इत्यर्थात् । ज्ञानानि शास्त्राणि ॥

तत्र—

हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम् ॥१७४॥

नित्यत्वनित्यत्वाभ्यां साध्याभ्यां विडम्बयति वञ्चयति प्रतिपाद्यं तत्त्वतस्तन्निश्चयायोगादिति नित्यानित्यविडम्बकम् । भावप्रधानो निर्देशः ॥१७४॥

किं च—

वादजल्पवितण्डाभिः

यदुक्तं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वीतरागकथारूपो वादः । स एव च्छलजातिनिग्रहोपपन्नः पुरुषशक्तिपरीक्षार्थो जल्पः । प्रतिपक्षस्थापनहीनस्तु वितण्डा ॥

एवंभूतं हेतुशास्त्रं सदागमबाह्यं तर्कशास्त्रं यत्, तेन—

विवदन्ते ह्यनिश्चिताः ।

न विद्यते निश्चितं वस्तुसतत्त्वनिश्चयो येषाम्, ते विवदन्ते, इदं तत्त्वमिदं नेति परस्परव्याहतं रटन्ति ॥

यतस्तेषाम्—

हेतुनिष्ठानि वाक्यानि

न त्वागमिकार्थविचाररूपाणि ॥

अतश्च—

वस्तुशून्यानि सुव्रते ॥१७५॥

ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु ।

तेनैषाम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते ॥१७६॥

अत एवैतानि—

अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः ।

उक्तं च प्राक्—

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ॥

असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ।

भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ॥'

(१०।११४०-११४१)

इति । तथा—

'सत्पथं तु परित्यज्य नयति ब्रुतमुत्पथम्' (१०।११४०)

इति ॥

यत एवंभूतं हेतुशास्त्रम् तेन—

निरयं ते प्रगच्छन्ति ये तत्राभिरता नराः ॥१७७॥

किं च, अधर्मनिमित्तकाज्ञानमयेषु शुष्कतर्केषु—

अवैराग्यादनैश्वर्यं भुञ्जते निरये सदा।

अतश्चाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्या बुद्धिधर्माः—

चत्वारस्ते वरारोहे दुःखदा नरके सदा ॥१७८॥

मोहकाः सर्वजन्तूनां यतस्ते तामसाः स्मृताः।

एवमधर्मादिचतुष्टयमयानि शुष्कतर्कशास्त्राण्युक्त्वा धर्मादिनिबद्धानि शास्त्राण्याह—

धर्मेणैकेन देवेशि बद्धं ज्ञानं हि लौकिकम् ॥१७९॥

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यादि ॥१७९॥

धर्मज्ञाननिबद्धं तु पाञ्चरात्रं च वैदिकम्।

पाञ्चरात्रैरभिगमनोपादानेज्यादिधर्मवत्—

'भूत एव स स्वयं भवति'

इत्यादि ज्ञानमप्युपदिश्यते। वैदिकैरपि कर्मानुष्ठानवत्—

'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ०वे० १०।९०।२)

इति ज्ञानकण्डादौ ज्ञानमप्युच्यते ॥

बौद्धमारहतं चैव वैराग्येणैव सुव्रते ॥१८०॥

बद्धमित्येव ॥१८०॥

ज्ञानवैराग्यसंबद्धं सांख्यज्ञानं हि पार्वति।

ज्ञानं पुंस्प्रकृतिविवेकोपलब्धिः ॥

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं योगज्ञानप्रतिष्ठितम् ॥१८१॥

पातञ्जलादौ विभूतिपादे ऐश्वर्यस्याप्युक्तत्वात् ॥१८१॥

एवं लौकिकादीनि योगान्तानि शास्त्राणि धर्मादिरूपबुद्धिधर्मनिष्ठानि, तदुत्तरं तु पारमेश्वरम्—

अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम्।

लोकातीतं तु तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम् ॥१८२॥

बुद्धिभावानां सर्वेषां प्रोक्तप्रपञ्चानां धर्मादीनामतीतमिति द्वितीयास्थाने व्यत्ययेन षष्ठी। तदेतदतिमार्गं शास्त्रं मार्गं पशुलोकमतीतमिति कृत्वा ॥१८२॥

तदेतत् स्पष्टयति—

लोकाश्च पशवः प्रोक्ताः सृष्टिसंहारवर्त्मनि ।
तेषामतीतास्ते ज्ञेया येऽतिमार्गे व्यवस्थिताः ॥१८३॥

सृष्टिसंहारमार्गे ये पशवः स्वसृष्टसंहर्त्रात्मकं संवित्तत्त्वं न जानन्ति, तत एव सृज्यमानाः संह्रियमाणाश्च ते सर्व एवेह लोका उच्यन्ते । तदतीता अतिमार्गस्थाः ॥१८३॥

यतः—

कपालव्रतिनो ये च तथा पाशुपताश्च ये ।
सृष्टिर्न विद्यते तेषां

चोऽप्यर्थे भिन्नक्रमः । ये कपालव्रतिनः पाशुपताश्च, तेषामपि सृष्टिर्नास्ति; किमङ्ग सर्वाध्वोत्तीर्णानां शैवानामित्यर्थात् ॥

का तर्ह्येषां स्थितिरित्याह—

ईश्वरे च ध्रुवे स्थिताः ॥१८४॥

उक्तं च प्राक्—

'दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्ते शैवचर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ॥
जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।' (११।७३-७४)

इति ॥१८४॥

ननु सर्वस्याध्वनः सर्गसंहारपात्रत्वादीश्वरतत्त्वस्थानामेषामपि ताभ्यां भवितव्यम् । उच्यते । तावन्मात्राख्यात्यंशसंहार एषां परभैरवस्वरूपापत्तिः, न तु पशुवत् संहृतस्वरूपाः पुनः सृज्यन्ते । तदाह—

यस्मान्मोक्षं गमिष्यन्ति अपुनर्भवकारणम् ।

तस्माद्युक्तमुक्तं सृष्टिर्न विद्यते तेषामिति संबन्धः ॥

ये तु नातिमार्गस्थाः, तेषाम्—

लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ॥१८५॥

अतश्च ते—

संसारचक्रमारूढा भ्रमन्ति घटयन्त्रवत् ।

घटयन्त्रमरघट्टः ॥

एतदेवोपपादयति—

धर्माद्यरकसंयुक्तमष्टारं चक्रकं प्रिये ॥१८६॥

ईश्वराधिष्ठितं देवि नियत्यादण्डकाहतम् ।
मलकर्मकलाविद्धं भ्रमते कालवेगतः ॥१८७॥

धर्मादयो ये संसारकारणभूतास्त एवारा इवारकाः परिभ्रमणहेतवः । यदाहुः—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वम्' (सां०का० ४४)

इत्यादि । कुत्सितं चक्रं चक्रकम्, नियतिरेव आवर्तमानो दण्ड एव दण्डकः, तेन आहतं प्रेरितम्, मलेन आणवेन, कर्मणा, कलोपलक्षितेन मायीयेन विद्यादिना आविद्धं वेगेन प्रेरितम् कलनामयकालतत्त्वकृतवेगेन भ्राम्यति ॥

यत ईदृशमेतदतिविषमं चक्रम्, ततः—

लौकिकाद्येषु ज्ञानेषु ये तेष्वभिरताः प्रिये ।
हेतुशास्त्रपरा ये तु ये चान्ये पापकर्मिणः ॥१८८॥
ते सर्वे चास्य चक्रस्य नान्तं पश्यन्ति मोहिताः ।

तेष्विति प्रोक्तरूपेषु । ये त्वित्यनेन लौकिकनिष्ठेभ्योऽपि शुष्कतर्कनिष्ठानामौपहत्यं ध्वन्यते । मोहिता मायया स्थगितस्वरूपाः ॥

अयं च सर्वशास्त्रेभ्यः शिवशास्त्रस्य विशेषः, यत्—

लौकिकाद्येषु ये साध्या अतिमार्गान्तगोचरे ॥१८९॥
लीलया साधयेत् सर्वान् शिवज्ञाने महोदये ।

ये सिद्धिविशेषा लौकिकादौ साध्यास्तान् सर्वानतिमार्गलक्षणो योऽन्तः सर्वशास्त्रपरिनिष्ठास्थानम्, तद्गोचरे तद्विषये महोदयहेतौ शिवज्ञाने साधको लीलया साधयति ॥

यच्च शैवज्ञानेन साध्यते—

न सर्वैः साध्यते तद्वै

लौकिकादिभिः ॥

अत्र हेतुः—

यतोऽस्तीव सुनिर्मलम् ॥१९०॥

शिवज्ञानमिति शेषः ॥१९०॥

सुनिर्मलत्वमेव स्पष्टयति—

यतो योजयते देवि अभावे परमे पदे ।

अविद्यमाना भावभेदरूपाः पदार्था यत्र ॥

एतत् स्फुटयति—

अभावं भावनातीतं प्रपञ्चातीतगोचरम् ॥१९१॥

मनोबुद्धयादिनिर्मुक्तं हेतुवादविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च व्यतीतं प्रभु चाव्ययम् ॥१९२॥
सर्वतर्कागमातीतं पाशमन्त्रविवर्जितम् ।
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं निर्मलं निरुपप्लवम् ॥१९३॥

अविद्यमाना भावा यत्र तादृशं परमं पदम् । भावनातीतं यतः प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतो गोचरो विषयतया संभाव्यमानं रूपं यस्य । अत एव मनोबुद्धयादिनिर्मुक्तम् । अत एव च हेतुवादेन विवर्जितं सर्वविचारभित्तिभूतत्वाद्विचारयितुमशक्यमित्यर्थः तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयः प्रमाणानामपि स्वप्रकाशतद्वृत्तिवशेन प्रकाशनात् सर्वावभासोल्लासकत्वाच्च । प्रभु प्रभवनशीलं स्वतन्त्रम् । न चोल्लास्यविनाशेऽस्यान्यस्येव मनागप्यन्यथाभाव इत्यव्ययमिति । सर्वं तर्क्यते विचार्यते यैरागमैरित्यागमविशेषैः पारमेश्वरैस्तेषामेव सर्वविचारकत्वात्, तानप्यतिक्रान्तं तेषामप्यविषयः, यतो मायान्तैरशुद्धाध्वगैः पाशैः शुद्धाध्वस्थैश्च मन्त्रैर्विवर्जितम् । सर्वं जानात्यभेदेन पश्यति, सर्वं गच्छत्यधिव्याप्नोति, तथापि च तेन न मनागप्यारूष्यत इति शान्तं चिदेकरूपम्, तथापि च निष्क्रान्ता उद्भूता आणवादिमला यस्मात्तादृक्, ईदृगपि च तैरसंस्पृष्टत्वाद् निरुपप्लवं निर्विकल्पं सततावभास्वरसर्वाभासकस्वतन्त्रचिदेकरूपम् ॥१९३॥

किं च—

सर्वशक्त्यात्मकं ह्येकं स्वतन्त्रानाथनादिमत् ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तमनादिभववर्जितम् ॥१९४॥
सर्वज्ञानपदातीतं शैवं ज्ञानं परं स्मृतम् ।

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं'

इति नीत्या जगदात्मकसर्वशक्तिस्वभावम् । एकमद्वितीयम् । स्वमात्मीयं रूपमेव तन्त्रं प्रपञ्चधाकृत्यकर्मण्युपकरणं यस्य, तत्स्वतन्त्रम् । तथा न विद्यतेऽन्यो नाथो यस्य तदनाथं विश्वेश्वरम् । तथाऽनादिमत् सर्वस्यादिभूतम् । सर्वैर्ज्ञानक्रियादिविषयैर्निर्मुक्तं विश्वातिशायिनिरतिशयचिन्मात्ररूपमित्यर्थः । अनादिनाऽहंप्रथमिकाप्रवृत्तेन भवेन वर्जितमस्पृष्टम् । सर्वेषां बौद्धसांख्यलाकुलादिज्ञानानां यत्पदं स्वं स्वं विश्रान्तिधाम तदप्युल्लंघ्य स्थितम् । एवंभूतं यत् परमनुत्तरं शिवज्ञानम्, तद् अनुभवरूपं स्मृतमविच्छिन्नेन पारम्पर्येण प्रतीतमित्यर्थः ॥

एवं तत्त्वभूतभावभेदसृष्टीः प्रतिपाद्य, धर्मज्ञानादिनिबद्धलौकिकादिज्ञाननिरूपणपूर्वं शैवज्ञानमाहात्म्यं च निर्णीयोक्ततत्त्वादिसृष्टिमनुवादभङ्ग्योपसंहरन् शिवज्ञानमाहात्म्यमेवाधिकावापेन दर्शयति—

एवं सृष्टानि तत्त्वानि ज्ञानानि च वरानने ॥१९५॥

तत्त्वैरेतैर्जगत्सर्वं विसृष्टं सचराचरम् ।

विशेषेण सृष्टं चतुर्दशविधभूतसर्गात्मना प्रपञ्चितम् ॥

किं च—

भुवनानि विचित्राणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥१९६॥
तत्त्वाभ्यन्तरसंस्थानि

यानि भुवनानि भुवनाध्वन्युक्तानि, तान्यपि तत्त्वैरेव सृष्टानि ॥

तथा प्रोक्तज्ञानरूपाणि—

शास्त्राणि विविधानि च ।

न केवलं भुवनानि शास्त्राणि च तत्त्वाभ्यन्तराणि, यावत्—

विज्ञानं कुहकं शिल्पं सिद्धिसन्दोहलक्षणम् ॥१९७॥
सर्वं तत्त्वेषु बोद्धव्यं

विविधं मन्त्रमण्डलमुद्रादिज्ञानम्, तथा कुहकं विस्मापकं मितहृदयप्रत्ययकारि इन्द्रजालप्रायम्, शिल्पं चित्रपुस्तपुत्तलिकानृत्तगीतादि, सिद्धीनां वश्याकर्षणादिरूपाणां सन्दोहं समूहं लक्षयति दर्शयति च यद् ज्ञानं, तत् सर्वं तत्त्वेष्वस्तीति ज्ञेयम् ॥

यतः—

सर्वतत्त्वेषु दृश्यते ।

तत्तत्तत्त्वौचित्येन तत्त्वसाक्षात्कारादिभिरुपलभ्यते ॥

न केवलं तत्त्वेषु साधकोपयोगि ज्ञेयमस्ति, यावत्—

प्रक्रिया शिवदीक्षा च तत्त्वैरेतैर्हि लभ्यते ॥१९८॥

पूर्वोक्ततत्त्वादिप्रदर्शनरूपा ज्ञानशालिनां साधकानां चोपयोगिनी या प्रक्रिया, तथा तत्तत्तत्त्वगतविचित्रभुवनभोगोचिततत्तद्योनिभेदोत्पत्तिनिष्कृतिकर्मादिपाशप्रशमः शिवयोजनिका चैतैरुक्तरूपैस्तत्त्वैर्लभ्यते, नान्यथा । तदर्थं यथोक्ततत्त्वस्वरूपमवश्यज्ञेयम् ॥१९८॥

युक्तं चैतत्, यतः—

नास्ति दीक्षासमो मोक्षः

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि'

इति हि प्रतिपादितमन्यत्र ॥

दीक्षा च यैर्मन्त्रैः क्रियते, तद्वीर्यरूपा—

न विद्या मातृका परा ।

सा हि भगवती अशेषवाच्यवाचकात्मकजगदभेदचमत्कारात्मकशब्दराशिविमर्शपरमार्था सर्वमन्त्रारणिस्तत्र तत्रागमेषु निर्दिश्यते । सा चैषा विश्वावमर्शनेन परं ज्ञानं प्रयच्छति ॥

तच्च प्रतिपादिताध्वप्रक्रियामयमेवेत्याह—

न प्रक्रियापरं ज्ञानं

प्रक्रियातः परमन्यज्ज्ञानं परितुच्छमेव ॥

ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकमिति पूर्वनिरूपितनीत्या ज्ञानेन लक्षणीयो यो लक्ष्यभूतपरतत्त्वैकात्मा योगस्ततोऽन्यो मितयोगो हेय एवेत्याह—

नास्ति योगस्त्वलक्ष्यकः ॥१९९॥

अविद्यमानं परं लक्ष्यं विश्रान्तिधाम यस्य तादृशो योगो नास्ति। विद्यमानोऽपि मितयोग इहानुत्तरचर्चायामयोग एवेति योजनिकोक्तः परयोग एवेह योगः ॥१९९॥

एवं परपुरुषार्थप्रापकदीक्षातदुपयोगिमातृकाप्रक्रियाज्ञानालक्ष्यकयोगस्वरूपमेतत्सर्वमेव सातिशयं वस्तु पारमेश्वर एव शासन उपादिश्यत इति तदेव सर्वशास्त्रोत्तममिति निरूपयति—

तत्सर्वं कथितं देवि शिवज्ञानमहोदधौ।

शिवज्ञानमेवागाधत्वात् समग्रज्ञाननदीभेदविश्रान्तिधामत्वात् समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुत्वाच्च महोदधिः ॥

प्रकृतमुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

एवं सृष्टिः समाख्याता स्थितिः संहार उच्यते ॥२००॥

संहारश्चेत्यर्थः। तत्र स्थितिर्नियतिकालावस्थानात्मा, तत्प्रान्ते च संहारस्तथेति ॥२००॥

यतः प्रभृति प्रवृत्तो यादृशश्च यस्य स्थाप्यस्य संहार्यस्य च कालः, तत्सर्वमादेष्टुमाह—

मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः ॥२०१॥
लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात्।
दश पञ्च निमेषाश्च काष्ठा चैव प्रकीर्तिता ॥२०२॥
त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेया मुहूर्तस्त्रिंशदेव ताः।
मुहूर्तस्तु पुनस्त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः ॥२०३॥

शास्त्रव्युत्पिपादयिषितानां मनुष्याणां स्वानुभवसिद्धो योऽक्ष्णो निमेषः पक्ष्मसंकोचस्तदीयो योऽष्टमांशोऽत्यन्तमणीयान् कालावयवः, अक्षिनिमेषकाल प्रतीत्यैव कल्प्यमानः, स क्षणः। लव इति यः प्राणीयस्त्रुटिकालः। यदुक्तं प्राक्—

'त्रुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्ये नैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥' (७।२७)

इति । लवद्वयं निमेष इति क्षणाष्टकरूपः । मुहूर्त इति द्विघटिकारूपः ॥२०३॥

किं च—

अहोरात्रशतैश्चैव त्रिभिः षष्ट्यधिकैः प्रिये ।
संवत्सरस्तु विज्ञेयो मानुषः कमलेक्षणे ॥२०४॥
संवत्सरशतं पूर्णमायुर्ज्ञेयं तु मानुषम् ।

विंशत्यधिकं त्विह शतं परमायुरिति प्रसिद्धम् ॥

यदुक्तं षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयेण वत्सर इति, तदेव पक्षमासादिविभागपूर्वं स्फुटयति—

दश पञ्च त्वहोरात्राः पक्षस्तु परिकीर्तितः ॥२०५॥
पक्षद्वयेन मासस्तु ऋतुर्द्विगुण एव सः ।
ऋतुद्वयेन कालः स्यादयनं च त्रिभिस्त्रिभिः ॥२०६॥
ताभ्यां द्वाभ्यां वरारोहे वर्षं तु परिगीयते ।

कालश्चतुर्मासिसंज्ञः । अयनमुत्तरायणं दक्षिणायनं च ॥

इत्थमयनद्वयात्मको यो मनुष्याणां वत्सरः, स एव पित्र्योऽहोरात्र इत्याह—

दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ॥२०७॥
पितॄणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ।
एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत् ॥२०८॥

आदिशब्दात् पक्षमासादि । इत्थं पितॄणां देवानां च तुल्याऽहोरात्रकलनेति पुराणपुस्तकेषु दृश्यते, अद्यतनैस्तु 'ऋतुर्द्विगुण एव सः' (११।२०६) इतोऽनन्तरम्—

'कृष्णपक्षस्त्वहश्चैव शुक्लस्तु रजनी भवेत् ।
पितॄणां सोऽप्यहोरात्रस्त्वनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ॥'

इति विपर्यास्य पठित्वा मानुष्यो मासः पित्र्योऽहोरात्र इति व्याख्यातम्, तेषां च सांवत्सरिकी पितृदिनव्यवस्था लौकिक्यपि स्थितिः प्रसृता ॥

तदेवं मानुषषष्ट्यधिकत्रिशताब्दपरिमाणो यो दिव्यो वत्सरस्तमाश्रित्य—

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम् ।

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं चतुर्युगम् ॥

अत्र चायं विभागः—

चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम् ॥२०९॥

त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः ।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये ॥२१०॥

एवं दश वर्षाणां सहस्राणि ॥२१०॥

यत्त्ववशिष्टं सहस्रद्वयम्, ततः—

सन्ध्याद्वयस्य मानं तु कथयामि युगे युगे ।

आद्यन्तगतस्य ॥

तत्र—

शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते ॥२११॥
त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम् ।
कलौ चापि शतं ज्ञेयं सन्ध्यामानमिदं स्मृतम् ॥२१२॥

एवं च कलेरन्ते शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानीति कलिकृतयुगयोः सन्ध्या पञ्च शतानि, एवं कृतत्रेतयोः सन्ध्या सप्त शतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च शतानि, द्वापरकलियुगयोः त्रीणि शतानीति गणयित्वा सहस्रद्वयम् । एतत् प्रागुक्तेन सहस्रदशकेन सह द्वादशसहस्रं चतुर्युगम् । यदा तु—

'सन्धिसन्ध्यंशमानं तु कथयामि'

इति पाठः, तदाप्रोक्तोभयमेलनात् ससन्धिमानमेकैकशतं तु सन्ध्यंशमानं ज्ञेयम् ॥२१२॥

एतदेव च—

लौकिकेन तु मानेन पुनश्च कथयामि ते ।

यावत्संख्याकं भवति ॥

त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्राणि च विंशतिः ॥२१३॥
लौकिकेन तु मानेन त्वियं संख्या चतुर्युगे ।

वर्षाणामिति शेषः ॥

विभागेनापि—

एकैकस्य पुनर्देवि युगस्य कथयामि ते ॥२१४॥

लौकिकवर्षसंख्याम् ॥२१४॥

दश सप्त च लक्षाणि सहस्राण्यष्टविंशतिः ।
कृतस्यैतद्भवेन्मानं

आद्यन्तगतचतुःशतसन्ध्यंशयुक्तस्य, न तु केवलस्य । एवमुत्तरत्र ॥

त्रेतायाः कथयामि ते ॥२१५॥
षण्णवतिः सहस्राणि लक्षाणि द्वादशैव तु ।
त्रेतायुगस्य मानं तु द्वापरस्य निबोध मे ॥२१६॥

चतुःषष्टिः सहस्राणि ह्यष्टौ लक्षाणि सुव्रते ।
द्वापरस्य तु मानं च कलेस्तु कथयामि ते ॥२१७॥
द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि लक्षाणां च चतुष्टयम् ।
एतन्मानं कलेः प्रोक्तं समासात्तव सुव्रते ॥२१८॥

तदित्थम्—

वर्षैस्तु मानवैर्देवि मानमेतद्युगे युगे ।

एवमुक्तदिव्यलौकिकाब्दमानानुसारेण—

चतुर्युगैकसप्तत्या भवेन्मन्वन्तरं पुनः ॥२१९॥

एतच्चास्य—

सन्ध्यामानविहीनं तु युगै (र्मलं ? मानं) प्रकीर्तितम् ।
एतद्दिव्येन मानेन मानं मन्वन्तरे स्मृतम् ॥२२०॥

चतुर्युगशतानि द्वादशाब्दसहस्राण्येकसप्तत्या गणयेत् ॥२२०॥

एतदेव च मानम्—

वर्षमानैः पुनश्चैव लौकिकैः कथयामि ते ।
सप्तषष्टिस्तु लक्षाणि त्रिंशत्कोट्यो वरानने ॥२२१॥
सहस्रविंशतिर्ज्ञेयं मानं मन्वन्तरे प्रिये ।

सषष्टिशतत्रयकलनया मन्वन्तरकाल एव चैन्द्रस्थितिकालः ॥

एवमेवंविधैः—

चतुर्दशभिर्देवेशि कल्पो मन्वन्तरे भवेत् ॥२२२॥

मन्वन्तरसन्ध्यामानमाह—

मन्वन्तरे व्यतिक्रान्ते चान्यस्मिन् पुनरागते ।
पञ्च वर्षसहस्राणि मध्ये सन्ध्या भवेत् सदा ॥२२३॥

दिव्यानीत्यर्थात् ॥२२३॥

अयं तु विशेषः, यत्—

आदौ सहस्रं सर्वेषामन्ते चापि पुनस्तथा ।

ब्रह्मदिनगतमन्वन्तरापेक्षयाऽऽदावन्ते चेति प्रथममन्वन्तरस्यादौ चरममन्वन्तरस्यान्ते सहस्रमेकमधिकमिति ॥

तदित्थं ससन्ध्याकालचतुर्दशमन्वन्तरकालः—

कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम् ॥२२४॥

कल्पते विश्वमस्मिन्निति कल्पः, एकसप्तत्या चतुर्युगैश्च मन्वन्तरगुणितैः षड्भिरूनं चतुर्युगसहस्रं भवति । मन्वन्तरेषु सन्ध्याकालोऽप्युक्तनीत्या द्वासप्ततिसहस्र इति तदीयचतुर्युगषट्केन सहस्रमानमेतदुक्तम् ॥२२४॥

एतच्च—

वर्षमानेन दिव्येन पुनश्च कथयामि ते ।

संख्यातमिति शेषः ॥

तदाह—

कोटिरेका तु वर्षाणां लक्षाणां चैव विंशतिः ॥२२५॥
दिव्येनैव तु मानेन ब्रह्मणस्तु दिनं भवेत् ।

द्वादश सहस्राणि सहस्रगुणितान्येवमेव भवन्ति ॥

ईदृशस्यास्य ब्राह्मदिनस्य—

षण्णवत्या सहस्रैस्तु सन्ध्याकालः प्रकीर्तितः ॥२२६॥

अष्टौ चतुर्युगानि षण्णवत्या वर्षसहस्रमेंवन्ति । तत्र प्रातःसन्ध्यायां दिनशतानि चत्वारि चतुर्युगानि, सायंसन्ध्यायां चत्वारीति विभागः । निशाद्यन्तगतान्यप्येवमेवेत्यष्टयुगः प्रातः सायं च सन्ध्याकालः ॥२२६॥

एतच्च—

लौकिकेन तु मानेन अधुना कथयामि ते ।

सङ्ख्यातमिति शेषः ॥

तदाह—

वर्षवृन्दानि चत्वारि त्वर्बुदत्रयमेव च ॥२२७॥
कोटिद्वयं च देवेशि दिनं पैतामहं स्मृतम् ।
सन्ध्या कोटित्रयं चैव पञ्च लक्षाणि कीर्तिता ॥२२८॥
चत्वारिंशत्तथा षष्टिः सहस्राणि तथैव च ।

षण्णवतिसहस्राणि सषष्टिशतत्रयकलितान्येवमेव भवन्ति । अतश्च यत् श्रीभुल्लकः ।

'सन्ध्याकोटित्रयं लक्षाणि चतुःसप्ततिरेव च'

इत्यादि पठितवान्, तदुपेक्ष्यम् ॥

यथा चायम्—

पश्चिमः सन्धिरेवं हि

सन्धिः सन्ध्याकालः ॥

तथा—

पूर्वसन्ध्यापि तत्समा ॥२२९॥

तदित्थं ब्रह्मदिनावधिका—

नरकैः सह सप्तानां पातालानां तथा प्रिये ।
लोकानां चैव सप्तानां स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ॥२३०॥

लोकानां तन्निवासस्थानानां भूरादीनाम् ॥

तथैषामेव—

संहारं च पुनर्देवि शृणुष्व कथयामि ते।
ब्रह्मणः स्वदिनान्ते वै कल्पः संहार उच्यते ॥२३१॥

स्वदिनान्त इति तन्निशायाम्। कल्प इति कल्प्यते च्छिद्यतेऽस्मिन् विश्वमिति कृत्वा। संहार इति संहारकालः ॥२३१॥

तत्र—

दिनेनैकेन ब्राह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश।
राज्यं कृत्वा क्रमाद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया ॥२३२॥

प्रतिमन्वन्तरं राज्यं कृत्वा, एकैक इन्द्रः स्वकर्मौचित्येन गच्छति ॥२३२॥

ततः संहरते विश्वं सप्तलोकान्तगोचरम्।
सुप्ते पितामहे देवि ऊर्ध्वं कालाग्निरीक्षते ॥२३३॥

तत इति चतुर्दशेन्द्रान्ते। पशुवन्निद्रायमाणेन ब्रह्मणा जनितविस्मयो यावत् कालाग्निरूर्ध्वमीक्षते, तावत् सप्तलोकान्तगोचरं विषयजातं संहरति ॥२३३॥

अथ निरीक्षणसमये—

तस्य वै दक्षिणं वक्त्रं महाज्वालां विनिक्षिपेत्।

अतश्च—

तस्माद्वक्त्रान्महाज्वाला लक्षयोजनविस्तृता ॥२३४॥
ऊर्ध्वं प्रयाति सा दीप्ता तीव्रवेगा सुदुःसहा।

अत्र चावसरे सप्तसु—

लोकेषु ये स्थिता लोका ये च पातालवासिनः ॥२३५॥
सुखदुःखोभये क्षीणे मोहं भूयिष्ठमागते।
सत्तामात्रास्तु ते सर्वे भवन्ति ब्रह्मविष्टपे ॥२३६॥

ये चेति चशब्दान्नरकादिक्षेत्रगताः। ब्रह्मविष्टपे सत्यलोकोर्ध्ववर्तिनि ब्रह्मभुवने ॥२३६॥

कियदवधिका एषां मूढतेत्याह—

यावन्नोदयनं भूयः सुखदुःखादिकर्मणाम्।
तावत्तिष्ठन्ति ते मूढा यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ॥२३७।

सुखदुःखयोरादिशब्दाद् जन्मायुषोर्हेतुभूतानि कर्माणि, तेषाम्। उदयो विपाकः ॥२३७॥

ये तु—

रुद्रलोकाधिपतयः पातालपतयश्च ये ।
कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु ते तिष्ठन्त्यतिनिर्मलाः ॥२३८॥

न तु मनागपि म्लायन्ति ॥२३८॥

किन्तु—

निर्व्यापारास्तु ते तावद्यावत् सृष्टिः पुनर्भवेत् ।

निवृत्तानुग्रहादिव्यापाराः ॥

अथ—

शून्यभूतेषु लोकेषु ज्वाला दहति दुर्धरा ॥२३९॥
सा दहेन्नरकान् देवि पातालानि समन्ततः ।
त्रींल्लोकांश्चैव दहति भूर्भुवःस्वःपदान्तिकान् ॥२४०॥

शून्यभूतेषु लोकेष्विवति तन्निमित्तम्, नरकेभ्यः प्रभृति स्वर्लोकान्तं दहति ॥२४०॥

ये त्वन्ये, ते—

धूमेन च त्रयो लोका विनश्यन्ति वरानने ।
महोजनस्तपःसंज्ञाः

सप्तमस्तु—

सत्यलोकोऽपि सुव्रते ॥२४१॥

पूर्वे च सर्वे—

तिष्ठन्ति मोहितात्मानो निद्रया ते मृतोपमाः ।

अथ—

एवं दग्ध्वा जगत्सर्वं ज्वाला वक्त्रं विशेत् पुनः ॥२४२॥

कालाग्नेर्दक्षिणमेव ॥२४२॥

ततो वान्ति महावाता ब्रह्मनिःश्वाससम्भवाः ।

ते च—

नाशयन्ति च तद्भस्म जगद्दाहोद्भवं प्रिये ॥२४३॥

अथ—

ब्रह्मप्रस्वेदजं वारि तज्जगत् प्लावयेत् पुनः ।
तेनैव वारिणा देवि जगदेकार्णवं भवेत् ॥२४४॥

कालवह्न्यूष्मजोऽस्य प्रस्वेदः ॥२४४॥

अथ—

निशाक्षये पुनः स्थित्वा सुखदुःखफलोदये ।
कर्मतः सर्वलोकस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ॥२४५॥
शून्यभूतां समालोक्य भगवान् प्रभुरिच्छया ।
षड्विधां कुरुते सृष्टिं यथापूर्वव्यवस्थया ॥२४६॥

कर्मपरिपाकक्रमेण कर्मिणां सुखदुःखफलस्योदयो यत्र तादृशे रात्र्यन्ते । स्थित्वाऽनुपश्चान्तनिःशेषनिद्रासंस्कारो भूत्वा । कर्मतः परिपक्वादिच्छामात्रात् । षड्विधामिति नारकिस्थावरसरीसृपादिपश्वन्तां त्रिविधां क्रमात्क्रममपचितां तामसीम्, तमोरजःसमाविष्टां मानवीम्, रजःसत्त्वसमाविष्टां मौनीम्, सात्त्विकीं तु दैवीम् । व्यवस्थयेति भुवनादिमर्यादया ॥२४६॥

तत्र—

प्रथमां तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटान् ।
नरकान् विविधाकारान्

ततोऽशेनांशेन तमसोऽनुत्कटत्वे—

पशून् वै स्थावरान्तगान् ॥२४७॥

पशूनिति सरीसृपपक्षिमृगपशूनित्यर्थः ॥

ततोऽपि—

तमोरजःसमावेशान् मानवान् संसृजेत् पुनः ।
रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥२४८॥

एवमियत्पर्यन्तं ब्रह्मणः क्रमात्क्रमं निद्रासंस्कारस्याधिकाधिकतरत्वम् ॥२४८॥

अथ—

गतनिद्रः प्रबुद्धस्तु सत्त्वनिष्ठो जगत्पतिः ।
सृजेद्देवान् सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ॥२४९॥

सह लोकैस्तन्निवासस्थानैर्वर्तन्ते ये तान् । एतच्च विशेषणं सिंहावलोकित-न्यायेन पूर्वत्रापि सम्बध्यते । पूर्वव्यवस्था पैशाचादिब्रह्मान्ता ॥२४९॥

इत्थं षड्विधायां सृष्टौ निष्पन्नायाम्—

ततो रुद्रेन्द्रसूर्येन्दुनक्षत्राणि ग्रहेश्वराः ।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति स्वे स्वे विषयगोचरे ॥२५०॥

पारमेशान्नियोगात्—

दिने दिने सृजत्येवं

ब्रह्मा ॥

कालाग्निस्तु—

संहरेच्च दिनक्षये।

अस्य च ब्रह्मणः—

दिनमानं च यत्प्रोक्तं रात्रिसंख्या च तावती ॥२५१॥

तदित्थम्—

अहोरात्रेण चानेन अब्दं वै पूर्ववत् स्मृतम्।

शतत्रयेण षष्ट्यधिकेन ॥

अब्दानां तु शते पूर्णे महाकल्पः स उच्यते ॥२५२॥
ब्राह्मे वर्षशते देवि दिव्यान्यब्दानि मे शृणु।
एकनवतिकोटिस्तु तथा लक्षाणि विंशतिः ॥२५३॥
तथा सप्तैव खर्वाणि निखर्वाष्टकमेव च।
ब्राह्मं वर्षशतं चैतज्ज्ञातव्यं कालवेदिना ॥२५४॥

दिव्यवर्षमानेन ब्राह्ममहः सन्ध्याकालं विना सविंशतिलक्षा कोटिरेकेत्युक्तम्, रात्रिश्च तावतीति कोटिद्वयं सचत्वारिंशल्लक्षम्। एतद्दिनानां शतत्रयेण सषष्टिना गुणितमष्टौ वृन्दानि, षडर्बुदानि, चतस्रश्च कोटयो भवन्ति। सन्ध्याकालोऽपि षण्णवत्या सहस्रैर्यं उक्तः, सोऽपि शतत्रयेण सषष्टिना कलितः संस्तिस्रः कोटयः, पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाणि, षष्टिः सहस्राणि भवन्ति। सोऽपि सायंप्रातर्भेदाद्द्विगुणः सन् कोटयः षड्लक्षाण्येकनवतिर्विंशतिः सहस्राणि भवन्ति। उभयं वृन्दान्यष्टौ, अर्बुदानि सप्ततिरेकनवतिर्लक्षाणि, विंशतिः सहस्राणि भवन्ति ८७०९१२००००। एतदपि वत्सरसङ्ख्या शतेन कलितं निखर्वाण्यष्टौ खर्वाणि सप्त वृन्दस्थाने शून्यमेकनवतिः कोट्यो लक्षाणि विंशतिरिति ८७०९१२००००००। इत्थमेषा यथोक्तैव सङ्ख्या भवति। एकान्ननवतिः कोटच इत्यपपाठः ॥

तदित्थम्—

दैविकेन तु मानेन मानमित्थं प्रकीर्तितम्।

अथैतदेव—

लौकिकेन तु मानेन पुनश्चैव निबोध मे ॥२५५॥

तद्यथा—

द्वात्रिंशदब्दकोट्यस्तु तथा खर्वाष्टकं प्रिये।
खर्वद्वयं च देवेशि निखर्वाः पञ्च एव तु ॥२५६॥
शङ्कुत्रयं पद्ममेकं सागरत्रयमेव च।

पूर्वोक्तैकनवतिकोट्या दैविकमानकलितस्य ब्राह्मवर्षशतस्य लौकिकवत्सरमानेन षष्टिशतत्रयकलनयोक्तैव सङ्ख्याऽऽयाति। यत्तु श्रीभुल्लकः—

'·······थाब्दकोट्यस्तु एकं चैवार्बुदं प्रिये ।
खर्वाशीतिस्तथा चैव निखर्वाणां च पञ्चकम् ।।
चतुष्टयं च शङ्कूनां त्रिंशत्सागर एव च ।'

इत्यपठत्, तदसङ्गतत्वादुपेक्ष्यमेव ।।

इत्थं लौकिकाब्दमानेन—

एतद्देवि समाख्यातं ज्ञातव्यं च मुमुक्षुभिः ।।२५७।।

महाकल्पान्तावस्थितिदाय्यपि ब्राह्मं पदं संह्रियमाणत्वात् पर्यन्तविरसम्, एवं वक्ष्यमाणनीत्याऽनाश्रितान्तमपीति सर्वथा स्वस्ति स्वप्नोपमेभ्यो भोगेभ्यो इति मत्वा दिक्कालाकाराकलितचिद्घनपरभैरवस्वरूपसमापत्तिरेव मुमुक्षुभिराश्रयणीयेति तात्पर्यम् ।।२५७।।

उपसंहरति—

एतल्लौकिकमानेन ब्राह्ममब्दशतं स्मृतम् ।

उक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्या एकादिपरार्धान्तायाः सङ्ख्यायाः क्रमेण रूपं लक्षयति—

एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ।।२५८।।
शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ।
सहस्रं दशगुणितमयुतं तद्धि कीर्तितम् ।।२५९।।
दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि च ।
दश तानि च कोटिः स्यात् दश कोटिस्तथार्बुदम् ।।२६०।।
अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ।
दशभिस्तैर्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद्दश तानि तु ।।२६१।।
शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ।
सागरैर्दशभिर्मध्यमन्त्यं तैर्दशभिः स्मृतम् ।।२६२।।
अन्त्यं दशाहतं कृत्वा परार्धं परिकीर्तितम् ।

उपसंहरति—

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु ।।२६३।।

भवन्तीति शेषः ।।२६३।।

एवं प्रसङ्गात् सङ्ख्यास्वरूपमुपदर्श्य प्रकृतमाह—

महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम् ।

अवृत्तपरशक्तिपातः परे इति सापेक्षतया प्रकृष्टे समनन्तरे कारणे लीयते, वृत्तपरशक्तिपातस्तु परमशिवे

'परस्मिन् ब्रह्मणि व्रजेत्' (१०।५३३)

इति पूर्वग्रन्थेऽयमेवाशयः । एवमुत्तरत्राप्यनुसर्तव्यम् ।

यश्चायमेवमुक्तो महाकल्पः—

विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ॥२६४॥

ब्रह्माण्डानुविषयलोकस्थस्य ॥२६४॥

किञ्च—

अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते ।

अह्नां चैव शतत्रयेण सषष्टिना ॥

वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽपि याति परे लयम् ॥२६५॥

इत्थम्—

विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं भवेत् ।

रुद्रलोकस्थस्य ॥

स च—

दिने दिने सृजत्यन्यौ ब्रह्मविष्णू प्रजापती ॥२६६॥

प्राक्सृष्टयोः परब्रह्मणि लयादन्यं विष्णुं सृष्ट्वा, तन्मूर्त्याविष्टो ब्रह्माणमप्यन्यं सृजतीत्यर्थः ॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता ।
यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते ॥२६७॥

चो भिन्नक्रमः । पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी च शक्तिर्यमात्मानं पुद्गलमधितिष्ठत्यधिकुरुते, स आत्मा तत्संज्ञामिति ब्रह्मत्वं विष्णुत्वं च प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२६७॥

प्राप्य च तद्रूपत्वमसौ—

तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।

परमात्मनो निर्णीतस्वरूपस्य परमशिवस्य, न तु परेच्छाधिष्ठितोत्तरोत्तरकारणस्य, इच्छया ॥

यथा च ब्रह्मविष्णू पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी शक्तिः परमार्थतः, तथा विश्वमिदं पारमेश्वरशक्तिमयमेवेत्याह—

ब्रह्मविष्णिवन्द्ररुद्राश्च विद्येशा ईश्वरस्तथा ॥२६८॥
लोकाधिपाश्च देवेशि तथा च भुवनाधिपाः ।
ग्रहादिमातरो रुद्रा योगनक्षत्रराशयः ॥२६९॥
शक्तियुक्तास्तु ते सर्वे भवन्ति तदधिष्ठिताः ।
तत्पराक्रमवीर्यास्तु स्वकीये तु पदे स्थिताः ॥२७०॥

लोकाधिपा इन्द्राद्या लोकपालाः। ग्रहादयश्च मातरश्चेति द्वन्द्वः, मातरो ब्राह्म्याद्याः। योगाः सुनफाद्या ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धाः। ते सर्वे इति, उक्तास्तया परमेश्वरेच्छयाऽधिष्ठिताः सन्तः शक्तियुक्ता निजनिजसामर्थ्यभाजो भवन्ति ॥२७०॥

पूर्वं ब्राह्म्या वैष्णव्या चाधिष्ठितत्वं ब्रह्मविष्ण्वोरुक्तम्, इदानीं तु ब्रह्मादिभिरपि सह सर्वेषां परशक्त्यधिष्ठितत्वमतश्च सर्वमिदं जगत्—

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान्।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि भेदैरानन्त्यसम्भवैः ॥२७१॥

महती स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः। शिवः प्रकाशानन्दघनः श्रेयोरूपः। चकारात् शक्तिरपि एकाऽद्वितीयाऽनादिमती च भेदैर्नानावैचित्र्यैर्भिद्यते ग्राह्यग्राहकाद्याभासतया स्फुरति ॥

शिवशक्त्यद्वयमयतां प्रासङ्गिकीमुक्त्वा प्रकृतमाह—

एवं वै कुरुते सृष्टिं रुद्रश्चैव दिने दिने।
संहारं च दिनान्ते वै

सा च संसाररूपस्य—

रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ॥२७२॥

दिनरात्रिसाम्यमेवेश्वरेच्छातः सूर्यसोमसञ्चारादिति टीकाकारमतमसमञ्जसम्, तत्तद्भुवनतदीश्वरप्रभाभास्वरेषु ब्रह्मादिलोकेषु सूर्यादीनां प्रकाशकत्वेन क्वाप्यश्रुतत्वात् ॥२७२॥

इत्थम्—

दिनरात्रिप्रमाणेनानेन स्याद्वत्सरोऽस्य च।

अस्येति रुद्रस्य ॥

वत्सराणां शते पूर्णे शतरुद्रदिनक्षयात् ॥२७३॥
सोऽपि याति परं स्थानं यद्गत्वा निष्कलो भवेत्।

रौद्रं वर्षशतं शतरुद्राणां दिनम्, तस्य क्षयः पर्यन्तः ॥

तदन्ते च—

तस्मिन् स्थाने पुनश्चान्यस्तत्समश्च प्रभुर्भवेत् ॥२७४॥
रौद्रशक्तिसमायोगाद्ब्रह्मविष्णिवन्द्रनायकः।

तदित्थमहोरात्रादिकलनया—

शतरुद्रास्तु देवेशि स्वाब्दानां तु शतक्षये ॥२७५॥
ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोऽण्डं तु विनश्यति।

शतरुद्रजीवितावधिर्ब्रह्माण्डस्थितिकाल इत्यर्थः ॥

कीदृगण्डमित्याह—

सर्वभूतगुणाधारं सर्वतत्त्वालयालयम् ॥२७६॥
सपर्वतवनोद्यानद्वीपसागरमण्डितम् ।
विमानमालाकुलितं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥२७७॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
ऋषिभिर्मानुषाद्यैश्च सप्तलोकनिवासिभिः ॥२७८॥
नरकैश्चैव पातालैर्युक्तं भुवनमण्डितम् ।

सर्वेषां भूतानां पृथ्व्यादीनाम्, गुणानां च शब्दादीनाम्, भूतगुणानां च पाण्डित्यशौर्यादीनामाश्रयः, तथा सर्वतत्त्वालयानां षट्त्रिंशत्तत्त्वमयानां नानाशरीराणामालयो निवासरूपः ॥

ईदृशं च—

अशेषभुवनाधारमण्डमप्सु प्रलीयते ॥२७९॥

एवं च यथोत्पादं तत्त्वानि स्वकारणेषु लीयन्ते । यद्वक्ष्यति—

'आपस्तेजसि लीयन्ते' (११।२८४)

इत्यादि ॥२७९॥

इत्थं शतरुद्रान्तायां स्थितौ संहृतायां ब्रह्माण्डोर्ध्वाधरकर्परिकोपरिवर्ती संहर्तृरूपः—

ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत् ।

अशेषविश्वकलनाकारित्वात् कालश्चासौ तत्त्वं च तदिति कालतत्त्वमकालकलितः परमेश्वरः ॥

यद्येवम्, अबादितत्त्वसंहारं कः करोतीत्याशङ्क्याह—

अप्तत्त्वात्तु समारभ्य यावन्मायान्तगोचरम् ॥२८०॥
तत्सर्वं संहरेत् कालः स्वयमेव चराचरम् ।

कालः इत्यशेषविश्वकलनः परमेश्वर एवोर्ध्वोर्ध्वभुवनेशमूर्तिमाविश्याधोऽधोवर्तितत्त्वसंहारं क्रमेण करोतीत्यर्थः । एतच्चाग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥

शुद्धेऽध्वनि कः संहर्तेत्याह—

तदूर्ध्वे शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम् ॥२८१॥
तत्सर्वं संहरेद्घोरमघोरो घोरनाशनः ।

शक्त्यन्तस्याध्वनो घोरमिति विशेषणाद् मायादिक्षित्यन्तस्य घोरतरत्वमित्यर्थादवगतम् । न विद्यते घोरं भेदसंसृष्टं रूपं यस्य सोऽघोर इत्ययमर्थो घोरनाशन इत्यनेन व्याख्यातः । अत्रापि च यथोत्तरमीश्वरसदाशिवादितत्त्वे-

श्वरमूर्त्याविष्ट एवाघोरभट्टारकोऽत्राधरतत्त्वं संहरतीत्यर्थो वक्ष्यमाणग्रन्थ-सङ्गत्या बोद्धव्यः ॥

प्रसङ्गागतं संहर्तृविचारमुपसंहरति—

त्रिष्वेवं संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः ॥२८२॥

त्रिषु पृथ्वीमायाशक्त्यन्तेषु पदेषु। एवमिति संहर्तृतया। रुद्र इति कालाग्निरुद्रो भुवि, कालरूपी मायान्तं पदं कलयन्ननन्तभट्टारकः, शक्त्यन्तेषु महेश्वरः। अथवा एको महेश्वरो रोदनद्रावणकारित्वाद्रुद्रस्त्रिषु पदेषु कालरूपी संहर्ता कालाग्निरुद्रादिवैचित्र्येण स्थित इत्यर्थः ॥२८२॥

एवं प्रासङ्गिकमर्थमुपसंहृत्य प्रकृतमनुसरति—

ततः संहरते तोयममरेशशतात्यये।

तेजस्तत्त्वाधिष्ठितो रुद्रः, अमरेशसम्बन्धिवर्षशतसङ्ख्यातस्वदिनान्ते तोयं जलतत्त्वं संहरतीत्यर्थः। अमरेशस्य च शतरुद्रायुष्कालपरीमाणं दिनमिति तदनुसारेण प्राग्वद्वर्षम्, तच्छतमायुस्तदपि तेजस्तत्त्वाधिपतेर्दिनमित्याद्युत्तरोत्तरं क्रमेणानुसरणीयम्। 'अमरेशः शतात्यये' इत्यपपाठः, स्वशतात्यये तस्य संहर्तृत्वायोगात्तदधरवर्तिशतरुद्रात्ययेऽपि तोयतत्त्वसंहाराभावात् ॥

तदेवादिशति—

एवं भूताद्यावरणपतयश्च शतात्यये ॥२८३॥
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम्।

भूततन्मात्राद्यावरणेश्वरा यथोत्तरमीश्वराण्यधराधरतत्त्वानि तदीश्वर-संबन्धिवर्षशतान्तरूपे स्वदिनान्ते संहरन्ति, पुनस्तावत्कालस्वरात्र्यन्तेऽन्यानि सृजन्ति। क्वचित्तु—

'एवं भूतपतीनां तु प्राप्ते वर्षशतात्यये।
यातैस्तैर्निष्कलस्थानं ततो भूतानि शाङ्करि ॥
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम्।'

इति पाठः। अत्रापि यथोत्तरमधराधरगतानि तत्त्वानीति व्याख्येयम् ॥

तत्त्वानां परस्परलयात्मकं संहारं स्फुटयति—

आपस्तेजसि लीयन्ते तत्तेजश्चानिले पुनः ॥२८४॥
तथानिलोऽम्बरं प्राप्य सह तेनैव लीयते।
तन्मात्रेषु प्रलीयन्ते यथोत्पन्नानि च क्रमात् ॥२८५॥
तन्मात्राण्यप्यहङ्कारे सेन्द्रियाणि यथाक्रमम्।
स बुद्धौ सा च गहने गुणसाम्ये प्रलीयते ॥२८६॥

गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।
तस्मिन् जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति ॥२८७॥

सह तेनैव लीयत इति तेनान्तःकृतपृथिव्यप्तेजोरूपतत्त्वत्रयेण वायुना सह व्योम लीयते। क्व लीयत इत्यत आह—तन्मात्रेष्विति। प्रलीयन्त इति बहुवचनस्य प्रशब्दस्य चायमाशयो यद् व्योम तल्लीनानि पृथिव्यप्तेजोवायुतत्त्वानि स्वकारणेषु तन्मात्रेषु प्रकर्षेण लीयन्ते तन्मयानि भवन्ति। यथोत्पन्नानीत्येकत्वादिक्रमेण यथा जातानि, तथैव। तेन पृथ्वी तन्मात्रपञ्चके, आपश्चतुष्टये, तेजस्तत्त्रये, वायुस्तद्द्वये, व्योम शब्दतन्मात्रे। गन्धो रसतन्मात्रे, तथा उपस्थः पायौ, पायुः पाणावित्यादिक्रमोऽनुसर्तव्यः। गहन इति प्रधानतत्त्वे। उपमैव औपमम्। इत्थं क्ष्मादिबुद्ध्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते सति तावदन्तमशेषं जगद्गाढनिद्रामूढमास्ते ॥२८७॥

इत्थं प्रकृत्यन्ते संहृते सति—

परमाणुप्रमाणेन लीनं संतिष्ठते जगत्।

परमाणुनाऽत्यन्तमणीयसा परमपेलवेन चेन्द्रियाद्यगोचरेण रूपेण जगत् चराचरं प्रलीनमास्ते ॥

यच्च प्रकृतितत्त्वनिविष्टानां रुद्राणां पूर्वोक्तकलनयाऽऽयुः, तत्—

षड्विंशकस्य रुद्रस्य चैतद्दिनमिह स्मृतम् ॥२८८॥

गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तं तत्त्वपञ्चविंशतिगतानां पञ्चविंशत्या प्रघट्टकैरवस्थितानां सर्वेषां रुद्राणां स्वामी श्रीकण्ठनाथ इह षड्विंशकोऽभिप्रेतः ॥२८८॥

अस्य—

प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह।
साङ्ख्यज्ञानेन ये सिद्धाः वेदेन ब्रह्मवादिनः ॥२८९॥
छन्दः सामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये।
अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः ॥२९०॥

प्रजाः प्रजायमानानि चतुर्दशविधभूतानि। पतयो भुवनेशाः। पितरो मन्वाद्याः। प्रजाग्रहणसङ्गृहीतानामपि मानवानां पुनरुपादानं वैचित्र्योत्थापककर्मकारित्वेन संसारे प्रधानत्वात्। साङ्ख्यज्ञानं प्रकृतिपुरुषविवेकप्रत्ययः। वेदेन ब्रह्मवादिन इति—

'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ० १०।९०।२)

इति ब्रह्म ये वदन्ति वेदान्तविदः। तद्देवता इति बुद्धितत्त्वगता ब्रह्माद्या देवयोनयः। परमेशस्येति भुवनाध्वनि वर्णितमाहात्म्यस्य, अह्नि तिष्ठन्ति दिनारम्भेऽभिव्यज्यन्ते ॥२९०॥

किञ्चास्य—

दिनान्ते ते प्रलीयन्ते

पुनरपि च—

रात्र्यन्ते विश्वसंभवः ।

अथाव्यक्ततत्त्वस्थरुद्रसम्बन्धिदिनावधेर्मानुष्येण दिव्येन चाब्दमानेन कलयितुमशक्यत्वाद् बुद्धितत्त्वगतब्रह्मसम्बन्धिभिः प्रलयोद्भवैः सङ्कलनां कर्तुमाह—

षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः ॥२९१॥
अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम् ।

पूर्वोक्तनीत्या बुद्धितत्त्ववर्ती ब्रह्मा गुणतत्त्वगतरुद्रदिनान्ते संह्रियते, तद्दिनारम्भे चान्यः सृज्यत इति तदीयेऽब्दे सषष्टिशतत्रयं धीगतब्रह्मणां प्रलयोल्लासा भवन्ति । तावांश्च गुणतत्त्ववासिरुद्राणां जीवितावधिः । स चाव्यक्तनिष्ठरुद्राणां दिनकालः । तदिदं यदीदृगव्यक्तस्थरुद्राणां दिनमुक्तम्, तस्य चावान्तर उच्यते, ब्रह्माण्डप्रलयप्रधानप्रलयमध्यवर्ती जलादिगुणान्ततत्त्वविषयो विचित्रो यः संहार उक्तः, सोऽवान्तरप्रलयो मन्तव्यः ॥

कस्तस्य प्रलयस्य तदन्ते च सृष्टेः कर्तेत्याह—

तस्मिन् संहरते सर्वं प्रधानस्य दिनक्षये ॥१९२॥
रात्र्यन्ते च सृजेद्भूयः श्रीकण्ठो विश्वनायकः ।

यथा चास्य गुणमस्तकवर्तिनोऽपि विश्वनायकत्वं, तथा दशमपटले वितत्य दर्शितम् ॥

अथ—

तस्याप्यनेन न्यायेन परिमाणस्थितिर्भवेत् ॥२९३॥
यस्मात् प्रलयकोट्यश्च व्यतीताश्च सहस्रशः ।

अनेन न्यायेन स्थितिरिति सषष्टिशतत्रयदिनसङ्ख्याब्दशतावधिः प्रलयकोट्य इत्यधोवर्तितत्त्वतत्त्वेशगताः ॥

एतदवध्यन्ते च—

ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा ॥२९४॥
परस्परं लयं यान्ति क्रमात् सर्वे स्वमानतः ।

तत इति श्रीश्रीकण्ठीयाधिकारसमाप्तौ । क्रमादिति कलाद्यानुलोम्यक्रमेण यत् कञ्चुकपञ्चकं देशवैचित्र्येणावस्थितम्, तद् नियत्यादिप्रातिलोम्यक्रमेण चूर्णपाषाणजलवत् परस्परं लीयते । स्वमानत इति कञ्चुकवासिसर्वरुद्रसम्बन्धिशतवर्षान्ते । अनेन चैतद्दर्शितं यत् सर्वेषां कञ्चुकवासिनां सपुंस्तत्त्वरुद्राणां युगपदेव च प्रलय इति । तथा च पूर्वं तेषाम्—

'तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्यारागौ तथैव च ।
कालो नियतितत्त्वं च पुरुषः प्रकृतिस्तथा ॥' (११।६४)

इति सृष्टिरपि युगपदेवोक्ता । भुवनादिदेशव्यवस्था तु पृथगिति तदाशयेन क्रमात् सर्वं इतीहोक्तम् ॥

तदित्थम्—

कलाद्यवनिपर्यन्तं गहनेशदिनक्षये ॥२६५॥
नानाभुवनविन्यासरचनादिविभूषितम् ।
सगुणाधारपर्यन्तरुद्रक्षेत्रज्ञसङ्कुलम् ॥२६६॥
गहनेशे लयं याति मूलप्रकृतिकारणे ।

गहनेशो मायातत्त्वग आद्यो रुद्रः । रचनादीत्यादिशब्दाद्विभवः ।

'अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ।
मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ॥' (२।६६)

इति पूर्वोक्तनीत्याऽऽधारो माया, स पर्यन्ते यस्य तद्गुणाधारपर्यन्तं कलातत्त्वं सहगुणाधारपर्यन्ता ये रुद्रक्षेत्रज्ञास्तैः सङ्कुलम् । गहनेश इति गहन ईशः प्रभुर्यस्य, तस्मिन् गहनेशे मायातत्त्वे मूलप्रकृतेः प्रधानस्यापि कारणे ॥

तच्च तथा लीनं सत्—

रात्र्यन्ते जायते भूयो गहनेशप्रचोदनात् ॥२६७॥

तदित्थमस्य—

अहोरात्रस्त्वयं प्रोक्तः प्राकृतः परमेश्वरि ।

प्रकृतिरिह विशेषाचोदनात् कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य कारणं मायोच्यते, तस्या अयं प्राकृतो मायीयः ॥

तद्गतश्च यो रात्रिकालः—

प्रलयश्च स एवोक्तो भूतानां परमेश्वरि ॥२६८॥

कलातत्त्वान्तानां सर्वेषां प्रकृष्टचिरतरकालानामधस्तनकालापेक्षया कलयितुमशक्यत्वात् प्राधानिककालमवधिं कृत्वा कलयितुमाह—

प्राधानिकपरार्धेन दशधागुणितेन तु ।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत् ॥२६९॥

प्रधानस्यायं प्राधानिकः कालः, तस्य यत् परार्धं पूर्वोक्तः सङ्ख्याविशेषस्तेन । दशधागुणितेनेति दशपरार्धगुणितेन प्राधानिककालेन मायाया दिनम्, रात्रिश्च तावती भवतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—प्रधानाधिष्ठातृरुद्रायुष्कालो यः कञ्चुकनिवासिनां दिनम्, तत् सषष्टिशतत्रयकलितमब्दस्तच्छतेन

तदायुरित्यत्र नेदृशी कलना क्रियते, अपि तु स कञ्चुकवासिदिनात्मा प्राधानिकः कालः परार्धदशकेन गुणितः कञ्चुकवासिनामायुः, तच्च गाहनिकं दिनमित्ययमत्र पूर्वतो विशेषो दर्शितः। इत्थं च परार्धदशकगुणितो यः प्राधानिककालस्तस्य शततमो भागः कञ्चुकवासिनाम् वर्षम्, तस्यापि षष्ट्यधिकत्रिशततमो भागोऽत्र दिनमितीत्यमत्र वर्षदिनादिव्यवस्था कार्या ॥२९९॥

एवमुक्तपरार्धदशकगुणितं तद् गहनेशदिनम्, तत्कलनया वर्षम्, तच्छतरूपो यो गहनेशावस्थितिकालः, स एव तदाश्रयस्य मायातत्त्वस्य कालः। तमवधिं कृत्वेश्वरतत्त्वाधिष्ठातुरीश्वरस्य दिनपरिमाणं दर्शयितुमाह—

मायाकालपरार्धस्य शतधागुणितस्य च।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं पुनश्च संहरेज्जगत् ॥३००॥

अत्रापि मायाया योऽवस्थितिकालस्तस्य यत् परार्धं तस्य शतधागुणितस्येति परार्धशतसङ्ख्यातस्य। तावत्कालमीश्वरः सृष्टिं स्वदिने, संहारं स्वरात्रौ शुद्धविद्यातत्त्वान्तस्य विश्वस्य करोतीत्यर्थः। शतधागुणितस्येत्युक्तेरयमाशयो यत्किल मायावधिः कालः परार्धैर्दशभिर्गुणितो विद्यातत्त्वाधिपतेरनन्तनाथस्याधिकारकालः, तत्रापि पूर्ववद्भागकलनया वर्षदिनप्रविभागो ज्ञेय इत्येवंविधो योऽनन्तनाथाधिकारकालः, सोऽपि परार्धदशकगुणित ईश्वरस्य दिनमिति। अत्राप्युक्तक्रमानुसारिवत्सरतच्छतात्मा ईश्वराधिकारकालः ॥३००॥

सोऽपि प्रक्रान्तरीत्या परार्धशतगुणितः सदाशिवनाथस्य दिनमिति तदन्तेऽसावधोवर्ति विश्वं संहरतीत्याह—

ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत्।
सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे ॥३०१॥

स्वमानेनेत्यवतरणिकायामेव व्याख्यातम्। पुनर्भूयः भूयो भूय इत्यर्थः ॥३०१॥

तदित्थम्—

महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनद्वये।

पूर्वोक्तमायीयप्रलयापेक्षयाऽयं महान्, शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात् ॥

अनेन च परिमाणेनायमपि स्ववर्षशतान्ते—

बिन्दुतत्त्वे लयं याति पञ्चमन्त्रमहातनुः ॥३०२॥

बिन्दुतत्त्व इत्यभिधानात्तदधोगतो भुवनाध्वा प्रतिपादितः, स्थूलः सदाशिवोऽत्र विवक्षितः। बिन्दुतत्त्वे लयं याति बिन्द्वीश्वररूपतामाविशति ॥३०२॥

तथाविधश्चासौ—

बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं तु भित्त्वा चैव निरोधिकाम् ।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ॥३०३॥

बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिकाभूमीः क्रमात्क्रमं परार्धशतगुणितपरिमाणदिनादिव्यवस्थाकलितावस्थितीराविश्य स्थूलः सदाशिवभट्टारको नादात्मनि सूक्ष्मे सदाशिवपदे लीयते तदात्मा जायत इत्यर्थः ॥३०३॥

सोऽपि च—

नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये ।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये ॥३०४॥

नादात्मा सूक्ष्मः सदाशिवनाथः पूर्वोक्तकलनागणितसुषुम्नेशदिनान्ते तद्रूपतां श्रित्वा तथैव तदवधिकालगणनागणितब्रह्मेशदिनान्ते ब्रह्मरन्ध्रस्थब्रह्मरूपतां श्रित्वा तदीयावस्थितिकाले तथैव गणिते यच्छक्तितत्त्वस्थदेवतादिनम्, तदन्ते तन्मयीभवतीत्यर्थः ॥३०४॥

अथ शक्तितत्त्वदिनावधिः कियान् कालः स्यादित्याह—

परार्धः स तु विज्ञेयः कालस्तु वरवर्णिनि ।

पूर्वम्—

'प्राधानिकपरार्धेन दशधागुणितेन च' (११।२९९)

इति, तथा—

'मायाकालपरार्धस्य शतधागुणितस्य च' (११।३००)

इत्युक्तत्वाद् शक्तितत्त्वदिनान्तात्मा कालः परार्धपरार्धात्माऽतिविततसङ्ख्यो विज्ञेयः, न त्वेकपरार्धमात्ररूपः, पूर्वोक्तव्याघातापत्तेः । तथाहि भुवनाध्वनि तत्त्वानामुत्तरोत्तरं देशप्रमाणे प्रकर्ष उक्तस्तथेह स्थित्यादिकालोऽप्युत्तरोत्तरं प्रकृष्यत एवेत्यस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यम् । इत्थं परार्धपरार्धमानं शक्तिदिनम्, तावत्येव च तदीया रात्रिरनया कलनया यद्वर्षशतम्, तदन्ते शक्तितत्त्वाधिष्ठातृसूक्ष्मदेवताधिकारपरिसमाप्तिः ॥

तच्च शिवतत्त्वस्थस्य व्यापीशस्याप्यहर्मुखम् ॥३०५॥

तत्रासौ—

ततश्च संसृजेद्भूयो व्यापी व्योमस्वरूपिणि ।
लीयते सोऽप्यनन्तेशे सोऽनाथे सोऽप्यनाश्रिते ॥३०६॥

स्वाधिकारपरिसमाप्तौ लीयते ॥३०६॥

अथास्यानाथान्तविश्वाश्रयस्यानाश्रितनाथस्य कियद्दिनं स्यादित्याह—

शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधागुणितस्य च ।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत् प्रकीर्तितम् ॥३०७॥

यः परार्धपरार्धात्मा शक्तिकाल उक्तस्तस्य प्रकरणात् परार्धकोटिगुणितस्य यः कालः, तदनाश्रितस्य दिनम् ॥३०७॥

अथ—

अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन तु ।
सोऽपि याति परं स्थानं कारणं स्वमनाश्रयम् ॥३०८॥

परार्धपरार्धरूपो यः शक्तिकालः परार्धकोट्या गुणितोऽनाश्रितदिनात्मा, सोऽपि परार्धेनेति परार्धपरार्धेन गुणितोऽनाश्रितस्याधिकारकाल इति तच्छत-भागतत्सषष्टित्रिशतभागाकर्षणादस्य वर्षदिनव्यवस्था प्राग्वदनुसरणीया। तदित्थ-मतिविततकालाध्वगतस्वाधिकारकालपरिसमाप्तावनाश्रितनाथः स्वमनाश्रयम्, कारणमिति—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टि·························· ॥' (१०।१२५८)

इत्याद्युक्तनीत्या परमशिवमेव, तिष्ठत्यस्मिन् विश्वमिति व्युत्पत्त्या स्थानम्, याति तदेकात्मा भवति ॥३०८॥

यश्चायमियतीमतिविततविततामध्वधारामधिरूढः—

स कालः साम्यसंज्ञश्च

यथा गुणानां साम्यं प्रधानम्, तथा सर्वेषां सृष्टिस्थितिसंहारक्रियाकलना-भासानां यत् साम्यं प्रकर्षापकर्षशून्यं वपुः, तत् साम्यं ज्ञेयम् । समताश्रयः साम्येन, कल्यमानत्वादेव च कालशब्देनोक्तः ॥

वैषम्यनिवृत्त्यात्मकसाम्यात्मकत्वादेव चायम्—

जन्ममृत्युभयापहः ।

समापन्नस्येत्यर्थः ॥

अथ—

ततोऽप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात् परमावधिः ॥३०९॥
नित्यो दित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते ।

साम्यसंज्ञः कालः प्रशान्तनिःशेषवैषम्यात्मतया कल्यमानत्वात् प्रमेयस्तथा नायम्, अत एव परमोऽवधिः सर्वप्रमेयप्रमात्रादिप्रतिष्ठापदमुन्मनापरतत्त्व-सामरस्यात्मपरप्रमातृरूप इत्यर्थः। चो ह्यर्थे । यतो न कल्यते, अत एवाकल्यः ॥

कथं तर्हि कालशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्याह—

स चाधः कलयेत् सर्वं व्यापिन्यादिं धरावधिम् ॥३१०॥

तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम् ।

साम्यसंज्ञं कालं भित्तिभूतमवधिमाश्रित्य तदुद्भूतं व्यापिन्यादि सर्वमिति चरान्तमध्वानं यतः कलयत्यन्तः प्रकाशैकात्म्येन स्थितं बहिर्वैचित्र्यशतैः प्रक्षिपति, बहिराभासितं चान्तः क्षिपति नानात्वेन च परिगणयति, यत एव सर्वं कलयति ततोऽयं काल उच्यत इत्यर्थः ॥

एतदेवाधिकावापेनानुवदन्नुपसंहरति—

ऊर्ध्वमुन्मनसो यच्च तत्र कालो न विद्यते ॥३११॥
न कल्यः कल्यते कश्चिन्निष्कलः कालवर्जितः ।
यः शाङ्कर्युन्मनातीतः स नित्यो व्यापकोऽव्ययः ॥३१२॥

उन्मनसः सम्बन्धि ऊर्ध्वं परतत्त्वात्मकं यत्पदं तत्र कलनाहेतुः कालो नास्ति, यस्मान्न तत्र कल्यः कलनार्हः कोऽपि कल्यते, सर्वस्य तत्र परमशिवैकात्म्येनैवावस्थितेः । यतश्चायमप्रमेयत्वात्तुट्यादिकलाभ्यः कालावयवरूपेभ्यो निष्क्रान्तस्तेन क्रमाद्यवभासात्मककालवर्जितः, तद्रूपो न भवति केवलं प्रोक्तव्याख्यासतत्त्वविश्वकलनाकारित्वात् काल इत्युक्तः । अव्यय इत्यपरिक्षीयमाणमूर्तिः । उक्तं च **योजनिकायाम्**—

सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ।
उन्मनान्ते परे योज्यो न कालस्तत्र वर्तते ॥' (४।२८७)

इति ॥३१२॥

यस्मात्

तस्यादौ यादृशं रूपं कल्पान्ते चैव तादृशम् ।

आदौ सृष्टिकाले ॥

किञ्च—

अरूपो रूपनिर्मुक्तः सोऽनादिर्भववर्जितः ॥३१३॥
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च दानादिगुणवर्जितः ।

रूप्यन्त इति रूपाणि देशकालाकारनियमा न विद्यन्ते यस्य, अत एव रूपेभ्य इदमीदृगित्यादिरूपव्यापारेभ्यो निर्मुक्तः, यतोऽनादिस्तत एव भवेनोत्पादेन वर्जितोऽसंस्पृष्टः । सर्वज्ञ इति प्राग्वत् । सर्वेण रूपेण कर्ता सर्वात्मना स्वतन्त्रः । चकारो ज्ञत्वकर्तृत्वयोः सामरस्यमाह । यश्च व्यतिरिक्ते ज्ञेये कार्ये ज्ञाता कर्ता च, असावनादिभिः प्रवाहनित्यतया वर्तमानैर्गुणैर्मायाधर्मैर्युक्तो भवति । अयं त्वभेदसर्वज्ञसर्वकर्तृत्वात्मकत्वात्तैरसंस्पृष्टः ॥

एवमपि ततो नान्यत्किञ्चिदस्ति, अपि तु—

स एवापररूपेण

स्वस्वातन्त्र्यात् स्फुरन्नपि—

उन्मन्या मूर्ध्नि संस्थितः ॥३१४॥

अतश्चायम्—

देवदेवो जगन्नाथः परमात्मा शिवोऽव्ययः ।
पूर्वानुक्रमयोगेन सोऽकामात् सृजते जगत् ॥३१५॥

जगता कालाग्न्यादिशिवान्तेन नाथ्यत इति जगन्नाथः । पूर्वानुक्रमयोगेनेति समनापदमारुह्य तत्तत्कारणमूर्त्याश्रयणेनेत्यर्थः । अकामादित्थमिदमेवमहं करोमीति सङ्कल्पं विना । शिष्टं प्रागेव व्याख्यातप्रायम् ॥३१५॥

अकामादित्याक्षिपन्ती **श्रीदेवी उवाच**—

अकामस्य क्रिया नास्ति निष्क्रियश्च सृजेत् कथम् ।
एतं प्रश्नवरं गुह्यं कथय स्व प्रसादतः ॥३१६॥

सर्वा गमनपचनादिक्रिया सङ्कल्पपूर्वा, सङ्कल्पश्च चिदानन्दघने भगवति नेष्टः, तत्कथमक्रियस्य स्रष्टृत्वम्; अथ च चित्प्रकाशात्मकपरमेश्वरस्वरूपव्यतिरिक्तस्यान्यस्य सत्त्वमेव न घटते, किमङ्ग कर्तृत्वम् । अत एतं प्रश्नानां मध्ये वरमुत्कृष्टं प्रश्नमेतन्निर्णयाच्च सर्वसंशयोच्छित्तिर्भवति प्रसादतस्तत्त्वार्थोन्मीलनेन कथयेति एतन्निर्णयमादिश ॥३१६॥

इत्थं पृष्टः **श्रीभैरव उवाच**—

आदित्यस्य मणेर्यद्वत्तापिताद्रविरश्मिभिः ।
वह्निः संजायते तस्माद्रवेस्तत्र न कामिता ॥३१७॥
मणेरपि न कामित्वं तद्वद्देवस्य चेष्टितम् ।

यः किल कुम्भकारादिः स्वव्यक्तिरिक्तं कार्यं किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य जनयति, तस्य सङ्कल्पं विना तत्पूर्वकक्रियानुदयान्मा भूत् कर्तृत्वम्; परमेश्वरस्य स्वतन्त्रभट्टारकस्येदमेव परमेश्वरत्वम् यदयम्—

'सृष्टिसंहारकर्तारं' (१।३)

इत्याद्युक्तनीत्या स्वचिद्भित्तौ स्वातन्त्र्यशक्त्या दर्पणनगरवत् स्वानतिरिक्तमव्यतिरिक्तमिव शिवादिक्षित्यन्तमनन्तावान्तरवैचित्र्यचित्रितमाभासयंस्तावदशेषचमत्कारात्मकपूर्णानन्दघनस्वभाव एवेति वस्तुस्वभावमात्रसाम्येन सूर्यसंपृष्टसूर्यकान्तोत्थवह्निरत्र दृष्टान्तः ॥

तदाह—

आदित्यवच्छिवो ज्ञेयः शक्तिर्मणिरिव स्थिता ॥३१८॥

न तु जाड्यं भिन्नत्वं च दार्ष्टान्तिके शङ्कनीयम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वसाधर्म्यायोगात् ॥

किञ्च—

ऋतुकालमिताद्वृक्षात् कालोऽङ्कुरनियोजकः ।
यद्वच्छिवसमायोगात्तद्वच्छक्तेर्जगत्स्थितिः ॥३१९॥

ऋतुकालभाजस्तरोर्यथाऽयं स्वभाव एव यदङ्कुरादिवैचित्र्यवत्त्वम्, तथा नित्यावियुक्तचिदानन्दात्मनोः शिवशक्त्योः स्वरूपमेवैतद् यत् कृत्यपञ्चकप्रपञ्चात्मना स्फुरणम् । तदुक्तं **शिवसूत्रेषु**—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति । इत्थं चैवंविधाशेषविश्वचमत्कारसारपरमशिवात्मकस्वचिद्भूमिविमर्शनं सर्वशास्त्रेषु परमोपादेयं जीवन्मुक्तिप्रदमुच्यत इत्याशयेन प्रश्नवाक्ये गुह्यमभिहितमिति शिवम् ॥३१९॥

शम्भोः पूर्णानन्दचिद्रत्नराशेः शक्तिर्बाह्याभासनात्मोच्छलन्ती ।
देवीत्रैतैकात्म्यरूपामिमां तां स्वां सम्पूर्णां देवतामामृशामि ॥

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते एकादशः पटलः सम्पूर्णः ॥११॥

द्वादशः पटलः

स्वात्मनि स्वेच्छया क्लृप्ततत्तत्तत्त्वस्फुटद्युतौ ।
स्वाभिन्ना भासयन् सिद्धीः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

पटलसङ्गत्यर्थमुक्तमनुवदन्ती तत्त्वसिद्धिबुभुत्सया श्रीदेव्युवाच—

सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तत्त्वानां कथितस्त्वया ।
जगत्संभवहेतुश्च

जगतस्तत्त्वभूतभावभुवनादिरूपस्य हेतुः परमकारणं परमशिवः ॥

एतच्च—

त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं मया ॥१॥

प्रसादादि प्राग्वत् ॥१॥

इदानीं तु—

तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत् ।

विज्ञानं धारणादिक्रमेण साक्षात्कारः । तेष्विति तद्विषया सिद्धिर्यथा स्यात् ॥

एतद्गदितुं श्रीभैरव उवाच—

पृथिव्यादि शिवान्तं च कथयामि समासतः ॥२॥

यथा देहे यथा च बहिः स्थितम् । समासतः संक्षेपेण, विस्तरतस्त्वग्रे धारणावसरे भविष्यति ॥२॥

तत्र—

पृथ्वी कठिनरूपेण शृणु देहे यथा स्थिता ।

यथेति येन मांसादिना प्रकारेण ॥

तदाह—

मांसेऽस्थिषु तथा चैव स्नायुलोमनखेषु च ॥३॥
मज्जान्त्रेषु च विज्ञेया पृथ्वी पञ्चगुणोत्कटा ।

एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति ॥

कफासृगाममूत्रेषु रसस्वेदवसासु च ॥४॥
शुक्रे च संग्रहे चैव स्थिता आपश्चतुर्गुणाः ।

देहे इत्येव । रस आहारपानपरिणामोत्थ आद्यो देहधारको धातुः । संग्रह पार्थिवादीनां मांसादिभावेन परिणतानां संश्लेषः ।

पचने दहने चैव तेजस्यूष्मणि संस्थितम् ॥५॥

आहारादेः पाकनिमित्तं महाक्षारजननात्मकदाहाय परासह्यदीप्तये उपलभ्योष्मसम्पत्तये च देहे तेजः स्थितम् ॥५॥

तेजस्त्वेवं स्थितं देवि प्रकाशे च त्रिलक्षणम् ।

प्रकाशे इति नेत्ररश्मिद्वारेण वस्तुप्रथनाय । त्रयो रूपस्पर्शशब्दा लक्षणं यस्य । एतच्चादृष्टवशाद् देहेऽनुद्रिक्तरूपस्पर्शं स्पष्टम् ॥

वायुरुच्छ्वासनिःश्वासस्पर्शनव्यूहलक्षणः ॥६॥
मूत्रोच्चारविसर्गेषु अन्नपानप्रवेशने ।

स्पर्शनं बाह्याभ्यन्तरस्पर्शग्रहणम् । व्यूहो रचना । उच्चारो मलपरिणामः । विसर्गो बहिष्कृतिः ॥

तदित्थम्—

वायुरेभिः स्थितो देहे विज्ञेयस्तु द्विलक्षणः ॥७॥

एभिर्व्यापारैरुपलक्षितः । द्वौ शब्दस्पर्शौ लक्षणं ज्ञप्तिहेतुर्यस्य स द्विलक्षणो द्विगुणः ॥७॥

एकलक्षणमाकाशं कथयामि यथा स्थितम् ।

एकः शब्दो लक्षणं यस्य । तत्र पृथिव्याः खटखटारूपः, जलस्य च्छलच्छलता, तेजसो धगधगाकृतिः, वायोः शुकशुकास्वभावः, आकाशस्य प्रतिश्रुत्काख्यः शब्दः; स्पर्शोऽपि पृथ्व्याः पाकजोऽनुष्णाशीतः, जलस्य शीतः, तेजस उष्णः, वायोरपाकजोऽनुष्णाशीतः; पृथ्व्याः सितादि नाना रूपम्, जलस्य सितम्, तेजसो भास्वरम्; पृथ्व्याः षड्विधो मधुरादिरसः, जलस्य मधुरः, पृथ्व्या एव तु सुरभिरूपो गन्ध इति । विशिष्टैरेव तैर्गुणैर्देहे पृथिव्यादिभूतानि लक्षणीयानि ॥

यथास्थितमित्युक्तं स्पष्टयति—

सुषिरात्मकं तु विज्ञेयं नवधाच्छिद्रलक्षणम् ॥८॥

नव च्छिद्राणि द्वाराणि ब्रह्मरन्ध्रचक्षुःश्रोत्रघ्राणास्यचूचुकनाभिलिङ्गगुदगतानि लक्षणं यस्य ॥८॥

इत्थं नवद्वारलक्षितम्—

शब्दात्मकं गुणं ह्येतत् कथितं तव सुव्रते ।

एवं देहे भूतपञ्चकं प्रदर्श्य, तदुपस्थापकतत्प्रकाशकानि कर्मेन्द्रियबुद्धिमनांसि प्रकाश्येन्द्रिकारणभौतिकरूपादिप्रतीतिवशानुमेयानि रूपाद्यविशेषरूपाणि तन्मात्राण्युपपादयिष्यति । तत्र तावत्—

बागिन्द्रियं वदेद्वाणीं सा च वाणी चतुर्विधा ॥९॥
संस्कृता प्राकृती चैव अपभ्रष्टानुनासिका ।

'संस्कृता नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः'

इति तत्रभवद्भर्तृहरिणा उक्ततात्पर्या संस्कृता। प्रकृतिभूताया वर्णलोपान्यथाभावादिक्रमेण आयाता प्राकृती । यदाहुः—

'तद्भवस्तत्समो देशी त्रिविधः प्राकृतक्रमः'

इति । अपभ्रष्टा देशभाषा विचित्राः। अनुनासिका नासिकामनुगता गीयमानाक्षररूपा वर्णाङ्गमितिप्रसिद्धा ॥

छेदनं भेदनं दानं व्यधनं शिल्पयोजनम् ॥१०॥
ग्रहणं विजयश्चैव सर्वं हस्तेन्द्रिये स्थितम् ।

छेदनं रज्ज्वादिषु । भेदः शरादिकृतो लक्ष्याधिष्ठः । विजयो युद्धम् । विजयी इति वा पाठः ॥

समनिम्नोन्नताश्चैव लोष्टकण्टकवालुकाः ॥११॥
कर्दमो जलदुर्गाणि रथ्याट्टालकपर्वताः ।
पादेन्द्रियेण गम्यन्ते देशान्तरगमागमे ॥१२॥

देशान्तरगमनागमननिमित्तं समनिम्नादिस्थानानि पादेन्द्रियेण गम्यन्ते ॥१२॥

उत्सर्गे पर्दिते चैव पायुर्वै चेष्टते सदा ।

उत्सर्गो मलमोक्षः । पर्दितं गुदरन्ध्रेण कुत्सितशब्दः ॥

आनन्दकृदुपस्थश्च गम्यागम्यप्रवर्तकः ॥१३॥

आनन्दकृत्त्वादेव विहितनिषिद्धादौ सर्वत्र प्रवर्तनमस्य स्वभावः, अत एव तन्नियमः शास्त्रे क्रियते ॥१३॥

तदित्थम्—

कर्मस्वेतानि वर्तन्ते तेन कर्मेन्द्रियाणि तु ।

यथा चैतानि ईदृशि, तथा—

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि वर्तन्ते बुद्धियोगतः ॥१४॥

बुद्धेर्ज्ञानस्य योगः सम्बन्धस्तत्र तन्निमित्तं प्रवर्तन्ते ॥१४॥

तत्र वितत्य शब्दाख्यविषयप्रभेदनिरूपणपूर्वं श्रोत्रेन्द्रियस्य तदुपलब्धिसाधनत्वमाचष्टे—

षड्जाख्यर्षभगान्धारमध्यमाः पञ्चमः प्रिये ।
धैवतो निषधश्चैव स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ॥१५॥
गान्धारो मध्यमः षड्जस्त्रयो ग्रामाश्च पार्वति ।

इत्थम्—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशतिः ॥१६॥
ताना एकोनपञ्चाशदित्येतत् सुरमण्डलम् ।

तदित्थम्—

सूक्ष्मशब्दाः स्मृता ह्येते चराचररवस्थिताः ॥१७॥

सूक्ष्मध्वनिमात्ररूपाः, अत एव चराचरे सर्वत्र रवरूपतया ध्वनिमात्रावस्थिताः ॥१७॥

अथ—

स्थूलांश्चैव प्रवक्ष्यामि यथावत्तान्निबोध मे ।
भेरीपटहशङ्खोत्थो मृदङ्गपणवोत्थितः ॥१८॥
वेणुगोमुखशब्दश्च मन्दलो दर्दुरो ध्वनिः ।
तन्त्रीवाद्यानि चित्राणि करवाद्यानि यानि च ॥१९॥
संयोगजवियोगोत्थाः काष्ठपाषाणवारिजाः ।
अपभ्रंशोऽनुनासिक्यः संस्कृतः प्राकृतो रवः ॥२०॥

संयोगजा हुडुक्कादिहस्तसंगोत्थाः, विभागजास्तु दलादिविश्लेषोदिताः ॥२०॥

तदित्थम्—

सप्तस्वरप्रतिष्ठानि व्यक्ताव्यक्तानि चैव हि ।
उक्तानुक्तानि गृह्णाति श्रवणेन्द्रिययोगतः ॥२१॥

वाद्यसंस्कृताद्यात्मकानि सर्वाणि शब्दरूपाणि सप्तस्वरात्मकध्वनिविशिष्टनिष्ठानि श्रोत्रेण पुरुषो गृह्णाति ॥२१॥

ततश्च—

शब्दोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।

एष प्रोक्तरूपः सर्वः शब्दोऽस्य श्रवणेन्द्रियस्य विषयः । कस्यास्येत्याह—येन पुद्गलः पुमान् बुद्ध्येत जानीयात् । एवमुत्तरत्रापि संगतिः कार्या ॥

मृदुं च कठिनं चैव कर्कशं शीतलं तथा ॥२२॥
उष्णं च पिच्छिलं लोष्टं कर्दमं वालुकास्तथा ।
शरकुन्तासिघातादि ताडनं छेदनं तथा ॥२३॥
एतानि वै विजानाति स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियम् ।

स्पर्शनं सज्जानाति, स्पर्शनक्रमेण वेत्तीत्यर्थः ॥

तदित्थम्—

स्पर्शोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ॥२४॥

अथ—

चक्षुरिन्द्रियकर्माणि कथ्यमानानि मे शृणु ।

सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितधूम्रकम् ॥२५॥
कपिलं पिङ्गलं बभ्रु अन्यान्यपि विशेषतः ।

रूपाणि ॥

तथा—

नरनारीपशुमृगान् ज्योतिःस्थावरजंगमम् ॥२६॥

तदित्थम्—

रूपाकृतिविविक्तानि चक्षुः पश्यति सर्वदा ।

रूपं सितादि, आकृतिः संस्थानम्; ताभ्यां विविक्तानि विलक्षणानि वस्तूनि चक्षुः पश्यतीत्यस्य कर्तृत्वमुपचरितम् ॥

तदेवम्—

रूपाख्यो विषयो ह्यस्य येनात्मा प्रतिबुद्ध्यते ॥२७॥
मधुराम्लरसं चैव लवणं कटु तिक्तकम् ।
कषायमिश्रं स्वादु च जिह्वा वेदयते रसम् ॥२८॥

इत्थम्—

रसोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।
सुरभिर्दिव्यगन्धश्च दुर्गन्धश्चाप्यनेकधा ॥२९॥
उभौ जिघ्रति नासाग्रे

नासा कर्त्री अग्रे स्थितावुभौ जिघ्रति ॥

अतश्चास्यायम्—

विषयो गन्धसंज्ञितः ।
येनासौ बुद्ध्यते क्षेत्री अहङ्कारेण मोहितः ॥३०॥

शरीरादौ बद्धाभिमानत्वादेव व्यतिरेकेण विषयान् वेत्ति । एतच्च पूर्वत्रापि संबन्धनीयम् ॥

संकल्पे च विकल्पे च दशधाक्षेषु धावति ।
अनिवारितसन्देहमजय्यं सर्वदेहिनाम् ॥३१॥
मनश्च कथितं ह्येतद्धर्माधर्मनिबन्धकम् ।

बुद्धिकर्मेन्द्रियविषये यः इदं श्रितमिदमादधे इति संकल्पः, यश्च इदमीदृशमिति निश्चयात्मा विकल्पः; अत्र धावति यथा तथा प्रवर्तते; अत एवैतदनिवारितसन्देहं सर्वत्र ससंशयम्, ज्ञानयोगं विना यन्न केनचिज्जेतुं पार्यते; धर्माधर्माभ्यां निबध्नातीति तन्निबन्धकं तत्सङ्गमकृत् ॥

अथेन्द्रियकार्यरूपाद्युपलब्ध्यनुसारेण देहे तन्मात्रावस्थितिं दर्शयितुमाह—

स्वरूपधर्मं वक्ष्यामि तन्मात्राणां यथार्थतः ॥३२॥

अर्थः प्रयोजनं तदनुसारेण तन्मात्राणां स्वरूपमुपागतनियताश्रयावस्थितिरूपं धर्मं स्वभावं वच्मि ॥३२॥

तत्र—

गन्धं तु गन्धतन्मात्रं नासिकाग्रेण जिघ्रति।
जिह्वया रसतन्मात्रं रसं गृह्णाति संस्थितम् ॥३३॥
चक्षुषा रूपतन्मात्रं रूपं गृह्णात्युपागतम्।
गृह्णाति स्पर्शतन्मात्रं त्वचा स्पर्शमुपागतम् ॥३४॥
शब्दं च शब्दतन्मात्रं गृह्णाति श्रवणेन तु।

गन्धादिप्रतीतिसाधनघ्राणादीन्द्रियाश्रयनासिकादिक्षेत्रगतमदृष्टवशादुद्भूतगन्धतन्मात्रादिकं कर्तृ, तेनैव घ्राणादिना गन्धादिगुणं गृह्णातीति संगतिः। अत्रायमाशयः—यदाहङ्कारित्वाद् व्यापकत्वेऽपीन्द्रियाणां गन्धतन्मात्राद्यवस्थितिनियमितं नासिकादिक्षेत्रमभिव्यक्तिस्थानमिति, तत एव समुद्भूतवृत्तिगन्धतन्मात्रनियन्त्रिता गन्धस्योपलब्धिर्भवतीति नियमिततन्मात्रोपरक्ताहङ्कारिकत्वमिन्द्रियाणाम्, अन्यथा साङ्ख्यवत् केवले आहङ्कारित्वे नियतविषयसंबन्धो न घटते, नैयायिकवद्वा केवलभौतिकत्वे त्वहंप्रतीत्यनुगमो न स्यात् ॥

एतदुपसंहरति—

सूक्ष्मस्तन्मात्रधर्मोऽयं भूतानां प्रकृतिक्रमात् ॥३५॥

यतो भूतानां प्रकृतयस्तन्मात्राणि तत एव तत्तन्मात्राधिष्ठिततत्तदिन्द्रियकारणकपृथिव्यादिभूतगतगन्धादिगुणोपलब्धिर्भवतीत्ययमिन्द्रियगतानां तन्मात्राणां सूक्ष्मः सर्वजनासञ्चेतितो धर्मोऽस्ति ॥३५॥

देहेऽहङ्कारस्थितिं दर्शयति—

वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वं बुद्ध्यते येन पुद्गलः।
अहं विद्वानहं भोगी त्वहं जातो महाकुले ॥३६॥
अहं दाता च भोक्ता च तेजस्वी बलवानहम्।
अहं योद्धा च संग्रामे शत्रवश्च मया जिताः ॥३७॥
धर्मशीलश्च गुणवान् श्रेयस्कर्ता ह्यहं परम्।
अहं पापी दुराचारो मूर्खश्चाहं दुराकृतिः ॥३८॥
न दत्तं न मया भुक्तं मत्समो नास्ति दुःखितः।
इत्यहङ्कारचित्तानां ममत्ववशवर्तिनाम् ॥३९॥
अहङ्कारो निबध्नाति संसारे दृढबन्धनैः।

विद्वान् बोद्धा पापी, इत्यादिसात्त्विकाद्यादिप्रतीतिरूपैः संसारहेतुभिर्दृढैर्बन्धनैरहङ्कारो निबध्नाति जनान्। ऊर्ध्वमित्येतावदन्ततत्त्वव्यापकत्वेन ॥

तदित्थम्—

त्रिविधस्याप्ययं धर्मोऽहङ्कारस्य प्रकीर्तितः ॥४०॥

यत्तु 'वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वम्' इत्युक्तम् (१२।३६), तदहङ्कारस्य राजसताप्राधान्यदर्शनाय ॥४०॥

अथ धर्ममुखेन धर्मिरूपाया बुद्धेर्देहे सत्तामाह—

बुद्धिधर्मांस्ततो वक्ष्ये धर्मादींस्तव सुव्रते ।
धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुष्टयम् ॥४१॥
अधर्मश्च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ।

एषां मध्यात्—

बध्नाति सप्तधा सा तु ज्ञानभावेन मोहयेत् ॥४२॥

साङ्ख्यसिद्धानिति, अर्थात् ॥४२॥

एषा चेत्थं मुख्यतया लक्ष्यत इत्याह—

बुद्धिश्चाध्यवसायं च करोति विविधेष्वपि ।
वस्तुषु ॥
धर्मादीनामथाष्टानां लक्षणानि शृणु प्रिये ॥४३॥

तत्र—

उपवासो जपो मौनमक्रोधोऽस्तेयमार्जवम् ।
सत्यं शौचं च दानं च दया क्षान्तिश्च सर्वदा ॥४४॥
विद्याभ्यासश्च लज्जा च इन्द्रियाणां च निग्रहः ।
इष्टापूर्तं तीर्थसेवा पितॄणां चैव तर्पणम् ॥४५॥
अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो जीवितस्य च रक्षणम् ।
धीगुणः प्रथमो ह्येष धर्म इत्यभिधीयते ॥४६॥

इह यः पूर्वम्—

'अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥' (११।१४५)

इत्येवं दशविधो धर्म उक्तः, तस्यैव सप्रपञ्चभङ्ग्यन्तरप्रतिपादनमेतत् । तथा चेन्द्रियाणां निग्रहो ब्रह्मचर्यस्य प्रपञ्चोक्तिः । लज्जा उपवासो जपो मौनं दानं दया क्षान्तिरिष्टापूर्तादित्रयं चाकल्कतायाः प्रपञ्चः । विद्याभ्यासो जीवितरक्षा च गुरुशुश्रूषायाः फलम् । सर्वसत्त्वाभयमहिंसारूपम् । स्तेयवर्जनक्षान्ती सन्तोषार्जवरूपे ॥४६॥

तदित्थम्—

धर्मकर्मनिबद्धानां संसारमनुवर्तिनाम् ।
पुनर्मार्त्यं पुनः स्वर्ग्यं तिर्यक्त्वं च पुनः पुनः ॥४७॥

भवतीति शेषः ॥४७॥

एवम्—

धर्मभावः समाख्यातः

इदानीम्—

ज्ञानभावं च मे शृणु ।

भावं बुद्धिधर्मम् ॥

तमेव स्फुटयति—

चतुर्विंशतिकः पिण्डः करणेन्द्रियसंयुतः ॥४८॥
प्राकृतः स तु विज्ञेयो धर्माधर्मप्रवर्तकः ।

मनोवाक्कायव्यापारैर्धर्माद्यर्जकः ॥

अकर्ता निर्गुणश्चाहं

तेन प्रकृतिभिन्नस्य—

न मे बन्धोऽस्ति प्राकृतः ॥४९॥

केवलमिदं सर्वम्—

प्रकृत्या कारितं मन्ये

बुद्ध्यादिद्वारेण प्रवर्तितमिति निश्चिनोमि ॥

तदीदृशविवेकज्ञानोत्थात्—

वासनादेव मुच्यते ।

वासनं संस्कारः । मुच्यत इति साङ्ख्यभिक्षुः ॥

तदेतत्—

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं प्रकृतेर्येन मुच्यते ॥५०॥

कतिपयं कालं पृथग्भवति ॥५०॥

अथ—

मुक्तं प्रकृतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।

स च—

बद्धः संसरते भूयो यावद्देवं न विन्दति ॥५१॥
ईश्वरं सृष्टिकर्तारं सर्वजन्तुनिबन्धकम् ।

प्रकृतेर्जडायाः कर्तृत्वाघटनात् पुंसस्तदनभ्युगमात् संसर्गेऽपि जगदुदयो न स्यादिति तयोर्बन्धमोक्षनिर्मातारं यावदीश्वरं न लभते तावत्साङ्ख्यमुक्तोऽपि पुनः प्रत्यावर्तते तत्त्वज्ञानानुदयात् ॥

वैराग्यं लक्षयितुमाह—

वैराग्यात् सन्त्यजेत् पुत्रान् दारानिष्टान् सुसंमतान् ॥५२॥
हस्त्यश्वरथयानानि सुहृद्भोगधनानि च ।

सुष्ठु संमताननुकूलान् ॥

किञ्च—

उपवासं जपं तीर्थं पञ्चाग्निं जलशायिताम् ॥५३॥
उपास्यैतानि घोराणि देहं सन्त्यजति क्षणात् ।

दक्षिणाग्न्याहवनीयगार्हपत्यौपसदिकसावित्राख्याग्निपञ्चमध्यावस्थानं ग्रीष्मे पञ्चाग्न्याख्यं तपः । एतानीति तपांसि ॥

कथं त्यजतीत्याह—

गिरिवृक्षजलाग्निभ्यः प्रहारोद्बन्धनाशनैः ॥५४॥

गिर्यादीनाश्रित्येत्यर्थः । वृक्षः प्रयागादिस्थितो वटः । आशनमशनमाङ्-पूर्वस्य अश्नातेः प्रयोगः ॥

तदेवंप्रायाण्यन्यान्यपि—

वैराग्यं तु समाश्रित्य कुरुते साहसान्यपि ।
ऐश्वर्यभावमापन्नो द्रव्यैस्तृप्तिं न गच्छति ॥५५॥
न दारैर्न धनैर्भोगैः परिवारैर्न वाहनैः ।
तपो व्रतानि मन्त्रांश्च ऐश्वर्यार्थे तु साधयेत् ॥५६॥

किञ्च—

युद्धं द्यूतं तथा मायां चौर्यं चानृतहिंसनम् ।
अन्यान्यपि त्वयुक्तानि विस्रम्भच्छलघातिताम् ॥५७॥
ऐश्वर्यभावमापन्नः करोति च बहून्यपि ।

तपोव्रतादीनि सात्त्विकस्य, युद्धादीनि तु राजसस्य, आश्वासहननादीनि तामसस्यार्थाहरणकारणानि ॥

धर्मादिचतुष्टयं प्रदर्श्य, अधर्मादीनपि देहिनो दर्शयति क्रमेण—

प्राणिहिंसारतो नित्यं चौरिकानृतदम्भवान् ॥५८॥
याचको दुःखदाता च भवेच्चाधर्मचेष्टितम् ।

चौरिका चौर्यम् । प्राणिहिंसारतत्वादि, एतदधर्मस्य चेष्टितं भवतीत्यर्थः ॥

नास्ति धर्मो न चाधर्मः स्वर्गं मोक्षं च को गतः ॥५९॥
अज्ञानभावमापन्नः सर्वं मिथ्येति भाषते ।
नित्यं दुःखी परप्रेष्यो भारं यानं वहन्नपि ॥६०॥
कृच्छ्रजीवी च सततमवैराग्ये न खिद्यते ।

सतीत्यर्थः ॥

राज्यं कृत्वा तु सामन्तः सामन्त्याद्ग्रामभुग्भवेत् ॥६१॥
ग्रामाद्भ्रष्टस्तदर्धेन वर्ततेऽसावनीश्वरः ।
न शोचति न चोद्विग्नः क्रीडते पूर्वराज्यवत् ॥६२॥
अनैश्वर्यस्य भावोऽयमेवं ते समुदाहृतः ।

अथ देहस्थम्—

अव्यक्तं त्रिगुणं वक्ष्ये संसारस्य प्रवर्तकम् ॥६३॥

ईश्वरेच्छात इति, अर्थात् ॥६३॥

एतस्मादेव—

यस्माच्च जगदुत्पत्तिः प्रकृतिस्तेन चोच्यते ।

एतदेव प्रकर्षेण क्रियते प्रपञ्च्यते बुद्ध्यादिक्ष्मान्तं सर्वमस्यामीश्वरेणेति प्रकृतिः ॥

किञ्च, देहावस्थितिप्रतीतिहेतुम्—

अस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि रजःसत्त्वतमोऽभिधम् ॥६४॥

तत्र—

प्रकाशभावः सत्त्वं च धर्मः सत्त्वसमाश्रितः ।

प्रकाशभावोऽर्थाकृतिसंवेदनम्, सत्त्वं शुद्धचित्तता यया पूर्वोक्तो धर्मः ॥

सत्त्वसंबन्धादेव यश्च परेषां धनान्नादेः—

संविभागी च सततं नित्यं सत्त्वोपकारकः ॥६५॥
क्षमादयासमायुक्तो ज्ञानविज्ञानपारगः ।

स सात्त्विक इत्यर्थः । सत्त्वोपकारको दानं विनापि वागादिना प्राण्युपकारी ॥

किञ्च—

प्रीतिर्दानं धृतिर्मेधा तपः शौचं दमस्तथा ॥६६॥
ऋतवाक् समदृष्टिश्च दिव्यबुद्धिप्रबोधनम् ।
यस्मिन्नेते सदा धर्मा भवन्ति पुरुषोत्तमे ॥६७॥
स सात्त्विकस्तु विज्ञेयः

समदृष्टिः स्वात्मनीव परत्र प्रतिपत्तिः । दिव्यबुद्धिः प्रतिभा ॥

अथ—

रजोधर्मांश्च मे शृणु ।
निस्त्रिंशश्चातिलोभी च विद्वेषी क्रोधनस्तथा ॥६८॥
कामी हर्षसमाविष्टो दुःखार्तः पर्यटेत् सदा ।
मानी दम्भसमायुक्तोऽप्यहङ्कारे व्यवस्थितः ॥६९॥
नित्यं युद्धरतः शूरः

कामी सन् हर्षयुक्तः, न तु सन्तोषसुखवानिति ॥

एवंविधो यः तस्यैतन्निस्त्रिंशत्वादिकम्—

राजसं गुणलक्षणम् ।

अथ —

कामक्रोधाभिभूतत्वं लोभेन च समन्वयः ॥७०॥
ईर्ष्या दम्भो विषादश्च मद उन्माद एव च ।
निद्रालस्यमकर्मित्वं दौर्मेध्याज्ञानिते तथा ॥७१॥
अधर्मताबुद्धिमत्त्वं नास्तिक्यं छलचित्तता ।

एतत्सर्वम्—

तमः

तमोगुणरूपम् ॥

अतश्च—

चिह्नानि चैतानि दृश्यन्ते यत्र मानवे ॥७२॥
तामसः स तु विज्ञेयः पुरुषः कलुषाशयः ।

तदित्थम्—

एतत्त्रिगुणमव्यक्तं त्रिगुणं समुदाहृतम् ॥७३॥

एतत् त्रिभिर्गुणैर्युक्तत्वात् त्रिगुणम् ॥७३॥

एतत् सम्यग्विदित्वा तु मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

विदित्वा प्रमेयतया परिच्छिद्य, प्राकृतैर्धर्मैर्मुच्यते प्रकृतिवैव्यक्त्यमेति ॥

वस्तुतस्तु न स मुच्यते, यत एतावती अस्य प्रतीतिर्यदुत—

गुणधर्मा न चैवाहं बुद्ध्यहङ्कृद्गुणो नहि ॥७४॥
करणेन्द्रियहीनश्च भूततन्मात्रवर्जितः ।
अकर्ता निर्गुणश्चाहं चिन्मात्रः पुरुषः स्मृतः ॥७५॥

करणबाह्येन्द्रियाधिष्ठातृसमः । स्मृत इति पुराणादिप्रणेतृभिः । अतश्च अहमकर्ता ॥७५॥

अत एव—

मानसं वाचिकं चैव शारीरं कर्म यत्कृतम् ।

तत्सर्वम्—

प्रकृत्या कारितं मन्ये

प्रकृतिप्रयुक्तैर्मनःप्रभृतिभिः कृतमित्यवैमि ॥

एवं च न प्रयोजकत्वम्, नापि मुख्यं कर्तृत्वं पुंसोऽस्तीति कृत्वा—

अकर्ता पुरुषः स्मृतः ॥७६॥

एवं संन्यस्य कर्माणि वर्तते न च नित्यशः ।
नाहं कर्ता न मे बन्ध एवं बुध्येत यो नरः ॥७७॥

प्रकृतेः स विमुच्येत यावन्न सृजतीश्वरः।

एवमितिवचनेन कर्माणि संन्यस्येति सङ्गतिः ॥

प्रकृतिमात्रविवेकमात्मनो मन्यमानोऽकर्त्र्या जडायाः प्रकृतेः कर्तृत्वम-धिष्ठातुरीश्वरस्य बन्धादिकर्तुश्चाकर्तृत्वं मोहान्मन्यमानस्तत्त्वाप्रज्ञानात् कंचित् कालं निवृत्तप्रकृतिसंबन्धोऽपि न तत्त्वतः प्रकृतिबन्धात् प्रमुच्यते। तदाह— तच

साङ्ख्यज्ञानेन संमूढो मुक्तिरित्यभिमन्यते ॥७८॥
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य कंचित्कालं विदेहता।

कंचित्कालं या विदेहता सा न मुक्तिर्यतस्तस्मात् साङ्ख्यज्ञानेन मोहितो मुक्तिरिति मिथ्यैव जानाति ॥

केवलमेतावज्ज्ञानादसौ—

तिष्ठेत् प्रकृतिनिर्मुक्तः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥७९॥
यावत्करोत्यसौ सृष्टिमीश्वरः परमेश्वरः।

इदमेवास्य प्रकृतिनिर्मुक्तत्वं यत् प्रकृतिकार्यशरीरादिसर्गसंहारवर्जितत्वम्। एवं च यावदीश्वरः पुंसां भोगाय पुनः सृष्टिं न आरभते, तावदसौ प्रकृतिलीन-प्राय एवास्ते इत्युक्तं भवति। न चैतावन्मात्रस्रष्टृत्वमस्य ऐश्वर्यम्, अपि तु शुद्धाशुद्धसर्वाध्वविषयमित्याशयेन परमेश्वरोऽनाश्रितान्तस्य विश्वस्य प्रभुरि-त्युक्तम् ॥

तत ईश्वरे पुंसां कर्मपरिपाकानुसारिभोगदानाय सृष्ट्याभिमुख्यमाश्रयति साङ्ख्ययोगी—

तावत्प्रकृतिबन्धेन संसारे क्षिप्यते पुनः ॥८०॥
क्षिप्तः संसरते भूयः संसारे घोरसागरे।
धर्माधर्मनिबद्धस्तु साङ्ख्यज्ञानेन मोहितः ॥८१॥

तावत् प्रकृतादविशिष्टो यः प्रकृतिबन्धस्तेन। घोरो विभीषिकाशतप्रदो दुरन्तत्वाच्च सागर इव सागरः। यद्यपि च नाहं कर्ता प्रकृतिरेव कर्त्रीत्यनेना-वसितम्, तथापि तत्तस्या जडत्वाद् नोपपन्नम्, बुद्धेश्चिच्छायायोगे चेतनत्व-मुपचरितं कथं मुख्यं कर्तृत्वं स्यात्, प्रकृतेश्च सत्त्वोद्रेकाभावात् चिच्छाया-ग्रहणायोग्यतयोपचरितमपि चेतनायमानत्वं नास्तीति कथं कर्मसंबन्धः, कथं वा ज्ञानान्नैष्कर्म्यप्राप्तिः, अतोऽवश्यमीश्वरेच्छावशोत्थापितकलादिसंबन्धहेतुकं पुंसो मितविषयं कर्तृत्वमस्तीत्यनादिभवोपार्जितधर्माधर्मनिबद्धत्वमस्य साङ्ख्य-ज्ञानमोहितस्यास्तीति युक्तमुत्पश्यामः ॥८१॥

इत्थमीश्वरेच्छातः संसारसङ्गरतोऽयम्—

अहं कर्ता च भोक्ता च ईश्वरो बलवानहम्।

इति मन्यमानः—

ममत्वेनैव संमूढो भ्राम्यते घटयन्त्रवत् ॥८२॥

अहङ्कारपूर्वकत्वान्ममकारस्य । भ्राम्यत इति ईश्वरेण । यदुक्तं गीतासु—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (१८।६१)

इति ॥

एतदुपसंहरति—

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं

इह पूर्वं यत् प्रश्नितम्—

'तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत्' (१२।२)

इति, तन्निर्णयाय देहाश्रयाणि धरादिप्रकृत्यन्तानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि, अधुनोच्चारणादिक्रमेण तत्तत्सिद्ध्यर्थं साक्षात्कार्यमेतत्कार्यतत्त्वस्वरूपं स्थूलदृशा प्रदर्श्य, सूक्ष्मदृशा परदृशा चात्माश्रयाणि नियत्यादिसमस्तानि शुद्धविद्यादिशिवान्तानि च सिद्ध्यर्थमेव तत्त्वान्तरध्यानानि दर्शयन्नुपक्रमते—

शृणु ध्यानाधिदैवतम् ।

पृथिव्यादितत्त्वानां ध्यानं तत्संवाच्यतत्त्वाधिष्ठातृदेवतास्वरूपं च वक्ष्यमाणतत्तत्सिद्धिप्रदं शृण्विति संबन्धः । अत्र चादौ—

'समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।

जायते विविधा सिद्धिर्गिरिगह्वरमाश्रिते ॥

सुशुद्धे भूप्रदेशे तु……………………।' (६।१-२)

इत्यादिक्रमेण पूर्वोक्तभैरवपूजापूर्वकं पृथ्व्यादितत्त्वध्यानमारब्धव्यम् ॥

तत्र तावत्—

पृथ्वीं कठिनरूपेण चतुःसागरमेखलाम् ॥८३॥

सपर्वतवनाकीर्णां मृगपक्षिसमाकुलाम् ।

सुस्थिरां पीतवर्णाभामूबीजेन समन्विताम् ॥८४॥

ध्यात्वा तत्सिद्धिमभ्येति

चतुःसागरमेखलादिरूपा या पूर्वं पृथ्वी उक्ता, तां सुस्थिरकठिनपीतवर्णाभां भुवनाध्वप्रतिपादिततत्तद्देवतात्मिकां सर्वदेहे गतां ध्यात्वा तत्सिद्धिमेति तन्मयः साधको भवति । अस्याश्च पूर्वोक्तरसात्मप्रक्रियया—

'धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः' (५।५)

इति कृत्वोकारबीजवाच्यत्वमुक्तम् । ध्यात्वेत्युक्त्या ध्यानात्पूर्वं धारणा आक्षिप्ता । सा च—

'स्वदेहं हेमसङ्काशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम्' (मा०वि० १२।२२)
इतीदृग्धारणापूर्वं पृथ्वीध्यानमभ्यस्येत् ॥

विषसत्त्वान्निवारयेत् ।

विषं स्थावरजङ्गमादिरूपम्, सत्त्वान् पिशाचापस्मारादीन् शक्तिस्तम्भनादिक्रमेण हेलयैव नाशयति ॥

समापन्नपृथ्वीध्यानस्त्वसौ—

अचाल्यः सर्वभूतानां यथैव वसुधा भवेत् ॥८५॥

एतत्—

'तत्सिद्धिमभ्येति' (१२।८४)

इति पूर्वोक्तेः स्फुटीकरणम् । यथैव वसुधेति पृथ्वीजयेन तदधिष्ठातृवत् तत्रैश्वर्यमाप्नोति । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥८५॥

जलध्यानमाह—

जलापूरितसर्वाङ्गो जलध्यानेन पूरयेत् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु विषसत्त्वान् विनाशयेत् ॥८६॥
तृष्णादाहविनिर्मुक्त ईतिभिश्च विवर्जितः ।
जगदापूरयेत् सिद्धिः पूर्वबीजसमन्वितः ॥८७॥

जलध्यानेन पूरयेदिति अङ्गोपाङ्गप्रसरणक्रमेण विश्वमापूरितं भावयेत् । एवमभ्यस्यन्विषादि नाशयेदिति आप्यायनयुक्त्या साध्यमाप्याययति प्रशान्तविषभूतदोषं करोति, स्वयं च तत्तत्सन्तापाद्यवसरेषु तृष्णादिभिरीतिभिश्च सर्वोपद्रवैर्विवर्जितः क्रमाच्च सिद्ध इति निष्पन्नाप्तत्वध्यानो जगदपि अम्भोवदेव आप्याययति । पूर्वबीजमूकार एव प्रधानान्तं तस्यैव वाचकत्वेन उक्तत्वात् । अत्रापि—

जलात्मकं स्मरेद्देहं सितं शीतं सुवर्तुलम् ।' (मा०वि० १३।२)

इति श्रीपूर्वोक्तनीत्या कमललाञ्छितसितार्धचन्द्रमण्डलात्मिकां जलधारणां बद्ध्वा ऊकारपरामर्शपूर्वं प्राङ्निर्दिष्टदेवताधिष्ठितं जलमयं स्वदेहं ध्यायेत् ॥८७॥

'स्वशरीरोत्थितो वह्निर्ज्वलन् वै सर्वदाहकः ।
त्रिकोणं चिन्तयेद्देहं रक्तज्वालावलीधरम् ॥' (मा०वि० १३।२१)

इति श्रीपूर्वनिरूपितवह्निधारणया स्वदेहं ध्यात्वा—

कुर्यात् कर्मसहस्राणि स्वबीजेन तु बीजितः ।

बीजितः परामर्शयुक्त्या योजितः । स्वबीजं रेफ इत्यसदिह तथा प्रक्रमाभावात् । प्रधानान्तं देहाश्रयाणि तत्त्वान्युक्त्वा तत्त्वध्यानप्रतिपादनस्यायमेवाशयो यन्नवात्मप्रक्रियया ऊकारादिवाचकपरामर्शपूर्वमेतत्सिद्धिः स्यादिति ॥

कृष्णरेण्वात्मको वायुर्ध्येयो बीजेन संयुतः ॥८८॥
पूरयेद्वै जगद्देहान्

अत्रापि—

'स्वदेहं चिन्तयेत्कृष्णं वृत्तं षड्बिन्दुलाञ्छितम्
चलं सधूधूशब्दं च........................॥' (मा०वि० १३।३४)

इति श्रीपूर्वोक्तवायवीयधारणापूर्वकाद् ध्यानाज्जगद्गतान् देहानुच्छ्वासमात्रेण पूरयेदाप्याययेत् ॥८८॥

ध्यानप्रकर्षात्तु—

सिद्धश्चाश्चर्यकारकः ।

वायुतत्त्वाधिष्ठातृदेवताप्रभावात् किं किं न करोतीत्यर्थः ।

सुषिरात्मकं स्वदेहं तु जगच्च सुषिरात्मकम् ॥८९॥
ध्यायेत् प्रकृतिबीजेन

एकारेण ॥

एवं च—

चित्रकर्माणि कारयेत् ।

यदुक्तं श्रीपूर्वे—

'षण्मासाद्गगनाकारः सूक्ष्मरन्ध्रैरपि व्रजेत्
वत्सरत्रितयात् सार्धाद्व्योम एव भविष्यति
इच्छयैव महाकायः सूक्ष्मदेहस्तथेच्छया
अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च................॥' (मा०वि० १३।४६-४७)

इत्यादि ॥

प्राक्स्थित्यैव कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियतन्मात्रध्यानानि क्रमेणाह । तत्र—

वागिन्द्रिये तथा वह्निर्ध्यातो वाक्सिद्धिदायकः ॥९०॥

तथेति—

'ज्वलन् वै सर्वदाहकः'

इति यथा पूर्वमुक्तः स तु सर्वदेहगतः, अयं तु जिह्वानुसारिहृदयादिमूर्धान्त-वागिन्द्रियदेहाश्रयः इति विशेषः ॥९०॥

इन्द्रः पाणावभिध्यातः

पीत इति, अर्थात् ॥

येनासौ—

बाहुशाली त्वजेयकः ।

स्वार्थे कन् ॥

पादयोर्दूरसंचारं ध्यातो विष्णुः प्रयच्छति ॥६१॥
पायौ मित्रः सितो ध्यातः पायुव्याधिविनाशकः।
शिश्ने प्रजापतिं श्यामं ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥६२॥
जितेन्द्रियश्च भवति त्विच्छया रमते शतम्।

पूर्वबीजमनुक्तमत्र योज्यम्। विष्णुः कृष्णवर्ण इति, अर्थात् ॥

श्रोत्रेन्द्रिये दिशश्चित्रा ध्यायेद्बीजेन संयुताः ॥६३॥

दिशोऽधिष्ठातृदेवताः। चित्रा नानारूपाः। बीजं प्राग्वत् ॥६३॥

यश्च ईदृगसौ—

सकृदुक्तं च गृह्णाति

महान्तमपि शब्दसन्दर्भमिति, अर्थात् ॥

अस्य चाभिसन्धिमात्रात्—

दिग्यात्रा चैव सिद्ध्यति।

दूरतरदिक्प्राप्तिरपि भवति ॥

मारुतं कृष्णरूपेण ध्यायेत्तु त्वचि संस्थितम् ॥६४॥
यः स दंष्ट्राद्यभेद्यः स्यात्

अस्य च—

न क्वचिज्जायते व्यथा।

वज्रदेहो जायत इति यावत् ॥

आदित्यं चक्षुषि ध्यायेज्जिह्वायां वरुणं तथा ॥६५॥
नासायां पृथिवीं पीतां मनसीन्दुं तथैव च।
पीतकं गन्धतन्मात्रं रसतन्मात्रकं सितम् ॥६६॥
रक्तं तु रूपतन्मात्रं कृष्णं तु स्पर्शसंज्ञितम्।
अरूपं शब्दतन्मात्रं ध्यातव्यं बिन्दुरूपि च ॥६७॥
विषयेष्वीप्सितां सिद्धिं जानाति च विचिन्तितम्।

तन्मात्राणां घ्राणाग्रादीनि स्थानानि चतुरस्रादिरूपं च **श्रीपूर्वतो ज्ञातव्यम्**, यथा—

'पीतकं गन्धतन्मात्रं तुर्याश्रं पञ्चसंमितम्।
नासारन्ध्राग्रगं ध्यायेद्वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ॥' (१४।२)

इत्यादि, तथा—

'जलबुद्बुदसङ्काशं जिह्वायां चाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयेद्रसतन्मात्रं जिह्वाग्राधारमात्मनः ॥
सुशीतं षड्रसं स्निग्धं तद्गतेनान्तरात्मना ।' (१४।१२-१३)

इति,

'एकान्तस्थो यदा योगी विनिमीलितलोचनः ।
शरत्सन्ध्याभ्रसङ्काशं यत्तत्किञ्चित्प्रपश्यति ॥
तत्र चेतः समाधाय यावदास्ते दशाहकम् ।
तावत्प्रपश्यते तत्र बिन्दून् सूक्ष्मतमानपि ॥
केचित्तत्र सिता रक्ता नीलाः पीतास्तथापरे ।
तान् दृष्ट्वा तत्र सन्दध्याच्चेतोऽत्यन्तमनन्यधीः ॥
षण्मासात् पश्यते तेषु रूपाणि सुबहून्यपि ।' (१४।२०-२३)

तथा—

षट्कोणमण्डलान्तःस्थमात्मानं परिभावयेत् ।
रूक्षमञ्जनसङ्काशं प्रत्यंशं स्फुरिताकुलम् ॥
ततोऽस्य दशभिर्देवि दिवसैस्त्वचि सर्वतः ।
भवेत् पिपीलिकास्पर्शस्ततस्तदनुचिन्तयन् ॥
वज्रदेहत्वमासाद्य पूर्वोक्तं पूर्ववल्लभेत् ।' (१४।२६-३१)

इत्यादि, तथा—

'कर्णौ पिधाय यत्नेन निमीलितविलोचनः ।
यं शृणोति महाघोषं चेतस्तत्रानुसन्धयेत् ।
दीप्यते जाठरो वह्निस्ततोऽस्य दशभिर्दिनैः ।
दूरात्कथनविज्ञानं षण्मासादुपजायते ॥' (१४।३३-३५)

इति । बिन्दुरूपि चेति तन्मात्रविषयं यथायोगं योज्यम् । विषयेष्वीप्सितां सिद्धिमिति चक्षुरादिविषयेषु तथा प्रोक्तदशा तन्मात्राधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणां तन्मात्रविषयेषु रूपादिषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषूपलब्ध्यादिकाम् । जानाति च विचिन्तितमिति यस्य कस्यचित् संबन्धि विचिन्तितं सङ्कल्पसिद्धिं जानातीत्येषां मनोध्यानसिद्धिः ॥

अहङ्कारधारणामाह—

वैकारिके तथा रुद्रो ध्यातव्यः सिद्धिमिच्छता ॥६८॥

अतश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति मुक्ताहङ्कारबन्धनाम् ।

मुक्तमहङ्कारबन्धनं यस्य तादृशीं परप्रमात्रैकात्म्यप्राप्तिपर्यवसानामित्यर्थः ।

अत्रापि—

षोडशारं स्मरेच्चक्रमात्मन्यहमनन्यधीः ।
एषोऽहमिति सञ्चिन्त्य स्वकार्यपरिवारितम् ॥
अप्रधृष्यो भवेद्योगी.......................।' (मा०वि० १६।२-३)

इत्यादि श्रीपूर्वोक्तमनुसन्धेयम् ॥

अथ—

ब्रह्माणं बुद्धिसंस्थं तु ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥९९॥
स्मरन् वै पूर्वबीजेन

पूर्वबीजेनेति ऊकारेण । एतच्च पूर्वत्राप्यनुसन्धेयम् । स्मरणं ध्याने हेतुः । अत्रापि—

'उदितादित्यबिम्बाभं हृदि पद्ममनुस्मरेत्
धर्मादिभावसंयुक्तमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।' (मा०वि० १६।८)

इत्याद्यनुसर्तव्यम् ॥

एवं ध्यानवतः—

ज्ञानौघः संप्रवर्तते ।
दिव्या च जायते बुद्धिः संशयोच्छित्तिकारिका ॥१००॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रत्यक्षं संप्रजायते ।

ज्ञानौघादिकमत्र ध्येयब्रह्माख्यदेवतारूपमिति ज्ञातव्यम् ॥

अथ—

प्रकृतिः कृष्णवर्णा तु रक्तशुक्ला विराजते ॥१०१॥

गुणत्रयमय्याः प्रकृतेरधिष्ठातृदेवता एषाऽनेकवर्णा उक्ता ॥१०१॥

इत्थं च त्रिवर्णायाः—

रक्तं च हृदयं तस्याः

शिष्टमूर्ध्वमधश्च गात्रमस्याः सितं कृष्णं चेति, अर्थात् ।

एषा च—

बहुपादभुजानना ।
ध्यातव्या तत्त्वबीजेन यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥१०२॥

सर्वपुरुषान् प्रति विचित्रप्रकाशप्रवृत्तिस्थितिप्रदत्वादस्या बहुवक्त्रादित्वे तत्त्वस्य प्रकृत्याख्यस्यैव यद्बीजं प्रक्रान्तप्रक्रियया ऊकारस्तेनैव तत्त्वाधिष्ठात्री एषा ध्येया । एवं च वदतोऽयमाशयो यत्पारमेश्वरे सर्वतत्त्वनि तत्तद्देवताधिष्ठितान्येव, न त्वेषां जडत्वमेवमित्यत्र देवताप्रधानमेव तत्त्वध्यानमुक्तम् । आत्मनः सिद्धिः प्रकृतिविविक्तस्य उपलब्धिः ॥१०२॥

एवं ह्यात्मा मुक्तप्रकृतिबन्धनः—

सिद्धश्चैव स्वतन्त्रश्च दिव्यदृष्टिश्च जायते।

सिद्ध इति प्रकृतिविवेकेनोपलब्धोऽत एव स्वतन्त्रः, न तु प्रकृतिवशस्तथा च दिव्या लोकोत्तरा स्वपरविषया दृष्टिः सम्यक्प्रतीतिर्यस्य तादृग्भवति ॥

यावता कालेनैषाऽस्य सिद्धिस्तदादेशाय आह—

षण्मासाभ्यासयोगेन दिव्या दृष्टिः प्रवर्तते ॥१०३॥

एष चाभ्यासकालः सर्वतत्त्वविषयो मन्तव्यः ॥१०३॥

तदित्थं दिव्यदृष्ट्युत्पत्तौ—

त्रैलोक्ये यत्प्रवर्तेत प्रत्यक्षं तस्य जायते।

तदेव देवमनुष्यतिर्यग्रूपे लोकत्रये यत् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टादिकं किंचित् प्रवर्तते प्रकृतितो जायते, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति ॥

उपसंहरति—

एष ते प्राकृतो योग उक्तः

एवं प्रकृत्यन्ते शरीरे तत्त्वानां स्थितिं धारणादिक्रमेण च तत्तत्सिद्धिहेतुत्वमुक्त्वा, तत्त्वान्तरध्यानान्युपक्षेप्तुं प्रकृतिसाक्षात्कारान्मायासाक्षात्कारस्य लोकोत्तरतामादिशति देवः—

मोक्षकरः परः ॥१०४॥

पर इति मायाख्यः प्रकृतेः साक्षात्कारयोगादपि पर उक्तः। स च मोक्षकरः, मायोत्तरणात् प्रभृत्येव हि मोक्षमार्गसोपानपदप्रवृत्तिः, पुंस्प्रकृतिविवेकज्ञानिनां पुनर्बन्धाविर्भावस्योक्तत्वादेव ॥१०४॥

देहावस्थितिप्रकृत्यन्ततत्त्वेषु ध्यानपूर्वाः सिद्धीः प्रतिपाद्य, एतदधिष्ठातृपुंस्तत्त्वध्यानोत्थसिद्धिप्रतिपादनायाह—

अतः परं तु पुरुषः

ध्येय इति शेषः ॥

स च—

पद्ममध्ये व्यवस्थितः।

'साक्षात् कृत्स्नमिमं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इति हृदब्जकर्णिकास्थः ॥

किमस्य स्वरूपमित्याह—

चित्स्वरूपश्च

चिन्मात्र एव । यथोक्तं शिवसूत्रेषु—

'चैतन्यमात्मा' (१।१)

इति ॥

अत एवास्य भेदवाद्युपगतो न कश्चिद्वास्तवो भेद इत्याह—

सर्वेषु देहमापूर्य संस्थितः ॥१०५॥

परमेश्वरमायाशक्तिवशादवभासितभेदेषु सर्वप्राणिषु संस्थितः, अतश्च तदुपाधिभेदादयं भिन्न इव न वस्तुत इति सर्वेष्विति संस्थित इति बहुवचनैकवचनयोराशयः ॥१०५॥

इत्थं पुर्यष्टकसंङ्कोचनाभासनादेव च—

स जीव इति विख्यातो येन जीवति तत्पुरम् ।

पुरं शरीरम् ॥

एतदेव व्यतिरेकेण दर्शयति—

निर्गतेन मृता येन अचेताः शीर्यते तनुः ॥१०६॥

इत्थं च मायाशक्त्या पुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयम्—

बध्यते

विश्वभित्तिभूतपरिपूर्णबोधरूपतया स्फुरन्नप्यसौ सङ्कोचावभासात्मना तावतांऽशेन स्वयमेव बध्यते । यथोक्तं प्राक्—

'आत्मना बध्यते ह्यात्मा' (१०।३६०)

इति ॥

यदा तु तेन भित्तिभूतेन शुद्धविद्याशक्त्या सङ्कोचावभासोऽस्य विलाप्यते, तदा—

मुच्यतेऽसौ वै

न च देहपातेऽस्य मुक्तिरपि तु जीवतोऽप्यस्येत्याह—

सुखदुःखानि वेत्ति च ।

उक्तं च प्राक्—

'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्येयं भावना स्थिता' (७।२५९)

इति । देहपाते तु परमशिव एवासाविति कस्य कुतो मुक्तिरित्यभिहितमेव ॥

तदीदृशचितिमात्ररूपस्य—

न तस्य रूपं वर्णो वा प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥१०७॥

वर्णो ब्राह्मणादिः, रूपं सितादि, प्रमाणम् आरोहमहदादि, इदन्तानिर्देश्यत्वाभावात् । इदं च भेदस्यावास्तवत्वैवेत्यादिशति । अथ च चित्स्वरूपत्वात् सततं प्रथमानमूर्तेरस्य प्रत्यक्षानुमानाद्याख्यं नवार्थाभासरूपं प्रमाणं न क्वचिद् दृश्यते, नैवोपपद्यते । यथोक्तं **श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्**—

'प्रमातरि प्रमाणे तु सर्वदा भातविग्रहे ।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि ॥' (२।३।१६)

इति । श्रुत्यन्तेष्वपि—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ०उ० २।४।१४)

इति । क्वचिच्छब्देनासम्भाव्य एवायमर्थ इत्यादिष्टं भगवता ॥१०७॥

यतश्चायं न कथञ्चिद्विषयीक्रियते, अत एव—

न शक्यः कथितुं वापि

अपिशब्दात् सङ्कल्पयितुं वा ॥

अतश्चायम्—

सूक्ष्मश्चानन्तविग्रहः ।

अत एव व्यनक्ति—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु ॥१०८॥
तस्य सूक्ष्मतरो जीवः स चानन्त्याय कल्पते ।

वालस्य यदग्रं तस्य यः शतभागस्तस्य शतधा कल्पितस्येति तमपि सूक्ष्मतया तथा कल्प्यमानत्वादेव वेद्यपदपतितमनादृत्य प्रकृष्टः सूक्ष्मो जीवो येन केनापि प्रकारेण वेद्यः, तत एव चित्स्वरूपवेदकैकात्मकत्वादानन्त्याय देशकालाकारापरिच्छिन्नत्वादशेषैकात्म्याय कल्पते तद्रूपतया स्वस्वातन्त्र्यात् स्फुरति; न तु केनचित् तथा कल्प्यत इति । कल्पितत्वं कल्पनोत्थापितत्वम्, क्लृप्तिस्तु स्वयमेव तथावस्थितिः ॥

एवमकल्पितत्वादध्येयस्याप्यस्य वक्ष्यमाणकञ्चुकाविष्टस्यादूरविप्रकर्षेणोत्प्रेक्ष्यसिद्ध्यङ्गध्यानमाह—

आदित्यवर्णं रुक्माभमब्बिन्दुमिव पुष्करे ॥१०९॥
पश्यन्ति तारकमिव योगिनो दिव्यचक्षुषा ।

आदित्यवर्णमिति तथा रुक्मस्य हेम्न इव आभा प्रकाशो यस्येत्यनेन दीप्तत्वमात्रमस्योक्तम्, न त्वाकृतिमत्त्वम्; पुष्करे पद्मेऽब्बिन्दुमिवेत्यनेन शरीरादिभूम्यस्पर्शित्वम्, तारकमिवेत्यनेन तु स्फुरत्तासारत्वम् । दिव्यचक्षुषेति स्वसंवेदनेन । अत्र च प्रातिलोम्येन नवात्मसंबन्धी द्वितीयो वर्णो वाचकत्वेन

प्रकरणानुसारं योजनीयः । तारकमित्यनेन च प्रकृतिबन्धात्तारकत्वमेव तद्ध्यानस्योक्तमिति सिद्धिरपि निर्दिष्टा । दिव्यचक्षुषेत्यनेनापि तद्ध्यानाद्योगिनोऽशेषप्रकाशकं चक्षुर्दिव्यमाविर्भवतीति सिद्धिनिर्देशः कृतः । तदेवं पुर्यष्टकवशिनोऽस्यैतद्ध्यानम्, वास्तवेन तु चितिमात्रात्मना रूपेण ध्यातैवायम्; न तु ध्येयः । चिदात्मैव च सर्वाधिष्ठातृदेवतेत्याशयेनात्मनोऽत्र देवतान्तराधिष्ठितत्वं नोक्तम् ॥

यश्चायं चितिस्वभावत्वात् वर्णरूपादिरहितः पुरुष उक्तः, असौ—

रागविद्याकलोपेतः कालबद्धो हि रूपवान् ॥११०॥

प्राङ् निर्णीतरूपकलादितत्त्वपञ्चकात्मककञ्चुकावृत आत्मा रूपवानित्यादित्यवर्णत्वादिध्येयरूप उक्तः ॥११०॥

अथ—

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव' (५।११)

इत्यादिप्रोक्तनवात्मप्रक्रियया नियतिध्यानमाह—

श्यामवर्णेन विज्ञेया स्थिता जीवस्य देवता ।
दक्षिणेन सिताङ्गी तु वामेनासितरूपिणी ॥१११॥

जीवस्य जीवता नियतिनियन्त्रणाप्राणैवेत्याशयेन देवतेत्युक्तम् । नियामकत्वादेव च श्यामा । श्यामच्छायत्वेऽपि चास्या दक्षवामभागयोः सितासितत्वेन धर्माधर्मोत्थापकत्वमुक्तम् ॥१११॥

अस्याश्च—

तद्वर्णानि च वक्त्राणि मण्डलानि विशेषतः ।

दक्षिणे सितानि वामे चासितानीति वक्त्रचतुष्टयमपि दक्षिणतः सितं वामतोऽसितम् । मण्डलानीति वक्त्राङ्गोत्थितानि प्रभामण्डलकानि ॥

एषा च सितासितरूपत्वादेव पुरुषम्—

कर्मबन्धेन बध्नाति

अस्य च—

सुखदुःखं प्रयच्छति ॥११२॥

तदीदृशीमेनाम्—

नियतिं च विजानीयादनिवार्यां सुरासुरैः ।

सर्वो हि तन्नियन्त्रितः ॥

इत्थमेषा—

पूर्वंबीजसहध्याना द्विरूपेण समन्विता ॥११३॥

पूर्वबीजेन प्रक्रान्तनवात्मसंबन्धिना वकारेण सह ध्यानं तत्परामर्शसहितं चिन्तनं यस्याः, सा तथा प्रोक्तसितासितात्मकद्विरूपयुक्ता ॥११३॥

तस्याश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति

कासौ सिद्धिरित्याह—

नियतेश्च विमुच्यते ।

न भूयो नियत्या नियम्यत इत्यर्थः ॥

अथ कालतत्त्वध्यानमाह—

त्रिनेत्रं च चतुर्वक्त्रं कृष्णवर्णं चतुर्भुजम् ॥११४॥
संहरन्तं दुराधर्षमनन्तं कालमीश्वरम् ।

दुराधर्षं परमयोगिव्यतिरेकेण नान्येनाभिभवनीयम् । अनन्तमन्येनापरिच्छेद्यम् । ईश्वरं विश्वसर्गसंहारप्रभविष्णुम् । ईदृशं कालं ध्यायेत् ॥

अतश्चास्य—

स्वबीजध्यानरूपज्ञः कालेन नहि कल्यते ॥११५॥

स्वबीजं नवात्मसंबन्धी लकारः ॥११५॥

ये तु कालवञ्चनाय न यतन्ते, ते—

चक्रवत् परिवर्तन्ते कालध्यानविवर्जिताः ।

तदुक्तं तत्रभवता हरिणा—

'जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः ।
स कालः कलयन् सर्वान् कालाख्यां लभते प्रभुः ॥' (३।६।१४)

इति ॥

यत एवम्, तस्मादुक्तदेवतारूपम्—

एवं कालं सदा ध्यायेत्

एवं हि ध्यातुः प्रोक्तकालवञ्चनरूपा—

ध्येयसिद्धिश्च जायते ॥११६॥

न केवलं कालाधिकारोक्तमृत्युञ्जयप्रकारात् कालजयो भवति, यावत्प्रोक्तकालध्यानादपीत्यर्थः ॥११६॥

एवंप्रकारावमृष्टप्रकृत्यन्ततत्त्वध्यानादनन्तरं य-व-लकारवाच्यं पुंनियतिकालानां सिद्ध्यङ्गध्यानमुक्त्वा, नवात्मप्रक्रियया पुमादितत्त्वत्रयेण सह यथाक्रमं युगलकस्थित्या निरूपितानामत एव तद्वर्णावमृश्यानां रागविद्याकलानामपि ध्यानमाह—

रागं तु रक्तवर्णं वै विद्यां श्यामां सुलोचनाम् ।
सितवर्णां कलां ध्यायेच्चैतन्योन्मीलिनीं तु ताम् ॥११७॥

सुलोचनामिति काकाक्षिवत् । अत्रापि चतुर्वक्त्रचतुर्भुजत्वे प्राग्वदनुसरणीये । कलाया विशेषणं चैतन्योन्मीलिनीमिति । यथोक्तं प्राक्—

'कलोन्मीलितचैतन्यो' (११।९८)

इति । एतच्च—

'विद्यादर्शितगोचरः' (११।९८)

इत्यादिकोपलक्षणपरम् । तानि च तत्त्वान्यात्माश्रये हृदि ध्यानक्रमसाक्षात्कारतो वेद्यीकरणीयानि ॥११७॥

व्यामोहकत्वप्रशमनाय मायाया ध्यानमाह—

कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी दीर्घदन्ता सुलोचना ।
कचोर्ध्वपिङ्गकेशी च स्थूलकाया महोदरी ॥११८॥

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वादस्या ईदृग्रूपं ध्यानमुक्तम् । कचेषूर्ध्वमित्युत्थिताः पिङ्गाः केशा यस्याः । इह यद्यपि केषांचित् तत्त्वानां स्वरूपमात्रं ध्यानमुक्तमन्येषामाकृतिमद्देवतारूपत्वं तद्देवताधिष्ठितत्वम्, तथापि सर्वत्र तत्तदाभासरूपाणां तत्त्वानां तत्तद्देवताधिष्ठितत्वमेव साध्विति तत्तद्देवताधिष्ठितमूर्तीन्येव सर्वतत्त्वानि ध्यातव्यानि ॥११८॥

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वमेवास्याः स्फुटयति:—

या पातयति भूतानि ब्रह्माद्यानि पुनः पुनः ।

पातयति स्वरूपाच्छादनप्रमुखं संसारीणि कुरुते ॥

ततश्च तैः—

निर्वैरपरिपन्थित्वान्माया ग्रन्थिर्दुरुत्तरा ॥११९॥

निर्वैरं निष्कारणमेव परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा माया परिपन्थिनी पूर्णस्वरूपगोपनेन सङ्कुचितक्षेत्रज्ञस्वरूपोत्थापिका, तद्रूपत्वादेव च पुंबन्धिका माया ग्रन्थिरित्युच्यते ॥११९॥

अतश्च परमेश्वरानुग्रहं विना न केनचिदुत्तीर्यत इत्याह—

साङ्ख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविदश्च ये ।
न तां लङ्घयितुं शक्ता ये चान्ये मोक्षवादिनः ॥१२०॥

अन्यशास्त्रममाहेश्वरम् ॥१२०॥

यतः सर्व एव ते—

क्लिश्यन्ति मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।

स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनपरभैरवैक्यापत्त्यात्मना मुक्तेरन्यो यः कश्चिन्मोक्ष उच्यते, स तावदध्वोत्तीर्णतायामपीतराध्वानुत्तरणादमोक्षे मोक्षावभासः ॥

स्वबीजध्यानयोगेन पूर्वध्यानस्वरूपतः ॥१२१॥
दीक्षासिना च तां छित्त्वा विशन्ति शिवमव्ययम् ।

स्वबीजं नवात्मसंबन्धी मकारस्तस्य ध्यानं परामर्शस्तत्प्रधानेन सहितं यत् पूर्वोक्तम्—

'कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी' (१२।११८)

इत्यादि ध्यानं तत्स्वरूपतो हेतोर्या पूर्वोक्ता निरूपिता दीक्षा सैवासिः खड्गस्तेन तां मायां छित्त्वा शिवं विशन्ति तदैकात्म्यमायान्ति ॥

शुद्धविद्याध्यानमाह—

चतुर्वर्णा भवेद्विद्या सा वर्णव्यापिनी स्मृता ॥१२२॥
सितरक्तपीतकृष्णा ध्यातव्या सुषिरात्मिका ।
आकाशवायुमारूढा रूपयौवनशालिनी ॥१२३॥

इह

'सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदन्तयोः' (३।१।३)

इति प्रत्यभिज्ञायां निर्दिष्टरीत्याऽशेषवाच्यवाचकाविभागप्रकाशमय्याः शुद्धविद्यायाः सर्ववाचकतद्वाच्यव्यापि रूपमित्थमादिशति परमेश्वरः । तथाहि चतुर्भिरम्बाज्येष्ठारौद्रीवामाख्यैर्बिन्दुसृष्टरेखाशृङ्गाटकार्धचन्द्रसन्निवेशैरागमोक्तरूपैर्वर्णनं स्वरूपव्यक्तीकरणं यस्याः, अतश्च वर्णानामादिक्षान्तानां व्यापिनी प्रोक्तशक्तिचतुष्टयक्रमेण पञ्चाशद्वर्णभट्टारकात्मकस्वरूपोत्थापिका स्मृतेत्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येणाधीतेत्यनेन समस्तवाचकव्यापि रूपमस्या उक्तम् । सितेत्यादिना तु समस्तवाच्यवाचकं पञ्चतत्त्वदीक्षानिरूपितनीत्या पृथिव्यादितत्त्वपञ्चकात्मनो विश्वस्य पीतसितरक्तकृष्णसुषिरात्मकत्वात् तद्व्यापिन्या देव्यास्तथारूपतोक्ता । यतश्चास्याः प्रतिपादितयुक्त्या समस्तवाचकव्यापित्वमत एवेयमाकाशवायुं सर्ववर्णोदयास्पदं सौषुम्नं पदमारूढा । पूर्वोक्तनीत्या वर्णकुण्डलिन्याः प्राणकुण्डलिनीवाहनत्वादशेषवाच्यपरिपूर्णत्वादेव चेयं रूपयौवनशालिनी उक्ता । चतुर्वक्त्रेत्यादिरपपाठो भुवनाधिकारे—

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा' (१०।११४४)

इत्युपक्रम्य विद्याधिष्ठितानां वामादिशक्तीनामपि—

'तप्तचामीकराकाराः पञ्चवक्त्रा' (१०।११४६)

इत्यादिध्यानाभिधानात् ॥१२३॥

तदीदृश्येषा—

स्वबीजेन तु सा ध्येया

नवात्मसंबन्धिना क्षकारेण ककारसकाराकारपिण्डीकरणयुक्त्या स्वीकृतविश्वात्मना कूटबीजेन परामृष्टव्या ॥

एवं च साधकस्याशेषविश्वप्रकाशात्मिका—

तत्सिद्धिश्चैव जायते ।

चकारेण दण्डापूपिकान्यायेनाणिमादिसम्पत् समुच्चिता ॥

तदेषाऽशेषविश्वात्मताप्रथनयुक्त्याऽनुत्तरधामविकासात्मकपरफलपर्यवसायिनी—

दिव्या सिद्धिरमोघा तु

अतश्चायं साधकः—

सिद्धविद्यश्च जायते ॥१२४॥

सिद्धा वशवर्तिन्यः सप्तकोटिसङ्ख्या विद्या यस्य ॥१२४॥

किं च—

वेद लोकांस्ततः सर्वान्

लोकयन्तीति लोका रुद्रक्षेत्रज्ञाः, लोक्यन्ते इति लोकाः शुद्धविद्यादिक्षित्यन्तानन्ततत्त्वादिमायापदार्थाः, तान् वेत्ति स्वाधारवर्तिनः सर्वान् स्वसामानाधिकरण्येन पश्यति ॥

न केवलमयं सर्वज्ञो भवति, यावत्—

कामरूपी स गच्छति ।

शिववत् स्वेच्छामात्रेण तत्तदाकारनिर्माता भवतीति यावत् ॥

अथेश्वरतत्त्वप्रभोरीश्वरं प्रागादिवक्त्रध्यानमाह—

कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ॥१२५॥
पूर्वाननमभिध्यायेत्

नराणामीश्वरस्यानुग्रहादिकर्तुस्तत्पुरुषभट्टारकस्येदं नारेशम् । अर्धनारीशमित्यपपाठः । भुवनाध्वनि—

'तस्योत्सङ्गगता विद्या' (१०।११५८)

इत्युक्तत्वादर्धनारीश्वरतायाः का सङ्गतिः ॥

तदीदृशं यत् पूर्वमाननम्, तद्ध्यानात् प्रकृष्टतपोनिष्ठस्य—

वायुभक्षस्य यत्फलम् ।

तत्पुण्यफलमाप्नोति

वायुव्याप्त्याऽस्य वक्त्रस्यागम उक्तत्वात् तद्ध्यानप्रारम्भ एतद्ध्यातुः फलमिहैवाविर्भवति ॥

क्रमात्तु—

अश्वमेधायुतस्य च ॥१२६॥

फलमाप्नोति ॥१२६॥

ध्यानप्रकर्षाच्चास्य—

जगच्च वशमायाति

यतः सर्वत्र जगत्त्रये

क्रमते सिद्धिमेति च ।

तत्तद्भुवनेशवत् प्रभवति, अणिमादिमांश्च भवति ॥

एतच्चास्य—

षड्भिर्मासैरसन्देहः

मासषट्कध्यानाद् निश्चितं भवतीत्यर्थः ॥

दक्षिणस्य ध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

दक्षिणं च तथैव हि ॥१२७॥

ईश्वरस्य । त्रिनेत्रं ध्यायेदिति तथैवेत्यस्यार्थः ॥१२७॥

विशेषं त्वाह—

नीलाम्बुदप्रतीकाशं पिङ्गभ्रूश्मश्रुलोचनम् ।
भ्रुकुटीकरालवक्त्रं च कपालाहिविभूषितम् ॥१२८॥
बहुरूपजटाधारं दक्षिणं तस्य चिन्तयेत् ।

वक्त्रं चेति चस्त्वर्थो विशेषद्योतकः । द्वितीयो दक्षिणशब्दः साधकानुकूल्यवाची ॥

इत्थं चैतत्—

सुखदुःखविनाशाय ईतिज्वरविनाशनम् ॥१२९॥

विशेषस्तु—

विषग्रहादि सर्वं तु ध्यानान्नाशयते क्षणात् ।

किञ्च—

अग्निवज्ज्वलते योगी जरामृत्युविवर्जितः ॥१३०॥
क्रमते सर्वलोकान् वै सिद्धश्च समतां व्रजेत् ।

सिद्धः प्राग्वद् मासषट्कध्यानात् । क्रमते स्वामित्वेनाधितिष्ठति । समतां व्रजेत् परमेशसाम्यमेति ॥

पश्चिमवक्त्रध्यानमाह—

सितं त्रिनयनं देवि साक्षसूत्रकमण्डलु ॥१३१॥
पश्चिमं वदनं ध्यायेद्दिव्यसिद्धिप्रदायकम् ।

दिव्यसिद्धिरणिमादिका ॥

इयांश्चैतद्ध्यानस्य महिमा, यत्—

हत्वा प्राणिसहस्राणि परदारशतानि च ॥१३२॥
अलेपको विशुद्धात्मा सिद्धिं प्राप्य शिवो भवेत् ।

हन्तिरिह हिंसार्थो गत्यर्थश्च क्रमेण । न केवलं प्राप्तसाधकदीक्षः सद्योवक्त्रध्यानादणिमादिसिद्धिं प्राप्य शिवो भवति, यावद् महापातकयुक्तोऽपीत्यर्थः । अतश्च प्रायश्चित्तविषयमप्येतद्ध्यानं निरूप्यमित्यादिष्टम् ॥

उत्तरास्यध्यानमाह—

त्रिनेत्रमुत्तरं वक्त्रं रक्तोत्पलसमद्युति ॥१३३॥

यत्—

ध्यानात्तस्य जगत्सर्वं वशमेति न संशयः ।

मासषट्कं ध्यातुरिति, अर्थात् ॥

किंच—

तपते वर्षते चैव सृजते संहरत्यपि ॥१३४॥
ईप्सितां लभते सिद्धिं योऽब्दमेकं तु चिन्तयेत् ।

आत्मनेपदानि व्यत्ययात् ॥

ऊर्ध्वास्यध्यानमाह—

सितमूर्ध्वं सदा ध्यायेच्छूलहस्तं जटाधरम् ॥१३५॥
व्याघ्रचर्मपरीधानं साक्षसूत्रकमण्डलु ।
वीणाडमरुहस्तं च नागयज्ञोपवीतकम् ॥१३६॥
चन्द्रमूर्धोर्ध्वलिङ्गं च ध्यायेन्नित्यं महेश्वरम् ।

ऊर्ध्वलिङ्गमिति मौलिस्थाने लिङ्गाकारम् । महेश्वर इति पदेनैकवक्त्रं महेश्वरं ध्यायेत्, न तु वक्त्रमात्रमस्येत्यर्थः । नित्यमिति मासषट्कं यावत् ॥

अतश्च—

अनेनैव तु देहेन सर्वज्ञः कामरूपवान् ॥१३७॥

भवतीति शेषः ॥१३७॥

एवमीश्वरतत्त्वाधिष्ठातुरीश्वरस्याकृतिमतो ध्यानमुक्तम् । अथास्यैव—

'बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' (४।२६४)

इति योजनिकाग्रन्थदृशा सर्वमिदमहमित्यशेषविश्वाभेदवेदनात्मकबिन्दुरूपस्यान्तर्गतविश्ववाचकविभागमयनादध्यानमाह—

घण्टानादस्य वा ध्यानात् सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत् ।
ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ॥१३८॥

घण्टारवाकारस्य बिन्द्वन्तर्गतनादामर्शस्य ध्यानात् षाण्मासिकी सिद्धिर्भवेदिति षड्भिर्मासैर्नादामर्शे साक्षात्काररूपा सिद्धिस्तस्य भवति । तत्सिद्धौ च यथेष्टसिद्धवस्तुप्राप्तिर्देहस्थस्यैवास्य घटते ॥१३८॥

अथास्यैवान्तर्भूतनादमशेषविश्वाभेदवेदनात्मकं बिन्दुप्रकाशमयं पूर्वमीशानवक्त्रध्यानमूर्ध्वलिङ्गमिति यल्लिङ्गमुक्तम्, तस्य ध्यानमाह—

लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात् पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत् स सूक्ष्मं लिङ्गं तनूपरि ॥१३९॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।

लीनमनभिव्यक्ततयाऽन्तःस्थितं विश्वमस्येति लिङ्गमशेषविश्वाभेदवेदनात्मकबिन्दुप्रकाशमयम् । पूर्वमीशानवक्त्रमूर्ध्वमात्रम् । पूर्वबीजं नवात्मकसंबन्धी रेफः, स च पूर्वदिग्वक्त्रध्यानेऽपि परामर्शकत्वेनानुसन्धेयः । सूक्ष्मं सर्वेन्द्रियविषयं पश्येत् तत्प्रकाशमयः स्फुरेत् । विमुच्यते जीवन्मुक्तिमासादयते ॥

यदि त्वेतद्ध्यानवतः सिद्ध्यभिलाषो भवति, तदा—

सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते ॥१४०॥

तां दर्शयति—

त्रैलोक्यदर्शने बुद्धिः प्रत्यक्षा तस्य जायते ।

त्रैलोक्यदर्शनविषये साक्षात्काररूपा धीरस्योदेति, साक्षात्कृताशेषविश्वोऽयं भवतीत्यर्थः ॥

तथा—

आक्रामेत् सर्वलोकांश्च

स्ववशान् कुर्यात् ॥

किं च—

ईश्वरेण समो भवेत् ॥१४१॥

देहस्थोऽपीश्वरभट्टारकतुल्यो भवति ॥१४१॥

इदं चास्येश्वरतुल्यत्वम्, यत्—

सोमार्कौ चक्षुषी स्यातां चक्रे वै धी रथस्य तु ।
तन्मात्राणि हयास्तस्य मनःसारथिचोदितः ॥१४२॥

अहङ्कारो भवेद्योद्धा गुणश्चास्य महाधनुः ।
इन्द्रियाणि शरास्तस्य मृगो धर्मः प्रकीर्तितः ॥१४३॥

इहानुन्मिषितविवेकप्रज्ञः सत्त्वादिगुणबद्धः पुर्यष्टकाविष्टोऽहङ्काराधिष्ठितमनःप्रवर्तितैरिन्द्रियैर्विषयानाहरन् धर्माधर्माभ्यां बध्यते। यस्त्वीश्वराराधनात् प्राप्ततत्साम्यो योगीन्द्रः, स देहावस्थितोऽपि पुर्यष्टकं रथमिव वासनात्मकतन्मात्रकेण बहिः प्रवर्तमानं विवेचिकया धिया चक्ररूपया सम्यक् सञ्चार्यमाणमारूढो ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिमयसोमार्काभ्यां चक्षुर्भ्यां विश्वमालोचयन् दीप्तेन्द्रियशक्तिग्रस्यमाने विषयग्रामे न कदाचित् पशुजनसुलभैर्धर्मादिविकल्पैः स्पर्शयत इति निस्त्रैगुण्यः पूर्णाहंभावमयोऽयम् । शिष्टं काव्यमात्रम् ॥१४३॥

अतश्च—

एवं स क्रीडते योगी परमात्मनि हृत्स्थिते ।
पुण्यपापैर्वर्तमान इच्छया परमेश्वरि ॥१४४॥

एवं पूर्वोक्तनीत्या परमात्मनि हृत्स्थिते वर्तमानः—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवोदयः ॥' (१०९)

इति **विज्ञानभैरवा**दिष्टनीत्या तदभेदविमर्शमयो योगी स इच्छया पुण्यपापैः क्रीडनप्रायैः क्रीडति, नास्य जातुचित् संस्पर्श इति यावत् ॥१४४॥

अथ तीव्रतमशक्तिपाताभावादेवमस्याभेदप्रतिपत्तिर्न प्ररोहति, तदापि धर्माधर्मबन्धप्रशमोपायमादिशति देवः कृपालुतया—

नाहं कर्ता न मे बन्धः सर्वमीश्वरकारणम् ।
मत्वा चेश्वरविज्ञानं सर्वकर्माणि सन्त्यजेत् ॥१४५॥

इतिशब्दोऽध्याहार्यः ॥१४५॥

अतश्च—

धर्माधर्मस्य कर्तृत्वे प्रेरको हृदि संस्थितः ।

सर्वस्य ॥

यः—

तमहं शरणं प्राप्तो न मे बन्धोऽस्ति कर्तृता ॥१४६॥
सदाशिवोऽष्टभेदेन पूर्वबीजसमन्वितः ।
ध्येयः पूर्वोक्तरूपेण तत्सिद्धिफलमिच्छता ॥१४७॥

अष्टभेदेनेति सकलादिमूर्त्यष्टकेन युक्तः। पूर्वबीजं नवात्मसंबन्धी हकारः। पूर्वोक्तेन भुवनाध्वनिरूपितेन रूपेण। तत्सिद्धिफलं तत्समत्वावाप्तिः ॥१४७॥

एवं स्थूलमस्य ध्यानमुक्त्वा, सूक्ष्ममाह—

नादं वै व्यापकं ध्यायेदहोरात्रायनेषु च ।

व्यापकमिति पूर्वोक्तघोषादिशब्दाष्टकव्याप्तिरूपत्वादेव कालाधिकारोक्त-प्राणापानरूपस्यायनानां च दक्षिणोत्तरवाहरूपाणां व्यापकं सर्वेषां ध्वनिमयत्वात् । अत एव घण्टारवतुल्यात् स्थूलादैश्वरान्नादादयं विलक्षणः सर्वशब्दव्यापकः सूक्ष्मनादभेदः ॥

ध्यानतश्चायम्—

दक्षिणोत्तरसंक्रान्त्या विषुवज्ज्ञस्य मोक्षदः ॥१४८॥

दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिपञ्चचषकान्ते पुटद्वयसमवाही यो यो विषुवत्संक्रान्ति-कालस्तत्र यो नादं जानात्युपलभते, तस्यायं मोक्षं ददाति ॥१४८॥

अस्य स्वरूपं दर्शयति—

वंशध्वनिसमप्रख्यः शान्तनादस्तु स स्मृतः ।
सदाशिवः स विज्ञेयः

घोषादिविशेषरूपतोपशमात् शान्तः प्रोक्तस्थूलसदाशिवविलक्षणः ॥

अस्य च—

ध्यानात् सिद्धिफलं शृणु ॥१४९॥

मासमात्रेण तेजस्वी वागीशस्तु द्वितीयके ।
तृतीये पश्यते सिद्धान् दिव्यदृष्टिश्चतुर्थके ॥१५०॥

या तु वलीपलितनाशादिरूपा, सा—

सिद्धिस्तु मानुषे लोके वत्सरार्धे न संशयः ।

किञ्च—

दिव्या सिद्धिस्तथाब्देन सायुज्यं तु द्वितीयके ॥१५१॥

द्वितीयेऽब्दे सदाशिवैकात्म्यमित्येवं पदं भवति ॥१५१॥

सदाशिवपदे नामध्यानमुक्त्वा, सप्रयोगं बिन्दुध्यानमाह—

षण्मुखीकरणं कृत्वा ध्यायेद्देवं सदाशिवम् ।

बिन्दुत्रयमित्यर्थः ॥

अङ्गुष्ठाभ्यां श्रुती नेत्रे तर्जनीमध्यमाक्रमात् ॥१५२॥
शेषाभ्यां वृणुयाद् घ्राणे षण्मुखे किल बद्धधीः ।

तद्ध्यानाच्च—

दशधा वर्णरूपेण दृश्यते च सदाशिवः ॥१५३॥

बिन्दुरूप इति, अर्थात् ॥१५३॥

सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।
नीलं चित्रकवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम् ॥१५४॥

स्फटिकाभं स्वच्छम्, मनोरमं तु

'चन्द्रमण्डलसङ्काशं' (१२।१५६)

इत्यादिवक्ष्यमाणरूपमुपादेयम् ॥१५४॥

यदाह—

दृष्ट्वा सर्वाणि रूपाणि त्यजेत्तानि विचक्षणः ।
एकमेव तु गृह्णीयादन्ये तु गुणरूपकाः ॥१५५॥

विचक्षणस्तत्त्वज्ञानाभिनिविष्टः । एकमिति मनोरमम् । अन्य इति रूपविशेषाः । गुणरूपा अनुपादेयाः ॥१५५॥

तदेकमाह—

चन्द्रमण्डलसङ्काशं विद्युत्पुञ्जनिभेक्षणम् ।
तारकाचलिताकारं बिन्दुमेवं विलक्षयेत् ॥१५६॥

विद्युत्पुञ्जनिभमीक्षणं प्रकाशो यस्य । तारकायाश्चलितस्य चलनस्याकारो यस्य, स्फुरत्तारकातुल्यमिति यावत् ॥१५६॥

एवं सदाशिवस्य बिन्दोरीदृग्रूपम् । यस्त्वीश्वरतत्त्वगतः, सः—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
आभिः कलाभिः संयुक्तो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः ॥१५७॥

अत एवैकादशबिन्दुस्वरूपप्रतिपादनावसरे—

'दशदैवतसंयुतः' (११।१०)

इति ग्रन्थोऽस्माभिः सद्योजातादिदेवतापञ्चकम्, घण्टानादः, निवृत्त्यादिकलाचतुष्टयं च ध्येयं यदिह प्रतिपादितम्, तदाशयेन तत्र प्रतिपादितः ॥१५७॥

उपसंहरति—

बिन्दुध्यानं समाख्यातं

ऐश्वरं सादाशिवं च द्विविधमपीति यावत् ॥

शक्तिलक्षं निबोध मे ।

शक्तिर्लक्षं लक्षणं येन, तादृशं ध्यानं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥

तदेवम्—

खं वीक्ष्य मीलिताक्षो यद्युद्यद्भास्करसन्निभम् ॥१५८॥
ईक्षते च महत्तेजः शक्तिः प्रभ्वीति सा स्मृता ।

खमिति ब्रह्मरन्ध्रम् । प्रभ्वी नादान्तान्ते प्रभवनशीला ॥

सा च तत्र—

पीता रक्ता तथा कृष्णा स्फटिकाभा मनोरमा ॥१५९॥
द्रष्टव्या परमा शक्तिः

ज्ञानवशप्रकटीभूता ज्ञातव्या ॥

ततश्च —

तां दृष्ट्वा शिवतां व्रजेत् ।

तत्पदोचिता परमशिवरूपा ॥

अथ—

व्यापिनीं च ततश्चोर्ध्वे पञ्चरूपां विचिन्तयेत् ॥१६०॥
कारणैः स्वैः समोपेतां

व्याप्यादिभिः ॥

तां च—

ध्यात्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

समनादिपदासादनयुक्त्येति, अर्थात् ॥

अथ पूर्वनिर्णीतरूपां क्रमेण—

समनामुन्मनां चोक्तां ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥१६१॥

अत्र च शक्त्यादिशिवान्तध्याने नवात्मसंबन्धी प्रणवो वाचकत्वेन परामष्टव्यः। ध्यायेदिति स्वविमर्शबलेन विमृशेदिति यावत् ॥१६१॥

अतश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति

ययाऽसौ—

व्यापकः प्रभुरव्ययः ।

समनाध्यानात्—

'तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः' (१०।१२५८)

इति यः पूर्वमुक्तो व्यापकादिरूपः शिवः, तद्रूपो भवतीत्यर्थः ॥

उन्मनाध्यानात्तु—

ततश्चोर्ध्वे शिवः शान्तः

समनान्ताशेषविश्वप्रशमात् शान्तः परमशिव एव भवतीत्यर्थः ॥

स च—

पूर्वं वै कथितो मया ॥१६२॥

'शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते' (४।१९७)

इत्यादौ, तथा—

'स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्' (४।२९५)

इत्याद्युद्देशेषु च ॥१६२॥

इहापि तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह—

चक्षुषा यश्च दृश्येत वाचो वा यश्च गोचरः ।
मनश्चिन्तयते यानि बुद्धिर्यानि व्यवस्यति ॥१६३॥
अहङ्कृतानि यान्येव यच्च वेद्यतया स्थितम् ।
यश्च नास्ति स तत्रैव त्वन्वेष्टव्यः प्रयत्नतः ॥१६४॥

स इति चित्प्रकाशघनः परमशिवो भावाभावमये विश्वस्मिन्, त्रिजगति चित्प्रकाशैकात्म्येन प्रकाशमानोऽन्वेष्टव्यः प्रत्यभिज्ञेयः—यथाऽयं सच्चिदात्मा प्रकाशो महेश्वरः, यत्प्रकाशाभेदेन विश्वमिदं प्रकाशते, प्रकाशबाह्यस्य कस्यापि प्रकाशनानुपपत्तेः, यस्त्वेव विश्वप्रकाशात्मा स्वप्रकाशः प्रकाशः प्रकाशते, स एवाहमिति ॥

एवंविधस्य च परतत्त्वैकतानहृदयस्य न देशाश्रमादिनियमः कोऽपीत्याह—

यत्र तत्र स्थितो देशे यत्र तत्राश्रमे रतः ।
सुखासीनः संयतात्मा एकचित्तः समाहितः ॥१६५॥
स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य अभावं भावयेत् सदा ।

सुखासीनो विदितवेद्यत्वात् प्राणायामाद्यायासरहितः । संयतात्मेत्येकचित्तपदेन व्याख्यातः । समाहित इति व्युत्थानेऽपि परतत्त्वपरामर्शनिष्ठः । स्वच्छन्दं समनुस्मृत्येति विश्वाभासात्मचित्प्रकाशरूपत्वेन विमृश्य । अभावं भावयेदिति चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि कदाप्यस्तीति प्रत्यभिजानीयात् ॥

अतश्च—

भावनात्तस्य तत्त्वस्य तत्समश्चैव जायते ॥१६६॥

देहावस्थायामपीति यावत् ॥१६६॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

ये धर्मास्तस्य चाख्याताः पूर्वं ते वरवर्णिनि ।

सर्वज्ञत्वादयः ॥

तैस्तु धर्मैः समायुक्तो योगी वै भवति प्रिये ॥१६७॥
स्वरूपरूपकध्यानं तत्त्वानां कथितं मया ।

स्वरूपं कठिनत्वादि, रूपकं पीतत्वादि ॥

अतश्च—

एवं ज्ञात्वा च ध्यात्वा च सिद्ध्यते मुच्यतेऽपि च ॥१६८॥

सिद्धिरप्यत्रत्या मुक्तिपर्यवसायिन्येवेति शिवम् ॥१६८॥

समस्ततत्त्वविभवपूर्णस्फारप्रथात्मकः ।
चिदानन्दघनः स्वात्मा स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

॥ इति श्रीक्षेमराजविरचिते स्वच्छन्दोद्द्योते द्वादशः पटलः ॥

त्रयोदशः पटलः

परामृतरसस्फारसारसंबोधबृंहितः ।
सर्वसंपत्प्रदः श्रीमान् स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

एवमियति द्वादशपटलान्तेऽस्मिन् ग्रन्थैकदेशे द्वाविंशतिरनुष्ठानभेदा दर्शिताः । तद्यथा मातृकाभैरवः, श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः कपालीशादिभैरवाष्टकपरिवृत्तः,

'यस्त्वंशकविशुद्धः स्याद्भैरवोऽत्र वरानने ।
तं मध्यमस्थं संपूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत् ॥' (८।२५)

इत्यंशकविचारोक्तग्रन्थदृशा कपालीशादिनाथाः स्वाम्यावरणवैचित्र्येणावस्थिता अष्टौ, नवात्मा पृथक् पृथक् पदनवकभेदेन नवधा, सामुदायिकस्थित्या एकः, द्वात्रिंशद्वीभिः परिवृतः कोटराक्षसभट्टारकः, केवलो वा । अथेदानीं सकलदर्शनसारभूतं त्रयोविंशतितमं केवलमेव निष्कलनाथमयं स्वच्छन्दं

'स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य' (१२।१६६)

इति पटलान्ते पटलसंगत्यर्थमासूत्रितं निर्णाययितुं श्रीदेव्युवाच—

सारं यदस्य तन्त्रस्य यागं तु परमेश्वर ।
तमाख्याहि समासेन साधकानां हिताय वै ॥१॥

इज्यत इति यागः सर्वतन्त्रसारभूतो निष्कलनाथः, यजनं यागस्तदाराधनप्रकारस्तं द्विविधं कथय ॥१॥

एवंप्रश्नितः श्रीभैरव उवाच—

मूलबीजाक्षरं मन्त्रनायकं परमीश्वरम् ।
प्रणवासनमारूढमङ्गवक्त्रैः समन्वितम् ॥२॥
पूर्वोक्तद्रव्यसंघातैः पूजयेत् परमेश्वरम् ।

परं मूलबीजात्मकमक्षरं चतुष्कलभट्टारकम् । ईश्वरमिति स्वच्छन्दभैरवं देवतारूपम् । परमेश्वरं सर्वप्रभुम् । मन्त्राणामावरणगतानां सर्वेषां वाचकम् । प्रणवासनादि प्राग्वत् । अङ्गैरिति सर्वज्ञत्वादिपरमार्थैः

'सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिः' (१।७१)

इति पूर्वोक्तैः वक्त्रैश्चेति—

'यादिवान्तान्यक्षराणि संहारेण युतानि च' (१।४५)

इति पूर्वोक्तैरेव, न तु श्रीकालोत्तरोक्तनिष्कलाभिन्नप्रायव्याप्तिकप्रासादभट्टारकवुद्धघसु(?)पञ्चकसंभिन्नहकारात्मकैरिति व्याख्येयम्,

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्मात्तत्र यथोक्तं तत्कर्तव्यं नान्यतन्त्रतः ॥'

इति श्रुतेः । तेन यथोक्तैरेवाङ्गवक्त्रमन्त्रैः सम्यगित्यभेदेनैवान्वितम्, न त्वावरण-स्थित्येत्यर्थः । अत एव श्रीमदघोरेश्वर्याप्यभेदेनैवान्वितम् ।

'तस्य देहार्धगां गौरीमुत्सङ्गे वा प्रकल्पयेत्'

इति यद्यपि शाक्तस्फारप्रधानेषु शास्त्रेषु कल्पिता श्रुतिरस्ति, तथापीहाङ्गवक्त्र-मन्त्रवत् शक्तिमत्स्वरूपाभिन्नैवासाविति गर्भीकृतशाक्तस्फार एवायमत्रत्यः शक्तिमन्मन्त्रः । पूर्वोक्तमित्यनेन मूर्तिन्यासकलान्यासादि सर्वं संगृहीतम्, केवलं सकलन्यासो निष्कलनाथेनैव सकलनिष्कलव्याप्तिना कार्यः । भगवत्कोटरा-क्षस्य पश्चादस्योक्तत्वात् तद्वद् दशभुजोऽयमिति केचित्, स्वच्छन्दनाथत्वादष्टा-दशभुज एवेति गुरवः । द्रव्यसङ्घातैरित्यनेन सिद्धचङ्गं यजनं महासम्भारेण कर्तव्यमिति ॥

नियतपूजितस्यास्य—

स एव होमविन्यासः

संस्कृतेऽग्नौ विन्यस्तस्य भगवतः शतं सहस्रं वाऽष्टोत्तरमाज्यादिना पूर्णान्तो होमः कार्य इत्यर्थः । एतच्च शिवधर्मिसाधकदीक्षादीक्षितस्य कर्म आरम्भणीयं वाऽन्यस्य ॥

तस्य च—

दीक्षा सैव प्रकीर्तितः ॥३॥

सैव पूर्वोक्तैव ॥३॥

एवं पूर्वोक्तशिवधर्मिदीक्षादीक्षितो भगवत्यर्चातर्पणे विधाय—

दशलक्षं जपेद्यस्तु एकचित्तः समाहितः ।
समुद्रगसरित्तीरे सहायैः परिवर्जितः ॥४॥
होमयेन्नरमांसस्य लक्षमेकं सगुग्गुलम् ।
जितेन्द्रियैकचित्तस्तु ब्रह्मचर्ये व्यवस्थितः ॥५॥
असाध्यं साधयेद्देवि नात्र कार्या विचारणा ।

एकत्र निष्कलभट्टारक एव जप्यमाने चित्तं यस्य, अत एव समाहितः । समुद्रगा चासौ सरिदिति महानदीत्यर्थः । सहायैः परिवर्जित इति यथाऽऽराध्यो देव एकवीरस्तथाऽऽराधकोऽपीत्यर्थः ।

'यथा होमस्तथा जपः'

इति नीत्या होमेऽप्येकचित्तत्वाद्युक्तम् ॥

किञ्चास्य—

यानि कानीह कर्माणि चतुष्पीठस्थितानि च ॥६॥
अधमान्यथ मध्यानि ह्युत्तमानि वरानने ।
तानि सिद्ध्यन्ति देवेशि भैरवस्य वचो यथा ॥७॥

विद्यामन्त्राणां पीठचतुष्टयात्मनि पारमेशे शास्त्रे यानि कर्माणि कार्याणीह जगति पातालाकाशतत्त्वतत्त्वेश्वरव्याप्तिहेतुभूतान्यधमादिरूपाणि स्थितानि, तानि कृतपूर्वसेवस्य योगिनः सिद्ध्यन्तीति योज्यम्; न तु कुहकवाद्यादीन्यधममध्यमादिरूपाणीति व्याख्येयम्,

'कृतान्यपि हि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः' (६।५७)

इति पूर्वं परिमितपूर्वसेवासाध्यत्वेनैषां चोदितत्वात् । भैरवस्य वचो यथेत्यनेन नात्र मायाप्रमातृसुलभः संशयो ग्राह्य इत्यादिशति ॥७॥

अथेदानीं मुख्यसिद्धिसाधनपरस्याप्यस्य साधकस्य क्वचित् क्वचिदवसरे उपयोगीनि प्रकृत्यादिवश्यानि कर्माणि द्रव्यमन्त्रयुक्तिसाध्यान्यार्यादिवृत्तान्तरैरादेष्टुमाह—

अथातः संप्रवक्ष्यामि कारिकाकोशमुत्तमम् ।
यं ज्ञात्वा देवदेवेशि विचरन्तीह साधकाः ॥८॥

'स्वल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः सानुसर्तव्या कारिकार्थोपदर्शिनी ॥'

इति लक्षितानां कारिकाणां कोशं समूहम् । उत्तममिति वीरविषयत्वादविघ्नफलविषयमित्यर्थः । अत एव विचरन्तीति करतलप्राप्तसर्वसिद्धिका यथारुचि विलसन्तीत्यर्थः ॥८॥

तत्र—

अभिमुखखड्गनिपातितशूरशिरः शोषितं समादाय ।
रक्तालक्तकलिखितं साध्यतनौ मन्त्रयुक्तमभिधानम् ॥९॥
प्रेतानले सुतप्तं विधाय निशि यत्कृते शतं जपति ।
असुरेन्द्रचक्रवर्तिनमसुरेन्द्रगुरुं वा तमानयत्यनिलवेगात् ॥१०॥

शिरः कपालम्, शोषितं निर्मांसीकृतम्, रक्तेन प्रेतसम्बन्धिना सहितमलक्तकं रक्तालक्तकं तेन लिखितम्, मन्त्रयुक्तमिति तद्विदर्भितमिति पञ्चमप्रयोगे

'मन्त्रविदर्भित' (१३।१६)

इत्युक्तेः, ज्ञातं तच्च ललाटे लेख्यम्, यद्वक्ष्यति सप्तमे प्रयोगे—

'नाम च तस्य ललाटे' (१३।२०)

इति, अभिधानं साध्यनाम नयेत्यूहान्तं साध्यतनावेव तद्द्रव्योल्लिखिते साध्यदेहे प्रेताग्नौ निशि सुष्ठु तप्तं विधाय यस्य साधकस्य कृते तद्दिगभिमुखं यथालिखितं शतं जपति, तं साध्यं यथाविनियोगाय वायुवेगादित्यतिशीघ्रमानयति ॥१०॥

प्रेतालक्तकलिखितं नरशिरसि प्रेतवह्निसन्तप्तम् ।
यमलोकादप्यचिरादानयति बलेन पूर्ववत् साध्यम् ॥११॥

पूर्ववत् साध्यं मन्त्रयुतं साध्यनाम शतं जपतीत्यनुवर्तते। प्रेतालक्तकं प्रेतशरीरोत्थं रक्तम्। नरशिरसीत्यशूरसम्बन्धिनि। अपीति पूर्वस्माद्विशेषः ॥११॥

मृतनार्या वामपदादुद्बद्धायास्तु पांसुलीं समादाय ।
रुधिरालक्तकरोचनया साध्यतनुं मन्त्रसंयुक्ताम् ॥१२॥
खदिरानले सुतप्तां रात्र्यर्धे संमुखो जपशतेन ।
आनयति शचीमहल्यामथवा दिवसस्य शतभागात् ॥१३॥

संयुक्तामित्यन्ते लिखितामिति योज्यं सुतप्तामित्यत्र कृत्वेति। रोचना इह नरसत्का। पांसुली पार्ष्णिकास्थीत्यन्ये। दिवसस्य शतभागेति सूक्ष्मः कालः ॥१३॥

उद्बद्धस्त्रीतनुवामांघ्रेः पांसुलीं समादाय ।
प्रेतालक्तकनिजरुधिररोचनाभिर्विलिख्य साध्यतनुम् ॥१४॥
प्रेतानले सुतप्तां शताभिजप्तां स्वनाममन्त्रयुताम् ।
कृत्वा यक्षसुरासुरपन्नगनारीः समानयत्याशु ॥१५॥

पूर्वं प्रेतरक्तम्, इह तु निजरक्तमिति विशेषः ॥

निजवामकरेऽलक्तकरोचनया साध्यनाम परिलिखितम् ।
मन्त्रविदर्भितमेतज्जपशतयुक्तं सुतापितं रात्रौ ॥१६॥
खदिरानले विधूमेऽसुरगुरुमप्यानयत्यनिलवेगात् ।

विदर्भितं नाम्नोऽन्ते। मन्त्रविन्यासः पूर्वमेव दर्शितः ॥

साध्यमभिधानलिखितं भूमितले गैरिकेण रक्तेन ॥१७॥
गन्धोद्वर्तितवामहस्तेन तु तत्त्वबीजयुक्तेन ।
आक्रम्य भूमिलिखितं साध्याभिमुखोऽर्धरात्रकाले तु ॥१८॥
क्षितिपतिमपि सामात्यं चानयति निमेषशतभागात् ।

अभिधानद्वारेण प्राग्वद् मन्त्रविदर्भितेन लिखितं कृत्वा। गैरिकं हिङ्गुलकम्। रक्तेन प्रेतोत्थेनैव। अत एव भूमितलमेतत् श्मशानिकम्। अत्र च प्राकरणिकः शतजापयोगः स्थित एव ॥

नृकपालमध्यलिखितं रोचनया रक्तमिश्रया साध्यम् ॥१९॥

नाम च तस्य ललाटे मन्त्रेण विदर्भितं समालिख्य ।
गन्धोदकेन लिप्तं नृकपालं वै द्वितीयमादाय ॥२०॥
कृत्वा कपालसंपुटमथ मृतसूत्रेण वेष्टयेत् सम्यक् ।
खदिराङ्गारसुतप्तं सिक्थकलिप्तं तु तत्पुनः कृत्वा ॥२१॥
यावत् सिक्थकमेतत् कपाललग्नं विलीयते तावत् ।
सुरपतिमप्याकर्षति जपशतयोगान्निमेषमात्रेण ॥२२॥

मृतसूत्रेण वक्ष्यमाणछुम्मकायुक्त्या मृतस्नायुना । जपोऽत्र रात्रावेवेति स्थितमेव ॥२२॥

भित्तौ गैरिकलिखितं मन्त्रार्णविदर्भितं तदभिधानम् ।
साध्याभिमुखो रात्रौ वामकराक्रान्तमथ जपन् क्रुद्धः ॥२३॥
क्रोङ्काराङ्कुशयोगादानयति सुरासुरान् क्षिप्रम् ।

भित्ताविति श्माशानिक्याम् । तदभिधानमित्यानयनेप्सितसुरासुरनाम । क्रोङ्काराङ्कुशयोगादित्यङ्कुशाकारलिखितक्रोङ्कारवामकराक्रान्तिवशादित्यर्थः ॥

रणशस्त्रघातपतितं नरपिशितं त्रिमधुसंयुतं जुहुयात् ॥२४॥
विपरीतचक्रमुद्रां बद्ध्वा साध्यं तु निक्षिपेन्मध्ये ।
संपीडितकरसंपुटविह्वलवक्त्रं करान्तरे ध्यात्वा ॥२५॥
आनयति महापुरुषं क्षितिपतिमपि दिवसशतभागात् ।

'भ्रमेणाङ्गुलिकाभ्यां स्याच्चक्रं दुष्टविकर्तनम'

इति प्रसारिताङ्गुलिकोत्तानवामोपरिनिविष्टदक्षहस्तस्य प्रसारिताङ्गुलिकस्य तलसङ्घर्षेण, वामकनीयसीपार्श्वप्राप्तदक्षतर्जन्या भ्रमणाद् या चक्रमुद्राऽऽगमेषु स्थिता, तां विपरीतामिति वामकनीयसीपार्श्वाद्दक्षिणस्यान्तःप्रवेशेन बद्ध्वा तन्मध्यगतं साध्यं करपीडनविह्वलीभूतं ध्यात्वा मन्त्रविदर्भितं साध्यनाम शतसंख्यया जप्त्वा प्रोक्तद्रव्येण निशि होमं कुर्वन्नृपतिमपि विधेयीकरोतीत्यर्थः । रात्रौ श्मशाने जपहोमादि प्राकरणिकमत्र स्थितमेव ॥

शितशस्त्रपातरहितध्वजनरशीर्षं प्रगृह्य लक्ष्मयुतम् ॥२६॥
तत्र त्रिरूपगदितं धाम लिखित्वाभिपूजयेद्यस्तु ।
तस्य हरिपवनकमलजधनदयमेन्द्राः ससिद्धगन्धर्वाः ॥२७॥
विविधवरसिद्धिजातं विदधति विचित्रास्तथापराः सिद्धीः ।

आदौ शस्त्रेण अक्षतो यो ध्वजे नरस्तस्य शीर्षं शूलारोपितपुरुषकपालम् । तत्र प्राग्वत् शोधिते त्रिरूपगदितमित्याकृतिमन्मुखलिङ्गरूपमव्यक्तलिङ्गाकृति धाम मूलमन्त्रवाच्यं दैवतं लिखित्वोत्कीर्त्य यो नित्यमर्चति, असौ लोकपालानपि वशीकुर्यात् ॥

एतदेव भङ्ग्या स्फुटयति श्लोकद्वयेन—

व्यक्ताव्यक्तं तथा व्यक्तमव्यक्तं तु त्रिरूपकम् ॥२८॥
धाम चाराधयेत् सम्यक् तत्र यस्तु विचक्षणः।
जायते त्रिविधा सिद्धिर्गिरिराजतनूद्भवे ॥२९॥
सुनिश्चितमतेः सम्यग् गिरिराजस्य तस्य वै।

तत्रेति त्रिशूलारोपितनरकपाले। गिरिराजस्येति वक्ष्यमाणछुम्मकादृष्ट्या साधकेन्द्रस्य ॥

अत्र द्रव्यविशेषहोमसाध्यं वशीकारमाह—

रक्तचन्दनधूलिं तु राजिकां लवणं तथा ॥३०॥
पादधूलिं तु साध्यस्य एकीकृत्य तु पेषयेत्।
जपन् स्वच्छन्ददेवं तु निर्मथ्नंश्च करद्वयम् ॥३१॥
चिताग्नौ जुहुयाच्चूर्णं चाण्डालाग्नावथापि वा।
साध्यस्याभिमुखो भूत्वा प्रयोगमिममाचरेत् ॥३२॥
शतमेकं जपेद्यावत्तावदाकर्षयेन्नृपम् ।

पादधूलिः पुंसो दक्षिणात् पादात्, नार्या वामाद् गृहीतव्या। प्रणवं निष्कलनाथं नमोऽन्तमुच्चार्य अमुको मे वशीभवतु स्वाहेत्यूहान्तो मन्त्रो जपे होमे च प्रयोक्तव्यः ॥

एवमाकृष्टश्चासौ साधकस्य—

वशमायाति भूनाथ आत्मना च धनेन च ॥३३॥

नात्र संशयः कार्य इत्याह—

सिद्ध एष प्रयोगस्तु नान्यथा ते वदाम्यहम्।

एवं वशीकृतौ प्रयोगदशकमुत्तमादिसिद्ध्यर्थं च प्रयोगमुक्त्वा, स्तम्भने प्रयोगमाह—

तामेव धूलिं संगृह्य लोहचूर्णविमिश्रिताम् ॥३४॥
श्मशानचीरके बद्ध्वा सप्तजप्तां चतुष्पथे।
निखन्याष्टांगुलं भूमौ रिपुनामसमन्विताम् ॥३५॥
निक्षिपेद्यस्य नाम्ना तां स क्षणात् स्तम्भितो भवेत्।

श्मशानचीरके शववस्त्रखण्डे। सप्तजप्तामित्यमुकं स्तम्भयेत्यूहभाजा निर्दिष्टमन्त्रेण ॥

उन्मादे प्रयोगमाह—

तामेव धूलिं संगृह्य पञ्चकोन्मत्तसंयुताम् ॥३६॥

बद्ध्वा तां प्रेतवस्त्रेण रिपुनामसमन्विताम् ।
शतजप्तां तु तां कृत्वा श्मशाने निखनेद् द्रुतम् ॥३७॥
भवत्युन्मत्तकः साध्यः

पञ्चविधमुन्मत्तकं मूलकाण्डपत्रपुष्पफलाख्यावयवपञ्चकयुक्तं धत्तूरकम् । अत्राप्यमुकमुन्मादयेत्यूहः कार्यः ॥

अस्य प्रत्यानयनमाह—

उद्धृतायां तु मुच्यते ।

निवृत्तोन्मादो भवति ॥

कथमित्याह—

उद्धृतं वस्त्रमादाय क्षीरेण परिशोधयेत् ॥३८॥
प्रत्यानयनमेतद्धि सिद्धमेव न संशयः ।

उद्धृतं श्मशानभवनादाकृष्टम् ॥

पुनरप्याकर्षणे प्रयोगान्तरमाह—

अथ रक्ताश्वमारस्य कुसुमानि समाहरेत् ॥३९॥
शतमष्टोत्तरं तेषां शतजप्तं तु कारयेत् ।
सकृज्जप्तेन पुष्पेण लिङ्गमूर्धनि ताडयेत् ॥४०॥
एवं दिने दिने कुर्याद्दशाहं सुसमाहितः ।

रक्ताश्वमारस्य लोहितकरवीरस्य प्रोक्तेतिकर्तव्यताकानि पुष्पाणि प्रत्यहं गृहीत्वा पृथक् पृथक् सुरक्षितानि स्थापयेत् ॥

ततस्त्वेकादशैतानि संगृह्य कुसुमानि तु ॥४१॥
महानदीं ततो गत्वा तत्रैकैकं प्रवाहयेत् ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि सकृज्जप्त्वा तु मन्त्रवित् ॥४२॥

प्रथमदिनपुष्पाणामादौ प्रवाहणम्, ततो द्वितीयादिदिनपुष्पाणामित्यानुपूर्व्यार्थः ॥४२॥

यत्तेषां पश्चिमं पुष्पं प्रतिस्रोतः प्रयाति हि ।

ऊर्ध्वं वहतीत्यर्थः ॥

तद्गृहीत्वाम्बुसंमिश्रं दन्तैरस्पृष्टमापिबेत् ॥४३॥

पीतजलं कुर्यात् ॥४३॥

ततोऽश्वमारकुसुमं रक्तं वै शतमन्त्रितम् ।
तर्जन्यग्रे तु तत् कृत्वा अङ्गुष्ठेनाक्रमेद् बुधः ॥४४॥

दक्षिणेन ॥४४॥

अथ—

भ्रामयेत् सव्यतः पुष्पं यस्य नाम्ना तु मन्त्रवित् ।
स्वच्छन्दं जपमानस्तु तमाकर्षयते द्रुतम् ॥४५॥

सव्यत इति दक्षिणे पार्श्वे । अत्राप्यमुकमाकर्षयेति प्रयोगः ॥४५॥

आकृष्टस्य विसर्जने प्रयोगमाह—

अपसव्यं भ्रामयित्वा पुनस्तस्य विसर्जनम् ।

अपसव्यं वामपार्श्वे तदश्वमारपुष्पं भ्रामयन् साधकस्य यथोपयोगं विनियुक्तस्य विसर्जनं करोतीति शिवम् ॥

स्वातन्त्र्यशक्त्या परया नानाश्चर्यप्रदर्शकः ।
जयत्यनुग्रहकरः स्वच्छन्दः परभैरवः ॥

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते क्षेमराजकृते त्रयोदशः पटलः ॥१३॥

———

चतुर्दशः पटलः

मोचयति पाशजालाद् द्रावयति भिदं मुदं राति ।
मुद्रयति विघ्नतस्करलुण्ठनतो मन्त्रसिद्धिसङ्घातम् ॥
तत्तत्संवित्स्फारानानुकृतिरूपान् व्यनक्ति या शम्भोः ।
आकृतिरूपा मुद्रा जयति विभोरर्चनादिनिर्वर्त्या ॥

त्रयोदशभिः पटलैः समय्यादिचतुष्टयनिर्वर्त्यनित्यनैमित्तिककाम्यकर्म सम्पूर्णमुदितम् । तत्र रक्षासन्निधितदनुप्रवेशादिप्रयोजनं

'मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि' (२।१०२)

इति यत् पूर्वं कायवाङ्मनोनिर्वर्त्यमुद्रास्वरूपमुक्तम्, तद् विवक्षुः **श्रीभैरव उवाच**—

मुद्राणां लक्षणं वक्ष्ये अस्मिस्तन्त्रे यथास्थितम् ।

अस्मिस्तन्त्रे प्रोक्तप्रयोजना भगवदायुधानुकाररूपा या मुद्राः, तासां लक्षणं तत्त्वव्यवस्थापकं रूपं वक्ष्यामीति प्रतिजानाति ॥

अत्र यद्यपि—

'खड्गखेटकधारिणम्' (२।६०)

इति आयुधक्रम उक्तः, तथापि

'कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रयोजयेत्' (१४।२१)

इति भाविनीत्या कपालखट्वाङ्गयोः सर्वावरणगतदेवतासाधारणत्वात् श्रीकोटराक्षभट्टारकविषये च तयोः प्राधान्यादादौ तन्मुद्रालक्षणमाह—

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा कपालं परिकीर्तितम् ॥१॥

एषा च विश्वसमाहरणप्रवृत्तसंवित्स्वरूपानुकारिणी । यदुक्तं **मयैव श्रीभैरवानुकरणस्तोत्रे** —

'शाक्ताण्डखण्डमध्ये विश्वरसमेवमहं समाहरामि सदा ।
व्यञ्जयसि करकपालगरुधिरमिषादेतदिव मेऽन्तः ।।'

इति । यद्यपि—

'मुण्डखट्वाङ्गधारिणम् ।' (२।६१)

इति पूर्वं पठितम्, तथापीह कपालमुद्रोक्तेर्मुण्डस्थाने कदाचित् कपालं भवतीत्यादिशति । मुण्डमुद्रापि खड्गवद् मुष्टिदर्शं दर्शनीया ॥१॥

तिर्यक्कृत्वा करं वामं कनिष्ठाद्यङ्गुलित्रयम् ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्देवि ऋज्वीं कृत्वा प्रदेशिनीम् ॥२॥
पराङ्मुखं करं कृत्वा स्कन्धदेशे निवेशयेत् ।
खट्वाङ्गं कीर्तितं ह्येतत्

वाममितिनिर्देशात् कपालमुद्रा दक्षिणेन निर्देश्येति ध्वनति । तथा च **श्रीमालिनीविजये—**

'निम्नं पाणितलं दक्षमीषत्तत्कुञ्चिताङ्गुलि ।
कपालमिति विज्ञेयम्......................॥' (७।२३)

इति । अङ्गुलित्रयमिति मुष्टिसंनिवेशेन स्थितमित्यर्थात् । पराङ्मुखमिति स्कन्धापेक्षया । एतन्मुद्रासतत्त्वमपि तत्रैव स्तोत्रे प्रदर्शितम्—

'निःशेषाहृतसारा मय्येव जगत्स्थितिस्तदेकमये ।
इति खट्वाङ्गकरङ्कोद्वहनच्छलतो वदास्याज्ञाम् ॥' इति ॥

अथ—

खड्गमुद्रां निबोध मे ॥३॥
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्देवि सकनिष्ठामनामिकाम् ।
मध्यमां तर्जनीं चोर्ध्वं खड्गमुद्रा प्रकीर्तिता ॥४॥

स्कन्धक्षेत्रे पराङ्मुखदक्षकरप्रदर्शनीया एषा । कृत्वेति शेषः । यदुक्तं **तत्रैव—**

'अन्तःशक्तिकृपाणीं व्यनक्षि संसृतिविभेदिनीमसिना ।
निजशक्तिमहिमस्वीकृतसमस्तविश्वा हि वीरवराः ॥'

इति ॥४॥

मुष्टिं बद्ध्वा कनिष्ठां च प्रसार्येत वरानने ।
आत्मनः संमुखं कृत्वा स्फरस्ते कथितो मया ॥५॥

कृत्वेति वामहस्तमित्यर्थात् । स्फर इति स्फर इत्युच्यमानम् । उक्तं च **तत्रैव—**

'भवभयहर्ता सोऽहं स्फराख्योऽवस्थितोऽस्मि मा भैष्ट ।
इत्यास्फोटितखेटकदर्शनतो दिशसि नः स्वामिन् ॥'

इति ॥५॥

मुष्टिं बद्ध्वा तु देवेशि तर्जन्यूर्ध्वं तु कुञ्चयेत् ।
अङ्कुशः कथितो ह्येष

दक्षिणपाणि निर्वर्त्य । उक्तं च तत्रैव—

'भेदमयमखिलमेतन्निजशक्त्यैवाक्षिपामि संहर्तुम् ।
इत्यङ्कुशधारणतः स्फुटयति परभैरवोऽस्माकम् ॥' इति ॥

अथ वामपाणिना प्रदर्श्याम्—

पाशमुद्रां निबोध मे ॥६॥
तर्जनीं वर्तुलां कृत्वा मूलेऽङ्गुष्ठस्य योजयेत् ।
पाशस्तु कथितो ह्येष दुष्टजालनिबन्धकः ॥७॥

अङ्गुष्ठस्येति तत्स्थाने मुष्ट्याकृतिवामसम्बन्धिनः । दुष्टजालं विघ्नसमूहः । अस्यापि तत्रैव तत्त्वं प्रदर्शितम्—

'निजशक्तिपाशवलितश्चिद्भस्मना कल्यते महाकालः ।
इति पाशधारणवशात् प्रथयानः कालकालस्त्वम् ॥'

इति ॥७॥

मुष्टिं बद्ध्वा वरारोहे संप्रसार्य प्रदेशिनीम् ।
नाराचस्तु समाख्यातः समासात्तव भैरवि ॥८॥

संप्रसार्येति धनुरारूढनाराचवत् पार्श्वस्थित्येत्यर्थः । अस्यापि समनन्तर-वक्ष्यमाणपिनाकमुद्रासहितस्य तत्रैव स्वरूपं निर्णीतम्—

'कोदण्डारूढशरप्रदर्शनाद् ब्रह्मविष्णुरुद्रेशान् ।
ससदाशिवकारणर्हारिणान् शक्त्या भिनत्सि युगपत्त्वम् ॥'

इति ॥८॥

मुष्टिं बद्ध्वा प्रसार्येत तर्जन्यङ्गुष्ठकं प्रिये ।
अग्रे निकुञ्चयेत् किञ्चित् पिनाकं परिकीर्तितम् ॥९॥

पिनाकं धनुः । अग्रे किञ्चिदाकुञ्चनाद् धनुराकार एव सन्निवेशो भवति । अस्यापि सतत्त्वमुक्तमेव ॥९॥

अग्रप्रसारितो हस्तः श्लिष्टशाखो वरानने ।
पराङ्मुखं तु तं कृत्वा त्वभयः परिकीर्तितः ॥१०॥

पताकहस्तो दक्षिणः स्वशरीरपराङ्मुख उत्थित इत्यर्थः । उक्तं च तत्रैव—

'अभयेन च भयान्युन्मूलतया प्रकाश्यते सततम् ।
विश्वानुग्रहकरणस्वभावता तव करणं तेन ॥'

इति ॥१०॥

वामं भुजं प्रसार्यैव जानूपरि निवेशयेत् ।
प्रसृतं दर्शयेद्देवि वरः सर्वार्थसाधकः ॥११॥

उक्तं च तत्र—

'वरदेन पाणिना त्वं विश्वविभूतिप्रदत्वमभिनयसि ।
न खलु परतत्त्वनिष्ठो वित्तमलैः स्पृश्यते जातु ॥'

इति ॥११॥

घण्टाकारं करं वामं कृत्वा चैव त्वधोमुखम् ।
दक्षहस्तस्य तर्जन्या घृषेद् घण्टा प्रकीर्तिता ॥१२॥

अस्यापि वक्ष्यमाणवीणाडमरुमुद्राभ्यां सह तत्रैव सतत्त्वं दर्शितम्—

'वीणाघण्टाडमरूनुड्डामरदर्शयन्निदं दिशसि ।
वृत्तित्रिभेदभिन्नं नादामर्शं निभालयन्नन्तः ॥'

इति ॥१२॥

कनिष्ठिकां समाक्रामेदङ्गुष्ठेन समाहितः ।
प्रसार्य चाङ्गुलीस्तिस्रस्त्रिशूलं परिकीर्तितम् ॥१३॥

समाहित इति । तत्तत्संवित्स्फारात्मकवीर्यसारतां सर्वमुद्राणामनुसन्दधीतेत्यनेनादिशति । वीर्यं चास्य तत्रैव दर्शितम्—

'ज्वलदिच्छादिकशक्तित्रितयां तां सुन्दरां परां शक्तिम् ।
वेवानुकरोषि बहिस्त्रिशूलधारणमिषेण नित्यमपि ॥'

इति । एषा च पराङ्मुखी जन्माधारात् प्रोल्लसच्छिखिशिखारूपा बिन्द्वन्तमेत्यारात्रयोल्लासेन द्वादशान्ते प्राप्तस्थितिर्निबन्धनीयेति गुरवः ॥१३॥

दण्डो वै मुष्टिबन्धेन

अनुकार्य इति शेषः । उक्तं च स्तोत्रे—

'जगदखिलं मच्छक्त्या दमितं सर्वा व्यवस्थितीर्धत्ते ।
इति दण्डधारणवशाद् व्यनक्ति चिद्भैरवोऽस्माकम् ॥'

इति । गुरवस्तु—

'दण्डाख्यामृष्टसौषुम्ननाडीपथविराजिता' इति ॥

वज्रमुद्रां निबोध मे ।
वामहस्तमधः कृत्वा उत्तानं तु समाहितः ॥१४॥
दक्षं चाधोमुखं कृत्वा त्वङ्गुष्ठं च कनिष्ठिकाम् ।
उभयोरपि सङ्घृष्य वज्रमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥१५॥

उत्तानमिति विरलं प्रसारिततर्जनीमध्यानामिकं दक्षं च तादृशमेव तदुपरि पराङ्मुखं न्यस्तमुभयोः परस्परमङ्गुष्ठकनिष्ठिकाबन्धनेन पार्श्वकृतकूर्परविन्यासेन पार्श्वसन्निविष्टतामस्याः सूचयति । वीर्यं च तत्रैव दर्शितम्—

'इच्छादिकनिजशक्तिप्रकाशिताधःस्थगोचरत्रितयाम् ।
स्वामेव परां शक्तिं वज्रमयीं वहसि षडरां त्वम् ॥'

इति । गुरवोऽपि—

'वज्रमुद्रा बन्धकर्त्री सुस्थितिः स्वस्तिकायते'

इति ॥१५॥

डमरुं मुष्टिबन्धेन दक्षहस्तस्य सुव्रते ।
सुषिरेण समायुक्तं दर्शयेत्तु वरानने ॥१६॥

तत्त्वमस्याः प्रदर्शितमेव ॥१६॥

मुद्गरं तु प्रवक्ष्यामि हस्तौ द्वौ संप्रसारयेत् ।
मुद्गरः कथितो ह्येष

संप्रसारयेदिति संमुखौ प्रसारयेत् परस्परसंलग्नावित्यर्थात् । अस्या अपि परशुमुद्रया सह तत्रैव तत्त्वं दर्शितम्—

'मुद्गरपरशू बिभ्रद्बैन्दवनादानुकाररूपौ त्वम् ।
भेदविभेदनशकलनपरत्वमीशान निर्दिशसि ॥'

इति । गुरवोऽपि—

'गाढग्रन्थिगणास्फोटो मुद्गरेण प्रवर्तते'

इति । श्रीपूर्वशास्त्रे तु मुद्गरमुद्रा त्रिशिखा दर्शिता । तथा च—

'करावूर्ध्वमुखौ कार्यावन्योन्यान्तरिताङ्गुली ।
अनामे मध्यपृष्ठस्थे तर्जन्यौ मूलपर्वतः ॥
मध्ये द्वे तु युते कार्ये कनिष्ठे परुषावधि ।
तर्जन्यौ मध्यपार्श्वस्थे विरले परिकल्पिते ॥
मुद्गरस्त्रिशिखो ह्येष क्षणादेवोपकारकः ।' (७।२७-२९) इति ॥

अथ—

वल्लकीं च निबोध मे ॥१७॥

वल्लकीं वीणाम् ॥१७॥

हस्तौ प्रसारयेद्देवि उत्तानौ तु समाहितः ।
अनामे कुञ्चयित्वा तु वीणामुद्रा प्रकीर्तिता ॥१८॥

कुब्जा वीणाविषया । एषा वामपार्श्वे प्रदर्शनीया । अस्याः सतत्त्वं दर्शितमेव ॥१८॥

प्रसारयेदङ्गुलीस्तु कनिष्ठानाममध्यमाः ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेदाद्यां परशुः समुदाहृताः ॥१९॥

स्वपराङ्मुखेन दक्षहस्तेन स्कन्धदेशे प्रदर्शनीयोऽयम् । तत्त्वमस्याः पूर्वमेव दर्शितम् । एताश्च मुद्रा गुप्ताः प्रदर्शनीयाः, अगुप्ते त्वायतनादौ वस्त्राच्छादिताः, अथवा स्मर्तव्या एवेति गुरवः । केचिदत्र परशुमुद्रास्थाने—

'भ्रामयेदङ्गुले द्वे तु चक्रं दुष्टनिकृन्तनम्'

इति पठन्ति । अन्यैस्त्वेतत्प्रसङ्गात् शङ्खपद्ममुद्रालक्षणमपि क्षिप्तम्, अपरैस्तु परशुलक्षणम्

'राजावर्तनिभो देवि मुद्गरः परशुस्तथा ।'

इत्येतदनन्तरं पठितम् । तत् सर्वमुपक्रमोपसंहाराननुरूपत्वादुपेक्ष्यम् । एवं च प्रायशो ग्रन्थान्तरप्रक्षेपो ग्रन्थविपर्यासः पाठविपर्यासश्चास्य ग्रन्थस्य दुर्मेधोभिः परिकल्पितः शतशाखो दृश्यते । सोऽस्माभिः पुरातनपुस्तकान्वेषणतो यावद्गति अपसारित इत्यास्तामेतत् ॥१९॥

एतदुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।
आवाहने निरोधे च तथा चैव विसर्जने ॥२०॥

एता इत्युपसंहारात् कः परशुमुद्रायाः परो ग्रन्थेऽवसरो भैरवस्योक्तः, कश्चक्रपद्मादिमुद्राणामवकाशो ध्यानग्रन्थे तेषामनुद्देशादिति यथापठितमेव साधु । आवाहनेत्यादिना—

'मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ।' (२।१०२)

इति पूर्वोक्तमेव निर्वाहितम् ।।२०॥

अथ ये वक्त्राङ्गभैरवाद्या आवरणस्थाः, तेषां साधारणं मुद्राबन्धं प्रदर्शयति—

कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत् ।

सर्वेषां ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारसारत्वाद् मुद्राणां सन्निवेशमुक्त्वा यथौचित्यमासां मानसं रूपमाह—

कपालं धवलं ज्ञेयं खट्वाङ्गं च तथैव हि ॥२१॥
त्रिशूलं चैव नाराचं खड्गो नीलोत्पलप्रभः ।
स्फरं रक्तं पिनाकं च कृष्णं संपरिकीर्तितम् ॥२२॥
घण्टा हेमप्रभा ज्ञेयाङ्कुशो मरकतप्रभः ।
पाशो भिन्नाञ्जननिभः स्फटिकाभोऽभयः स्मृतः ।
वरश्चित्तप्रसादेन ध्यातव्यो वरवर्णिनि ।
डमरुं हेमसङ्काशं वीणां चैतत्समप्रभाम् ॥२४॥
दण्डं रक्तं विजानीयाद्वज्रं पीतं विचिन्तयेत् ।
राजावर्तनिभो देवि मुद्गरः परशुस्तथा ॥२५॥

चित्तप्रसादेनेति प्रसादश्चित्ततुल्योऽनुपाधिसंवित्प्रकाशरूप इति यावत् ॥२५॥

उपसंहरति—

मुद्रापीठं समाख्यातं चतुर्वर्गफलोदयम् ।

न केवलं पूर्वनिर्दिष्टनीत्येदं तन्त्रं विद्यामन्त्रमण्डलपीठरूपं यावदिह मुद्राश्रयतया मुद्रापीठरूपमपि चतुर्वर्गस्य समय्यादिचतुष्टयस्य रक्षासन्निधितत्त्वानुप्रवेशहेतुत्वात् फलोदयो यतः । एतत्—

'चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुर्वर्गफलोदयम्' (१।५)

इत्यस्य ग्रन्थस्य निगमनरूपम् ॥

एवं मुद्राणां कायीयं मानसं च रूपमुक्त्वा, वाचिकमप्याह —

प्रणवासनमारूढा ओंकाराद्या वरानने ॥२६॥
स्वनामकृतविन्यासा नमस्कारावसानिकाः ।

भगवच्छक्तिरूपाणां मुद्राणां स्वरूपं विमृशेत् ॥

एवं सन्निवेशबन्धध्यानमन्त्रपरामर्शस्फुटीकृता एता विघ्नत्राणभगवत्स्वरूपसन्निधानतदनुप्रवेशनादिरूपाणि—

साधयन्ति महादेवि फलानि विविधानि तु ॥२७॥

देव्या महत्पदेन विशेषणेन मुद्रावीर्यज्ञतां प्रकाशयन्मुद्राणां वीर्यमेव सारभूतमिति शिक्षयति ॥२७॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरति—

निर्विघ्नकरणं ख्यातं मुद्राणां लक्षणं प्रिये ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन साधितव्यं महात्मना ॥२८॥

यद्यपि भगवत्सन्निधानतदनुप्रवेशादौ विघ्नव्युदासार्थं समय्यादिभिरप्येतन्मुद्रालक्षणं ज्ञातव्यम्, तथापि साधकेन विशेषतो ज्ञातव्यम्, मुद्राबन्धरक्षितस्यैवास्य साध्यसिद्धेः । यथोक्तं **पूर्वशास्त्रे**—

'याभिस्तु रक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्' (७।१)

इति शिवम् ॥२८॥

स्वावष्टम्भवशोन्मिषन्निजमहामन्त्रावमर्शस्फुरत्-
स्वच्छन्दस्फुरणामयाः परतरस्फारामृतस्यन्दिनः ।
उद्यन्त्येव तनावक्रांत्रमतया द्रागेव मुद्राक्रमा
यस्य त्रोटति पाशकुञ्जरभरः पायात् स एकः शिवः ॥

इति स्वच्छन्दोद्द्योते मुद्राप्रकाशः चतुर्दशः पटलः ॥१४॥

———

पञ्चदशः पटलः

..............................।

...स्वात्मविश्रान्तेः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

अथ समयिमध्ये समयिनां तान्त्रिकव्यवहारगोपनेन निर्विघ्नसिद्धिसम्पत्त्यर्थं प्राक्प्रमेयशेषतया पटलमारभमाणश्छुम्मकाशर्मपर्यायपारिभाषिकसंज्ञाभिर्लोकोत्तरव्यवहारप्रवर्तनेन गूढतया शास्त्रस्यास्य रहस्यतां दर्शयितुं **श्रीभैरव उवाच**—

जपध्यानादियुक्तस्य चर्याव्रतधरस्य च ।
छुम्मकाः संप्रवक्ष्यामि साधकस्य वरानने ॥१॥

छुम्मका तत्समयानुप्रविष्टसङ्केत्या पारिभाषिकी संज्ञा । साधकस्येति प्राचुर्याश्रयेण ॥१॥

तत्र—

भैरवस्तु स्मृतो धाम सर्वदस्तु गुरुः स्मृतः ।
साधकस्तु गिरिर्ज्ञेयः पुत्रको विमलः स्मृतः ॥२॥

आराध्यदेवतायाः परमोपादेयत्वात् तदुपक्रमेयमुक्तिः । धामेति सूर्यसोमवह्नितेजसामपि प्रकाशकत्वाद् विश्वविश्रान्तिस्थानकत्वाच्च धाम । सर्वद इति स्वात्मनि परिपूर्णतया निराकांक्षस्य गुरोः परार्थैकप्रयोजनत्वात् । गिरिरित्यप्रकम्प्यत्वादाराधनैकतत्परः । विमल इति सर्वस्याऽऽन्तरभूमेः संशोधनाद् विगतमलः । स्मृत इत्यविच्छेदेन पारम्पर्येण । एवमुत्तरत्र ॥२॥

समयी कान्तदेहस्तु भगिन्यो बलदर्पिताः ।

कान्तदेह इति कान्तः शुद्धविद्यानुप्रवेशेन दीप्तिमान् देहो यस्य । मन्त्रसिद्धिफलेन याः सञ्जातदर्पा नार्यस्ता भगिन्य इव मन्त्राराधननिष्ठानामिति तथोक्ताः ॥

सर्वेषामेषां यागोपयोगिद्रव्यविशेषविषयां छुम्मकामाह—

मद्यं तु हर्षणं ज्ञेयं

हर्षयतीति कृत्वा ॥

मुदिता तु सुरा स्मृता ॥३॥

मुदितेति मुदितं हर्षस्तद्धेतुत्वात् ॥३॥

तथा—

मत्स्या जलचरा ज्ञेयाः

जलचरजाते: श्रीचर्याकुलनिरूपितनीत्या चरुभोजनतो दीक्षितत्वाद् भैरवयागे परमोपादेयत्वमित्येवं छुम्मकया निर्देशः ॥

मांसं च बलवर्धनम् ।

मांसेनासाधारणचमत्कारहेतुना रसादिधातुषट्कपरिपुष्टिक्रमाद् बलस्य वीर्यस्य वर्धनात्—

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्' (७२)

इति **श्रीविज्ञानभट्टारक**निरूपितनीत्या योगिनं प्रति बलस्य स्पन्दात्मनः शाक्तवीर्यस्य विवर्धनादुत्तेजनादेवमभिधानम् । **गोबलीवर्दन्यायेन च मत्स्यान्मांसं व्यतिरिक्तमुच्यते** ॥

जातं प्ररूढमित्याहुर्मृतं चैव पराङ्मुखम् ॥४॥

देहप्राणादिबन्धसांमुख्यादपवृत्तमित्याहुः पारम्पर्यनिष्ठाः ॥४॥

रक्तं त्वमृतमित्याहुः पद्मनालोऽन्त्रसञ्चयः ।
शुक्रं चन्द्रः समाख्यातः स्नायुः सूत्रं प्रकीर्तितम् ॥५॥

तत्तद्रहस्ययागविशेषोपयोगिनां **रक्तहृत्पद्मान्त्रशुक्रस्नायूनाममृतं पद्मनालश्चन्द्रः सूत्र**मिति गुप्तानि सङ्केतनामानि परमाप्यायहेतुत्वात् कर्णिकादलादियुक्तत्वादस्थूलदीर्घरूपत्वात् सितत्वाह्लादकत्वयोगात् तत्तद्गुपह्लियमाणवस्तुग्रथनहेतुत्वाच्चेत्येतेऽत्र हेतवः क्रमेण योज्याः। पद्ममित्यत्रावृत्त्या द्विः पद्मशब्दः स्थितः, तेन हृत् पद्ममित्येवमभिधातव्यामित्यर्थः ॥५॥

किञ्च वीरचर्यास्थानम्—

श्मशानं डामरं ज्ञेयं

समस्तशङ्कातङ्कत्रोटकत्वेनोड्डामरत्वाद् डामरम् ॥

तत्रत्येऽपि क्वचित् कर्मणि सहचरतयोपयुक्तः—

राक्षसस्तु भयङ्करः ।

पिशाचो रोमजननः

अधीराणां मितहृदयत्रासप्रदत्वाद् भयेन रोमोर्ध्वसरणाच्च ॥

क्वचिद् रहस्याचारे उपयुज्यमाना—

रुहा ज्ञेया रजस्वला ॥६॥

रोहतीति रुहा वीरचर्याया आश्रयभूता ॥

रात्रिं वै च्छादिकां विद्धि

छादयति पशूनामदर्शनपथं प्रापयति वीराचारमिति च्छादिका ॥

यत्र तु रहस्यवीराचारो दर्शनीयो न भवति, तत्—

प्रकाशश्च दिनं भवेत् ।

प्रकटत्वात् प्रकाश इत्युच्यत इत्यर्थः ॥

अथ नेत्रजिह्वादौ कर्मविशेषोपयोगिनि शरीरावयवे पारिभाषिकं सङ्केतं करोति—

नयने चञ्चले ज्ञेये जिह्वां संग्राहिकां विदुः ॥७॥

लम्बिकादिरससङ्ग्राहित्वात् ॥७॥

तथा—

करौ धनकरौ ज्ञेयौ पादौ सहचरौ विदुः ।

परमेश्वरताप्राप्तिहेतुपूजानिधानकर्तृत्वादेकैकस्य गमनाद्यनुपपत्तेश्च ॥

किञ्च—

लिङ्गं सन्तोषजननं भगः प्रीतिविवर्धनः ॥८॥

स्पष्टार्थसंज्ञे ॥८॥

क्वचिद् वीरपाशच्छेदादावुपयुज्यमानम्—

शस्त्रं विभागजननं

तथा—

कर्तरी कार्यसाधिका ।

कार्यं पाशसूत्रादिकर्तनं साधयतीति ॥

तथा—

दूती संवाहिका ज्ञेया

समं सह वाहयति निर्वाहयति वीरस्य रहस्याचारमिति संवाहिका दूती भार्या उच्यते, अथ दूती घण्टा सममान्तरध्वनिना वाहयति प्रापयनि बाह्यमिति कृत्वा संवाहिका ॥

तथा—

धूपो ह्लादन उच्यते ॥९॥

गन्धः सन्तोषजननः

गन्ध इति समालम्भनद्रव्यम् । छुम्मके एते स्पष्टार्थे ॥

राजानो धारकाः स्मृताः ।

ये धारकाः पिष्टादिमया दीपाधारास्ते राजन्ते दीप्यन्त इति कृत्वा राजान उक्ताः, अन्ये तु ये राजानो भूमिपालास्ते धारयन्ति पूजा इति कृत्वा धारका इति व्याख्यातवन्तः ॥

पशुर्विबोधको ज्ञेयः

यः पशुर्देवताभ्य उपहारीक्रियते, स वसासृगाद्याहारक्रमेण विबोधयति तास्ताः संविद्देवता इति विबोधकः ॥

यस्तु देवताभिः साधितो विशिष्टः कश्चिच्चरुकः, सः—

चरुकः सार्वकामिकः ॥१०॥

सर्वान् कामान् समवाप्नोतीति कृत्वा ॥१०॥

अन्नं साधनमित्युक्तं

यत्पुनरन्नम्, तत् साधनमित्युक्तम् ॥

वसा मण्डमिहोच्यते ।

सर्वजनसाधारणत्वाद् मण्डमिव मण्डमाचामः ॥

अथ—

दिशां मुखं तु श्रवणं

श्रवणं श्रोत्रं दिग्देवताधिष्ठितत्वाद् दिशां मुखमित्युच्यते ॥

त्वक् च संवेदनी स्मृता ॥११॥

संवेद्यतेऽनया स्पृश्यं वस्तु—इति कृत्वा ॥

घ्राणं सुस्थितमित्युक्तं

सुगन्धिद्रव्याघ्राणक्रमेण सुखेन स्थितं स्थानं संविदो यस्मिन्निति कृत्वा ॥

मुखं तु प्रविचारकम् ।

मुखमित्युपहार्यपशुशिरः, प्रविचार्यंते चक्षुरादिद्वारेण रूपादिवस्तु येनेति कृत्वा, प्रविचारकमुच्यते ॥

पशुः प्रचारो विज्ञेयः

प्रचारस्य विश्वेन्धनक्षारविमोकस्य हेतुत्वात् प्रचारः ॥

एवं पश्वङ्गविषयां छुम्मकामुक्त्वाऽन्या अप्याह—

माता धात्रीति कथ्यते ॥१२॥

पितरं सृष्टिकर्तारं भ्रातरं पालकं विदुः ।
भगिनी शुभकरी ज्ञेया सखी सर्वार्थसाधिका ॥१३॥
मित्रं गुणानां जननं गुणनाशं रिपुं विदुः ।

स्पष्टम् ॥

पुनः शरीरावयवेषु छुम्मकाः प्राह—

छित् स्फिजौ कीर्तितो देवि

छिनत्ति द्विधा प्रकाशयत्यधःकायसंस्थानमिति छित् ॥

दृष्टिश्चक्षुः प्रकीर्तितम् ॥१४॥

दृष्टिर्दर्शनव्यापारः । चष्टे व्यनक्ति रूपमिति चक्षुः ॥१४॥

दशनाः खण्डका ज्ञेयाः

खण्डयन्तीति कृत्वा ॥

आधार उदरं स्मृतम् ।

उदरं यत्तदशितादेरा समन्ताद् धारणादाधारः ॥

हृदयं गुह्यमित्युक्तं

हृत्स्थानं गुह्यात्माश्रयत्वाद् गुह्यम् । यत्तु गुह्यम्, तत् प्रीतिविवर्धनमिति पूर्वमेवोक्तम् ॥

कठिनं त्वस्थि विद्धि हि ॥१५॥

मेदो वसां विजानीयात्

अस्थि कठिनमित्युच्यते । यत्तु मेदः, तद् मेदयतीति कृत्वा वसा ॥

मज्जा पुष्टिकरः स्मृतः ।

मज्जाख्यस्य धातुविशेषस्य पुष्टिहेतुत्वात् पुष्टिकर इत्युक्तः ॥

विष्ठां विदूषिकां विद्धि

विदूषयति विकृतां शारीरीं स्थितिं सम्पादयतीति कृत्वा ॥

मूत्रं स्राव इहोच्यते ॥१६॥

स्रवणं स्रावः ॥१६॥

कालेयकं तु कुसुमं

कालेयकं कृष्णपद्मम् । तत् कुसुममिव कुसुममिति चमत्कृतिकारित्वेन देवतात्महेतुत्वात् ॥

धूमं धृतिकरं विदुः ।

श्मशानोत्थितोऽत्र धूमो विवक्षितः । स च देवतानां प्रियत्वाद् धृतिकर इत्युक्तः ॥

मेलकं चैव सङ्घातः

देवतानां सम्बन्धि यद् मेलकं मेलनम्, तत् सङ्घात इत्युच्यते ॥

एतन्मेलकोपदेशेन यः देवानाम्—

पुत्रः सोद्द्योतकः स्मृतः ॥१७॥

उद्द्योतयत्यज्ञाननिवारणेन जगदिति कृत्वा ॥१७॥

किं च—

दुहिता ह्लादिका ज्ञेया

ह्लादयति तत्त्वोपदेशेन जगदिति कृत्वा ॥

क्षुब्धं वै चलितं विदुः ।

आरुरुक्षुः प्राथमिके योगाभ्यासे स्थित्यलाभात् क्षुब्धश्चलित इत्युच्यते ॥

दूषको जार इत्युक्तः

यः क्वचिदिज्यादौ दूषकः, स ज्यानिहेतुत्वाज्जार इत्युक्तः ॥

पीतं वन्दितमेव च ॥१८॥

भक्षितं प्राप्तमित्याहुश्छर्दितं विकृतीकृतम् ।

यद् रहस्यद्रव्यं किंचित् पीतम्, तद् वन्दितमुच्यते। एवमेव यत्किञ्चिद् भक्षितम्, तत् प्राप्तमित्याहुः। छर्दितं यत्किञ्चिन्नैवेद्यं संवादिभक्तितारतम्याद् बहु अशितं सत् प्रमादाद् वान्तम्, तद् विकृतीकृतं वाच्यम् ॥

इत्थम्—

दूषितं कर्षितं ज्ञेयं

यत्किञ्चिन्नलकादि दूषितम्, तत् कर्षितं ज्ञेयमाहृतचरमित्यर्थः ॥

संमतं समयं विदुः ॥१९॥

पारमेशः समयोऽवश्यानुष्ठेयत्वात् संमतमित्युक्तः ॥१९॥

महल्लो रक्षको ज्ञेयः

यः पारमेशाचारस्य रक्षकः, स महल्ल उच्यते, महदुत्तमं पारमेशपदं लातीति कृत्वा ॥

छगलस्तु कनिष्ठकः।

यश्छगलः पशुः, स कनिष्ठक उच्यते। क्रमो ज्येष्ठमध्यमत्वात् ॥

विनयो देहकर्म स्यात्

तद्धि विनीततां करोति ॥

साधनं तु जपः स्मृतः ॥२०॥

साध्यतेऽनेन भुक्तिमुक्ती इति साधनम् ॥

होमितं सिद्धिजननं

होमकर्मापन्नं हविर्यत्, तत् सिद्धिं त्रिविधां जनयतीति ॥

तथा—

विभागो रोचकः स्मृतः।

चरुकादेर्यो विभागो विभजनम्, स रोचकः, रोचयति परां प्रीतिं जनयतीति कृत्वा ॥

कदम्बं वृन्दमित्याहुः

देवतानां वीरद्रव्यादीनां यद् वृन्दं समूहः, तत् कदम्बं वदन्ति ॥

विरलोऽश्लिष्ट उच्यते ॥२१॥

यो वीराचारात् पृथग्भूत इत्यर्थात् ॥२१॥

विमलः शिष्यः इत्युक्तः

यः शिष्यः शासनीयः, स गुरुप्रसादाद् विगतमल इति कृत्वा विमलः ॥

इच्छा चाज्ञा प्रकीर्तिता।

गुर्वादीनां सम्बन्धिनी आज्ञा यत्र लब्धा, तत्रासौ तदीयानुग्राहिकेच्छा स्थितेति यावत् ॥

देवतादर्शनं यत्तत्

किञ्चिदसामान्यमेतदित्थं विमृष्टमित्यर्थः ॥

लब्धं शस्त्रहतं विदुः ॥२२॥

यः शस्त्रहतः पशुः, तं लब्धमित्यामनन्ति ॥२२॥

निशाचरो बिडालः स्यात्

निशायां चरो यस्य वीरस्य, स बिडाल उच्यते। बिडालो हि रात्रावाखूनाहरति, अयं तु वीरपशून् ॥

नखिनश्च विदारकाः।

ये वीरपशूनां विदारकाः, ते नखिन उच्यन्ते, विदारकत्वसाधर्म्यात् ॥

आनीतं सारितं ज्ञेयं

महाचर्वादि यदानीतम्, तत् सामरस्येन संजातमिति कृत्वा सारितमित्युच्यते ॥

रक्षितं पिहितं तथा ॥२३॥

यद् रक्षितम्, तत् पिहितमिति वाच्यम् ॥

अथ कदाचित् तीव्रशक्तिपातवशात् समासादिते मेलके तत्तत्तत्त्वसाक्षात्कारमार्गं साधकेन्द्रस्य देव्यो दर्शयन्तीत्यादिशत्यनुग्रहपरः परमेश्वरः—

शिखां संस्पृशते या तु सा तु शक्ति विनिर्दिशेत्।
शिरः प्रदर्शयेद्या तु सा च बिन्दुं विनिर्दिशेत् ॥२४॥
ललाटं दर्शयेद्या तु ईश्वरं सा विनिर्दिशेत्।
तालुकं दर्शयेद्या तु तया रुद्रः प्रकीर्तितः ॥२५॥
जिह्वां प्रदर्शयेद्या तु विद्यां साथ विनिर्दिशेत्।
सप्त कोट्यस्तु मन्त्राणां तस्या ज्ञेयास्तु सुव्रते ॥२६॥
घण्टिकां दर्शयेद्या तु तयानन्तः प्रदर्शितः।
कण्ठं तु संस्पृशेद्या सा कालतत्त्वं विनिर्दिशेत् ॥२७॥
हृत्पद्मं दर्शयेद्या तु पुरुषं सा विनिर्दिशेत्।
नाभिं प्रदर्शयेद्या तु प्रकृतिं सा विनिर्दिशेत् ॥२८॥
तस्याधस्ताद् बुद्धितत्त्वं यदि स्याद्दर्शनं प्रिये।

प्रशान्ताशेषतरङ्गशिवधामनि परमनिर्वाणरूपे न काचित् सिद्धिरस्तीति कृत्वा साधकेभ्यो मेलकावसरे वरदानोद्यता देव्यः सिद्धिमाधाराधिरूढाच्छक्तिस्थानात् प्रभृत्येव ददतीति तदुपक्रममेव निर्देशः कृतः। बिन्दुमित्यशेषवाच्यवाचकाविभागप्रकाशं सादाशिवं धाम। कीर्तित इति मया साक्षात्कृत इति दर्शितः। सप्त कोट्य इत्युक्तेः साधकस्यास्याः सकाशात् तत्तन्मन्त्रसिद्धिलाभो भवतीति। तालुकं तालुरन्ध्रम्। घण्टिका तदधो लम्बमाना लम्बिकाख्या शक्तिः। अनन्त इति मायातत्त्वाधिष्ठाता। कालनियतिपुरुषतत्त्वैर्नवात्मप्रक्रियावत् कलाविद्या-

रागतत्त्वानि संगृहीतानि दर्शितानि। यदि स्यादिति यदि तया साक्षात्कृतं भवेदित्यर्थः ॥

किञ्च—

यदा गुह्यं स्पृशेद्देवि

तदाऽसौ—

अहङ्कारोऽधिदैवतम् ॥२९॥

साक्षात्कृतं सूचयतीत्यर्थः। अत्रैव चान्तर्भूतस्येन्द्रियतन्मात्रषोडशकस्य दर्शनम्, न पृथक् ॥

किञ्च—

कटिं सन्दर्शयेद्या तु व्योम तत्राधिदैवतम्।
ऊरुकौ दर्शयेद्देवि पवनं सा विनिर्दिशेत् ॥३०॥
जानुनी दर्शयेद्या तु तया तेजः प्रकीर्तितम्।
जङ्घे प्रदर्शयेद्या तु वरुणं सा विनिर्दिशेत् ॥३१॥

एवं मेलकावसरे देवीभिश्छुम्मकायां दर्शितायां प्रतिछुम्मका यादृक् साधकेन दर्शयितव्या, तादृशीमाह—

शरीरं दर्शयेद्देवि सर्वदेवमयं प्रिये।

तदाऽस्य—

पूजाग्निजपयुक्तस्य ध्यानयुक्तस्य मन्त्रिणः ॥३२॥
समयाचारयुक्तस्य कालांशकविदः प्रिये।
क्रियोपेतस्य देवेशि योगिन्यस्तु वरप्रदाः ॥३३॥
दर्शयन्ति महाध्वानं नानाभोगसमन्वितम्।
गिरिराजस्य देवेशि यं गत्वा फलमश्नुते ॥३४॥

क्रिया प्रोक्तरूपा। दर्शयन्ति स्वदेहस्थमेव प्रत्यक्षीकारयन्ति। गिरिराजस्य साधकेन्द्रस्य। यं गत्वेति साक्षादनुभूय, गमेर्ज्ञानार्थत्वात्। फलमश्नुत इति तत्तद्भोगभुग् भवति ॥३४॥

किञ्चास्यैता योग्यतातिशयात्—

भैरवेण समाज्ञप्ताः शक्तयस्तु वरानने।
अन्याश्च सिद्धीर्विविधा अधमा मध्यमोत्तमाः ॥३५॥
अन्यतन्त्रसमुत्थाश्च साधयन्ति न संशयः।

भैरवेण समाज्ञप्ता इत्यनेन परमेश्वर एवेत्थं साधकस्याभीष्टदानायोद्यच्छतीत्याह। न संशय इति निश्चितमेवैतदित्यर्थः ॥

उपसंहरति—

एवं संक्षेपतः प्रोक्तं मेलकं तु वरानने ॥३६॥
सतताभ्यासयोगेन

योग्यतमता जाता ।।

तस्मै—

ददते चरुकं स्वकम् ।

'दद दाने' इत्यस्यायं प्रयोगः । स्वकं स्वात्मार्थं साधितमसामान्य-मित्यर्थः ।।

तदाह—

यस्य संप्राशनाद्देवि वीरेशसदृशो भवेत् ।।३७।।

संप्राशनमविकल्पमाहरणम् । वीरेशो भैरवनाथः ।।

यत एवम्—

तस्माद् ध्यानार्चने होमं जपं च वरवर्णिनि ।
कुर्वन्ति भावितात्मानस्ततः सिद्ध्यन्ति मन्त्रिणः ।।३८।।

भावितात्मत्वं सुदृढ आश्वासः ।।३८।।

..........................धुरन्धुराः ।
संपूर्णसिद्धीर्विदधत् स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ।।

सर्वत्रैव स्फुरति सततं सर्वसर्वात्ममूर्ति-
यॊऽसौ स्वच्छोच्छलितललितो बोधसिन्धुः समन्तात् ।
स्वच्छन्दोऽयं जयति भगवान् सर्वसम्पन्निधान-
स्फीतस्फूर्जन्निरुपमसुधास्फारसारस्वशक्तिः ।।

इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते छुम्मकाप्रकाशः पञ्चदशः पटलः ।।

नाम्नैव भेददृष्टिर्विधुता येनास्वतन्त्रतातत्त्वा ।
श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्रं भेदव्याख्यां न तत्सहते ।
भेददर्शनसंस्कारतन्तुसन्ततमादितः ।
स्वच्छस्वच्छन्दचित्स्वात्मसतत्त्वं नेक्षते जनः ।।
गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्द्योत उम्भितः ।।

श्रीब्रह्मदेवादिगुरुक्रमाद्यः
श्रुत्वा चिरं व्याकृतवान् स्वतन्त्रम् ।
श्रीमान् प्रयागो गुरवस्तथान्ये
तेऽभ्यर्थनायां पुनरप्रवृत्तौ ।।
निस्सीमजन्ममरणादिव संप्ररूढ-
भेदाधिवासितमना न यदभ्यमंस्त ।
....
..........................।।

श्रीभैरवीयपरमाद्वयशक्तिपात-
पूताः सदैव गुरवो गलितापरेच्छाः ।
स्वच्छस्वतन्त्रमतिसुन्दरमात्मतत्त्वं
संप्राप्नुवन्तु सह दीक्ष्यजनैरजस्रम् ॥

पूर्णानुभवसद्युक्तिः सदाचारपरम्परा ।
विश्रान्ता यत्र यस्मिश्च कार्तार्थ्यं गुरवोऽप्यगुः ॥
तत्त्वोपदेशाद्यो विद्यासुधाम्भोधिसुधाकरः ।
यत्कृतैः शास्त्रसद्वृत्तिमण्डनैर्मण्डितं जगत् ॥
अकस्मात् सर्वशास्त्रार्थज्ञत्वाद्यं लक्ष्मपञ्चकम् ।
यस्मिन् श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमदृश्यत जनैः स्फुटम् ॥
हेलावलोकनादेव जन्तून् योऽमोचयत् क्षणात् ।
श्रीमतोऽभिनवाच्छास्त्रमागमय्य गुरोरिदम् ॥
व्यावृणोत् क्षेमराजस्तत्पादधूलिपवित्रितः ।

ग्रस्तोऽयं सकलो भवो विगलिताः कर्माणुमायामलाः
प्राप्तानन्दघना स्थितिः किमपरं लब्धः प्रकाशः परः ।
श्रीमच्चेतनभैरवस्तुतिरसास्वादेन लब्धोदयै-
रस्माभिर्विमले हृदम्बरतले निर्यन्त्रणं स्थीयते ॥

स्वतन्त्रः स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतनशिवः
परा शक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता ।
तदाभोगैकात्म प्रसरति समस्तं जगदिदं
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यविपश्चिच्चक्रवर्तिश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मो-
पजीविश्रीमत्क्षेमराजविरचितः श्रीस्वच्छन्दोद्द्योतः सम्पूर्णः

इति शिवम् ॥

ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तर सूची

संशोधनानि

प्रथमभागे

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्ति
गेरु	गुरु	१	१२
श्रुवना	भुवना	२	३०
श्रुतं	भुवं	११	२
प्रस्तार्थ	प्रस्तारं	१२	२
काचिदु	कानिदनु	१३	७
त्येत्य	त्यैवेत्य	१६	२८
फल	पर	१८	६
कक्राफा	वक्त्राणा	२०	१०
थकार	पकार	२६	२२
श स्नान	श इति स्नान	३०	१२
भावति:	भावित:	३६	२
स्फारि	स्फारिता	३७	१७
गुण:	गुरव:	५०	८
विविधा	त्रिविधा	५४	१७
मण्डलद्रा	मण्डलमुद्रा	५६	१३
मूपां	पूपां	६०	५
मपरिज	न् परिक	६०	६
च्जंभोरित्त	च्छम्भोवित्त	६०	१०
न्यसिन्	न्यसितुं	७७	५
पत्थ	पत्	८१	१८
कल्पना मार्गाणां	मार्गाणां कल्पना	८५	९
ददाह्	भेददाह्	८५	२६
ऽयुक्ते	ऽयुक्तेति	८६	३
मध्यासु	मध्याद्	८६	१४
मध्याद्	मध्याद् वै	८६	२१
दित्यन्ते	दित्यन्ये	९१	१७
मारकी	नारकी	९५	२३
त्यना	त्मना	१०४	२३
मेत्तक्र	मेतत्तदा	११२	५
भविष्यति	द्रष्टव्य:	११२	२८
सरली	सकली	१३८	६
बध्जं	ध्वजं	१३८	२२

द्रव्या	तद्रव्या	१४८	२७
माना	नाना	१६४	१२
व्याप्तत्वा	व्याप्ततत्त्वा	१६८	१४
दिवे	निवे	१७२	२७
शुद्धभव	शुद्धचव	१७४	१६
व्रजे	व्रजे	१७६	१०
मन्दु	मद्‌गु	१७७	२५
त्तत्त	स्तत्त्व	२०२	२
समानसे	सामनसे	२०८	७
कला	काल	२१३	२३
परार्ध	परार्धः	२१५	२४
८।२८६	४।२८६	२३३	१७
कल्लोह्च	कलोच्च	२३७	२७
तत्र	तन्न	२३८	११
यस्मिन्	यस्मिन् यस्मिन्	२४०	११
भव	मन	२४२	१२
कल्पिका	कल्पिता	२४८	१३
सत्त्वम्	तत्त्वम्	२७६	२०
युक्तेति	प्युक्तेति	२८६	२
घिृजतिक्ष	जिघृक्षित	२८८	२६
पद्यादि	पद्मानि	२९६	४
त्रिमाणं	त्रिमात्रं	३०७	२०
भेंदेऽस्या	भेदेऽप्यस्या	३१६	१७
घट	धट	३१७	२४
प्रकृत्या	प्रख्या	३१८	१४
शिल	शिव	३२०	३१
वस्तु	त्ववस्तु	३२१	२२
तौकः पुन	त्तौ तन्निरोधः पुमः	३२१	२४
हेतुतन्निरोधः	हेतुकः	३२१	२४
ध्रुत्वा	धुत्वा	३४६	१०
चक्रायङ्का	चक्राङ्का	३४८	३

द्वितीयभागे

श्वरः	श्वर	१	८
आम्नात्	आम्नातम्	४	२४

पुर	पर	५	४
सौमरस्या	सौरस्या	१३	१४
तव च त्रै	तत्रैव च	२२	११
ह्यत्रत्प	ह्यत्प	२३	१४
ह्यति	ह्यत्र ति	२३	१७
मुब्किाङ्श्रिमि:	मुक्तिकाङ्क्षिभि:	२७	२४
'चरित	चरति,	३४	१६
स्थरिति	स्थ इति	३४	२०
वक्राङ्गा	वक्त्राङ्ग	५०	२७
नाप्यास्योच्चारघ्यना	नाप्यस्योच्चारध्याना	५२	३२
मेदान्	भेदात्	६४	२४
प्राणादिनामा	प्राणादीनाम	६६	३२
रसित्वम्	रसिकत्वम्	७१	१७
मांसष्टो	मांसमष्टो	७२	२४
साध्यो	साध्ययो	७४	२१
दुरु	गुरु	७५	२५
मसा	महा	१०५	१०
सर्व	सर्प	१०८	८५
द्वन्द्वभी	दुन्दुभी	१२६	२६
कुतु	केतु	१४१	३
तस्य	यस्य	१५२	१८
शाचार्य	आचार्य	१५७	२८
सत्पति	सस्पति	१७६	२९
यौतानि	यैतानि	२००	३०
मारसँ	मानसँ	२२०	३१
रुपस्य	रुपस्थ	२३८	२४
रपित् तु	रपि तु	२४०	२९
मानादि	माननि	२४१	४
इव	एव	२५४	३०
संख्या	संख्यया	२८२	२८
डित	डिति	२८९	१०
यत्	यत	२९४	१४
कात्रो	कालो	२९६	२८
कैवल्य	वैकल्य	३०४	१८
न्तासीते	तान्यतीते	३०७	५
यानथे	मयानघे	३०७	१२
पीच्छाया	अपीच्छाया	३१०	२८

त्वसौ	न त्वसौ	३१३	२३
लोम्यं वा	लोम्यं प्रातिलोम्यं वा	३१५	३०
स्वेमापायि	स्वेनानपायि	३१८	२३
ष्ठात्रतृभेद	ष्ठात्रभेद	३२६	४
कालो	कलो	३३१	२०
दिव्य	दित्य	३३६	१५
वनैवनै	वनै	३४२	१८
ष्यमुक्ता	ष्याणामुक्ता	३४४	२६
रूपापि	रूपाणि	३४५	१६
विमते	विद्यते	३४६	२४
इत्तो	इत्यतो	३५२	२३
दित्यो	नित्यो	३७०	२८
रित्वाद्	रिकत्वात्	३७६	१२
मकल्काता	मकल्कता	३८०	२५
एतस्मि	एतस्त्रि	३८४	१४
तावतः	तत्त्वतः	३८५	६
सिद्धिः	सिद्धः	३८७	१७
तत्सामयो	तत्साम्यो	४०३	६
कोटराक्षस	कोटराक्ष	४०८	१०
हृताः	हृतः	४२०	३२

त्रुटिपूरणम्

प्रथमभागे

६. २७ इत्यतः परम्—अथ यथोद्देशं निर्णेतुमाह
इति पठनीयम् ।

१३. इत्यत्र नवमी पङ्क्तिः श्लोकात् पूर्वं पठनीया ।

१५. १८ इत्यत्र—एवाहन्ताच्छादितेदन्तोन्मज्जनेन ग्रद्यरूपापेक्षया भीषणत्वाद् घोरेभ्यः परचित्प्रथाभित्त्याभासिताहन्तेदन्ता
इति पठनीयम् ।

२६. ११ इत्यत्र—…त्सङ्गगामिनी नित्यावियुता उन्मनान्तकोर्ध्वसङ्ग…
इति पठतीयम् ।

६०. २ इत्यतः परम्—गतार्थमेतत् ॥२७०॥
इति पठनीयम् ।

द्वितीयभागे

४६. २६ इत्यत्र—स्थूलदृष्टया देहप्राणादिरस्य कलङ्कस्तथा परदृष्टया
इति पठनीयम् ।

——०——

Parimal Sanskrit Series No. 11

RĀMĀYAṆA

OF

VĀLMĪKI

WITH THE COMMENTARIES

TILAKA OF RAMA, RAMAYANASIROMANI OF SIVASAHAYA

AND BHUSANA OF GOVINDARAJA

EDITED BY

SHASTRI SHRINIVAS KATTI MUDHOLKA

Includes an exhaustive introduction

and Index of verses

BY

SATKARI MUKHOPADHYAYA

Complete, in 8 volumes

Crown 4 to Cloth pp. 3400 opp

Delux Edition 1500-00 per set

PARIMAL PUBLICATIONS

Oriental Publishers & Book-Sellers

DELHI - AHMEDABAD